UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182339

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University

Call No. H81 Accession No. PUH 5308

Author R18B

Title [illegible]

This book should be returned on or before the date last marked below.

गोसाईंदत्त की माँ
(श्री सरस्वती देवी)
की पुण्य-स्मृति
को

अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।।
विद्यांचाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वाविद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

भूमिका

दद्दा को तब से जानने का सौभाग्य—जब दो-तीन साल की थी, परिवार का उन्हें एक विशिष्ट व्यक्ति मानना, बड़ी बहिन का उनके प्रति आकर्षित हो उनकी हस्तलिपि का अनुकरण करना और उनके साथ गीत गाना, माँ का उनके प्रति एक मधुर कोमल स्नेह···घर में सबसे छोटी होने के कारण छिपकर उन्हें आश्चर्यपूर्वक देखना।

जब बी०ए०की परीक्षा देकर अल्मोड़ा पहुँची तो उनसे कुछ दिन हिन्दी कविता पढ़ी। पर कविता विद्यार्थी जीवन में मुझे कभी नहीं भाई। शीघ्र ही पढ़ना छोड़ दिया, क्या बहाना बनाया, वह तो अब याद नहीं। प्रयाग विश्वविद्यालय में प्राध्यापिका होने के एक वर्ष पश्चात् जब माता-पिता ने उन्हें मेरा संरक्षक बना दिया तब तीन-चार साल तक उन्हें दूर से ही समझने का प्रयास किया। एक उज्ज्वल व्यक्तित्व के साथ रहने का मन ही मन गर्व, किंतु साथ ही उस व्यक्तित्व की गरिमा ने मुझे उनके बहुत निकट भी नहीं आने दिया। समय का अंतराल, एक ही घर में रहने के कारण उनको उनके गहनतम तथा विषमतम क्षणों में भी एक निश्छल और निर्मल रूप में देखने पर मन का शंकातुर हो जाना—अवश्य ही जो ये सोचते हैं और मुझसे कहते हैं उसमें अंतर होगा। इस दुराव के मूल में मुझे शिक्षित करने की भावना होगी, छोटी जो हूँ। किन्तु शीघ्र ही यह विश्वास हो गया कि द्वैत बुद्धि से रहित गोसाईंदत्त व्यावहारिक जगत् की व्यवहारपटुता से अछूते हैं—कोई अज्ञेय शक्ति है जो उनकी सदैव रक्षा करती रहती है, अपने-आप में वे मनसा-वाचा-कर्मणा उस विश्व में विचरण करते रहते हैं जो कटुता, विद्वेष और तिक्तता से अछूता है। इस बोध के साथ ही दद्दा के व्यक्तित्व, उनके स्वभाव और आचरण ने न केवल मुझे प्रणत कर दिया वरन् उनके समस्त साहित्य का अर्थ स्वतः स्पष्ट हो गया। मन उल्लसित हो, उन्हीं के शब्दों में, कह उठा : "ईश्वर से पृथक नहीं अब जग—होता अमूर्त मूर्तित प्रतिक्षण", "सुन्दर विश्वासों ही से—बनता रे सुखमय जीवन," "मंगल चिर मंगल हो !—मंगलमय सचराचर,—मंगलमय दिशि पल हो।" और फिर, अंतर से प्रेरणा मिली इस सबको लिपिबद्ध करने की।

इस पुस्तक को लिखने में दद्दा जितना हतोत्साह कर सकते थे उसमें उन्होंने

कोई कमी नहीं की। हतोत्साह तो सामान्य शब्द लगता है जब सोचती हूँ कि जिन दिनों लेखन की प्रेरणा अत्यधिक प्रवहमान थी उन्हीं दिनों उनकी दुनिया भर की माँगों को पूरा करने में सारा समय देना पड़ा—कभी कार चलाने का उनका जी हो जाता (कार, बिना स्वयं बैठे, उन्हें चलाने नहीं देती हूँ), या कोई विशिष्ट प्रकार का भोजन, या फिर, उनके लाड़ले बिल्ले के लिए सिविल लाइन्स से मुर्गी या मछली लानी होती। कभी कपड़े लेने दर्जी या 'ड्राई क्लीनर' के पास जाना, कुछ विशेष काम न हुआ तो उन्हें सूटकेस, मोज़ा या बनियान खरीदने की तत्काल आवश्यकता प्रतीत होने लगती। किसी मित्र को चाय अथवा भोजन के लिए आमंत्रित करने अथवा उसके यहाँ जाने की अनिवार्यता का मन अनुभव करने लगता। इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण किसी साधु या माताजी के दर्शनों के लिए जाना। ऐसी स्थिति में वह कमरे में आकर कहते—'क्या करूँ तुम लिख रहे हो ? जाना तो ज़रूरी था लेकिन · · · ·" और तब तक आसपास घूमते रहते हैं जब तक कि मैं अधूरा वाक्य छोड़ कर उठ न जाऊँ, 'अब काम नहीं करूँगी।' तब उनका आश्चर्य-मिश्रित भाव से कहना, "सच, अब लिखना नहीं चाहती न ! थक गई होगी।" मेरे मुँह से 'हाँ' या 'फिर लिख लूँगी, अभी तुम चलना चाहते हो,' सुनने के साथ ही उनका मेरे कमरे से दो मिनट को अदृश्य हो तैयार होकर आ जाना !' "मेरा तो कोई खास काम भी नहीं था। तुमने कहा इसलिए तैयार हो गया हूँ। अब तुम देर कर रही हो। न चलना चाहो तो मैं कपड़े बदल लूँ।" यह सामान्य सी प्रतिदिन घटित होने वाली बातें बुरी नहीं लगीं, मनोविनोद ही होता। बुरा लगा तब जब 'भेंट-वार्ता' लेनी चाही। छोटी-सी भेंट-वार्ता लेने में जब एक वर्ष पूरा हो गया तब मैं बहुत खिन्न हो गई, सप्ताह-भर तक घोर विवाद अथवा आँसूओं के बाद ही सफलता मिली, यह भी आज स्वीकार करती हूँ। किंतु इन सबको नगण्य मानती हुई ददा की बीमारियाँ हैं जो महीने में १०–१५ दिन तक उनकी सतत परिचर्या माँगती हैं।

इस सबसे मेरा उत्साह कम नहीं हुआ, हो ही नहीं पाया क्योंकि अपनों के सहयोग का दुर्लभ तथा दृढ़ संबल मुझे प्राप्त रहा है। कुटुम्बियों और संबंधियों के समान ही भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, पूरनचंद जोशी, इक़बालनारायण कपूर, प्राणनाथ सेठ, कुँवर सुरेशसिंह, महेश चन्द्र उप्रेती तथा सभी प्रयाग-वासियों विशेषकर बालकृष्ण राव, इलाचंद्र जोशी, प्रकाशचंद्र गुप्त, रवीन्द्र देव, रामकुमार वर्मा, रामकृष्ण त्रिपाठी, ज्योतिप्रसाद निर्मल, वाचस्पति पाठक, पहाड़ी, नागार्जुन, रामस्वरूप चतुर्वेदी, जगदीश गुप्त, उपेन्द्रनाथ अश्क, रामचन्द्र टण्डन, महादेवी वर्मा, दूधनाथ सिंह, लोकभारती प्रकाशन आदि ने तस्वीरों, किताबों,

भेंट-वार्ताओं एवं प्रोत्साहनों द्वारा अनुगृहीत किया है। जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैं इतना निःसंकोचपूर्वक कह सकती हूँ कि मेरा एक ही लक्ष्य रहा है, सत्य की रक्षा ! किसी तथ्य को छिपाना या उसे विद्रूप भाव से व्यक्त करना, यह मेरे जीवनीकार का धर्म नहीं है। मैंने तो केवल चाहा है दादा के साहित्य और जीवन को एक निष्पक्ष दर्शक की भाँति प्रस्तुत करना।

और अंत में, दादा के जीवन एवं साहित्य पर सम्यक् प्रकाश डालने के लिए कई ऐसे प्रसंगों को लेना पड़ा जो मेरी तथा स्वयं दादा की दृष्टि में उपेक्षणीय हैं, छोटी बातें हैं, किन्तु फिर भी, सत्य एवं तथ्य की रक्षा के लिए जिनका समावेश करना पड़ा। ऐसी बातों के लिए मैं स्वतंत्र रूप से (न कि जीवनीकार के रूप में !) क्षमाप्रार्थिनी हूँ, यह जीवनीकार का वह 'धर्म' है जिसे अपनाना एवं निभाना ही पड़ता है।

शांति जोशी

क्रम

भूमिका

१ प्रकृति की क्रोड़ १

२. पिता, परिवार, परिवेश १६

३. बचपन और विद्यारंभ ४०

४. अल्मोड़ा ६०

५. आत्म-जिज्ञासा और आत्म-शिक्षण ८०

६. 'हार' : व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब १०२

७. वाराणसी प्रवास ११२

८. 'वीणा' और 'ग्रंथि' १११

९. प्रयाग और साहित्यिक प्रगति १३५

१०. असहयोग आंदोलन १५२

११. 'पल्लव'-प्रकाशन : भूमिका और खड़ी बोली की सक्षमता १७४

१२. 'पल्लव' १९४

१३. भाग्यचक्र २१२

१४. अस्वस्थता और विश्राम २३४

१५. कालाकांकर २४९

१६. आत्मीयता का जीवन २६४

१७. 'गुंजन' तथा 'ज्योत्स्ना' २९०

१८. महात्माजी के दर्शन ३१७

१९. 'पाँच कहानियाँ' और 'युगांत' ३३६

२०. 'पल्लव' से पूर्व और उत्तर की राग-भावना ३४९

२१. तीते-मीठे अनुभव ३६०

२२. कालाकांकर में फिर से ३९०

२३. 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'पल्लविनी' ४०५

प्रार्थना

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन,
बरसो लघु लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन !

बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय धन,
स्मिति-स्वप्न अधर-पलकों में,
उर-अंगों के सुख यौवन !

छू छू जग के मृत रजकण
कर दो तृण तरु में चेतन,
मृण्मरण बाँध दो जग का
दे प्राणों का आलिंगन !

बरसो सुखबन, सुखमा बन,
बरसो जग जीवन के घन,
दिशि दिशि में औ' पल-पल में
बरसो संसृति के सावन !

सुमित्रानंदन पंत

अध्याय १

नयी कविता : उद्भव और विकास

(१) **पृष्ठभूमि**—परिवर्तित परिवेश के सन्दर्भ में उगा हुआ नया अर्थ-बोध ही प्रत्येक युग की कविता के स्वरूप को निर्धारित करता है। अतः शास्त्रीय परिभाषाओं के आग्रह से मुक्त होकर यदि हर युग की कविता के मूल्यांकन का कोई नया प्रतिमान स्थापित किया जा सकता है, तो वह युगीन अर्थ-बोध ही हो सकता है। नयी कविता के स्वरूप को जिस नवीन अर्थ-बोध ने निर्धारित किया है, उसकी जड़ें आधुनिक राष्ट्रीय और अन्तर-राष्ट्रीय परिवेश में निहित हैं।

हिन्दी कविता के आदि काल से लेकर छायावादी युग तक के विभिन्न युगों में जिन अर्थों या भावों को वाणी मिली, उनमें युगों की परिस्थितियों की भिन्नता के सन्दर्भ में घटित परिवर्तनों के बावजूद एक निश्चित **सांस्कृतिक चेतना-प्रवाह या अर्थ-परम्परा निहित रही है**, किन्तु प्रगतिवादी युग में व्यक्त अर्थ-बोध में एक मौलिक परिवर्तन घटित हुआ। जिस प्रकार आर्यसमाज और नवोदित बुद्धिवाद के सन्दर्भ में विकसित द्विवेदीयुगीन सुधारवादी दृष्टिकोण मूलतः भारतेन्दुकालीन देशोद्धार और राष्ट्रीय जागरण का ही रूपान्तरण था और जिस प्रकार अंग्रेजी शासन के दमन-चक्र और भारतीय दार्शनिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण के सन्दर्भ में छायावादी अन्तर्मुखी जीवन-दृष्टि द्विवेदीयुगीन सुधारवादी आग्रहों और इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित होते हुए भी मूलतः परम्परा-पुष्ट भारतीय दार्शनिक और सांस्कृतिक चेतना की ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति थी, उसी रूप में प्रगतिवादी अर्थ-बोध को छायावादी अर्थ-बोध का रूपान्तरण मात्र कहना उचित न होगा। यद्यपि यह ठीक है कि प्रगतिवादी युग में जिस भाव-बोध की अभिव्यक्ति हुई, वह विदेशी प्रभावों से अनुप्राणित होते हुए भी भारतीय परिवेश में ही विकसित हुआ था, तथापि इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि इस युग के अर्थ-बोध में घटित परिवर्तन पहले युगों के अर्थ-बोध-सम्बन्धी परिवर्तनों से पर्याप्त भिन्न था। छायावादी कवियों की संवेदना में भारतीय सांस्कृतिक चेतना के तन्तु गहराई से अनुस्यूत थे, किन्तु प्रगतिवादी नवीन अर्थ-बोध, विदेशी प्रभावों से प्रेरित होते हुए भी, अपनी यथार्थता और बौद्धिकता में इतना युक्ति-युक्त प्रतीत होता था कि छायावादी कवि भी उसके प्रभाव से वंचित न रह सके। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि छायावादी कवियों में केवल पन्त ही ऐसे थे, जो पाश्चात्य रोमाण्टिक कविता और मार्क्सवादी चिन्तन से पर्याप्त प्रभावित रहे, किन्तु इसके बावजूद भी उनका सांस्कृतिक बोध खण्डित नहीं हुआ था। छायावादी कवियों पर प्रगतियुगीन नये अर्थ-बोध का प्रभाव बस इतने तक ही सीमित रहा कि उनकी मूल संवेदना पहले से

अधिक संयत, बौद्धिक और यथार्थोन्मुखी हो गयी तथा इसी अनुपात में भाषा में से भी अति संगीतमयता, छन्दबद्धता और आलंकारिकता छँट गयी और वह जीवन के अधिक निकट आ गयी। सन् १९३० से १९४० तक की छायावादी कविता में संवेदना और भाषा का यह क्रमिक परिवर्तन स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। "इस युग की छायावादी कविता अधिक संयत बौद्धिक और यथार्थोन्मुख है।"[1] भाषा और संवेदना में घटित परिवर्तन का सबसे अधिक जीवन्त रूप निराला में प्रकट हुआ। 'अनामिका' में संकलित सन् १९३७-३८ की कविताओं तथा सन् १९४० में प्रकाशित 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक लम्बी कविता में उक्त परिवर्तन अपने सशक्त रूप में घटित हुआ है। 'रूपाभ'[2], और 'उच्छृंखल'[3] जैसी अल्पकालिक एवं 'हंस' और 'विशाल भारत' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाएँ इस परिवर्तन का उद्घोष कर रही थीं। इनके अतिरिक्त माखनलाल चतुर्वेदी का 'कर्मवीर' क्षेत्रीय प्रतिभाओं की नई रचनाएँ प्रकाश में ला रहा था।[4]

भारत में मेरठ-षड्यन्त्र केस के बाद ही रूस की वर्गहीन सामाजिक व्यवस्था आकर्षण का केन्द्र बन गई। सन् १९३४ के लगभग भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी तथा समाजवादी दल की स्थापना हुई। सन् १९३६ में मुल्कराज आनन्द और सज्जाद ज़हीर के उद्योग से 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। इसके पहले अधिवेशन के सभापति प्रेमचन्द हुए, दूसरे के रवीन्द्रनाथ ठाकुर[5]। प्रारम्भ में छायावादी

१. डॉ० शम्भूनाथसिंह, **प्रयोगवाद और नई कविता**, पृ० २

२. "इन्हीं दिनों पन्त जी के सम्पादन में 'रूपाभ' का प्रकाशन हुआ, जो नवीन काव्य-चेतना की अभिव्यक्ति का कदाचित् पहला माध्यम बना। 'रूपाभ' में भावप्रवण छायावादी रचनाएँ नहीं छपती थीं।···'रूपाभ' शब्द केवल नाम ही नहीं था—नवीन चेतना का प्रतीक भी था, उसमें यह व्यंजना स्पष्ट थी कि छायावादी 'आभा' नवीन युग में सौन्दर्य-बोध को व्यक्त करने में असमर्थ हो चुकी है—नया युग केवल 'आभा' नहीं उसके साथ 'रूप' की भी माँग कर रहा है।···अंग्रेजी काव्य में इससे कुछ पहले इसी प्रकार की घटना हो चुकी थी—वहाँ भी तीन-चार आत्म-विश्वासी बिम्बवादी कवियों ने निजी तौर पर संगठन कर रोमानी प्रवृत्ति का अन्त करने का निश्चय किया था···।" डॉ० नगेन्द्र, **आज के लोकप्रिय कवि गिरिजाकुमार माथुर** (**भूमिका भाग**), पृ० २३

३. "सन् १९३९ में नरोत्तम नागर के सम्पा० में 'उच्छृंखल' नामक पत्रिका का प्रकाशन हुआ था, जो तीव्र अस्वीकार, आत्यन्तिक विच्छेद और व्यापक मूर्ति-भंजन का आरम्भिक मंच बन रहा था। आज अकविता की प्रवृत्ति में जिस नये विच्छेद की सूचना मिल रही है, सत्ताईस वर्ष पहले परम्परावाद की दृष्टि में 'उच्छृंखल' उससे कहीं अधिक बड़ा और नया आघात सिद्ध हुआ।" गिरिजाकुमार माथुर, **आधुनिकता—नई कविता सीमाएँ और सम्भावनाएँ**, पृ० ६-७

४. दे०, डॉ० नामवरसिंह, **कविता के नये प्रतिमान**, पृ० ८७-८८

५. दे०, राधाकृष्ण सहाय, **प्रगतियुग**, प्र० सम्पा०, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी साहित्य कोश**, पृ० ४६७

कवि तथा उनके अतिरिक्त दिनकर, भगवतीचरण वर्मा और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि प्रगतिवाद की ओर इसलिए आकृष्ट हुए थे, क्योंकि उसमें जिस मानव-मुक्ति, वर्ग-हीन समाज, मानवतावाद की बात उठायी गयी थी, वह तत्कालीन सामाजिक यथार्थ और राष्ट्रीय चेतना से मेल खाती थी, किन्तु आगे चलकर प्रगतिवाद मार्क्सवादी विचारधारा से अधिकाधिक सम्बद्ध होकर उदार मानवतावादी दृष्टि से दूर हटता गया। शिवमंगलसिंह 'सुमन' की 'मास्को अब भी दूर है' तथा 'चली जा रही है बढ़ी लाल सेना' शीर्षक रचनाओं में प्रगतिवाद का कट्टर मार्क्सवादी रूप मिलता है। प्रगतिवाद के इसी संकीर्ण स्वरूप को लक्ष्य करके डॉ० नगेन्द्र ने कहा है, "प्रगतिवादी कविता तो एकान्त रूप से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, वह तो एक प्रकार से मार्क्स-दर्शन के साथ पूर्णतः आबद्ध है।"[1] प्रगतिवादी कवियों में 'सुमन', केदार, नागार्जुन, मुक्तिबोध, भवानीप्रसाद, शमशेर, महेन्द्र भटनागर, नरेन्द्र शर्मा तथा रामविलास शर्मा उल्लेखनीय हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद और डार्विन के विकासवाद के प्रभाव के परिणामस्वरूप, आगे चल कर, 'प्रगति' शब्द का किंचित् अर्थ-विस्तार हुआ और नैतिक बन्धनों के विरुद्ध मुक्त यौन-भावना को भी मानव-प्रगति का आवश्यक आयाम मान लिया गया। उन्मुक्त प्रेम और वासना के गीत गाने वालों में 'अंचल' नरेन्द्र शर्मा और 'सुमन' का नाम उल्लेखनीय है। प्राचीन काल से चले आ रहे सांस्कृतिक सातत्य और आदर्शवाद की अपेक्षा मार्क्स, फ्रायड और डार्विन के सिद्धान्त कहीं अधिक वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण प्रतीत होते थे। उनमें एक सर्वथा नवीन आकर्षण था। उनमें बौद्धिकता अधिक और अन्तर्निष्ठ गहन भाव-दृष्टि बहुत कम थी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छायावादी युग तक भारतीय सांस्कृतिक चेतना का प्रवाह, विभिन्न रूपों में प्रकट होते हुए भी, अक्षुण्ण रहा। प्रगतिवादी युग के आरम्भ से चिन्तन-केन्द्र सुदीर्घ सांस्कृतिक अर्थ-परम्परा से विस्थापित होकर फ्रायड, डार्विन, मार्क्स और लेनिन आदि विदेशी दार्शनिकों के चिन्तन में स्थापित हो गया।[2] आश्चर्य की बात है कि गाँधीवादी चिन्तन भी, जिसकी जड़ें भारतीय संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था में थीं, उक्त बाह्य प्रभावों के हावी हो उठने से निष्क्रिय और प्रभावहीन हो गया। यहीं से परम्परा के जीवन्त तत्त्वों को नये जीवन-सन्दर्भों के अनुरूप नयी व्यवस्था देने के स्थान पर उनके प्रति अनास्था प्रकट करने में गौरव अनुभव करने का युग प्रारम्भ हुआ। डॉ० देवराज के शब्दों में, "प्रगतिवाद ने छायावादी धुन्ध और कुहासे के विरोध में अभिव्यक्ति तथा विषय-वस्तु की सामाजिकता पर (को ?) गौरव दिया। इस गौरव ने भी सांस्कृतिक विरोध का रूप धारण कर

---

१. डॉ० नगेन्द्र, **आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ**, पृ० १०

२. दे०, "प्रगतिवाद के लिए, देश-काल के दायित्व से भी बढ़कर पार्टी का नारा है, संकुचित मन्तव्य की बाह्य अनुशासित अनुभूति है।" लक्ष्मीकान्त वर्मा, प्रगतिवाद, प्र० सम्पा०, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी साहित्यकोश**, पृ० ४६६

लिया।"[१] इस अनास्थावादी और असांस्कृतिक दृष्टिकोण का स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि परम्परागत विषयों के प्रति विद्रोह के साथ ही कविता और कला के पारम्परिक स्थायी प्रतिमानों के प्रति भी अनास्था की प्रवृत्ति ने जन्म लिया और पदार्थ को प्राथमिकता देने वाली मार्क्सवादी चिन्तन-पद्धति में जिस प्रकार पदार्थेतर भाव-सत्यों, आध्यात्मिक तत्त्वों—आत्मा, परमात्मा, शाश्वत सौन्दर्य—तथा स्थायी नैतिक मूल्यों, भाग्यवाद आदि के लिए कोई स्थान नहीं था, ठीक उसी प्रकार कलागत अलंकरण, सरसता, संगीतमयता, छन्द, लय, सौन्दर्य आदि कविता और कला के प्रतिमानों के लिए भी कोई गुंजायश नहीं थी। अतः इन सभी को 'बुर्जुआ' और 'सामन्ती' घोषित किया गया और उनके स्थान पर मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष, रक्तिम क्रान्ति, वस्तु-सत्य, उपयोगितावाद और अभिधात्मक सपाट-बयानी की प्रतिष्ठा की गई। प्रगतिवादी आन्दोलन के ये विदेशी संस्कार स्वयं उसके लिए तो घातक सिद्ध हुए ही, साथ ही उन्होंने हिन्दी कविता के भावी विकास को भी दूर तक प्रभावित किया। जिस अभि-व्यक्तिगत फूहड़पन और कलात्मक असंयम ने आगे चलकर कविता के नाम पर ढेरों भ्रष्ट और निकृष्ट गद्य की सृष्टि की, उसे सैद्धान्तिक रूप में समर्थन देने की प्रवृत्ति का सूत्रपात, वास्तव में, प्रगतिवादी युग में ही हुआ था।

वस्तुतः काव्य की गरिमा किसी भी वाद-ग्रस्त संकीर्ण जीवन-दृष्टि का परिणाम नहीं होती, वरन् वह इस तथ्य में निहित होती है कि उसमें निबद्ध जीवन-सन्दर्भ कितने अर्थ-गर्भित, विविध, मार्मिक और पूर्ण हैं। छायावादी युग में पर्याप्त मात्रा में उत्कृष्ट काव्य रचे जाने का कारण यही है कि 'छायावाद' उन संकीर्ण पारिभाषिक (सैद्धान्तिक) अर्थों में वाद-ग्रस्त कतई नहीं था, जिन सीमित अर्थों में 'प्रगतिवाद' वाद-ग्रस्त था। यही कारण है कि प्रगतिवादी आन्दोलन ने एक भी ऐसा कवि पैदा नहीं किया, जिसने एक भी ऐसी महान् कृति प्रस्तुत की हो, जो अन्य युगों की महान् कृतियों से टक्कर ले सके। प्रगतिवादी युग के समकालीन होते हुए भी निराला और दिनकर जैसे कवियों की महत्ता उनके व्यक्तित्व की उस आन्दोलनकारी ओजस्विता में निहित है, जिसके कारण वे **छायावादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी** युगों में निरन्तर काव्य-सर्जन में संलग्न होने पर भी इनमें से किसी के प्रति समर्पित नहीं हुए।

राजनीतिक दृष्टि से अनास्थावादी बौद्धिक वर्ग का विकास **'नेहरू युग'** से सम्बन्ध रखता है। 'नेहरू-युग' की व्याप्ति सन् १९३८ से लेकर सन् १९६४ तक मानी जा सकती है। स० ही० वात्स्यायन (अज्ञेय) ने 'नेहरू-युग' के प्रारम्भिक काल (सन् १९३७-३८) के विषय में कहा है, "यह युग संशय, अस्वीकार और कुण्ठा का है। अस्वीकार का व्यापक स्वर सर्वोपरि है और कुछ अपवादों को छोड़कर सामान्यतः इसे अश्रद्धा का युग कह सकते हैं।"[२] नेहरू का वास्तविक प्रभाव-क्षेत्र वह बुद्धिजीवी समाज

---

१. डॉ० देवराज, **नयी कविता की वर्तमान स्थिति**, सम्पा०, डॉ० जगदीश गुप्त तथा श्री विजयदेव नारायण साही, **नई कविता**, १९६०-६१ (संयुक्तांक ५-६), पृ० २४

२. दे०, डॉ० नामवरसिंह, **कविता के नये प्रतिमान**, पृ० ८८ पर उद्धृत

रहा है जो पश्चिमी जीवन-पद्धति को सदा आकर्षण के भाव से देखता रहा है। डॉ० रघुवंश ने नेहरू के व्यक्तित्व के प्रभाव के स्वरूप और क्षेत्र पर प्रकाश डालते हुए कहा है, "अपने व्यक्तित्व के इस पक्ष से वे पाश्चात्य विचारों और संस्कारों में दीक्षित समाज के सहज ही प्रेरणा-स्रोत बन गये हैं।"[१] अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिमी शिक्षा और संस्कार प्राप्त करने वाला उक्त बौद्धिक वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए संगठित है और "अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्वनागरिकता, देश की भावात्मक एकता अथवा राष्ट्रीय एकता, वैज्ञानिक तथा प्राविधिक उन्नति, आधुनिकता तथा प्रगतिशीलता के नाम पर यह वर्ग हमारे अनेक प्रश्नों और समस्याओं में अपनी तर्क-पद्धति से उलझाव पैदा करता रहता है। निरन्तर उलझाव पेदा करने में ही उसकी सार्थकता और रक्षा है, ऐसा वह अनुभव करता है।"[२] उल्लेखनीय है कि अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, आदि नेहरू-युग के अधिकतर नये कवियों का मानस-गठन साहित्य-संस्कारी हिन्दी-कवि से पर्याप्त भिन्न था—यहाँ तक कि उनकी भाषा के मुहावरे भी भिन्न थे। "आकस्मिक नही कि यह बौद्धिक कवि-वर्ग चिन्तन-प्रक्रिया में सबसे अधिक जवाहरलाल नेहरू को अपने निकट पाता था।"[३] जगदीशचन्द्र माथुर ने अपने नाटक 'पहला राजा' को नेहरू को समर्पित करते हुए जो शब्द लिखे हैं, उनसे अपने युग के युवा-वर्ग पर नेहरू के 'अद्भुत' प्रभाव की पुष्टि होती है। वे लिखते हैं—"इलाहाबाद वाले नेहरू की याद में, जिनका मेरी पीढ़ी के जवानों पर बेअंदाज़ असर पड़ा था।"[४]

विदेशी संस्कारों और विचारों के प्रति अतिरिक्त आकर्षण की जिस प्रवृत्ति का उदय प्रगतिवादी युग में हुआ था, वह आगे आने वाले युगों में और भी बढ़ती गयी। फ्रायडवादी, विकासवादी, मार्क्सवादी विचारधाराओं के प्रभाव में अन्य अनेक नवोदित पाश्चात्य साहित्यिक, दार्शनिक, और वैज्ञानिक विचारधाराओं के प्रभाव-तन्तुओं ने मिलकर और भी जटिल रूप ग्रहण कर लिया। दुर्भाग्य यह रहा कि यह विदेशी प्रभाव प्रेरणा के सृजनात्मक स्तर पर स्वदेशी संस्कारों में घुलमिल कर कम और दिशा-शून्य विवेकहीन अनुकृति के निर्जीव स्तर पर अधिक व्यक्त हुआ है। भारतीयों की अनुकरण-प्रियता की प्रवृत्ति को लक्ष्य करके डॉ० द्विवेदी ने कहा है,"···जो बात सर्वाधिक स्पष्ट है, वह है हमारी अनुकरण-क्षमता। हमने अन्धाधुन्ध अनुकरण किया है···पर जिस त्रुटि को कोई भी बर्दाश्त नही कर सकता, वह यह है कि हमने अपनी वह सबसे बड़ी सम्पत्ति खोदी है, जिसने भारतीय साहित्य को, उसके सम्पूर्ण दोष-त्रुटियों के बाद भी, संसार के साहित्य में अद्वितीय बना रखा था। वह सम्पत्ति है—संयम, श्रद्धा और निष्ठा।"[५]

---

१. डॉ० रघुवंश, **भारतीय बौद्धिक और युग की चुनौती**, सम्पा०, विपिनकुमार अग्रवाल, लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि **क ख ग**, जनवरी १९६४, पृ० ६५
२. **वही**, पृ० ६६-६७
३. डॉ० नामवरसिंह, **कविता के नये प्रतिमान**, पृ० ९०
४. जगदीशचन्द्र माथुर, **पहला राजा**, पृ० ७
५. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य की भूमिका**, पृ० १३४

स्वयं प्रयोगवादी और नये कवियों ने, जो स्वयं भी अनुकरण की उक्त प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त नहीं रहे, ईमानदारी के क्षणों में इस विषय में खेद प्रकट किया है। अनुकरण-प्रियता से उत्पन्न संस्कारहीनता, असंयम और खोखलेपन का ही यह परिणाम है कि "इतनी बौद्धिक, नैतिक और बोधमूलक अराजकता और दायित्वहीनता हमारे तरुण साहित्यकारों में दिखाई देती है कि कभी-कभी तो आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है। यह स्थिति किसी प्रकार वरणीय नहीं हो सकती।"[1] गिरिजाकुमार माथुर के शब्दों में भी प्रकारान्तर से इसी बात की पुष्टि हुई है। सम-सामयिक कविता के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं, "हमारी अब तक की कविता के मुख्य दोष हैं, अत्यधिक पुनरावृत्ति, धरातलीय संवेदनशीलता, छिछला मूल्य-बोध, कलात्मक दारिद्र्य, अवसर-वादी सामयिकता, निष्ठाहीन मानवीयता और कवि कार्य के प्रति गम्भीरता का अभाव। अधिकतर कवि स्वीकृत और अभिनिश्चित रूपाकार की अनुकृतियाँ प्रस्तुत करते हुए तुरन्त-सिद्ध रचना (Sure-Shot literature) का मोह नहीं छोड़ पाते। बीसवीं शती का हमारा अधिकांश काव्य इसी कारण कृत्रिम और चैष्टिक है, क्योंकि कवि मात्र कल्पनाओं से अनुभूति का आरोप करने में अधिक विश्वास करते रहे हैं।"[2] नयी कविता के समर्थक डॉ० जगदीश गुप्त ने भी कविता के सन्दर्भ में सांस्कृतिक विघटन की ओर संकेत करते हुए कहा है, "कविता के भीतर पैठकर वही स्वर धीरे-धीरे आत्म-मंथन, उत्पीड़न, क्रान्ति, विद्रोह, व्यंग्य-विद्रूप, अनास्था और विडम्बना की विचित्र अनुगूँजें पैदा करते रहे तथा कभी-कभी ऐसा भी लगने लगा कि सहस्राब्दियों से जीवन को अखण्ड रूप से धारण और रक्षित किये रहने वाली आस्था, उदात्तता और स्वार्थ के घेरे को तोड़कर व्यापक मानवीय हित की ओर बढ़ने वाली सहज सांस्कृतिक प्रवृत्ति ही समाप्त होने जा रही है।"[3]

वस्तुतः न तो किसी देश के लिए यह ही श्रेयस्कर है कि उसका सांस्कृतिक बोध इतना क्षीण पड़ता चला जाए कि वह अपनी समायोग-शक्ति से बदलते हुए युग-जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सके और न ही यह शोभनीय है कि अनुकरण-मूलकता के कारण विजातीय अवान्तर संस्कार स्वदेशी आचार-विचार और जीवन की विविध सतहों में इतनी अधिक मात्रा में घुस आयें कि उस युग को पूर्ववर्ती युग के स्वाभाविक विकास के रूप में न रहने देकर ऐसा विचित्र, जटिल और आरोपित रूप दे डालें कि वह ऐतिहासिक विकास-क्रम से विच्छिन्न एक अजीब-सी स्थिति में दिखलाई पड़े। पहली स्थिति सांस्कृतिक बोध की उपेक्षा के कारण सांस्कृतिक चेतना के मुरने से और दूसरी मानसिक दासता के संस्कारों और उनके परिणाम–अनुकरणमूलकता–से

---

१. नेमिचन्द्र जैन, **बदलते परिप्रेक्ष्य**, पृ० २२

२. गिरिजाकुमार माथुर, **आधुनिकता—नयी कविता सीमा और सम्भावनाएँ**, पृ० २१

३. डॉ० जगदीश गुप्त, हिन्दी कविता : प्रवृत्यात्मक विवेचन और मूल्यांकन, सम्पा० शिवदानसिंह चौहान, **आलोचना**, १९६५, पृ० ६५

उत्पन्न होती हैं। तत्त्वतः उक्त दोनों स्थितियों में कोई अन्तर नहीं हैं। संस्कृति की उपेक्षा से मानसिक जड़ता, वैचारिक उलझन और अनुकरण की प्रवृत्ति बढ़ती है और अनुकरण-मूलकता तथा चिन्तन-शून्यता से सांस्कृतिक चेतना की उपेक्षा को बढ़ावा मिलता है। इस सांस्कृतिक विघटन के, हिन्दी की प्रयोगवादी और नई कविता के सन्दर्भ में, दो परिणाम निकले। पहला तो यह कि कविता में यथार्थ का बोध युग-जीवन की सहजता से कटकर एक संकीर्ण सैद्धान्तिक चौखटे में कस गया, अर्थात् कवि लोग उन्हीं परिस्थितियों और मनःस्थितियों को यथार्थ मानने लगे जो मार्क्सवादी या मनोविश्लेषणवादी या अस्तित्ववादी या किसी अन्य सैद्धान्तिक साँचे में समा पातीं। अनेक बार सैद्धान्तिक साँचों को ध्यान में रखकर, उनके अनुरूप मनगढ़न्त परिस्थितियों और मनःस्थितियों की सृष्टि की जाने लगी, जिससे सारा यथार्थ-बोध कृत्रिम, दिशा-शून्य और धूमिल हो गया। दूसरा परिणाम यह निकला कि पाश्चात्य दर्शनों की बुद्धि-सत्य या तर्क पर आधारित विश्लेषण-पद्धति ने अर्थ-बोध को अधिक गौरव देकर काव्य और कला को साधना, संयम और शिल्पगत सौष्ठव की शर्तों से मुक्त कर दिया।

(२) **आधुनिक युग-बोध और आधुनिकता**—प्रयोगवाद और नई कविता की संवेदना के सन्दर्भ में आधुनिक युग-बोध और आधुनिकता का बार-बार उल्लेख किया जाता रहा है। नई कविता के विकास पर विचार करने से पूर्व यहाँ उसके मूल में अवस्थित आधुनिक युग-बोध तथा आधुनिकता के प्रश्न पर संक्षेप में विचार करना प्रासंगिक होगा।

यों तो प्रत्येक युग की अपनी-अपनी आधुनिकता रही है, किन्तु वर्तमान युग की आधुनिकता और पूर्व युगों की आधुनिकता में एक मौलिक अन्तर है। वर्तमान युग की आधुनिकता मुख्यतः वैज्ञानिक प्रगति द्वारा नियन्त्रित है, जबकि प्राचीन युगों की आधुनिकताएँ परिवर्तित युगीन परिवेशों के परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विकास के क्रमिक सोपानों के रूप में हुआ करती थीं। प्राचीन युगों के बोधों में घटित अन्तर आनुपातिक होता था, किन्तु आधुनिक युग के बोध में घटित अन्तर गुणात्मक है। यदि आधुनिक युग-बोध के स्वरूप में घटित गुणात्मक भिन्नता के कारण पर विचार किया जाए तो हमें आधुनिक युग की वैज्ञानिक प्रगति और उससे प्रभावित चिन्तन-धाराओं को ही आधुनिक युग के संवेदनागत वैशिष्ट्य के लिए उत्तरदायी ठहराना होगा। वस्तुतः वर्तमान युग की आधुनिकता के मूल में वैज्ञानिक दृष्टि, उससे उत्पन्न औद्योगीकरण और औद्योगीकरण से उत्पन्न भौतिकतावादी सभ्यता और उसकी जटिल समस्याएँ विद्यमान हैं। जब वैज्ञानिक यान्त्रिक प्रविधि को जीवन और समाज के सभी पक्षों—पारिवारिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक आदि—पर भी लागू किया जाने लगता है, तो इन सब पक्षों के मूल में स्थित रागात्मक और नैतिक आधार विघटित होने लगता है, क्योंकि विज्ञान वस्तु-सत्य और बौद्धिक विश्लेषण में विश्वास रखता है और वस्तु (पदार्थ) तथा बौद्धिक विश्लेषण का रागात्मकता, नैतिकता, आध्यात्मिकता से दूर का भी सम्बन्ध नहीं होता है। यही कारण है कि पारस्परिक रागात्मक सम्बन्धों का विच्छेद, नैतिक मूल्यों का विघटन, [illegible] और मानसिक

तनाव, व्यक्तिवाद और उससे उत्पन्न आत्म-केन्द्रीयता विज्ञानजनित भौतिकतावादी सभ्यता की नैसर्गिक परिणतियाँ हैं। औद्योगिक सभ्यता में जीवन की कसौटी जीवन-स्तर न होकर रहन-सहन का स्तर होता है; मानव का सम्मान आन्तरिक गुणों और महत् उद्देश्यों पर आश्रित न होकर रहन-सहन के स्तर तथा उसको निर्धारित करने वाले भौतिक तथा आर्थिक उपार्जन पर निर्भर होता है। रहन-सहन के स्तर की चिन्ता सामाजिक समायोग (एडजस्टमैण्ट) की समस्या को तथा आर्थिक उपार्जन की चिन्ता आर्थिक संघर्ष को जन्म देती है। रहन-सहन के स्तर और आर्थिक संचय की कोई सीमा नहीं है, इसलिए इनके लिए किये जाने वाले संघर्ष की भी कोई सीमा नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में व्यक्ति सामाजिक और आर्थिक संघर्षों में जूझता हुआ भीतर-ही-भीतर टूटता रहता है। सम-सामयिक जीवन की इन्हीं विसदृशताओं, विषमताओं और जटिलताओं के प्रति विकसित बौद्धिक दृष्टि ही आधुनिक संवेदना और आधुनिक युग-बोध की आधार-भूमि है। समस्याओं की निरन्तरता से परिपूर्ण समसामयिक यथार्थ ने नये कवि को इतना जकड़ लिया है कि वह उससे हटकर अन्य कुछ सोच ही नहीं सकता। पुरानी परम्पराओं और चिर प्रतिष्ठित जीवन-मूल्यों में उसे आज के यथार्थ जीवन की समस्याओं का कोई समाधान नहीं मिल पा रहा है। वर्तमान अर्थ-व्यवस्था और अर्थ-केन्द्रित सामाजिक गठन में संघर्ष और उससे उत्पन्न ग्लानि, विक्षोभ, असन्तोष, ईर्ष्या और विवाद का होना अवश्यम्भावी है। यही इस व्यवस्था की नियति है, इसी के लिए आज का मानव अभिशप्त है। "ऐसी सभ्यता में जो आधुनिक भावबोध है, वह है अनाशा और दुःख-भावना का, ग्लानि और विरक्ति का, अगति का।"[१] वैज्ञानिकता से उत्पन्न इसी आधुनिक युग-बोध के प्रति सचेत आज के नये कवि को एक नये और अपूर्व परिदृश्य ने अतीत के जीवन से और उसके साथ ही परम्परागत चेतना से काटकर अलग-अलग कर दिया है।[२] आधुनिक युग-बोध को लेकर लिखे गए पाश्चात्य आधुनिक लेखकों के ग्रन्थों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए स्टीफेन स्पेण्डर ने स्पष्ट रूप से लिखा है, "(आधुनिकता के) विशिष्टतम लक्षणों से युक्त आधुनिक लेखकों की कृतियों में सम-सामयिक सभ्यता को अस्तव्यस्त, ह्रासोन्मुख, पतन के कगार पर स्थित, अराजकतापूर्ण, विसंगत, मूल्यहीनताओं के मरुस्थल के रूप में अंकित किया गया है।"[३]

---

१. गजानन माधव मुक्तिबोध, **नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध**, पृ० १८३

२. To the modern it seems that a world of unprecedented phenomena has to-day cut us off from the life of the past and in doing so from traditional consciousness." Stephen Spender, *The Struggle of Modern*, P. 78.

३. "In the works of the most characteristically modern writers of contemporary civilization was represented as chaotic, decadent, on the point of collapse, anarchic, absurd, the desert of non-values." *Ibid*, P. 208.

ऊपर जिस आधुनिक भाव-बोध का उल्लेख किया गया है, वही आज के कवियों और लेखकों द्वारा बहु-चर्चित 'आधुनिकता' का आधार है। गिरिजाकुमार माथुर के शब्दों में "वस्तुतः आधुनिकता परिवर्तित भाव-बोध की वह स्थिति है, जिसका प्रादुर्भाव यान्त्रिक तथा वैज्ञानिक विकास-क्रम के वर्तमान बिन्दु पर आकर हुआ है।"[१] वैज्ञानिक वस्तून्मुखी दृष्टि को जीवन, साहित्य और कला पर लागू करने से जो परिणाम निकलते हैं, वे ही आधुनिक युग-बोध और आधुनिकता के नियामक तत्त्व हैं। संक्षेप में ये तत्त्व इस प्रकार हैं—(१) वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक पद्धति को प्रश्रय देने के कारण क्षण का, अंश का और छोटी-छोटी घटनाओं का जीवन के पुष्कल प्रवाह से कटकर महत्त्वपूर्ण हो उठना, (२) ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सातत्य का खण्डित होना, (३) वस्तु-सत्य की स्वीकृति के कारण पदार्थेतर धर्म, ईश्वर, नैतिक मूल्यों, रागात्मक सम्बन्धों और भाव-सत्यों का विघटित होना, (४) अहं-केन्द्रित वैयक्तिकता के प्राबल्य के कारण अर्थ और काम पर केन्द्रित असंयत भोगवादी प्रवृत्ति की प्रधानता, (५) साहित्य और कला के क्षेत्र में पारम्परिक प्रतिमानों के साथ ही प्रतिभा, साधना और संयम की शर्तों का निराकरण, (६) रागात्मक सम्बन्धों के विघटन पर आश्रित महानगरीय बोध में 'लघु-मानव' का अकेलापन, संत्रास और अवसाद, (७) यान्त्रिक सभ्यता की जटिलताओं से उत्पन्न जीवन-संघर्ष, टूटन, घुटन और अनास्था।

स्पष्ट है कि आधुनिकता-सम्बन्धी उक्त दृष्टिकोण सीमित और एकांगी है। आधुनिक बोध और आधुनिकता की इसी एकांगिता को ध्यान में रखकर रामधारीसिंह 'दिनकर' ने ठीक ही कहा है, "इसलिए हमारा ख्याल है कि साहित्य में साधारणतः जिसे आधुनिक बोध कहा जाता है, वह कोई शाश्वत मूल्य नहीं है। मूल्य शायद वह है ही नहीं। मूल्यों के विघटन से उत्पन्न वह एक दृष्टि है, जिसमें घबराहट, निराशा, शंका त्रास और असुरक्षा के भाव हैं। अतएव आधुनिक बोध की सारी व्याप्तियाँ ऐसी नहीं हैं, जो आँख मूँदकर स्वीकार कर ली जाएँ।"[२] डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों में "आधुनिकता का एक रूप पर-मुखापेक्षी होकर इतना वैचित्र्य में जीने लगता है कि वह असामाजिक ही नहीं, अमानवीय तक हो जाता है।"[३]

वस्तुतः विज्ञान और वैज्ञानिक प्रविधि के विकास से जीवन और साहित्य को भय नहीं है; भय की स्थिति तब आती है जब जीवन और साहित्य अपनी मौलिक सांस्कृतिक और संवेदनात्मक सहज दृष्टि को त्यागकर वैज्ञानिक दृष्टि और पद्धति अपनाने को बाध्य हो जाते या किये जाते हैं। 'आधुनिकता' का प्रत्यय वैज्ञानिकता को

---

१. गिरिजाकुमार माथुर, **आधुनिकता—नई कविता सीमाएँ और सम्भावनाएँ** पृ० १०६।

२. रामधारीसिंह 'दिनकर', **शुद्ध कविता की खोज**, पृ० २१६

३. डॉ० जगदीश गुप्त, **नयी कविता : किसिम किसिम की कविता**, सम्पा० डॉ० जगदीश गुप्त तथा विजयदेव नारायण साही, **नयी कविता** १९६६-६७ (अंक ८) पृ० २९४

जीवन और साहित्य के सभी क्षेत्रों में चरम बिन्दु तक लागू करने के अस्वाभाविक आग्रह का दुष्परिणाम मात्र है। यदि वैज्ञानिकता के आग्रहपूर्ण आरोपण की प्रवृत्ति से मुक्त होकर विचार किया जाए, तो स्पष्ट होगा कि आधुनिकता एक सतत विकासमान तथा गत्यात्मक प्रत्यय है। आधुनिकता, अपने स्वस्थ रूप में, परम्परा की उपेक्षा नहीं करती, वरन् उससे लिपटी रूढ़ियों और अन्धविश्वासों को त्यागकर उसके जीवन्त पक्ष को ग्रहण करती है; वह संस्कृति की विकासोन्मुखता की परिचायक दृष्टि है, जो समूची जीवन-व्यवस्था को प्रभावित करती है। आधुनिकता अतीत से सम्बद्ध, वर्तमान से प्रतिबद्ध और भविष्य के प्रति उन्मुख होती है। "नवीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में अपने-आपका संस्कार करना ही आधुनिकता है।"[1] आधुनिकता के विषय में यही बात प्रकारान्तर से डॉ० शम्भूनाथसिंह ने कही है। उनके अनुसार आधुनिकता "क्षण-क्षण अपने को पुनस्संघटित और नवीनीकृत करती चलती है।"[2] डॉ० विनयमोहन शर्मा ने आधुनिकता के इसी स्वस्थ स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है, "आधुनिकता की काल-सीमा निर्धारित करना कठिन है, क्योंकि वह काल-सापेक्ष और काल-जयी भी है।"[3]

(३) **आधुनिक बोध और नयी कविता के प्रेरणा-स्रोत**—अधिकांश प्रयोगवादी तथा नयी कविता में आधुनिकता का जो स्वरूप उभरा है वह स्वस्थ, समन्वित जीवन-दृष्टि पर आधारित न होकर खण्डित यथार्थ-बोध पर आधारित है। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, खण्डित जीवन-दृष्टि से प्रेरित आधुनिकता की उत्सभूमि विज्ञान और उसकी परिणतियाँ हैं। यह कहना सर्वथा त्रुटिपूर्ण है कि "विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ मानव का मूल्य बढ़ता गया है और मानवेतर का मूल्य घटता गया है।"[4] वास्तविकता यह है कि विज्ञान ने पदार्थ को महत्त्व दिया है और पदार्थेतर (जिसमें ईश्वर के साथ मनुष्य भी सम्मिलित है) का अवमूल्यन किया है। विज्ञान के अतिरिक्त आधुनिकता और उसे वाणी देने में संलग्न नयी कविता के प्रेरणा-स्रोतों में कतिपय पाश्चात्य दर्शनों—मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद, विकासवाद, सापेक्षवाद, अस्तित्ववाद आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अस्तित्ववाद को छोड़कर उक्त सभी दर्शन भी वैज्ञानिक दृष्टि से अनुप्रेरित हैं। मार्क्स के अनुसार प्रत्यय पदार्थ-प्रसूत है। पदार्थ-प्रसूत प्रत्यय का स्वतन्त्र अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है। मार्क्स के अनुसार बाह्य जगत् का समूचा परिवर्तन पदार्थ और प्रत्यय के द्वन्द्व-सिद्धान्त पर आधारित है। समूचा इतिहास वस्तुओं (बाह्य परिस्थितियों) और प्रत्ययों के द्वन्द्व और समायोग का इतिहास है।[5] दर्शनों के इतिहास में मार्क्सवाद

---

१. रामस्वरूप चतुर्वेदी, **हिन्दी नव-लेखन**, पृ० १३
२. डॉ० शम्भूनाथसिंह, **प्रयोगवाद और नयी कविता**, पृ० १७६
३. डॉ० विनयमोहन शर्मा, **साहित्यान्वेषण**, पृ० ३०
४. सच्चिदानन्द वात्स्यायन, **हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य**, पृ० १८।
५. J. O. Urmson, *The Concise Encyclopaedia of Western Philosophy and Philosophers*, P. 249.

सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है।[१] मार्क्सवाद ने आधुनिक व्यक्ति को अपार्थिव मान्यताओं से हटाकर वैज्ञानिक भौतिक उन्नति की ओर प्रवृत्त किया, वर्ग-संघर्ष को उभारा, और जीवन तथा साहित्य के आभ्यन्तर मूल्यों की अपेक्षा उपयोगितापरक बहिर्मुखी मूल्यों को गौरव प्रदान किया।

काम-भावना को जीवन का मूल प्रेरक तत्त्व मानने वाले फ्रायड का भी आधुनिक युग-बोध और नयी कविता पर गहरा प्रभाव पड़ा है। फ्रायड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्त ने नैतिकता के प्रतिमानों को भारी झटका दिया है और कला और साहित्य के क्षेत्र में 'दादाइज़्म' (दादावाद) और 'सुररियलिज़्म' जैसे आन्दोलनों को प्रेरित किया है। हिन्दी की प्रगतिवादी, प्रयोगवादी तथा नयी कविता में नग्नता और काम-कुण्ठाओं के चित्रणों पर फ्रायड का प्रभाव स्पष्ट है। मनोविश्लेषण शास्त्र के कुप्रभाव को लक्ष्य करके महादेवी वर्मा ने कहा है, "इस दृष्टि से हमारी स्वभावगत विकृति से अधिक हानिकारक फ्रायडियन प्रवृत्ति है, क्योंकि वह व्यक्ति की विकृति को संरक्षण ही नहीं देती, वरन् उसे सामान्य बनाने के लिए कल्पित सिद्धान्तवाद भी देती है।"[२]

जिस प्रकार मार्क्सवाद में वैज्ञानिक और मनोविश्लेषण शास्त्र में मनोवैज्ञानिक आधार प्रबल था, उसी प्रकार डार्विन का विकासवाद जीव-विज्ञान पर आधारित था। डार्विन का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित था कि सब जीवधारी (ऑरगेनिज़्म) और वृत्तियाँ (इन्सटिंक्ट्स) परिवर्तनशील हैं तथा अस्तित्व के लिए संघर्ष की प्रवृत्ति केवल उन्हीं जीवधारियों को जीवित रहने की अनुमति देती है, जो जीने के लिए अपेक्षित समायोग के योग्य हैं।[३]

डार्विन ने अपने विकासवाद के सिद्धान्त में मनुष्य को भी इस आधार पर सम्मिलित कर लिया कि उच्चतर जीवधारी भी रूपान्तरण की उस दीर्घ प्रक्रिया के परिणाम हैं, जो उस वर्ग के निम्नतम जीवधारियों से प्रारम्भ हुई थी।[४] इस सिद्धान्त का आधुनिक बोध पर तीन प्रकार से प्रभाव पड़ा है—(१) इस सिद्धान्त ने संघर्ष को बढ़ावा दिया और संघर्ष में सफलता के लिए अधिक-से-अधिक शारीरिक और भौतिक शक्ति अर्जित करने की प्रेरणा दी। (२) मनुष्य का विकास पशु के स्तर के प्रारम्भिक जीवों से मानने के कारण इस सिद्धान्त ने मनुष्य और पशु में शारीरिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी नैकट्य स्थापित किया, जिससे नैतिकता का सारा स्वरूप धपले में पड़ गया। (३) व्यक्ति का दृष्टिकोण आध्यात्मिक की अपेक्षा लोकपरक और ऐहिक हो गया।

---

१. Ed. Dagobert. D. Runes, *Treasury of Philosophy*, P. 789.

२. महादेवी वर्मा, **साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध**, पृ० १८२

३. Ed. Dagobert. D. Runes, *Treasury of Philosophy*, P. 301.

४. *Ibid*, P. 301.

सापेक्षतावाद तो विशुद्धतः वैज्ञानिक दर्शन है ही। आइन्सटाइन ने प्रतिपादित किया है कि काल को मापने के विभिन्न मापदण्ड मापी जाने वाली वस्तु की सापेक्षता में मापने के साधन अथवा यन्त्र की गति के वेग के अनुसार भिन्न होते हैं।[1] दिन, महीना, वर्ष आदि काल को मापने के मापदण्ड सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के घूमने की गति के आधार पर निर्धारित होते हैं। अन्य ग्रहों में काल के मापदण्ड उन विशिष्ट ग्रहों की सूर्य के चारों ओर घूमने की गति के अनुपात में होंगे। आइन्सटाइन ने इस मान्यता का खण्डन किया है कि कोई एक ऐसा सर्वव्यापी काल-प्रवाह है, जिसमें विश्व की सभी घटनाएँ अपना स्थान रखती हैं। उसने सिद्ध किया कि किसी भी प्रकार के प्रयोग द्वारा पूर्ण और निरपेक्ष गति का निर्धारण असम्भव है।[2] देश और काल परस्पर सापेक्ष हैं।

आइन्सटाइन का सिद्धान्त भौतिक-शास्त्र के क्षेत्र से सम्बन्धित था, किन्तु उसके निष्कर्षों को साहित्य और कला के क्षेत्रों में भी लागू किया गया। परिणामतः प्रेम, शान्ति, उत्सर्ग, दया आदि शाश्वत जीवन-मूल्यों की स्थिति धपले में पड़ गई। युग और स्थानीय परिवेश से निरपेक्ष किन्ही भी जीवन-मूल्यों की धारणा निराधार प्रतीत होने लगी है। वस्तुतः सापेक्षतावाद का सिद्धान्त भौतिक जगत् पर ही ठीक उतरता है, भाव-जगत् या अध्यात्म-जगत् पर नहीं। बुद्ध, कबीर और गाँधी की अहिंसा-भावनाएँ अपने विशिष्ट युगों की सापेक्षता में विशिष्ट अर्थवत्ता रखते हुए भी किसी-न-किसी स्तर पर एक हैं, तभी उनको एक ही संज्ञा से अभिहित किया जाता है। वही मूल भूत भाव-तत्त्व जो उक्त महापुरुषों के युगों की अहिंसा-भावना में निहित है, अहिंसा की भावना को काल-सापेक्षता के बावजूद कालजयी रूप प्रदान करता है। इसी प्रकार शृंगार, करुणा, वीरता आदि की प्रवृत्तियाँ भी काल-जयी हैं। किन्तु उक्त सैद्धान्तिक आधार मिल जाने के कारण आधुनिक कवि का बोध समसामयिक संकीर्ण यथार्थ से ऊपर उठकर देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करने की शक्ति खोता जा रहा है।

आधुनिक युग-बोध और नयी कविता को प्रभावित करने वाले दर्शनों में अस्तित्ववाद का विशेष स्थान है। अस्तित्ववाद पारम्परिक दर्शनों की अति तर्क-सम्मतता और विज्ञान के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुआ। इसमें हीगेल के वस्तुनिष्ठ चिन्तन से प्रसूत परम प्रत्यय (universal idea) की तीव्र प्रतिक्रिया हुई तथा मनुष्य को महत्त्व प्रदान करते हुए आत्मनिष्ठ चिन्तन-पद्धति (subjective method) को अपनाया गया।[3] अस्तित्ववादी चिन्तन की दो धाराएँ हैं।[4] (१) ईश्वरवादी, जिसके प्रतिनिधि पास्कल, किर्केगार्ड, मार्सल, यास्पर्स और

१. Michael H. Briggs, *Handbook of Philosophy*. P. 179.

२. "He has shown that it is impossible to determine absolute motion by any experiment whatever." Ed. Dagobert D. Runes *Treasury of Philosophy* P. 355.

३. विस्तार के लिए दे०, डॉ० लालचन्द गुप्त 'मंगल', **अस्तित्ववाद और नयी कहानी** पृ० १४-२७

४. Jean Paul Sartre, *Existentialism and Humanism*, P. 26.

गेब्रियल आदि हैं, (२) अनीश्वरवादी, जिसके प्रतिनिधि सार्त्र, कैमुअ और हैडगर हैं। ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु व्यक्ति के अस्तित्व के लिए उसे किसी प्रकार उत्तरदायी नहीं मानते हैं। निरीश्वरवादी दार्शनिकों का मत है कि मनुष्य को स्वयं अपने परिणामों का सामना करना है, कोई अवान्तर सत्ता मनुष्य के अस्तित्व के लिए उत्तरदायी नहीं है। इस प्रकार दोनों ही चिन्तन-धाराएँ मनुष्य को अपने अस्तित्व की सार्थकता के लिए उत्तरदायी मानती हैं। अस्तित्ववाद का मूल सिद्धान्त है 'अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती होता है।' इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य पहले निरर्थक मांस-पिण्ड के रूप में जन्म लेता है, तदुपरान्त वह अपने कार्यों के द्वारा स्वयं को सार्थकता प्रदान करता है।[१] सार्त्र के अनुसार व्यक्ति रुचियों और कार्यों के चयन में स्वतन्त्र होता है, किन्तु उसका व्यक्तिगत चयन भी सामाजिक हित के सन्दर्भ में होता है। इस प्रकार व्यक्ति की वरण की स्वतन्त्रता एक साथ ही व्यक्तिगत और सामाजिक हित और उत्तरदायित्व की भावना से निर्धारित होती है।[२] यद्यपि अस्तित्ववाद मानव-महिमा का सिद्धान्त है,[३] जिसमें मनुष्य को कर्म के आधार पर परिभाषित किया जाता है,[४] तथापि इसका एक दूसरा पहलू भी है। मनुष्य अपना भाग्य-विधाता स्वयं होते हुए भी अनेक बार परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ अन्त में पराजित हो जाता है। ऐसी स्थिति में, उसमें भय, निराशा, भाग्यवाद, पीड़ा आदि की भावनाओं का प्रबल हो उठना स्वाभाविक ही है। सार्त्र के रचनात्मक साहित्य में ऐसे विवश, संत्रस्त और पीड़ित पात्रों की प्रधानता है। हिन्दी की नई कविता पर अस्तित्ववाद के इसी पक्ष का अधिक प्रभाव पड़ा है। इसीलिए अनेक आलोचकों ने अस्तित्ववाद तथा उससे प्रभावित कविता की भर्त्सना की है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में, "अस्तु, अस्तित्ववादी साहित्यकारों के अनुसार पात्रों की महानता, उदात्तता आदि कोई महत्त्व नहीं रखती।...वस्तुतः वे साहित्य में महान् मानव के स्थान पर लघु मानव की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं।"[५] डॉ० नगेन्द्र के अनुसार भारत की ह्रासोन्मुखी स्थिति में अस्तित्ववादी प्रचार के लिए प्रकृत भूमि मिल गयी है। उनका कहना है, "इस विचार-धारा का आयात भारत में भी गत दस-पन्द्रह वर्षों से हो रहा है और अपने देश की बिगड़ती हुई राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों ने इस के प्रचार में योगदान किया है।"[६] इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय आधुनिक युग-बोध के निर्माण में

---

१. *Ibid* P. 28.

२. *Ibid* P. 45-46.

३. In the second place, this theory alone is compatible with the *dignity of man. Ibid*, P. 44-45.

४. "...it defines man by his action. *Ibid* P. 44.

५. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त, **हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास**, पृ० ७६६

६. डॉ० नगेन्द्र, आज का लेखन और सांस्कृतिक विघटन, सम्पा० डॉ० धर्मवीर भारती, **धर्मयुग**, २ जून, १९६८, पृ० १७

अस्तित्ववादी विचारधारा का भी योग रहा है। इसीलिए नयी कविता में भी अस्तित्ववाद का प्रभाव प्रकट हुआ है। डॉ० शम्भूनाथसिंह ने उक्त प्रभाव को स्वीकार करते हुए कहा है, "दर्शन के क्षेत्र में अस्तित्ववाद आज का नवीनतम दर्शन है और नयी कविता के अनेक कवियों ने इस दर्शन का प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण करके व्यक्ति-मानव के अजनबीपन, एकाकीपन, विवशता और आध्यात्मिक वेदना की अनुभूतियों को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किया है।"[1]

उक्त पाश्चात्य दार्शनिक मतों के अतिरिक्त पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति और साहित्यिक आन्दोलनों का प्रभाव भी नयी कविता में मुखरित हुआ है। "पाश्चात्य, विशेषत: अमरीकी संस्कृति के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव में हमारी संस्कृति की चूलें हिलती जा रही हैं।"[2] 'भूखी पीढ़ी', 'विद्रोही पीढ़ी' जैसे साहित्यिक आन्दोलन इसी विदेशी प्रभाव के प्रतीक हैं, जिनकी देन है हिन्दी की 'बीट कविता'।"[3] डॉ० विनयमोहन शर्मा ने इसी अमरीकी प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए कहा है "नई कविता के लिए हम अमेरिका के ऋणी हैं। वहाँ भी अद्यतन कविता (New Poetry) के नाम से पुकारी जाती है।...हमारे देश में कुछ कवियों ने 'बीटनिकों' से प्रेरणा ग्रहण कर अपने को विद्रोही पीढ़ी के कवि कहना प्रारम्भ कर दिया है। कुछ अपने को भूखी पीढ़ी के उत्तराधिकारी घोषित करने लगे हैं। यूरोप और अमेरिका में 'एण्टी नावल', 'एण्टी स्टोरी', 'एण्टी पोयट्री' आदि नामों से विभिन्न आन्दोलन चल रहे हैं।' 'अकविता' उन्हीं आन्दोलनों से गृहीत नाम हैं।"[4]

उक्त प्रभावों के अतिरिक्त कतिपय पाश्चात्य साहित्यिक और कलागत आन्दोलनों ने भी आधुनिक युग-बोध और हिन्दी की नयी कविता को प्रभावित किया है। इन आन्दोलनों में प्रमुख हैं दादावाद (दादाइज़्म), घनवाद (क्युबिज़्म), अतियथार्थवाद (सुररियलिज़्म), प्रतीकवाद (सिम्बोलिज़्म) तथा बिम्बवाद (इमेजिज़्म) आदि। इन सब आन्दोलनों का पाश्चात्य आधुनिक बोध और आधुनिक कविता पर गहरा प्रभाव पड़ा है। यों कहना चाहिए कि इन्हीं आन्दोलनों के माध्यम से पाश्चात्य आधुनिक कविता का विकास हुआ है।[5] दादावाद के प्रवर्त्तकों में ट्रिस्टान ज़ारा (Tristan Tzara) ह्यूगो बाल (Hugo Ball) हंस आर्प (Hans Arp) आदि प्रसिद्ध थे।

---

१. डॉ० शम्भूनाथ सिंह, **प्रयोगवाद और नई कविता**, पृ० १४६

२. अमृतराय, **सहचिन्तन**, पृ० १५०

३. 'बीट कविता' के विस्तृत परिचय के लिए दे०, डॉ० जगदीश गुप्त, नयी कविता: किसिम-किसिम की कविता, सम्पा० डॉ० जगदीश गुप्त तथा विजयदेव नारायण साही, **नई कविता**, १९६६-६७ (अंक ८) पृ० २५२-२५८

४. डॉ० विनयमोहन शर्मा, **साहित्यान्वेषण**, पृ० २६

५. "दे० William Van O" Connor, *Sense and Sensibility in Modern Poetry*. P. 108.

दादावाद का प्रचार 'कबरे वोल्त्येर' और 'दादा' आदि पत्र-पत्रिकाओं तथा निहिलिस्त चित्र प्रदर्शनियों द्वारा हुआ।[1] दादावादी आन्दोलन में प्रथम विश्वयुद्ध द्वारा प्रोत्साहित अव्यवस्था और अराजकता की प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। इन कलाकारों को वस्तुतः यह ज्ञात नहीं था कि वे क्या चाहते हैं, किन्तु निषेधात्मक स्थिति स्वयं में महत्त्वपूर्ण थी। कला के प्रति कामना दम तोड़ चुकी थी, किन्तु फिर भी वे कलाकार बने रहे। इस प्रकार कला-विरोधी (एण्टी आर्ट) मत का उदय हुआ अर्थात् उस मत का, जिसका उद्देश्य केवल बुर्जुवा वर्ग को धक्का पहुँचाना ही नहीं, वरन् स्वयं कला-सम्बन्धी परम्परागत धारणा का भी उपहास करना था।[2] वास्तव में कला के क्षेत्र में जो क्रान्ति प्रथम विश्वयुद्ध के बाद दादावाद के माध्यम से घटित हुई, उसका सूत्रपात विश्वयुद्ध से पूर्व ही घनवाद (क्युबिज्म) नाम की चित्रण-शैली में हो गया था। इस शैली में मानव-आकृतियों को ज्यामितिक आकृतियों के माध्यम से उभारा जाता था। आगे चलकर उन ज्यामितिक आकृतियों को फेंट दिया जाने लगा, जिससे नाक, आँख, कान, बाहों और टाँगों आदि विभिन्न अवयवों की स्थितियों का क्रम अस्तव्यस्त होने लगा। ऐसी स्थिति में रूप के स्थान पर खण्डों की प्रधानता होने लगी। पिकासो, जार्ज ब्राक, लेगे, ग्लीज़ मैल्ज़िंगे और लोते घनवादी शैली के प्रसिद्ध चित्रकार हैं।[3] इन्हीं कलागत प्रवृत्तियों का चरमोत्कर्ष 'अतियथार्थवाद' में मिलता है। "घनवाद से भी एक पग आगे दादावाद गया और दादावाद से भी आगे अतियथार्थवाद। अतियथार्थवाद की जड़ें दादावाद की ज़मीन में ही लगीं हैं।"[4] अतियथार्थवाद के मूल में यह सिद्धान्त निहित था कि वह (अतियथार्थ-वाद) यथार्थ से—दृश्य-श्रव्य जगत् से—परे है। यह वह परम यथार्थ है, जो **अवचेतन** के अनायास आवेगों, मुक्त अनुभूतियों के माध्यम से व्यक्त होता है। यथार्थवादियों का प्रमुख उद्देश्य समस्त सामाजिक और नैतिक मान्यताओं और संस्कारों से मुक्ति प्राप्त करना था। एण्ड्रे पाडाक्स के शब्दों में "यह विचार व्यवहार की समस्त परम्पराओं के विरुद्ध एक सम्पूर्ण क्रान्ति रहा।"[5] इस आन्दोलन का प्रभाव यह हुआ कि साहित्य में यौनाकांक्षा, भय, घृणा, अवसाद, आदि के रूप में मन के असंयत व्यापारों का चित्रण होने लगा। हिन्दी की नयी कविता पर अतियथार्थवाद का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है। "अतियथार्थवाद का प्रत्यक्ष प्रभाव प्रपद्यवाद पर अवश्य देखा जा सकता

---

१. दे०, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, दादावाद, प्र० सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी साहित्य कोश**, पृ० ३३४

२. दे०, Herbert Read, *The Forms of Things Unknown* P. 154.

३. दे०, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, घनवाद, प्र० सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी-साहित्य कोश**, पृ० २८१

४. डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, अतियथार्थवाद, सम्पा० धीरेन्द्र वर्मा, भगवतशरण उपाध्याय, गोरखप्रसाद, **हिन्दी विश्व कोश**, खण्ड १, पृ० ९३

५. एण्ड्रे पाडाक्स, आधुनिक फ्रान्सीसी कविता, सम्पा० नन्ददुलारे वाजपेयी, **आलोचना** अप्रैल, १९५९, पृ० १५७

है। बिहार के तीन कवियों नलिन-विलोचन, केसरीकुमार तथा नरेश (नकेन) द्वारा प्रवर्त्तित इस काव्य-आन्दोलन के बाह्य तथा अन्तर दोनों पर ही अति-यथार्थवाद की छाया स्पष्ट है। प्रपद्यवाद के कवियों ने अपना घोषणा-पत्र भी प्रकाशित किया। उनकी रचना-पद्धति उस अवस्था को ही प्रधान मानकर चलती है, जो अति-यथार्थवाद का प्रधान उपजीव्य थी।"[1] अन्यत्र रामस्वरूप चतुर्वेदी ने नयी कविता में व्यक्त मनोवैज्ञानिक स्थितियों पर अति-यथार्थवाद का प्रभाव स्वीकार किया है।[2] डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने अति-यथार्थवादी काव्य और नयी कविता की निम्नलिखित समान प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है—

(१) अचेतन की कुंठाओं को व्यक्त करने का लक्ष्य सामने रखकर काव्य-सम्बन्धी प्रयोग (२) फ्रायडवादी मनोविज्ञान को स्वीकार करते हुए कुंठाओं, वासनाओं, गुह्य भावनाओं को काव्य में व्यक्त करना (३) वास्तविकता एवं यथार्थ के स्वीकृत आयामों को अस्वीकार करना (४) अब तक अप्रयुक्त सामग्री को पहली बार काव्य में प्रयुक्त करने का दावा करना (५) कला का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व (व्यक्तिगत कुंठाओं एवं दमित वासनाओं से मुक्ति पाने का।'[3]

साहित्य और कला के एक आन्दोलन के रूप में प्रतीकवाद (सिम्बालिज़्म) का आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में सन् १८८५ के आस-पास हुआ। सन् १८८६ ई० में कवि जीन मोरेआस ने फिगारो (Figaro) नामक पत्रिका के १८ सितम्बर के अंक में प्रतीकवाद का घोषणापत्र प्रकाशित किया। प्रतीकवाद प्रकृतवाद और यथार्थवाद की तथ्यात्मक चित्रण की पद्धतियों के विरुद्ध एक विद्रोह था।[4] इसमें आध्यात्मिक मूल्यों को अमूर्त प्रतीकों द्वारा निरूपित करने का प्रयास किया गया।[5] प्रतीकवादी फ्रेंच कवियों में बोदलेयर (Baudelaire), रिम्बा (Rimbaud), कॉरबियर (Corbiere) और मलार्मे (Mallarme) अत्यन्त प्रसिद्ध थे और अंग्रेज प्रतीकवादियों में डब्ल्यू० बी० यीट्स (W. B. Yeats) सर्वप्रमुख थे। मलार्मे इस आन्दोलन का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कवि और विचारक था, उसने ही प्रतीकवादियों को कला-सम्बन्धी सिद्धान्त और छन्दमयी शैली के अत्यन्त सफल नमूने प्रदान किए।[6] प्रतीकवादियों ने कवि के अतरंग अनुभव और अभिव्यक्तिगत संगीत को महत्त्व दिया। वैयक्तिक अन्तश्चित्रों की संगीतमयी अभिव्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित होने के कारण प्रतीकवादी कवि बहिर्जगत् से

---

१. रामस्वरूप चतुर्वेदी, **अतियथार्थवाद**, प्र० सम्पा०, धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी साहित्य कोश** पृ० १३

२. रामस्वरूप चतुर्वेदी, **हिन्दी नव लेखन**, पृ० २८-२९

३. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त, **हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास**, पृ० ७६८

४. दे०, Sir Paul Harvey, *The Oxford Companion To English Literature* P. 763.

५. दे०, Lionello Venturi, *Symbolism*, Dagobert. D. Runes, *The Dictionary of Philosophy*, P. 308.

कट गये। आत्मोन्मुखता, पलायन वृत्ति और असामाजिकता, अस्पष्टता आदि के कारण बहुत दिनों तक प्रतीकवादियों को क्षयोन्मुखी (Decadents) विशेषण से विभूषित किया जाता रहा।[1]

हिन्दी की प्रयोगवादी तथा नयी कविता पर प्रतीकवाद का अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार प्रतीकवादियों ने अपने पारस्परिक मतभेद को स्वीकार करते हुए अपने गुट को विभिन्न वर्गों के कवियों का प्रयोजन (Intention of several groups of poets) तथा परस्पर असम्बद्ध प्रवृत्तियों का संघात (a bundle of tendencies *not all of them* very closely related) घोषित किया,[2] उसी प्रकार, लगभग उन्हीं शब्दों में, अज्ञेय ने तारसप्तक की भूमिका में घोषित किया, "उनके तो एकत्र होने के कारण ही यही हैं कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं···।"[3] प्रतीकवादी कवियों की भाँति ही हिन्दी के नये कवियों ने परम्परागत भाषा को मृत एवं प्रभावशून्य घोषित करते हुए नये प्रतीकों का प्रयोग प्रायः अस्पष्ट एवं असम्बद्ध रूप में किया। प्रतीकवादियों की क्षयोन्मुखी प्रवृत्तियाँ हिन्दी के नये कवियों में भी दिखलायी पड़ती हैं।

स्वच्छन्दतावादी कविता की वैचारिक और भावात्मक सूक्ष्मता की प्रतिक्रिया के रूप में बिम्बवादी आन्दोलन (इमेजिस्ट मूवमैण्ट) का जन्म हुआ। लन्दन में १९०८ से १९१२ ई० के बीच अंग्रेज और अमरीकी कवियों का एक वैविध्यपूर्ण दल एक साथ मिलकर एक नयी काव्य-शैली तैयार करने और उसका औचित्य सिद्ध करने के लिए एक नया सौन्दर्य-शास्त्र विकसित करने में लगा हुआ था।[4] नये बिम्बवादी आन्दोलन के उन्नायकों में टी० ई० ह्यूम (T. E. Hulme) एज़रा पाउण्ड (Ezra Pound) रिचर्ड आलडिंग्टन (Rechard Aldington), एफ० एस० फ्लिण्ट (F. S. Flint), डी० एच० लॉरेन्स (D. H. Lawrence), कुमारी लॉवेल (Miss Lowell) प्रसिद्ध थे। सन् १९०८ में 'पोएट्स क्लब' की स्थापना हुई। तदनन्तर १९१४ से लेकर विभिन्न काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। आलडिंग्टन और कुमारी लॉवेल ने अमरीका में सन् १९१५, १९१६ और १९१७ में 'सम इमेजिस्ट पोएट्स' नाम से तीन वार्षिक कविता संग्रह निकाले और इनमें से प्रथम की भूमिका के रूप में बिम्बवादी आन्दोलन का घोषणा-पत्र प्रकाशित किया।[5] उन्होंने घोषित किया, "इस संग्रह के कवि किसी दल विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करते। इनमें कई ऐसे हैं, जो एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते, किन्तु वे कुछ ऐसे सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर सम्बद्ध हैं, जो उन्होंने

---

१. दे०, Encyclopaedia Britannica Vol. 21, P. 701

२. दे०, डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त, **हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास**, पृ० ७६२

३. वही, पृ० ७६१-६२

४. सम्पा० अज्ञेय, **तारसप्तक** (भूमिका), पृ० १२

५. दे०, प्र० सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, सम्पा० राजकुमार कोहली, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र-सिद्धान्त और वाद**, पृ० २४२

स्वतन्त्र रूप से निर्धारित किए हैं। ये सिद्धान्त नये नही है, अप्रयोग के मारे हुए हैं। ये समस्त महान् काव्य के—बल्कि समस्त महान् साहित्य के—मूल तत्त्व हैं।"[१] भावात्मक सूक्ष्मता के विरुद्ध वस्तु के वस्तुत्व पर अधिक बल देने के कारण रेन्सम (Ransom) ने इस कविता को 'भौतिक कविता' नाम से अभिहित किया है।[२] इस भौतिक कविता (Physical Poetry) की ही परिणति शुद्ध कविता (Pure Poetry) के रूप में दिखलायी पड़ी।

हिन्दी की प्रयोगवादी तथा नयी कविता पर भी बिम्बवाद का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ा है। अज्ञेय तथा अन्य प्रयोगवादी कवियों ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि उनके काव्य और काव्य-मान्यताओं पर टी० एस० इलियट का प्रभाव है। 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय के वक्तव्य पर टी० एस० इलियट के निबन्ध 'ट्रेडीशन एंड इंडिविजुअल टेलेंट' का कितना प्रभाव है, यह भूमिका और निबन्ध को एक साथ पढ़ने से स्पष्ट हो जायेगा। 'नकेन-वादी प्रयोग-दशसूत्री एवं फक्किका के कुछ सूत्र 'इमेजिस्ट' सूत्रों की छाया मात्र है।[३] जिस प्रकार बिम्बवादियों ने 'पोएट्स-क्लब' की स्थापना के अनन्तर अनेक कवियों के सामूहिक काव्य-संग्रह तथा कवियों के वक्तव्य प्रकाशित किये, उसी प्रकार प्रयोगवाद और नयी कविता के सामूहिक काव्य-संग्रह कवियों के वक्तव्यों के साथ प्रकाशित हो रहे हैं। मदन वात्स्यायन ने बिम्ब-विधान को कविता का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हुए स्पष्ट कहा है, "कविता में सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिम्ब-विधान पर।"[४] जिस प्रकार बिम्बवादियों ने नये विषयों, नये रूपों, नयी शैली और नयी भाषा को अपना लक्ष्य घोषित किया, वैसी ही घोषणा हिन्दी के नये कवियों ने की है। बिम्बवादियों ने दैनिक जीवन की अति साधारण बातों को कविता में स्थान दिया, इस प्रवृत्ति को हिन्दी के कवियों ने भी अपनाया है।[५]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तथाकथित भारतीय आधुनिक युग-बोध और उसकी कविता में अभिव्यक्ति को प्रभावित करने वाले तत्त्व अधिकांशतः विदेशी हैं, वैसे यह ठीक है कि भारत में वैज्ञानिकता-जन्य औद्योगीकरण की प्रवृत्ति के प्रसार ने उन सभी तत्त्वों के ग्रहण और प्रसारण के लिए भूमि तैयार की है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकर किया है, "पर यह सही है कि नव-लेखन के उन्नायकों ने विदेशी साहित्य के अध्ययन से बहुत कुछ सीखा है। 'न्यू सिग्नेचर्स' और 'तारसप्तक' की तुलना से लेकर रोज़ामण्ड लेहमन की बी० बी० सी० पर प्रसारित रेडियो पत्रिका तथा

---

१. प्र० सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, सम्पा० राजकुमार कोहली, **पाश्चात्य काव्य-शास्त्र-सिद्धान्त और वाद**, पृ० २४६ पर उद्‌धृत

२. दे०, David Daiches, *Critical Approaches To Literature*, p. 146.

३. दे०, प्र० सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, सम्पा० राजकुमार कोहली, **पाश्चात्य काव्य-शास्त्र सिद्धान्त और वाद**, पृ० २६४

४. मदन वात्स्यायन, **वक्तव्य**, सम्पा० अज्ञेय, **तीसरा सप्तक**, पृ० १९५

५. दे० डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त, **हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास**, पृ० ७६७-६८

अज्ञेय द्वारा सम्पादित प्रथम आकाशवाणी पत्रिका की तुलना तक यह देखी जा सकती है।'[१] नयी कविता के समर्थक लक्ष्मीकान्त वर्मा ने उक्त विदेशी प्रभाव को स्वीकार करते हुए कहा है, "आधुनिक कविता पर अंग्रेज़ी साहित्य के १९१८ से १९४० तक के साहित्यिक आन्दोलन का भी बड़ा प्रभाव दीख पड़ता है।"[२] डॉ० प्रभाकर माचवे ने विदेशी अनुकरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न व्यापक सांस्कृतिक विघटन के प्रति सचेत करते हुए कहा है, "···मैं एक अदना विनम्र लेखक के नाते यह मानने लगा हूँ कि यह हमारी समूची सांस्कृतिक स्वतंत्रता की अग्नि-परीक्षा का समय है। हमें अपनी जड़ों को फिर से परखना है। आँधी ज़ोरों से आ रही है।"[३] यदि हम १९३७-३८ से वर्तमान काल तक के काव्य-आन्दोलन के क्रमिक विकास का पर्यालोचन करें, तो हमें कविता के स्वरूप में आये हुए परिवर्तनों और उनके लिए उत्तरदायी परिवर्तित प्रतिमानों के मूल में बहुत-कुछ उपर्युक्त विदेशी प्रभाव ही सक्रिय दिखलायी पड़ेंगे। इन सभी आन्दोलनों के मूल में परम्परागत नैतिक मान्यताओं और संस्कारों से मुक्ति पाने तथा अवचेतन को उन्मुक्त रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करने की प्रबल प्रेरणा सक्रिय रही है। इन आन्दोलनों का प्रभाव आधुनिक हिन्दी कविता पर इस रूप में पड़ा है कि उसमें यौनाकांक्षाओं, काम-कुण्ठाओं, घृणा, अवसाद, संत्रास आदि मन के असंयत व्यापारों का चित्रण मुक्त रूप में होने लगा है। यद्यपि विज्ञान-प्रेरित बौद्धिकता ने अनेक जड़ रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों, [illegible], धार्मिक पाखण्डों, आदि का उच्छेदन करके मानव को मुक्त रूप प्रदान किया, उसने उक्त पदार्थेतर मूल्यों के उद्घाटन के साथ मानवीय मूल्यों को भी उखाड़ [illegible] क्योंकि मानवीय मूल्य भी पार्थिव या भौतिक तथ्यों की प्रकृति से मेल नहीं खाते हैं। पदार्थ का न कोई धर्म है न ईमान, न सत्य न न्याय। पार्थिव या भौतिक दृष्टि न नैतिक होती है न अनैतिक; उसका नैतिकता के प्रश्न से कोई सरोकार नहीं। अणुबम का विस्फोट कितना ही संहारक होते हुए भी अपने आप में न नैतिक है न अनैतिक। संक्षेप में, 'आधुनिकता' का प्रत्यय वैज्ञानिकता को जीवन और साहित्य के सभी क्षेत्रों में चरम बिन्दु तक लागू करने के अस्वाभाविक आग्रह का परिणाम है। यद्यपि विज्ञान और वैज्ञानिक प्रविधि का अपने क्षेत्र में विशेष महत्त्व है, तथापि उन्हें साहित्य और कला के क्षेत्र में उसी आग्रह के साथ लागू करना घातक है। आधुनिकता को एक विशिष्ट सैद्धान्तिक रूप देकर योजनाबद्ध रूप में प्रचारित करने के मूल में आधुनिक असंयत भोगवाद, कलागत असंयम, प्रतिभाहीनता और साधना-शून्यता को सैद्धांतिक समर्थन देने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, जो जीवन और साहित्य के स्वस्थ विकास के लिए हानिकर है। सन्तोष यही है कि भारतीय

---

१. रामस्वरूप चतुर्वेदी, **नवलेखन**, पृ० २०९

२. लक्ष्मीकान्त वर्मा, **नयी कविता के प्रतिमान**, पृ० २५

३. प्रभाकर माचवे, **समकालीन भारतीय साहित्य, अवरोध के कुछ कारण और निदान**, सम्पा० विपिनकुमार अग्रवाल, लक्ष्मीकान्त वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश **क ख ग—अक्टूबर**, १९६३, पृ० ८२-८३

संस्कृति के जीवन्त रूप को सहज काव्यात्मक अभिव्यक्ति देने के प्रयासों का नितान्त अभाव नहीं है। इससे भी बढ़कर सन्तोष का विषय यह है कि विदेशी प्रभाव की झोंक में बहने वाले कुछ कवियों का भ्रममोह धीरे-धीरे भंग हो रहा है और वे भारतीय जीवन और उसके प्रकृत सांस्कृतिक प्रवाह से जुड़ते जा रहे हैं।

(४) **प्रयोगवादी कविता**—अज्ञेय के सम्पादकत्व में सन् १९४३ में 'तार सप्तक' का प्रकाशन हिन्दी कविता के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक घटना थी। इसमें नेमिचन्द्र जैन, गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा तथा अज्ञेय—इन सात कवियों की रचनाएँ संकलित थीं। सम्पादक के अनुसार 'तार सप्तक' में जिन कवियों की रचनाएँ संकलित थीं, वे किसी एक गुट या सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं थे।[1] यद्यपि नयी धारा के इन कवियों ने छायावादी अति-काल्पनिकता और प्रगतिवादी वस्तुगत स्थूलता के प्रति आक्रोश व्यक्त किया है, तथापि इनमें से कुछ कवियों में छायावादी और कुछ में प्रगतिवादी तथा कुछ में दोनों की प्रवृत्तियाँ किसी-न-किसी रूप में वर्तमान हैं। छायावादी धुंधलेपन के विरोध में उठने पर भी गिरिजाकुमार माथुर और स्वयं अज्ञेय में छायावादी संवेदना और शिल्प के संस्कार पाये जाते हैं। इसी प्रकार प्रगतिवादी वैचारिक संकीर्णता और उथलेपन की प्रतिक्रिया में अग्रसर होने पर भी 'तार सप्तक' के कवि किसी-न-किसी रूप में प्रगतिवादी चेतना से सम्बद्ध थे। स्वयं 'तार सप्तक' की योजना जिस 'अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन' (१९४२) के अन्तर्गत बनी थी, वह वस्तुतः प्रगतिशील लेखक संघ का ही आयोजन था।[2]

इससे स्पष्ट है कि सन् १९३८ से १९४२ तक के संक्रान्ति-युग की घुटन, अनास्था, और भटकन की प्रवृत्तियों के बावजूद कवियों की दृष्टि यथार्थ के साथ नये संवेदनात्मक सम्बन्धों की स्थापना कर रही थी। नयी मनःस्थिति की अभिव्यक्ति के अनुरूप नयी भाषा की प्रकृत माँग को सम्पादक द्वारा जाने-अनजाने 'प्रयोग'[3] की जो पारिभाषिक संज्ञा दी गयी, उसने न केवल कवियों की दृष्टि को सीमित किया, वरन् एक लम्बे समय तक कविता के मूल्यांकन के प्रतिमानों की स्थिति को भी धूमिल और दिग्भ्रान्त किया। उन्होंने 'प्रयोग' के स्वरूप को ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया कि उस पर निर्विवाद सनातन सत्य का मुलम्मा भी चढ़ा रहे और साथ ही समकालीन कवियों को भटकाने वाली भ्रान्ति के प्रति आकृष्ट होने का सुभाव भी मिल जाए। वैचारिक अन्तर्विरोध को इस प्रकार सैद्धान्तिक आवरण में लपेट कर प्रस्तुत किया गया है कि वह अन्तर्विरोध ही न मालूम पड़े, यह निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट है। वे कहते हैं, "प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं, यद्यपि किसी एक काल में किसी विशेष

---

१. सम्पा० अज्ञेय, **तारसप्तक** (भूमिका), पृ० २२

२. दे० डॉ० नामवरसिंह, **कविता के नये प्रतिमान**, पृ० ९०

३. दूसरा मूल सिद्धान्त यह था कि संगृहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं···।' अज्ञेय, **तारसप्तक** (भूमिका), पृ० ११

दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी नहीं छुआ गया, या जिनको अभेद्य मान लिया गया है। भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरों से, लोगों या स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।"[1] उपर्युक्त उद्धरण के प्रथम वाक्य में एक व्यापक सत्य की स्थापना की गयी है, किन्तु उसके शेष भाग में मनगढ़न्त सिद्धान्त को प्रचलित करने की कुचेष्टा परिलक्षित होती है। कवि का सायास उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना, 'जिन्हें अभी नहीं छुआ गया या अभेद्य मान लिया गया है', उचित नहीं है। विज्ञान और दर्शन के कुछ क्षेत्र तो निश्चित रूप से ऐसे हैं, जिन्हें कविता के लिए अभेद्य मानना ही श्रेयस्कर है। इस सम्बन्ध में टी० एस० इलियट ने उचित ही कहा है, "वस्तुतः कवितामें विलक्षणता का एक दोष है—अभिव्यक्ति के लिए नये मानवीय भावों की खोज करना, ग़लत जगह पर नूतनता की इस खोज में उसे मिलती है विकृति।"[2] अज्ञेय के ऊपर उद्धृत किये गये कथन के उत्तरार्द्ध में 'भाषा को अपर्याप्त पाकर' प्रयोगवादी या प्रयोगवादी बनने के इच्छुक कवि को जिन-जिन कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए, उनकी विस्तृत सूची दे दी गयी है और उनके साथ ही 'सभी प्रकार के इतर साधनों' की ओर भी संकेत कर दिया गया है, जिससे वह 'अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को' पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके। उक्त कथन को ऐसे प्रस्तुत किया गया है, जैसे प्रयोगवादी के लिए 'उलझी हुई संवेदना की सृष्टि करना' और उसे सभी प्रकार के आड़े-तिरछे तरीकों से पाठकों तक पहुँचाना परम पवित्र अनुष्ठान या नैतिक कर्त्तव्य हो। वस्तुतः संवेदना के पुनःसंस्कार के साथ ही भाषा का भी पुनः संस्कार होता चलता है। अतः संवेदना के पुनःसंस्कार पर बल देने के साथ ही इस विवशता पर विशेष बल देना कि 'शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें (भाषा में) भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं'[3] सर्वथा अस्वाभाविक और असंगत है। सन्दर्भ की गूढ़ता और मार्मिकता शब्दों में स्वतः नयी अर्थ-व्यंजना भरती है। शब्दों में साग्रह 'साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ' भरने की चेष्टा तो कविता के साथ अत्याचार के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सन् १९६० में प्रकाशित 'आत्मनेपद' नामक पुस्तक में अज्ञेय ने एक ओर स्वयं को परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न करते हुए कहा है, "मैं तो नहीं समझता कि मेरी कविता

---

१. अज्ञेय, **तारसप्तक** (वक्तव्य), पृ० २७६

२. दे०, प्र० सम्पा०, डॉ० नगेन्द्र, सम्पा० डॉ० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा, **पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा**, पृ० २८७

३. अज्ञेय, **तारसप्तक** (वक्तव्य), पृ० २७६

में ऐसा कुछ है जो कि भारत की ही काव्य-परम्परा द्वारा अनुमोदित न हो।"[१] किन्तु इसके साथ ही उन्होंने स्वीकार किया है, "प्राचीन कवियों की महत्ता का असली रहस्य यही है कि वे अहं को विलीन करके लिखते थे·····। ठीक आदर्श यही है, यह मैं मानता हूँ, मेरी कविता उसकी अनुगामिनी नहीं है, तो यह मेरी सीमा है। इस सीमा के लिए कुछ हद तक मेरा युग भी उत्तरदायी है, इतना ही अपने बचाव में कह सकता हूँ। या शायद इतना और भी कह सकता हूँ कि इस परिणाम तक पहुँचने में—इसे स्पष्ट निरूपित करके अपने सामने रखने और स्वीकार कर लेने में—मुझे कुछ समय लगा है।"[२] उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कविता के सही आदर्श तक पहुँचने में अज्ञेय को देरी लगी। इससे पूर्व वे स्वयं पथ-भ्रष्ट रहे ही, साथ ही अपनी पीढ़ी के युवा कवियों को भी यथासम्भव गुमराह करते रहे।

राजनीति के क्षेत्र में जिस प्रकार नेहरू ने अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए भावात्मक एकता, धर्मनिरपेक्षता, तटस्थता, पंचशील, हिन्दुस्तानी भाषा, समाजवादी व्यवस्था सह-अस्तित्व, जैसी उलझी हुई विचारधारा और शब्दावली को उछालकर भारतीय जनता को दीर्घकाल तक अपने व्यक्तित्व के सम्मोहन में बाँधे रखा, ठीक वैसे ही कविता के क्षेत्र में नयी, किन्तु उलझी हुई, पारिभाषिक शब्दावली गढ़कर और प्रचारित करके अज्ञेय ने अपने नेतृत्व को स्थापित और प्रख्यात किया। मानसिक गठन की कतिपय आन्तरिक समानताओं ने ही अज्ञेय को नेहरू से प्रभावित होने की प्रेरणा दी। अज्ञेय पर नेहरू के प्रभाव का उल्लेख करते हुए विद्यानिवास मिश्र ने कहा है, "जवाहर लाल नेहरू के खतरनाक विचार और खतरनाक जीवन के नारे ने पहले बहुत प्रभावित किया था, बाद में उनकी बौद्धिक सचाई की ही छाप मन में अधिक गहरी पड़ी।"[३] यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि अज्ञेय ने अपनी अंग्रेजी कविताओं की भूमिका ही नेहरू से नहीं लिखवायी, बल्कि १९५१ में नेहरू की साठवीं वर्षगाँठ के अवसर पर नेहरू-अभिनन्दन-ग्रंथ का सम्पादन भी किया।[४]

'तार सप्तक' के सन् १९६६ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण में 'पुनश्च' शीर्षक देकर कवियों के जो नये वक्तव्य जोड़े गये हैं, उनसे इस बात की पुष्टि होती है कि कवियों तथा विशेषतः सम्पादक के सैद्धान्तिकतापूर्ण वक्तव्यों के कारण सम्बन्धित कवियों, उनकी कविता तथा आलोचना के प्रतिमानों के विषय में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैलीं। इन भ्रान्तियों को प्रकाश में लाने की दृष्टि से नेमिचन्द्र का वक्तव्य विशेष उल्लेखनीय है।[५] वस्तुतः 'तार सप्तक' के उपरान्त सप्तकों की जो परम्परा

---

१. अज्ञेय, **आत्मनेपद**, पृ० २९
२. **वही**, पृ० ३४
३. विद्यानिवास मिश्र, **आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि स० ही० वात्स्यायन अज्ञेय** (परिचय), पृ० १४
४. दे०, डा० नामवरसिंह, **कविता के नये प्रतिमान**, पृ० ९६
५. दे०, नेमिचन्द्र, पुनश्च, सम्पा० अज्ञेय, **तारसप्तक**, पृ० ३१

चली, उसके भी खेदजनक परिणाम निकले। भूमिकाओं और वक्तव्यों के रूप में जो सिद्धान्त-विवेचन हुआ, उसने घोषणा-पत्रों का रूप धारण कर लिया। "सन् १९५० के बाद के नवीन हिन्दी काव्य के एक विशेष दिशा में मुड़कर गुटबन्दी और संकीर्णता में पड़ जाने में सप्तकों के प्रकाशन का भी बहुत कुछ हाथ है।···यह परिस्थिति काव्यगत मूल्यों और रुचियों में एक विचित्र प्रकार की भ्रष्टता और संकीर्णता की शुरूआत थी। 'सप्तक' एक बड़े अवांछनीय प्रकार के साहित्यिक संरक्षण (पैट्रोनेज) के साधन और प्रतीक बन रहे थे।"[१] 'तार सप्तक' के सम्पादक के सम्बन्ध में डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त का निम्नलिखित मत ध्यातव्य है। वे कहते हैं, "वस्तुतः साहित्य के स्वस्थ एवं चिरन्तन मूल्यों को खण्डित करने में, उसकी उच्छृंखल एवं अनैतिक प्रवृत्तियों को पनपाने में, अस्पष्ट, अनगढ़ एवं दोषपूर्ण शैली के प्रचार करने में अज्ञेय ने कितना योग दिया है, उसका निर्णय भावी इतिहासकार ही करेगा।"[२] उपर्युक्त कथन में निर्णय का दायित्व भावी इतिहास पर छोड़ दिये जाने के बावजूद एक निर्णय स्पष्टतः ध्वनित होता है।

तार सप्तक के कवियों में से रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल और मुक्तिबोध की रचनाओं में सामाजिक यथार्थ की प्रवृत्ति प्रबल है; अज्ञेय में काम-भावना और व्यक्ति के अहं की विवृत्तियों का प्राधान्य है; माथुर में रोमानियत और ऐन्द्रियता की प्रवृत्ति प्रमुख है। इन सब प्रवृत्तियों का आगे की कविता पर भी प्रभाव पड़ा। 'तारसप्तक' से बाहर के अनेक कवि भी परम्परा से हटकर नये भाव-बोध और अभिव्यंजना की नई पद्धतियों की खोज में संलग्न थे। शमशेर बहादुरसिंह ने मुक्त छन्द में प्रतीक-चित्र और अतियथार्थवादी ढंग की स्वच्छन्द चेतना-प्रवाह की पद्धति का अनुसरण करके अनेक कविताएँ लिखीं। भवानीप्रसाद मिश्र ने बोलचाल की भाषा में निहित नाटकीय प्रभाव-क्षमता और रागमयता की शक्ति को समझ कर सुन्दर कविताएँ लिखीं। धर्मवीर भारती ने पौराणिक तथा नवीन प्रतीकों को नये युग-बोध के विविध सन्दर्भों से संयुक्त करके जहाँ एक ओर भाषा की शक्ति को बढ़ाया, वहाँ दूसरी ओर संवेदना के नये आयामों और स्तरों का भी उद्घाटन किया। गीतिकाव्य के माध्यम से नये प्रयोगों की दिशा में अग्रसर होने वालों में शम्भूनाथ सिंह, जानकी वल्लभ शास्त्री, हंसकुमार तिवारी, ठाकुर प्रसाद सिंह, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, भारत भूषण, रमानाथ अवस्थी तथा रामावतार त्यागी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

'प्रयोग' की जिस प्रवृत्ति का विकास 'तार सप्तक' और उससे भी पहले से प्रारम्भ हुआ था, आगे चलकर वह दो रूपों में प्रकट हुई। एक ने अनुभूति और अभिव्यक्ति के नये रूपों की खोज को कवि-कर्म का आवश्यक अंग मानते हुए भी 'प्रयोग' को 'साध्य' न समझ कर 'साधन' के रूप में ही स्वीकार किया। 'प्रयोग' को इस रूप में मानकर चलने वालों को 'प्रयोगशील' कवि कहा जाता है। स्वयं अज्ञेय ने प्रयोग के

---

१. वही, पृ० ३३

२. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त, **हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास**, पृ० ७८७

उक्त सहज रूप को अपनाकर चलने वाली काव्य-प्रवृत्ति को 'प्रयोगशीलता' नाम से ही अभिहित किया है।[१] 'प्रयोग' की प्रवृत्ति का दूसरा रूप अतिवादी था। उसका मुख्य लक्ष्य वाक्य-रचना, वर्तनी, बिम्बों, प्रतीकों, शब्दों, विराम-चिह्नों और उपमानों के विलक्षण प्रयोगों द्वारा पाठकों को चौंकाना और उन्हें मानसिक आघात पहुँचाना था। इन कवियों में कविता और अकविता अथवा काव्य और गद्य के मौलिक अन्तर को मिटाने की प्रवृत्ति विकृति की सीमा को स्पर्श करती दिखलाई पड़ती है। प्रयोग को ही साध्य मानकर चलने वाले कट्टर प्रयोगवादी कवियों का प्रतिनिधित्व 'प्रपद्यवाद' या 'नकेनवाद' नाम के एक पृथक् शिविर द्वारा हुआ। इनमें से तीन प्रमुख कवियों—नलिनविलोचन शर्मा, केसरीकुमार और नरेश की कविताओं का संकलन 'नकेन' नाम से सन् १९५६ में प्रकाशित हुआ था।[२] इस पुस्तक के प्रारम्भ में प्रपद्यवाद के बारह सूत्र दिये गये हैं तथा अन्त में 'पस्पशा' शीर्षक के अन्तर्गत प्रपद्यवाद की व्याख्या दी गई है। इन कवियों का दावा है कि वास्तविक प्रयोगवादी तो वे ही हैं; अज्ञेय द्वारा सम्पादित सप्तकों के कवि प्रयोगवादी नहीं, केवल प्रयोगशील हैं, क्योंकि वे प्रयोग को साध्य नहीं केवल साधन मानते हैं।[३]

(५) **नयी कविता**—'प्रयोगशीलता' की प्रवृत्ति में से ही, जिसमें प्रयोग को काव्य-सृष्टि के 'साधन' मात्र के रूप में स्वीकार किया गया था, 'नयी कविता' का उदय हुआ। नई कविता के विकास में अज्ञेय द्वारा सम्पादित (त्रैमासिक तथा फिर बाद में मासिक) 'प्रतीक' (१९४७ ई०) का महत्त्वपूर्ण योग रहा। रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा तथा फिर बाद में लक्ष्मीकान्त वर्मा के सहयोग में सम्पादित 'नये पत्ते' (१९५३ ई०) ने भी नयी कविता के विकास में योग दिया। सन् १९५४ में प्रयाग के नये लेखकों की सहकारी संस्था 'साहित्य-सहयोग' की ओर से डॉ० जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी तथा १९५६ ई० के (तृतीय) अंक से डॉ० जगदीश गुप्त और विजवदेव नारायण साही के सम्पादन में प्रकाशित 'नयी कविता' ने नये काव्य-आन्दोलन को सजगता और दृढ़ता के साथ स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।[४] 'साहित्य सहयोग' के तत्त्वाधान में ही सन् १९५५ में धर्मवीर भारती तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'निकष' ने हिन्दी-नव-लेखन के बहुमुखी रूप को उसके वास्तविक तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया।[५] लखनऊ की 'युगचेतना', हैदराबाद की 'कल्पना' और कलकत्ता की 'ज्ञानोदय' नामक पत्रिकाओं ने नई कविता के प्रचार-प्रसार में भारी योग दिया है। सन् १९५५ के बाद तो विभिन्न साहित्यिक केन्द्रों

---

१. दे०, अज्ञेय, **तारसप्तक** (वक्तव्य), पृ० २७०

२. दे०, शम्भूनाथसिंह, कविता, सम्पा० डॉ० हरिवंशराय बच्चन, डॉ० नगेन्द्र तथा भारतभूषण अग्रवाल, **समसामयिक हिन्दी साहित्य**, पृ० ८१

३. दे०, **वही**, पृ० ८१

४. दे०, रामस्वरूप चतुर्वेदी, **हिन्दी नवलेखन**, पृ० ४१

५. दे०, **वही**, पृ० ४१-४२

से 'विविधा', 'परम्परा', 'आकलन', 'आधुनिक कविताएँ' आदि वार्षिक तथा अर्द्धवार्षिक संकलन-ग्रन्थ प्रकाशित हुए, जिनमें नयी कविताएँ और उनसे सम्बन्धित व्यावहारिक समीक्षाएँ होती थीं।[1]

सन् १९५१ में प्रकाशित 'दूसरा सप्तक' वस्तुतः एक ऐसा साहित्यिक प्रयत्न था, जिसमें प्रयोगशीलता ने 'नयी कविता' के रूप में नया संस्कार ग्रहण कर लिया था। सम्पादक ने स्वयं स्वीकार किया, "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं है। न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है।"[2] 'दूसरा सप्तक' के कवि भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्त माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुरसिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, तथा धर्मवीर भारती थे। नरेश मेहता प्रारम्भ में साम्यवाद से बहुत प्रभावित थे, किन्तु नयी कविता के युग में उनका वह साम्यवादी स्वर बहुत दब गया और वे भारतीय संस्कृति के जीवन्त तत्त्वों को आत्मसात् करने की ओर प्रवृत्त हुए। 'दूसरा सप्तक' में संकलित उनकी कविताओं में वैदिक प्रतीकों और उपमानों द्वारा प्रकृति-चित्रण की प्रवृत्ति प्रमुख है। 'प्रयोग' के प्रति अभी भी आग्रह बने रहने के कारण उन्होंने अनेक चमत्कारपूर्ण उपमान (किरण-धेनु, क्षितिज-जंगल, आलोक-दूध, आसमान का गट्ठर) प्रयुक्त किए हैं, जो उपयुक्त सादृश्य और साधर्म्य के अभाव में अर्थ को निखारने और उभारने में सहायक होने के स्थान पर उसे दुरूह और अनिश्चित बनाते हैं। शमशेरबहादुर की कविताओं में उनका प्रतीकवादी और अतियथार्थवादी रूप अधिक प्रबल है। कुछ कविताओं में उन्होंने मुक्त आसंग चेतना-प्रवाह-शैली का प्रयोग किया है। इसलिए उनकी रचनाओं में अवचेतन मन से निसृत खण्डित बिम्बों की अधिकता के कारण छायाभास-सृष्टि तथा अमूर्त चित्रण की प्रमुखता है। धर्मवीर भारती की कुछ कविताओं में प्रेम की मादकता की सूक्ष्म व्यंजना मिलती है, कुछ में सामाजिक चेतना विद्रोह और आक्रोश का रूप ग्रहण करती दिखलाई पड़ती है। भारती के विद्रोही स्वर में भी एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना निहित है, जो उन्हें अनास्था के भँवर से निकाल कर आस्था के तट तक पहुँचाती है। रघुवीर सहाय की कविताओं में विद्रोह और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना प्रमुख है; कहीं-कहीं सामाजिक विसंगति और विद्रूपता के प्रति ऊब और घृणा का स्वर भी प्रबल हो उठा है। भवानीप्रसाद मिश्र की कविताओं में आभिजात्य औपचारिकता के प्रति गहरी व्यंग्य-वृत्ति की प्रधानता है। उनकी शैली में बोलचाल की भाषा की सजीवता, सादगी, नाटकीयता और ओजस्विता है। लय की तीव्रता, शब्दों और वाक्यांशों की पुनरावृत्ति, और बोलचाल के शब्दों की कलात्मक योजना से उनकी कविताओं में एक अनोखा प्रभाव पैदा हो गया है। हरिनारायण व्यास की कविताओं में मार्क्सवादी विचारधारा की प्रबलता है। शकुन्त माथुर की कविताओं, में नये, किन्तु अटपटे, प्रयोगों की प्रवृत्ति की अधिकता के कारण एक

---

१. दे०, शम्भूनाथसिंह, **कविता**, सम्पा० डॉ० हरिवंशराय बच्चन, डॉ० नगेन्द्र तथा भारतभूषण अग्रवाल, **समसामयिक हिन्दी साहित्य**, पृ० ८९

२. सम्पा० अज्ञेय, **दूसरा सप्तक** (भूमिका), पृ० ६

अजीब उलझाव-सा आ गया है, जो उनकी भाव-शून्यता और विचार-हीनता का परिचायक है।

नयी कविता के विकास का अग्रिम सोपान तीसरा सप्तक है, जिसका प्रकाशन सन् १९५९ में हुआ। 'तीसरा सप्तक' में 'नई कविता' का जो रूप विकसित हुआ, उसके विषय में सम्पादक का अभिमत है कि 'निस्सन्देह जिसे अब नई कविता की संज्ञा दी जाती है, वह भाषा-सम्बन्धी प्रयोगशीलता को वाद की सीमा तक नहीं ले गई है—बल्कि ऐसा करने को अनुचित भी मानती रही है।"[1] इस महान् आदर्श के विपरीत सम्पादक ने अपने वक्तव्य में कुछ ऐसी बातें भी कही हैं, जिनमें सस्ते आत्म-विज्ञापन और साग्रह आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति के साथ ही काव्य के घटिया स्तर की स्वीकृति की भी गंध मिलती है।[2] साथ ही, सम्पादक ने कवियों को कुछ सुझाव भी दिये हैं, जिनमें साहित्यिक दलबन्दी और आत्म-प्रचार की प्रेरणा दी गई है—

(१) "···परिस्थिति की माँग यह है कि कवि-गण स्वयं एक-दूसरे के आलोचक बनकर सामने आवें।"[3]

(२) "कृतिकार के रूप में नये कवि को साथ-साथ वकील और जज दोनों होना होगा (और सम्पादक होने पर साथ-साथ अभियोक्ता भी)।"[4]

(३) "यों हम चाहते हैं कि सभी कवियों के स्वतन्त्र संग्रह छपें—बल्कि 'सप्तक' में उन्हें लाने का कारण ही यह विश्वास है कि उनके अपने-अपने संग्रह छपने चाहिए।"[5]

इसी साहित्यिक संरक्षण, सहयोगी विज्ञापन और प्रकाशन की प्रेरणा ने कविता के क्षेत्र में उस हीन मनोवृत्ति और सस्ती रुचि को जन्म दिया, जिसके कारण कवियों ने अपनी कविता के स्तर को ऊँचा उठाने में साधना-रत होने के स्थान पर दल-बल-सहित अपनी प्रतिभा और साधना की कमी और उससे उत्पन्न निम्न कोटि के काव्य की दुर्बलताओं को सैद्धान्तिक पोषण और दलगत समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया। इसी मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप ऐसी ढेरों उक्तियाँ प्रकाश में आने लगीं, "मुझे गर्व है

---

१. सम्पा० अज्ञेय, **तीसरा सप्तक**, पृ० १५

२. "पत्र-पत्रिकाओं में नई कविता ग्राह्य हो गई है, सम्पादकगण (चाहे आतंकित होकर ही) अधिकाधिक छापने लगे हैं, और उसकी अपनी भी अनेक पत्रिकाएँ और संकलन-पुस्तिकाएँ निकलने लगी हैं। उधर उसकी आलोचना भी छपने लगी है, और धुरन्धर आलोचकों ने भी उसके अस्तित्व की चर्चा करना गवारा किया है—चाहे अधिकतर भर्त्सना का निमित्त बना कर ही और कृतिकारों का अनुधावन करने वाली स्वल्प पूँजी वाली प्रतिभाएँ भी अनेक हो गई हैं।" सम्पा० अज्ञेय, **तीसरा सप्तक**, पृ० १४

३. **वही**, पृ० १४

४. **वही**, पृ० १५

५. **वही**, पृ० २३

कि मैं उस क्रान्तिबिन्दु पर लेखनी लिए उपस्थित था और मुझ पर तथा मेरे कुछ थोड़े से सहधर्मियों पर आधुनिकता का वह नया उठता आलोक प्रथम बार पड़ा था।"[१] इस सबका दुष्परिणाम यह हुआ कि काव्य के स्थायी मूल्यों के विषय में भारी भ्रान्ति फैल गई। 'शिल्प', 'रचना-प्रक्रिया', 'नई संवेदना', 'सह-अनुभूति', 'आधुनिकता', 'अर्थ की लय', 'नयी कविता के प्रतिमान' और 'कविता के नये प्रतिमान' जैसी शब्दावली को उछालकर इतना सैद्धान्तिक उलझाव पैदा किया गया कि सच्ची अनुभूतिपूर्ण कविता का सहज स्वरूप ही विवादास्पद और संदिग्ध होकर रह गया है। डॉ० जगदीश गुप्त की समीक्षा-पद्धति पर टिप्पणी करते हुए विश्वम्भर 'मानव' ने मनगढ़न्त सैद्धान्तिकता पर अच्छी चोट की है—"कोई छन्द का प्रश्न उठाये तो ये कहेंगे, 'शब्द की लय से भिन्न एक अर्थ की लय भी होती है'; कोई रस की बात करे तो ये समझायेंगे, "देखिए रसानुभूति के साथ एक सह-अनुभूति भी होती है; और कोई कहे कि आजकल की कविता कुछ गद्यवत् होती जा रही है, तो ये अत्यन्त गम्भीर मुद्रा बनाकर यह बात उसके मस्तिष्क में बिठाने का प्रयत्न करेंगे कि कविता के साथ एक 'अकविता' भी होती है और यदि कोई इस बात पर हठ करे कि नई कविता कम समझ में आती है, तो ये निश्चिन्त भाव से उत्तर देंगे कि वह तो 'समानधर्माओं के लिए लिखी जा रही है।"[२] सच तो यह है कि साहित्य जब सीधे जीवन से प्रेरणा न लेकर कवियों द्वारा अपने व्यावसायिक हितों की रक्षा के लिए रचे गये मनगढ़न्त सिद्धान्तों से संचालित होता है, तभी उसमें वे तत्त्व उभरते हैं जो उसके स्वाभाविक विकास में बाधक हों। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि 'नई कविता' के अन्तर्गत लिखित रचनाओं में ऐसी रचनाओं का सर्वथा अभाव है, जो अनुभूति और अभिव्यक्ति की दृष्टि से स्थायी साहित्य का अंग होने की क्षमता से मुक्त हैं, किन्तु मनगढ़न्त सैद्धान्तिकता के प्रचार के कारण उत्तम रचनाओं को उचित मूल्यांकन से वंचित रहना पड़ रहा है। इसीलिए उत्तम रचना करने वाले प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी अपनी पंक्तियों को तोड़-मरोड़कर उन्हें नई कविता के ढर्रे में ढालने को विवश हो रहे हैं।

'तीसरा सप्तक' में प्रयागनारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथसिंह, कुँवर नारायण, विजयदेव नारायण साही और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविताएँ संगृहीत हैं। केदारनाथ की कविताओं में नई संवेदना को नये प्रयोगों में बाँधने की चेष्टा है। प्रयागनारायण त्रिपाठी की कविताओं में सांस्कृतिक भाव-बोध नये युग-बोध से बँधकर व्यक्त हुआ है। कुँवर नारायण की कविताओं में कतिपय अटपटे प्रयोगों के बावजूद, अनुभूति को स्वायत्त करने में भाषा ने कुछ अछूते किन्तु मार्मिक बिम्बों का सहारा लिया है। विजयदेव नारायण साही में अनुभूति की विविधता और नवीनता होने के कारण 'विषकन्या के नाम', 'हम सभी बेचकर आये हैं अपने

---

१. गिरिजाकुमार माथुर, **आधुनिकता—नई कविता सीमा और सम्भावनाएँ**, पृ० ३
२. विश्वम्भर मानव, **नई समीक्षा : सीमा और सम्भावना**, सम्पा० शिवदानसिंह चौहान, **आलोचना**, जून, १९६५, पृ० १४६

सपने', 'हिमालय के आँसू' जैसी रचनाएँ पर्याप्त सशक्त हैं, किन्तु कुछ कविताओं में 'जल-विहग-सी हवा', 'निर्मम तुम्हारे इस तीखे प्रक्षेप से', 'छिछली मिट्टी के तले' जैसे प्रयोगों की भरमार है, जिससे न तो अनुभूति बिम्बित हो सकी है और न 'बिम्बन' अनुभूतिप्रवण हो सका है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की 'सुहागिन का गीत' तथा 'अहं से मेरे बड़ी हो तुम' में अनुभूति की तीव्रता लयात्मक रूप में ढल गयी है। किन्तु, 'सुबह से शाम तक', 'विगत प्यार', 'यों ही बस यों ही' 'जैसी रचनाओं में बिखरे हुए विचार-तन्तु संश्लिष्ट अनुभूति के स्तर तक नहीं उठ पाये हैं, इसलिए उनमें रूखी गद्यात्मकता उभर आयी है। मदन वात्स्यायन की कुछ कविताओं में नये परिवेश से संयुक्त सांस्कृतिक भाव-बोध उभर कर आया है तथा कुछ कविताओं में आज के वैज्ञानिकता-जन्य युग-बोध की सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है। 'ऊषा-स्तवन', और 'सुशिप्रा की वर्षगाँठ पर' में सांस्कृतिक बोध व्यक्त हुआ है, तो 'असुरपुरी में दस से छः' तथा 'सरकारी कारखाने में कर्मचारी की चिन्ता' में आधुनिक वैज्ञानिक युग की यान्त्रिक सभ्यता की विसंगति नाटकीय, संवेदना-स्नात और प्रवाहमयी शब्दावली में अंकित है। कीर्ति चौधरी की दृष्टि में, 'नई कविता' के लिए किसी बड़ी साधना और प्रतिभा की आवश्यकता ही नहीं है। वे कहती हैं, "एक दिन यह भी रहस्य खुला कि नई कविता की भरपूर निन्दा करने वाली कई सदस्याओं ने स्वयं नई कविता लिखकर कापियाँ भर डाली थीं।"[१] उन्होंने स्वीकार किया है "···बड़े भाई भी अपने को लेखक कहते हैं। ऐसे वातावरण में कविता मेरे लिए शायद एक अनिवार्यता बन गयी।"[२] उनकी कविताओं में कलात्मक गठन का नितान्त अभाव है। वे रची नहीं गयीं, लिखी गई हैं।

ऊपर तीनों सप्तकों के जिन कवियों का उल्लेख किया गया है, उन सभी का नयी कविता के विकास में कुछ-न-कुछ योग रहा है, किन्तु अज्ञेय, धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध और भवानीप्रसाद मिश्र आदि के नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। सप्तकों से बाहर के कवियों में दुष्यन्त कुमार, बालकृष्ण राव और जगदीश गुप्त आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

जिस प्रकार अज्ञेय ने नई कविता के विकास के प्रारम्भिक युग में साहित्यिक नेतृत्व अपने हाथ में लेकर जाने-अनजाने हिन्दी कविता की गति को दिग्भ्रान्त किया, ठीक उसी प्रकार अज्ञेय को अपदस्थ करके अपना नेतृत्व स्थापित करने के मोह में आगे चलकर डॉ० जगदीश गुप्त और उनके मण्डल के कवियों ने कविता की गति को सैद्धान्तिक व्यामोह में फँसाये रखने की चेष्टा की। सन् १९६० के पश्चात् तो वैज्ञानिक प्रगति के परिणामस्वरूप उत्पन्न भौतिकतावादी दृष्टि और उसकी परिणतियों के कारण कविता में परम्परागत मानवीय मूल्यों के विघटन की स्थिति व्यक्त हुई है। भौतिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य अधिकाधिक धनोपार्जन और उसके मुक्त भोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भौतिक दृष्टि से विपन्न व्यक्ति धन से दूर होने पर

---

१. कीर्ति चौधरी, **वक्तव्य**, सम्पा० अज्ञेय, **तीसरा सप्तक**, पृ० ७२

२. **वही**, पृ० ७६

भी जीवन-निर्वाह के लिए धन को ही जीवन-मूल्य मानने को विवश है। सम्पन्न व्यक्ति सम्पन्नता के कारण अनैतिक हो चुका है और विपन्न व्यक्ति विपन्नता के कारण अनैतिक होने को विवश हो रहा है। तिस पर भी यान्त्रिक सभ्यता के अन्य विनाशक उपकरणों का भय मनुष्य को संत्रस्त, मृत्यु-कामी शंकालु, और नियतिवादी बना रहा है। परम्परागत पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था टूट रही है। इस गत्यवरोध और घुटन की स्थिति ने आज के कवियों को अनास्थावादी, असहिष्णु और उच्छृंखल बना दिया है। "इन कवियों पर अमरीका की बीटनीक कविता और बंगाल की भूखी पीढ़ी की कविता का भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। ये लोग मृत्यु-कामना अतृप्त काम और मूर्तिभंजकता की प्रवृत्तियों को खुलकर आक्रामक ढंग से व्यक्त करते हैं। इन कवियों में कैलाश वाजपेयी, श्रीकान्त वर्मा और राजकमल चौधरी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।"[१]

उपर्युक्त परिस्थितियों का ही यह परिणाम हुआ कि कविता आज के भौतिकतावादी युग की व्यावसायिक जीवन-दृष्टि का शिकार हो गयी। जिस प्रकार व्यापारी लोग नये-नये 'लेबल' लगाकर एक ही वस्तु को अनेक नामों से बाज़ार में बेचते हैं और घटिया माल का भी खूब बढ़ा-चढ़ाकर विज्ञापन करते हैं; उसी प्रकार आज के बुद्धि-व्यवसायी कवि आज की तथाकथित कविता को अनेक नाम देकर पत्र-पत्रिकाओं और कविता-संग्रहों में खपाने में जुटे हैं। डॉ० श्याम परमार ने ठीक ही कहा है, "असल में यह कविता अभी तक वेतनभोगी बुद्धिजीवी की कविता है, जो या तो सरकारी अर्द्ध-सरकारी दफ्तरों में काम करता है या व्यावसायिक पत्रिकाओं के बँधे-बँधाए वेतन पर पलता है।"[२] इसी व्यापारिक प्रवृत्ति के कारण कविता के 'नयी कविता', 'सनातन सूर्योदयी कविता', 'युयुत्सावादी कविता', 'अकविता', 'सकविता', 'बीट कविता', 'शुद्ध कविता', 'ठोस कविता', कबीर-पंथी कविता आदि अनेक नाम सामने आये हैं। डॉ० जगदीश गुप्त के अनुसार "···लगभग चार दर्जन नाम हैं, जो पिछले तीन-चार वर्षों में बहुधा समानान्तर प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं एवं संग्रह-संकलनों में इधर-उधर नुमायाँ हुए हैं।"[३]

सन् १९६३ में जगदीश चतुर्वेदी के सम्पादन में दो सप्तक यानी चौदह कवियों की वक्तव्य-रहित किन्तु परिचय-सहित बहुसंख्यक कविताओं का एक संग्रह 'प्रारम्भ' नाम से प्रकाशित हुआ, जिसके सम्पादकीय, 'नये काव्य की भूमिका' के अन्तर्गत तथाकथित प्रयोगवादियों को पुरानी मान्यताओं, 'क्षण की अनुभूति', 'लघुमानव' तथा 'अहंमन्यता' के फार्मूलाग्रस्त मस्तिष्कों के रूप में स्मरण करते हुए 'सामूहिक आक्रोश'

१. शम्भूनाथसिंह, कविता, सम्पा० डॉ० हरिवंशराय बच्चन, डॉ० नगेन्द्र, भारतभूषण अग्रवाल, **समसामयिक हिन्दी साहित्य**, पृ० १६

२. डॉ० श्याम परमार, **अकविता और कला-सन्दर्भ**, पृ० १०

३. डॉ० गुप्त ने इस प्रसंग में ४५ नामों की सूची प्रस्तुत की है। दे०, सम्पा० डॉ० जगदीश गुप्त तथा विजयदेव नारायण साही, **नई कविता** १९६६-६७ (अंक ८), पृ० २४६-४७

के 'अभिनव काव्य' का प्रवर्त्तन किया गया।[1] जगदीश चतुर्वेदी ने कदाचित् स्वयं ही 'अभिनव काव्य' को अपर्याप्त समझकर उसके पहले 'एण्टीकविता' का अनुवाद जोड़ देना आवश्यक समझा और इस प्रकार शीर्षक का रूप हुआ 'अकविता और अभिनव काव्य' किन्तु आगे चलकर 'अकविता' नाम ही अधिक प्रचलित हुआ।[2] सन् १९६५ में डॉ० श्याम परमार तथा उनके कुछ सहयोगियों के संरक्षण में 'अकविता' ने पुनः प्रमुखता प्राप्त की। नई पीढ़ी के अतुल, विमल आदि के साथ पुरानी पीढ़ी के गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे और भारतभूषण के नाम भी प्रस्तावकों में सम्मिलित थे। डॉ० श्याम परमार ने 'अकविता' को परिभाषित करने के प्रयास में अनेक निरर्थक और अन्तर्विरोधी बातें कही हैं—

(१) "अकविता अन्तर्विरोधों की अन्वेषक कविता है।"[3]

(२) "अकविता की चर्चा किसी वाद की चर्चा नहीं है। इसे काव्य-आन्दोलन या प्रवाद कहना भी अनुचित होगा।"[4]

(३) "अकविता अवाक् मन की प्रक्रिया नहीं है।"[5]

(४) 'अकविता' 'वेस्टलैण्ड' की त्रासदी का आगामी चरण है, उसका अन्तिम समाधान नहीं।"[6]

(५) "अकविता स्वाभाविक कविता की दिशा है।"[7]

(६) "नई कविता जहाँ समाप्त होती है, वहीं से अकविता का प्रारम्भ होता है—यह दावा अपने-आप में एक भ्रान्ति है।"[8]

(७) "पार्थक्य के नाते अकविता समग्रताविहीन, विवश, अनगढ़, एवं सीमान्तक अनुभूति की अभिव्यक्ति है।"[9]

(८) "अकविता इन तीनों सप्तकों के पैमाने से अलग है।"[10]

(९) "अकविता के लिए तथाकथित नई कविता की उपलब्धि अब निर्वीर्य और ठंडी हो चुकी है।"[11]

उपर्युक्त परिभाषाओं को ध्यान से पढ़ने पर यह सहज ही स्पष्ट हो जायेगा कि निराधार सिद्धान्त-वाक्यों को गढ़ने के लिए भाषा और तर्क को निरर्थकता और अटपटापन की किस सीमा तक घसीटना पड़ता है। डॉ० परमार की दृष्टि से श्रीकान्त, कैलाश वाजपेयी, जगदीश चतुर्वेदी, मुद्राराक्षस, विष्णुचन्द्र शर्मा, और

---

१. वही, पृ० २५०
२. दे०, वही पृ० २५०
३. डॉ० श्याम परमार, **अकविता और कला—सन्दर्भ**, पृ० १
४. वही, पृ० १
५. वही, पृ० ३
६. वही, पृ० ५
७. वही, पृ० ९
८. वही, पृ० ११
९. वही, पृ० १३
१०. वही, पृ० १३
११. वही, पृ० १४

चन्द्रकान्त देवताले की रचनाओं में अकविता के तत्त्व पाये जाते हैं।[1] अकवियों में जो नाम गिनाये गए हैं, उनमें से अधिकतर की कविताओं पर 'बीटनिकों' का प्रभाव है[2]। नई कविता के बाद आविर्भूत अन्य कविता-संज्ञाओं की अपेक्षा 'अकविता', कुछ अधिक व्यापक स्वीकृति पा सकी और उसके अनेक विशेषांक भी प्रकाशित हुए। किन्तु, दृष्टिकोण की अस्थिरता और प्रदर्शनवादिता के कारण उसकी शीघ्र ही मृत्यु हो गई।

हिन्दी में 'बीट कविता' के प्रवर्तकों में प्रभाकर माचवे, शमशेरबहादुरसिंह, राजकमल चौधरी आदि उल्लेखनीय हैं। अमरीका में सैनफ्रान्सिसको के बीच 'एरिया' और न्यूयार्क में प्रभाकर माचवे का सम्पर्क बीट कवियों, चित्रकारों, आलोचकों और अभिनेताओं से हुआ। बनारस में गिन्सवर्ग के निवास-काल में शमशेरबहादुरसिंह उससे गम्भीर रूप में प्रभावित हुए। कविता, कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में सृजनात्मक स्तर पर सबसे अधिक बीटनिक प्रभाव राजकमल चौधरी के माध्यम से हिन्दी में आया।[3] डॉ० श्याम परमार ने बीटनिक प्रभाव के विषय में लिखा है, "इस स्थिति में हिन्दी में बीटनिक हवा रोमैन्टिक अन्दाज़ से आयी, जैसे कि वह और देशों में भी वही और सिर्फ़ महानगरों के बौद्धिक वैरोमीटरों ने उसका दबाव अंकित किया। लेकिन, जैसा कि हर जगह होता है, हवा के साथ घूम जाने वाले 'विंड काक' हिन्दी में भी हैं। उन्हें सिर्फ धक्का चाहिए।"[4] प्रकारान्तर से यही बात स्वयं डॉ० श्याम परमार तथा विभिन्न पाश्चात्य प्रभावों के प्रवाह में बहने वाले अन्य नये कवियों पर भी घटित होती है।

सन् १९७३ में, महीपसिंह तथा नरेन्द्रमोहन के सम्पादकत्व में 'संचेतना' पत्रिका का 'विचार कविता विशेषांक' प्रकाश में आया। यह विशेषाङ्क विचार को कविता का बुनियादी तत्त्व स्वीकार करते हुए 'विचार-कविता' की स्थापना करता प्रतीत होता है। विशेषाङ्क के प्रारम्भ में कुछ कवि-समीक्षकों के 'विचार-कविता' के विषय में वक्तव्य दिए गये हैं। किन्तु सभी समीक्षक विचार को कविता का मूल तत्त्व मानने के पक्ष में नहीं हैं। चन्द्रकान्त देवताले के वक्तव्य का यह अंश ध्यान देने योग्य है,—"यह अनुभव और रचना-प्रक्रिया के सरलीकरण की चेष्टा है। यह किसी एक कवि की अपनी प्रक्रिया शायद हो भी सके, पर इसका सामान्यीकरण कदापि नहीं किया जाता है। और इसमें कहीं अन्तर्विरोध भी है। भावुक और रोमानी न होने की बात तो समझ में आती है, पर उत्तेजना आदि के लिए बन्दिश के ज़रिये क्या कविता को यान्त्रिक साँचे में ढाल देना उचित होगा? क्या हम ऐसा कर सकते हैं? विचार के लिए इतना अधिक

१. वही, पृ० १४-१५

२. दे०, सम्पा० ओंकार ठाकुर, रामकिशोर द्विवेदी, शताब्दी, जनवरी—मई, १९६९ (अंक—१-५), पृ० ९३, १०२, ८९

३ दे०, डॉ० जगदीश गुप्त, नई कविता : किसिम-किसिम की कविता, सम्पा० डॉ० जगदीश गुप्त, विजयदेव नारायण साही, नई कविता १९६६-६७ (अंक ८), पृ० २५२-५३

४. डॉ० श्याम परमार, अकविता और कला-सन्दर्भ, पृ० ३४

अलग से और अतिरिक्त ऐम्फेसिस कविता की प्रकृति के विपरीत है।" चन्द्रभूषण तिवारी के अनुसार, "कविता के अन्तर्गत विचारों का प्रस्थान-बिन्दु के रूपमें प्रयोग एक एकांगी ह्रासशील प्रवृत्ति को जन्म देता है···।" वस्तुतः कविता न कोरा विज्ञान है, न दर्शन, न कोई वैचारिक मतवाद। कविता में विचार अनुभूति का अन्तर्वर्ती अंग होकर आता है। दिनकर का कुरुक्षेत्र इसी नाते एक विचार-काव्य कहा जा सकता है। फिर 'विचार कविता' के नाम पर उक्त विचार-कविता विशेषांक में जो कविताएँ संकलित हैं; उनमें से अधिकतर तो बिम्बमूलक अनुभूतिपूर्ण कविताएँ हैं और कुछ शुष्क गद्य खण्ड मात्र हैं। कुछ कविताओं में व्यक्त विचारों (?) को विचारशीलता की किस कसौटी पर परखा जाए—यह विचारणीय है। इस दृष्टि से अचल शर्मा की 'एक अन्तरंग प्रेम कथा', 'आत्मरति' श्याम विमल की 'प्रतिरूप', तथा 'विकृत', विजेन्द्र की 'पाँच कविताएँ', बलदेव वंशी की 'सीधी कार्यवाही' उद्धरणीय हैं।

हिन्दी में 'नई कविता' के अन्दाज़ पर 'नवगीत' और 'अकविता' के अन्दाज़ पर 'अगीत' और 'एण्टी गीत' नामों का प्रचलन हुआ है। नामों के हेर-फेर के अतिरिक्त इनमें तात्त्विक दृष्टि से क्या भेद है—यह रहस्य अज्ञात और अज्ञेय है। नियमित छन्द, टेक की आवृत्ति, संगीतात्मकता और तीव्र भावावेग से यथासम्भव मुक्त होकर केवल अर्थाभिव्यक्ति पर आश्रित 'नया गीत' 'नई कविता' से ही किन रूपों में भिन्न है? डॉ० रामदरश मिश्र ने मनगढ़न्त सैद्धान्तिकता और मिथ्या प्रचार से ऊपर उठकर सत्य को सहज रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है, "किन्तु एक प्रकार के अतिवादी फ़ैशन को आधुनिकता मान लेने में मेरी आस्था नहीं। मानव-संवेदनाओं और मूल्यों के सन्दर्भ में ही नये-नये प्रयोगों की सार्थकता है, यह विश्वास लेकर मैंने नई कविताएँ भी लिखी हैं और नये गीत भी—यों मैं नये गीतों को अनयी कविता नहीं मान पाता।"[१]

गीत का नया रूप अपने को 'गीत' कहलाने से हिचकिचाते हुए भी 'गीत' शब्द को अपने से विच्छिन्न नहीं होने देना चाहता, वह गीत की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में अक्षम होने पर भी गीत बना रहना चाहता है—फिर चाहे वह अगीत हो या एण्टी गीत। जिस प्रकार हर नये कवि द्वारा कविता के नाम पर लिखी गयी हर कविता नयी कविता है, उसी प्रकार उनके द्वारा गीत के नाम पर लिखा गया हर गीत नया गीत है। नये गीतकारों में शेरजंग गर्ग, बालस्वरूप राही, रवीन्द्र भ्रमर, भूपेन्द्र कुमार स्नेही, रमेश रंजक आदि की गणना की जाती है।

(६) **नयी कविता की शक्ति और नाट्य-काव्य**—किसी भी कविता की शक्ति इस बात में निहित होती है कि वह किस सीमा तक मानव की जीवन्त अनुभूतियों को कलात्मक रूप में ईमानदारी के साथ व्यक्त कर पाती है। नयी कविता का एक बहुत बड़ा अंश जहाँ वादगत आग्रहों, जीवन-सन्दर्भों से विच्छिन्न कल्पित सिद्धान्तों और फ्रायड, मार्क्स, सार्त्र, डार्विन, गिन्सवर्ग आदि पाश्चात्य विचारकों के प्रभावों के फेर में पड़कर, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन-प्रवाह से पृथक्, एक संकीर्ण यथार्थ को कलाहीन

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र, **बेरंग बेनाम चिट्ठियाँ** (भूमिका), पृ० १

रूप में व्यक्त करने में संलग्न रहा है, वहाँ दूसरी ओर नयी कविता का एक अंश ऐसा भी है जो खण्डित सन्दर्भों की खण्डित अनुभूतियों के गद्यात्मक चित्रण से ऊब कर व्यापक जीवन-सन्दर्भों से सम्बद्ध गहन और व्यापक अनुभूतियों को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने की दिशा में संलग्न है। "यों ही नहीं है कि लम्बी कविताएँ पिछले कुछ वर्षों में अधिक लिखी गयी हैं और छोटी कविताओं में सूक्ष्म रागात्मक मनोदशाओं के चित्रण की व्यर्थता सिद्ध हो चुकी है। 'अन्धायुग' से लेकर 'आत्मजयी' तक जो आख्यान चुने गये हैं, उनमें भी एक उपयुक्त काव्यभूमि की खोज की ही प्रेरणा है, जिस पर आज की अनिवार्य मानव-नियति का साक्षात्कार किया जा सके।"[1] डॉ० देवराज के निम्नलिखित कथन में भी इसी बात की ओर संकेत किया गया है—"यों तथाकथित नये कवियों में कुछ ऐसे हैं, जो चिन्तात्मक आधार की खोज न करते हुए भी, कथ्य के प्रति उदासीन नहीं हैं। ऐसे कवियों या लेखकों में धर्मवीर भारती और कुँवर नारायण के नाम लिये जा सकते हैं। इन कवियों की रचनाओं में अक्सर जीवन के बड़े सन्दर्भों के संकेत मिलते हैं।"[2]

प्रत्येक युग की भावगत और भाषागत उपलब्धि इनी-गिनी दो-चार कृतियों में चरितार्थ हुआ करती है। वस्तुतः यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि छायावादी युग की 'कामायनी', 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' जैसी सशक्त कृतियों के उपरान्त की दो-तीन दशकों की संक्रान्तिकालीन भटकन के बाद नयी कविता चिन्तागत अनिश्चय और सांस्कृतिक बोध की शून्यता की परिचायक खण्डित बिम्ब-सृष्टियों की परिपाटी से निकल कर आधुनिक परिवेश की गम्भीर समस्याओं और संवेदनाओं को ऐतिहासिक और पौराणिक कथानकों के व्यापक सन्दर्भों में व्यक्त करने की दिशा में प्रवृत्त हुई है। वास्तव में, यह कृत्रिम, व्यावसायिक और दिशाहीन तथाकथित कविता पर सच्ची कविता की विजय है। कोई भी काव्य-आन्दोलन जब तक जातीय जीवन के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक आयामों को विवेक, आस्था और संवेदना के स्तर पर आत्मसात् नहीं करेगा, तब तक वह स्थायी महत्त्व की कृतियों को जन्म नहीं दे सकता। धर्मवीर भारती-कृत 'अन्धायुग' (१९५४), गिरिजाकुमार माथुर-कृत 'पृथ्वी-कल्प' (१९६०), डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल-कृत 'सूखा सरोवर' (१९६०), नरेश मेहता कृत 'संशय की एक रात' (१९६२), दुष्यन्त कुमार कृत 'एक कंठ विषपायी' (१९६३), कुँवर नारायण-कृत 'आत्मजयी' (१९६५) तथा अज्ञेय-कृत 'उत्तरप्रियदर्शी' (१९६७) आदि कृतियाँ, अपनी सीमाओं के होते हुए भी, नयी कविता की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हैं। इसमें सन्देह नहीं कि गत्यवरोध के संकट से ग्रस्त नयी कविता को इन कृतियों में नयी दिशा और दृष्टि के साथ ही नयी गति और शक्ति भी मिली है। डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों में, "'अन्धायुग' से लेकर 'संशय की एक रात' तक कविता प्रबन्धात्मकता के बीच जिस सांस्कृतिक अन्तर्मंथन को व्यक्त करती रही है, वह राष्ट्र की गम्भीर

---

१. डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, **नयी कविता का परिप्रेक्ष्य**, पृ० १२३

२. डॉ० देवराज, **प्रतिक्रियायें**, पृ० १६०

समस्याओं के प्रति उदासीनता की दिशा नहीं है।'[1] गिरिजाकुमार माथुर ने नयी कविता के अन्तर्गत लिखित नाट्य-काव्यों तथा लम्बी कविताओं की इस धारा को 'नवीन भारतीय परिवेश के अनुकूल विकसित' माना है, जिसका आधार लोकतन्त्र व्यक्ति और परिवेशोन्मुख वस्तुवादिता के साथ भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का नया संस्कार भी है।'[2] यदि नयी कविता सर्वांशतः पाश्चात्य शैलीगत और दार्शनिक आन्दोलनों के प्रभाव-वृत्त में ही सीमित रह जाती, तो पौराणिक और ऐतिहासिक सन्दर्भों और प्रतीकों के माध्यम से समकालीन जटिल युग-बोध नाट्य-काव्यों के रूप में अभिव्यक्त न हुआ होता।

ऊपर जिन लम्बी अथवा प्रबन्धात्मक कृतियों का उल्लेख किया गया है, उनमें से 'आत्मजयी' को छोड़कर शेष सभी नाट्य-काव्य हैं। 'आत्मजयी' में कुँवर नारायण ने कठोपनिषद्[3] में आये हुए नचिकेता-सम्बन्धी आख्यान के माध्यम से वस्तुपरक और आत्मपरक दृष्टिकोणों के सनातन संघर्ष को वाणी दी है। शेष सभी नाट्य-काव्यों की समस्याएँ किसी-न-किसी रूप में मानव-इतिहास की सनातन समस्या—युद्ध—से सम्बद्ध हैं।

---

१. डॉ० जगदीश गुप्त, हिन्दी कविता : प्रवृत्यात्मक विवेचन और मूल्यांकन, सम्पा० शिवदानसिंह चौहान, **आलोचना**, जून, १९६५ पृ० ७१

२. गिरिजाकुमार माथुर, **आधुनिकता : नयी कविता सीमा और सम्भावनाएँ**, पृ० ५७

३. दे०, **ईशादि नौ उपनिषद्**, पृ० ४०-७६

अध्याय २

नाट्य-काव्य : रूप और विधायक तत्त्व

(१) **रूप : सामान्य विवेचन**—'रूप' शब्द संस्कृत की 'रूप्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है बनाना या गढ़ना।[१] 'संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी' में रूप के लिए 'फॉर्म' (रूप), 'फिगर' (आकृति), 'एपियरैन्स' (रूप, आभास, आकृति), 'एन इमेज' (बिम्ब), 'सिमलीट्यूड' (उपमा), 'रिजैम्बलैन्स' (सादृश्य), 'ब्यूटी' (सौन्दर्य), 'एलीगैन्स' (गरिमा) आदि पर्याय दिये गए है।[२] आधुनिक समीक्षा में 'रूप' का प्रयोग प्रायः अंग्रेज़ी के फॉर्म' के अर्थों में किया जाता है। 'फॉर्म' के पर्याय शब्द 'शेप' (शक्ल), 'स्ट्रक्चर' (ढाँचा), 'एपियरैन्स' (आकृति) आदि हैं।[३] 'इंग्लिश-संस्कृत डिक्शनरी' में 'रूप', 'आकारः', 'आकृति', 'संस्थान', 'वपुस्', 'मूर्ति', 'मार्गः', 'पद्धति', 'प्रकारः', 'रीति', 'विधा', 'विधिः', 'व्यवस्था', 'क्रमः' आदि शब्द फॉर्म के पर्याय के रूप में दिये गये हैं।[४] फॉर्म का क्रिया के रूप में अर्थ बनाना, ढालना, व्यवस्थित करना, गठित करना है।[५] रूप के कोशगत विविध अर्थों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) आकृति, शक्ल, ढाँचा आदि; बिम्ब, उपमा, सादृश्य आदि; सौन्दर्य, गरिमा आदि। (२) गढने, बनाने, व्यवस्थित करने की क्रिया। (३) विधा, विधि, व्यवस्था, क्रम, पद्धति आदि। रूप शब्द की इन विभिन्न अर्थ-छवियों से 'रूप' को सम्यक् रूप में समझने में सहायता मिलती है। इन अर्थों के आधार पर कहा जा सकता है कि (१) रूप दृश्य आकृति है। (२) इसको गठित या निर्मित किया जाता है। (३) इसे निर्मित करने में विशिष्ट क्रम, व्यवस्था और पद्धति का सहारा लिया जाता है। विशेष रूप के निर्माण के लिए विशिष्ट रीति या विधि का प्रयोग किया जाता है। विशिष्ट रूप का विशिष्ट विधि से सम्बन्ध होने के कारण ही 'रूप' प्रकार, विधा या भेद के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[६] (४) रचना-पद्धति के मूल में उपमा या अन्य सादृश्यमूलक

१. सम्पा० चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, **संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ**, पृ० ६४७
२. Ed. V. S. Apte, *The Student's Sanskrit English Dictionary* P. 71
३. *The New Standard Dictionary* P. 112
४. Ed. V.S. Apte, *The Student's English-Sanskrit Dictionary* P. 170
५. "To shape, mould, arrange, organize, *The New Standard Dictionary* P. 112
६. डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, साहित्य-रूप, प्र० सम्पा०, धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी साहित्य कोश**, पृ० ८४८

समस्याओं के प्रति उदासीनता की दिशा नहीं है।'[1] गिरिजाकुमार माथुर ने नयी कविता के अन्तर्गत लिखित नाट्य-काव्यों तथा लम्बी कविताओं की इस धारा को 'नवीन भारतीय परिवेश के अनुकूल विकसित' माना है, जिसका आधार लोकतन्त्र व्यक्ति और परिवेशोन्मुख वस्तुवादिता के साथ भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का नया संस्कार भी है।'[2] यदि नयी कविता सर्वांशतः पाश्चात्य शैलीगत और दार्शनिक आन्दोलनों के प्रभाव-वृत्त में ही सीमित रह जाती, तो पौराणिक और ऐतिहासिक सन्दर्भों और प्रतीकों के माध्यम से समकालीन जटिल युग-बोध नाट्य-काव्यों के रूप में अभिव्यक्त न हुआ होता।

ऊपर जिन लम्बी अथवा प्रबन्धात्मक कृतियों का उल्लेख किया गया है, उनमें से 'आत्मजयी' को छोड़कर शेष सभी नाट्य-काव्य हैं। 'आत्मजयी' में कुँवर नारायण ने कठोपनिषद्[3] में आये हुए नचिकेता-सम्बन्धी आख्यान के माध्यम से वस्तुपरक और आत्मपरक दृष्टिकोणों के सनातन संघर्ष को वाणी दी है। शेष सभी नाट्य-काव्यों की समस्याएँ किसी-न-किसी रूप में मानव-इतिहास की सनातन समस्या—युद्ध—से सम्बद्ध हैं।

---

१. डॉ० जगदीश गुप्त, हिन्दी कविता : प्रवृत्यात्मक विवेचन और मूल्यांकन, सम्पा० शिवदानसिंह चौहान, आलोचना, जून, १९६५ पृ० ७१

२. गिरिजाकुमार माथुर, आधुनिकता : नयी कविता सीमा और सम्भावनाएँ, पृ० ५७

३. दे०, ईशादि नौ उपनिषद्, पृ० ४०-७६

अध्याय २

नाट्य-काव्य : रूप और विधायक तत्त्व

(१) **रूप : सामान्य विवेचन**—'रूप' शब्द संस्कृत की 'रूप्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है बनाना या गढना।[१] 'संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी' में रूप के लिए 'फॉर्म' (रूप), 'फिगर' (आकृति), 'एपियरैन्स' (रूप, आभास, आकृति), 'एन इमेज' (बिम्ब), 'सिमलीट्यूड' (उपमा), 'रिज़ैम्बलैन्स' (सादृश्य), 'ब्यूटी' (सौन्दर्य), 'एलीगैन्स' (गरिमा) आदि पर्याय दिये गए हैं।[२] आधुनिक समीक्षा में 'रूप' का प्रयोग प्रायः अंग्रेज़ी के फॉर्म' के अर्थों में किया जाता है। 'फॉर्म' के पर्याय शब्द 'शेप' (शक्ल), 'स्ट्रक्चर' (ढाँचा), 'एपियरैन्स' (आकृति) आदि हैं।[३] 'इंग्लिश-संस्कृत डिक्शनरी' में 'रूप', 'आकारः', 'आकृति', 'संस्थान', 'वपुस्', 'मूर्ति', 'मार्गः', 'पद्धति', 'प्रकारः', 'रीति', 'विधा', 'विधिः', 'व्यवस्था', 'क्रमः' आदि शब्द फॉर्म के पर्याय के रूप में दिये गये हैं।[४] फॉर्म का क्रिया के रूप में अर्थ बनाना, ढालना, व्यवस्थित करना, गठित करना है।[५] रूप के कोशगत विविध अर्थों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) आकृति, शक्ल, ढाँचा आदि; बिम्ब, उपमा, सादृश्य आदि; सौन्दर्य, गरिमा आदि। (२) गढने, बनाने, व्यवस्थित करने की क्रिया। (३) विधा, विधि, व्यवस्था, क्रम, पद्धति आदि। रूप शब्द की इन विभिन्न अर्थ-छवियों से 'रूप' को सम्यक् रूप में समझने में सहायता मिलती है। इन अर्थों के आधार पर कहा जा सकता है कि (१) रूप दृश्य आकृति है। (२) इसको गठित या निर्मित किया जाता है। (३) इसे निर्मित करने में विशिष्ट क्रम, व्यवस्था और पद्धति का सहारा लिया जाता है। विशेष रूप के निर्माण के लिए विशिष्ट रीति या विधि का प्रयोग किया जाता है। विशिष्ट रूप का विशिष्ट विधि से सम्बन्ध होने के कारण ही 'रूप' प्रकार, विधा या भेद के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[६] (४) रचना-पद्धति के मूल में उपमा या अन्य सादृश्यमूलक

१. सम्पा० चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, **संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ**, पृ० ६४७
२. Ed. V. S. Apte, *The Student's Sanskrit English Dictionary* P. 71
३. *The New Standard Dictionary* P. 112
४. Ed. V.S. Apte, *The Student's English-Sanskrit Dictionary* P. 170
५. "To shape, mould, arrange, organize, *The New Standard Dictionary* P. 112
६. डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, साहित्य-रूप, प्र० सम्पा०, धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी साहित्य कोश**, पृ० ८४८

समस्याओं के प्रति उदासीनता की दिशा नहीं है।'[1] गिरिजाकुमार माथुर ने नयी कविता के अन्तर्गत लिखित नाट्य-काव्यों तथा लम्बी कविताओं की इस धारा को 'नवीन भारतीय परिवेश के अनुकूल विकसित' माना है, जिसका आधार लोकतन्त्र व्यक्ति और परिवेशोन्मुख वस्तुवादिता के साथ भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का नया संस्कार भी है।'[2] यदि नयी कविता सर्वांशतः पाश्चात्य शैलीगत और दार्शनिक आन्दोलनों के प्रभाव-वृत्त में ही सीमित रह जाती, तो पौराणिक और ऐतिहासिक सन्दर्भों और प्रतीकों के माध्यम से समकालीन जटिल युग-बोध नाट्य-काव्यों के रूप में अभिव्यक्त न हुआ होता।

ऊपर जिन लम्बी अथवा प्रबन्धात्मक कृतियों का उल्लेख किया गया है, उनमें से 'आत्मजयी' को छोड़कर शेष सभी नाट्य-काव्य हैं। 'आत्मजयी' में कुँवर नारायण ने कठोपनिषद्[3] में आये हुए नचिकेता-सम्बन्धी आख्यान के माध्यम से वस्तुपरक और आत्मपरक दृष्टिकोणों के सनातन संघर्ष को वाणी दी है। शेष सभी नाट्य-काव्यों की समस्याएँ किसी-न-किसी रूप में मानव-इतिहास की सनातन समस्या—युद्ध—से सम्बद्ध हैं।

---

१. डॉ० जगदीश गुप्त, हिन्दी कविता : प्रवृत्यात्मक विवेचन और मूल्यांकन, सम्पा० शिवदानसिंह चौहान, आलोचना, जून, १९६५ पृ० ७१

२. गिरिजाकुमार माथुर, आधुनिकता : नयी कविता सीमा और सम्भावनाएँ, पृ० ५७

३. दे०, ईशादि नौ उपनिषद्, पृ० ४०-७६

अध्याय २

नाट्य-काव्य : रूप और विधायक तत्त्व

(१) **रूप : सामान्य विवेचन**—'रूप' शब्द संस्कृत की 'रूप्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है बनाना या गढ़ना।[१] 'संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी' में रूप के लिए 'फॉर्म' (रूप), 'फिगर' (आकृति), 'एपियरैन्स' (रूप, आभास, आकृति), 'एन इमेज' (बिम्ब), 'सिमलीट्यूड' (उपमा), 'रिज़ैम्बलैन्स' (सादृश्य), 'ब्यूटी' (सौन्दर्य), 'एलीगैन्स' (गरिमा) आदि पर्याय दिये गए हैं।[२] आधुनिक समीक्षा में 'रूप' का प्रयोग प्रायः अंग्रेज़ी के फॉर्म' के अर्थों में किया जाता है। 'फॉर्म' के पर्याय शब्द 'शेप' (शक्ल), 'स्ट्रक्चर' (ढाँचा), 'एपियरैन्स' (आकृति) आदि हैं।[३] 'इंग्लिश-संस्कृत डिक्शनरी' में 'रूप', 'आकारः', 'आकृति', 'संस्थान', 'वपुस्', 'मूर्ति', 'मार्गः', 'पद्धति', 'प्रकारः', 'रीति', 'विधा', 'विधिः', 'व्यवस्था', 'क्रमः' आदि शब्द फॉर्म के पर्याय के रूप में दिये गये हैं।[४] फॉर्म का क्रिया के रूप में अर्थ बनाना, ढालना, व्यवस्थित करना, गठित करना है।[५] रूप के कोशगत विविध अर्थों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) आकृति, शक्ल, ढाँचा आदि; बिम्ब, उपमा, सादृश्य आदि; सौन्दर्य, गरिमा आदि। (२) गढ़ने, बनाने, व्यवस्थित करने की क्रिया। (३) विधा, विधि, व्यवस्था, क्रम, पद्धति आदि। रूप शब्द की इन विभिन्न अर्थ-छवियों से 'रूप' को सम्यक् रूप में समझने में सहायता मिलती है। इन अर्थों के आधार पर कहा जा सकता है कि (१) रूप दृश्य आकृति है। (२) इसको गठित या निर्मित किया जाता है। (३) इसे निर्मित करने में विशिष्ट क्रम, व्यवस्था और पद्धति का सहारा लिया जाता है। विशेष रूप के निर्माण के लिए विशिष्ट रीति या विधि का प्रयोग किया जाता है। विशिष्ट रूप का विशिष्ट विधि से सम्बन्ध होने के कारण ही 'रूप' प्रकार, विधा या भेद के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[६] (४) रचना-पद्धति के मूल में उपमा या अन्य सादृश्यमूलक

१. सम्पा० चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, **संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ**, पृ० ६४७
२. Ed. V. S. Apte, *The Student's Sanskrit English Dictionary* P. 71
३. *The New Standard Dictionary* P. 112
४. Ed. V.S. Apte, *The Student's English-Sanskrit Dictionary* P. 170
५. "To shape, mould, arrange, organize, *The New Standard Dictionary* P. 112
६. डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, साहित्य-रूप, प्र० सम्पा०, धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी साहित्य कोश**, पृ० ८४८

आधार ग्रहण किया जाता है, जिससे रूप को ऐन्द्रिय, मूर्त और भावोत्पादक आधार प्रदान किया जा सके। (५) रूप-रचना में रचयिता इस बात का सदैव ध्यान रखता है कि उसका प्रभाव रुचिकर हो अर्थात् रूप गरिमामय, उदात्त, रमणीय या सुन्दर हो।

(२) **अर्थ-तत्त्व और रूप**—रूपों का निर्धारण अर्थ की विशिष्टता द्वारा होता है। अर्थों को सामान्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) भावात्मक अर्थ (२) बौद्धिक अर्थ। राजशेखर ने अर्थों के भावात्मक और बौद्धिक वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर ही वाङ्मय का 'शास्त्र 'और 'काव्य' नाम से दो वर्गों में विभाजन किया है।[१] बौद्धिक अर्थ भी दो प्रकार के होते हैं—(१) जिनमें बुद्धि के तर्कों के आधार पर बौद्धिक सत्यों की खोज की जाती है। दर्शन में बौद्धिक अर्थों का यही रूप प्रमुख होता है। (२) जिनमें बुद्धि वस्तुगत या भौतिक नियमों के आधार पर पदार्थों का अध्ययन करती है। विज्ञान में ऐसे ही बौद्धिक अर्थों की प्रधानता होती है। दार्शनिक और वैज्ञानिक अर्थों में क्रमशः तर्कगत और भौतिक आधार ही महत्त्व-पूर्ण होने के कारण दार्शनिक या वैज्ञानिक व्यक्तिगत स्वभाव या रुचियों की दृष्टि से पूर्णतः तटस्थ रहता है। इसलिए इन अर्थों में क्रमशः तर्क और भौतिकता का ही महत्त्व होने के कारण ये अर्थ इकहरे होते हैं। इनका विकास एक सीधी रेखा में होता है। एक रेखा में बढ़ने वाले इकहरे बौद्धिक अर्थों में इसीलिए रूप का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। विशुद्ध बौद्धिकता कभी भी कला का विषय नहीं हो सकती, इसके लिए उसे भाव या राग-तत्त्व के साथ समन्वित होकर उपस्थित होना होता है। रूप का सम्बन्ध कलात्मक अभिव्यक्ति से है, नीरस बौद्धिक अभिव्यक्ति से नहीं। नीरस बौद्धिक अभिव्यक्ति का माध्यम विशुद्ध गद्य है। भावात्मक गद्य बुद्धि के साथ अनुभूति के सामंजस्य के अनुपात में कलात्मक बन जाता है। उपन्यासों और नाटकों का गद्य वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रन्थों के विशुद्ध गद्य से भिन्न स्वरूप वाला होता है। विशुद्ध गद्य में विभावों, भावों और अनुभावों का अभाव रहने के कारण न तो नाटकीयता होती है और न ही काव्यात्मक स्पन्दन या लयात्मकता। अनुभूति की गहराई और तीव्रता लयात्मक भाषा का प्रश्रय ग्रहण करती है। यही कारण है कि भावपूर्ण गद्य या अनुभूतिपूर्ण भाषणों में प्रायः गद्य का प्रवाह कविता जैसी नियमित लय की ओर अग्र-सर होता दिखलायी पड़ता है, यद्यपि वह पूर्णतः नियमित लय को प्राप्त नहीं कर पाता है।[२] विचारों के बोध की भाषा से अनुभूति के बिम्बन या चित्रण की भाषा भिन्न होती है। अनुभूति के चित्रण में अनुभूति को मूर्त रूप देने के लिए सादृश्य-विधान करने वाली एक अन्य मानसिक क्षमता—कल्पना—का योग भी आवश्यक होता

---

१. 'इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च।' राजशेखर, **काव्यमीमांसा**, पृ० ६

२. W. H. Hudson, *An Introduction* To *The Study of Literature*, P 72

है। इसलिए कलात्मक अभिव्यक्ति में भाषा सादृश्यमूलक (आलंकारिक या प्रतीकात्मक) हो जाती है। यह भी कहा जा सकता है कि गद्य-लेखक और कवि की अन्तर्दृष्टि में अन्तर का कारण ही यह है कि एक को दूसरे से भाषा के भिन्न माध्यम का प्रश्रय लेने को विवश होना पड़ता है। तत्त्वतः अन्तर्दृष्टि का अन्तर माध्यम के अन्तर को और माध्यम का अन्तर अन्तर्दृष्टि के अन्तर को निर्धारित करता है। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि और माध्यम पूर्णतः अभिन्न हैं। यदि दर्शन या विज्ञान की कोई पुस्तक अंग्रेज़ी में लिखी गयी है, तो उसका हिन्दी या अन्य किसी भी भाषा में अनुवाद करने पर, उस पुस्तक के मूल रूप में कोई अन्तर नहीं आयेगा, क्योंकि वहाँ अर्थ ही मूल तत्त्व है, रूप वहाँ है ही नहीं। इसी प्रकार विज्ञान या दर्शन के ग्रन्थों के सारांश या संक्षिप्त संस्करण मूल ग्रन्थ का प्रतिनिधित्व ही नहीं करते, वरन् उनके स्थानापन्न भी होते हैं। किन्तु भावात्मक ग्रन्थों का अनुवाद या संक्षिप्त रूप कभी भी मूल ग्रन्थ का स्थानापन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ बौद्धिक ग्रन्थों में भाषा केवल साधन मात्र होती है, वहाँ रचनात्मक कृतियों में भाषा साधन-मात्र नहीं होती, वह भाव से अभिन्न होने के कारण साध्य भी होती है। इसी आधार पर कविता के अनुवाद को असम्भव कहा जाता है। दार्शनिक और वैज्ञानिक ग्रन्थों के अनुवाद में केवल भाषा ही भिन्न हो जाती है, मूल अर्थ ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता है, किन्तु भावात्मक ग्रन्थों का अनुवाद करते ही, भाषा के बदलने के साथ, बहुत-कुछ अर्थ भी बदल जाता है, क्योंकि उनमें अर्थ भाषा के विविध-तत्त्वों—लय, अनुप्रास, प्रतीक, बिम्ब, अलंकार, तुक आदि में गुँथा रहता है। लय, तुक, छन्द, अलंकार, प्रतीक, बिम्ब आदि ही वे तत्त्व हैं, जो संयुक्त रूप में काव्यार्थ को वहन करते हैं और काव्य-रूप का निर्माण करते हैं। साथ ही ये ही वे तत्त्व हैं, जिनका अनुवाद नहीं हो सकता। इस प्रकार काव्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति में 'अर्थ' और 'रूप' पृथक्-पृथक् न रहकर अभिन्न रूप में सक्रिय रहते हैं।[१] इसलिए समान अर्थों से समान काव्य-रूपों का उदय होता है।[२] रूप का सम्बन्ध सर्जनात्मकता से है और सर्जनात्मकता का सम्बन्ध गूढ़ और जटिल भावात्मक अर्थों से है, सीधे, निश्चित, स्पष्ट, अभिधात्मक और इकहरे बौद्धिक अर्थों से नहीं। दूसरे शब्दों में, रूप का सम्बन्ध उन जटिल और मिश्र अनुभूतियों से है, जो विविध साहित्यिक विधाओं और ललित कलाओं के मूल में निहित रहती हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि (१) रूप का सम्बन्ध वैज्ञानिक और दार्शनिक अर्थों से नहीं है। (२) रूप का सम्बन्ध मानवीय अनुभूतियों से है, जिनमें

---

१. "In such poetic experience 'meaning' and 'form' are not apprehended separately, but operate together." Leonard Foster, *Translation : An Introduction.* Ed. A. H. Smith, *Aspects of Translation,* P. 23

२. "...Similarity in meaning often results in similarity of form." V. K. Gokak, *The poetic Approach To Language,* P. 3

मानवीय कल्पना और मानवीय ऐन्द्रिय बोध के साथ मानवीय मूल्य भी समाहित रहते हैं। (३) भावात्मक ग्रन्थ या कृति का रूप उसके अर्थ-तत्त्व और उस (अर्थ-तत्त्व) को वहन करने वाले माध्यम से अविच्छिन्न होता है, इसलिए उसका रूपान्तर सम्भव नहीं है। (४) रूप का सम्बन्ध सर्जनात्मकता से है और सर्जनात्मकता के मूल में मानवीय भावात्मक अर्थ होते हैं। (५) मानवीय अनुभूतियों को रूप देना ही विविध ललित कलाओं का कार्य है।

(३) **रूप की परिभाषा**—विभिन्न विद्वानों ने 'रूप' की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं। यहाँ कुछ परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं। क्रोचे ने रूप की परिभाषा करते हुए कहा है, "ऐसे सारे शब्द—जैसे लय, छन्द, अनुप्रास, तुक, रूपक अथवा इसी प्रकार के अन्य भी—जब वास्तविक मूल्यांकन के लिए प्रयुक्त होते हैं, कलात्मक रूप के पर्याय ही हैं।"[१] उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि वे सब तत्त्व जो अ-वैचारिक (Non-Conceptual) तथा अ-वैज्ञानिक (Non-Scientific) भावात्मक अर्थों और उनकी अभिव्यक्ति के अभिन्न अंग हैं, कलात्मक रूप के बोधक हैं। वस्तुतः ये सभी तत्त्व परस्पर सम्पृक्त होकर ही काव्य-रूप का गठन करते हैं। इसी पारस्परिक सम्पृक्ति के कारण ये तत्त्व एक-दूसरे को अपने में अन्तर्भुक्त किए हैं तथा उनमें कोई नितान्त वैज्ञानिक विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। अतः अर्थ की ही परिणति होने के कारण "रूप बाह्य तलों और रूपरेखा से बढ़कर हैं।"[२] इस परिभाषा में रूप के विषय में नकारात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। इसका मूल अभिप्रायः यह है कि 'रूप' केवल बाह्य ढाँचा या आकार-मात्र नहीं है, अपितु वह इससे बढ़कर किसी निश्चित आन्तरिक अर्थ या शक्ति का उन्मेष है। विलियम वान ओ' कॉनर ने रूप की परिभाषा देते हुए उसके स्वीकारात्मक पक्ष पर प्रकाश डाला है—'रूप विचार का सम्मूर्तन है और ऐसा प्रतीत होगा कि इसकी उत्कृष्टता विचार के प्रति इसकी उपयुक्तता पर आश्रित है।"[३] टी० एस० इलियट ने रूप के विषय में प्रकाश डालते हुए कहा है, "एक आकृति, तुक या लय का आविष्कार-मात्र ही रूप का सर्जन नहीं होता। उस तुक या लय के समग्र

---

१. "All such terms, when used for positive valuing—rhythm, meter, assonance, rhyme, metaphor, or what you please, are only synonyms for artistic form." Croce, quoted by William K. Wimsatt, Jr. and Cleanth Brooks. *Literary Criticism*, P. 514

२. "Form is more than outline and external surfaces" Ray Faulkner, Edwin Ziegfeld Gerald Hill, *Art Today*, P. 306

३. Form is the objectification of idea, and its excellence, it would seem, depends upon its appropriateness to the idea." William-Van O' Connor, *Sense and Sensibility in Modern Poetry* P. 62

समुचित विषय का प्रत्यक्षीकरण भी उसमें सम्मिलित होता है।"[१] इस परिभाषा के अनुसार रूप, उसके नियोजक घटकों और प्रतिपाद्य विषय-वस्तु में अनुरूपता होनी चाहिए; ऐसा न होने पर अस्पष्ट और भद्दे रूपों की सृष्टि होती है। जब कलाकार के पास कोई विषय-सामग्री नहीं होती, और फिर भी वह यह ढोंग रचता है कि उसके पास कहने को बहुत है, जब उसके पास सामग्री होती है, किन्तु उसे किसी कलात्मक रूप में निबद्ध करने की प्रतिभा और साधना नहीं होती और जब वह विशिष्ट रूप के घटकों के प्रति जागरूक रहते हुए भी, रूप और विषय-वस्तु का अन्वितिमूलक सामंजस्य नहीं घटित कर पाता है, तब भद्दे रूपों की सृष्टि होती है। न तो रूप की बाह्य परिकल्पना पर्याप्त है और न रूपहीन अनगढ़ अनुभूति ही पर्याप्त है। आत्मा-हीन शरीर शव-मात्र है और शरीरहीन आत्मा प्रेत-मात्र है। फोसीलन का यह कथन उचित ही है कि "रूप भाव को सक्रिय बनाता है। हम यह भी कह सकते हैं कि कला संवेदना को रूप का परिधान-मात्र नहीं पहनाती है, वरन् कला संवेदना में रूप का उदय भी करती है।"[२] डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में "साहित्य में रूप की समस्या वस्तुतः अर्थ और आकारगत तत्त्वों को इस प्रकार स्वाभाविक ढंग से मिला देने की समस्या है कि दोनोंमें सम्पूर्ण संगति और समरूपता दिखाई दे।"[३] कला का मूल चारुत्व इसी में है कि उसका रूपात्मक गठन उसमें निहित संवेदना को प्रभावोत्पादक रूप में व्यक्त करने में समर्थ हो। हर्बर्ट रीड का कहना है, "किसी कला-कृति की महत्ता उसके रूपात्मक गठन में निहित होती है, रूप में भाव को प्रकाशित करने की क्षमता होती है और इस प्रकार के रूप के द्वारा हम भाव के स्वरूप को हृदयंगम करते हैं।"[४]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि रूप केवल बाह्य आकार मात्र ही नहीं है, वरन् वह विषय-वस्तु अथवा कथ्य का सुगठित कलात्मक संयोजन है। कलाकार में एक साथ ही भावना का उन्मेष और कलात्मक व्यवस्था

---

१. "To create a form, is not merely to invent a shape, a rhyme or rhythm. It is also the realization of the whole appropriate content of this rhyme or rhythm." *T.S. Eliot, The Sacred wood.*" P. 63

२. "Form activates feeling. Let us say, if you like, that art not only clothes sensibility with a form, but that art also awakens form in sensibility." Focillon, Quoted by Herbert Read, *The Form of Things Unknown.*" P. 63-64

३. डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, साहित्य रूप, प्र० सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी साहित्य कोश**, पृ ८४८

४. "The significance of any work of art lies in its formal organization, the form has the ability to present the feeling and by virtue of such form, we apprehend the nature of the feeling." "Herbert Read, *English Prose Style*, P. 86

तथा संयम की क्षमता होती है। इसी कलात्मक संयम और व्यवस्था की क्षमता के द्वारा वह रूपात्मक गठन के कृत्रिम और स्थूल तत्त्वों—रेखा, रंग, प्रस्तर, या काव्य-कला के सन्दर्भ में, शब्द, तुक छन्द आदि को सम्प्रेष्य संवेदना के साथ इस प्रकार सम्पृक्त कर देता है कि ये सभी तत्त्व समन्वित होकर सम्प्रेष्य संवेदना में से ही उभरते और रूप ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। वस्तुतः किसी संवेदना का सर्जनात्मक या काव्यात्मक महत्त्व तभी है, जब वह काव्यात्मक रूप में ही जन्म ले। रूप और अर्थ अभिन्न होते हैं, उन्हें एक-दूसरे पर थोपा नहीं जा सकता।[1] यह कथन कि 'विषय-वस्तु की अन्विति, संयोजना, अभिव्यंजना या प्रस्तुतीकरण के ढंग को ही कला में 'रूप' कहा जाता है, भ्रामक है। 'रूप' केवल अभिव्यक्ति का ढंग-मात्र नहीं है, वरन् भाव का कलात्मक मूर्तन या प्रस्तुतीकरण ही है। सोचने या अनुभव करने के ढंग से अनुभूति के रूप-विधान में चारुत्व आता है। वस्तुतः रचना-प्रक्रिया के क्षणों में अनुभूति अभिव्यक्ति के तत्त्वों से तदाकार होकर ही उभरती है, उससे पहले कवि के मन पर अनुभूति और अभिव्यक्ति की परम्परागत तथा नवीन विधियों, शैलियों का दुहरा दबाव रहता है, किन्तु सर्जनात्मक क्षणों में दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। इस प्रकार प्रस्तुतीकरण के ढंग का, जिसे 'शैली' कहा जाता है, रूप-विधान में महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु 'रूप' प्रस्तुतीकरण का ढंग न होकर 'प्रस्तुतीकरण' ही है। 'रूप' के गठन में 'विधि', 'शैली' या 'प्रक्रिया' का महत्त्व होने के कारण 'विधा' शब्द का प्रयोग भी कई बार रूप के अर्थ में होता है।

(४) **रूपों की विविधता का आधार**—पहले कहा जा चुका है कि नितान्त बौद्धिक अर्थों—दार्शनिक और वैज्ञानिक अर्थों—के रूपात्मक होने का प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि इनमें अनुभूति और रूप-विधायिका कल्पना का कोई स्थान नहीं है। रूपों का सम्बन्ध संवेदना-प्रधान या राग-प्रधान अर्थों से है, जिनमें अनुभवजन्य बुद्धि और विधायिका कल्पना का भी सन्निवेश रहता है। साहित्य-सर्जन में निहित तत्त्व ही उसके रूप-विधान में सक्रिय होते हैं। कवि के अन्तर्जगत् की बहिर्जगत् के प्रति क्रिया-प्रतिक्रियाएँ ही वे तत्त्व हैं, जो साहित्य-सर्जन के मूल में क्रियाशील रहते हैं। ये क्रिया-प्रतिक्रियाएँ अन्तर्जगत् में घटित होते समय भी, मूलतः, कवि द्वारा परम्परा और समाज से अर्जित भाषा में रूपायित होती हैं। "वस्तुतः मन या चेतना भाषा और भाषागत रूपों से अविच्छिन्न है।"[2] अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् की ये क्रिया-प्रतिक्रियायें

---

१. "Actually, an idea has poetic value only when it is born in poetic shape. The shape and the idea are inseparable, they cannot be forced on each other." *Ed. Don Cameron Allen, Four Poets on Poetry* (Introduction), P. 12

२. "The fact remains, then, that the mind or spirit is inseparable from language and linguistic form." W. M. Urban, *Language And Reality*, P. 49

इतनी जटिल और मिश्रित होती हैं कि उनका वैज्ञानिक विश्लेषण अत्यन्त दुष्कर है। इसलिए इस प्रकार के विश्लेषण की सदैव अपनी सीमाएँ रहती हैं। ऐसे विश्लेषण में एक प्रकार का निश्चय दूसरे प्रकार के अनिश्चय को जन्म देता है, किन्तु विश्लेषण की सीमाओं और दुर्बलताओं के बावजूद भी उसकी कुछ-न-कुछ व्यावहारिक उपयोगिता है। हडसन ने कवि-मानस के तीन तत्त्वों—भाव, बुद्धि, कल्पना के अतिरिक्त रचनात्मक अथवा शिल्पगत तत्त्व को भी कवि-मानस से ही सम्बद्ध माना है।[1] यद्यपि बहिर्जगत् के विविध स्वरूपों, प्रभावों और परम्पराओं के सम्पर्क से कवि-मानस में भाव, बुद्धि और कल्पना के भिन्न-भिन्न अनुपातों में सम्मिश्रण से संवेदना के असंख्य सरल और जटिल रूप तैयार होते हैं, तथापि मानसिक प्रवृत्ति की दृष्टि से कवि-मानस तीन प्रकार के प्रतीत होते हैं—(१) बहिर्मुखी (२) अन्तर्मुखी (३) बहिरन्तर्मुखी। ऊपर कहा जा चुका है कि इस प्रकार के वर्गीकरण की उपयोगिता होते हुए भी, उसकी कुछ सीमाएँ होती हैं। अतः यहाँ किसी भी वर्ग को आत्यन्तिक रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए अर्थात् न तो कोई कवि नितान्त बहिर्मुखी होता है और न कोई नितान्त अन्तर्मुखी ही, और न किसी में इन दोनों का ऐसा सही सामंजस्य होता है कि पचास प्रतिशत अन्तर्मुखता हो और उसमें पचास प्रतिशत बहिर्मुखता मिली हो। सामान्यतः बहिर्मुखी कवि विषय-वस्तु को अधिक महत्त्व देता है और अभिधात्मक भाषा का प्रयोग करता है। अन्तर्मुखी कवि अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को गीतों के माध्यम से मार्मिक और व्यंजनामयी भाषा में व्यक्त करता रहता है, जैसे विद्यापति, सूर, मीरा और महादेवी वर्मा। बहिरन्तर्मुखी कवि में दोनों प्रवृत्तियों का सामंजस्य होता है। वह गीत भी लिख सकता है, प्रबन्ध-काव्य भी और नाटक तथा नाट्य-काव्य भी। उसकी प्रबन्धात्मक या कथात्मक कृतियों में भी कथा-वस्तु उसकी संवेदना पर हावी नहीं हो पाती है और न संवेदना ही कथावस्तु को बहुत-अधिक गौण तथा धूमिल बना पाती है। बहिरन्तर्मुखी कवियों में कालिदास, तुलसीदास, प्रसाद, निराला, दिनकर, धर्मवीर भारती जैसे कवियों के नाम गिनाये जा सकते हैं। अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता का जिन कवियों में बहुत ऊँचे स्तर पर सामंजस्य घटित होता है, वे ही श्रेष्ठ कवि होते हैं और उनकी कृतियों में जीवन की गति (घटना-व्यापार) और संवेदना का उदात्त स्तर पर सम्मिलन होता है।

अन्तर्जगत् के विभिन्न रूपों पर, संक्षेप में विचार करने के उपरान्त, यहाँ अन्तर्जगत् में सक्रियता लाने वाले बहिर्जगत् के विषयों पर विचार करना भी आवश्यक है। बहिर्जगत् में मानव-जगत् के साथ प्रकृति-जगत् भी सम्मिलित है। इस चराचर जगत् की विविध परिस्थितियाँ कवि के अन्तर्जगत् की विविध मनःस्थितियों को जन्म देती हैं। जिस प्रकार विशेष कवि के मानसिक गठन पर पैतृक संस्कारों के अतिरिक्त परम्परा और युगीन परिवेश का प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार युगीन परिस्थितियों के

---

१. W. H. Hudson, *An Introduction To The Study of Literature*, P. 14

निर्माण पर भी परम्परागत सांस्कृतिक चेतना और ऐतिहासिक सातत्य का प्रभाव पड़ता है। कवि अपने विशिष्ट मानसिक गठन के कारण ही अपने युग में जीवित रहते हुए भी, उससे ऊँचे और व्यापक स्तर पर सोच सकता है और अपने परिवेश की विसंगतियों और विद्रूपताओं को अनुभव कर सकता है। इसी लिए हर युग में कवि की दृष्टि और उसके भोगे और देखे हुए युग-जीवन में कुछ-न-कुछ अन्तराल अथवा वैषम्य अवश्य रहता है; कवि अपनी रचनाओं में उसी अन्तराल या वैषम्य के विरुद्ध संघर्ष करता है। जो कवि भोगे हुए युग-जीवन को ही परम सत्य मानकर अपनी रचनाओं में उसी की अनुकृति या पुनरावृत्ति प्रस्तुत करता है, वह स्रष्टा और द्रष्टा नहीं हो सकता, भोक्ता और अनुकर्त्ता ही रह जाता है। कवि द्वारा भोगे और देखे हुए जीवन से उत्पन्न अन्तर्दृष्टि और युगीन जीवन की विसदृशताओं के मध्य अन्तर्विरोध की जटिलता ही कवि की अनुभूति और भाषा में जटिलता लाती है और इसी जटिलता के अनुपात पर कवि की सर्जनशीलता और कवि द्वारा चुने गये काव्य-रूप का स्तर निर्भर होता है। बिना मानसिक तनाव के अनुभूति और अभिव्यक्ति सर्जनात्मक स्तर तक उठ ही नहीं सकती।

यद्यपि अनन्त चराचर जगत् की परिस्थितियों की विभिन्नता और विचित्रता की कोई सीमा नहीं है, तथापि सुविधा की दृष्टि से, मोटे तौर पर, हम इन परिस्थितियों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) तीव्र प्रभाव उत्पन्न करने वाली अचिर-स्थायी परिस्थितियाँ (२) व्यापक प्रभाव पैदा करने वाली सुदीर्घ परिस्थिति-शृंखला। सामान्यतः अन्तर्मुखी रचनाकार, स्वभावतः, तीव्र प्रभाव उत्पन्न करने वाली अचिरस्थायी परिस्थितियों को अपने भाव-संचार का विषय चुनते हैं। अन्तर्मुखी मानस और अचिरस्थायी परिस्थितियों के सम्पर्क से गीत, कहानी, एकांकी नाटक, भावपूर्ण निबन्ध, मार्मिक संस्मरण आदि साहित्य-रूपों का उदय होता है। जब बहिर्मुखी मानस का सुदीर्घ परिस्थिति-शृंखला से सम्पर्क होता है, तो वर्णन-प्रधान कथा-काव्यों, घटना-प्रधान उपन्यासों तथा नाटकों, यात्रा-विवरणों, जीवनियों और ऐतिहासिक नाटकों तथा उपन्यासों का उदय होता है। जिस प्रकार अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी स्वभाव में भारी अन्तर है, उसी प्रकार इनसे उत्पन्न काव्य-रूपों में भी भारी अन्तर है। अन्तर्मुखी स्वभाव से निसृत गीत और बहिर्मुखी मानस से उद्‌भूत प्रबन्ध-काव्य में रूप का मौलिक अन्तर होता है। गीत की अन्विति भावोद्रेक की तीव्रता पर निर्भर होती है। इसलिए ऐसी रचनाएँ स्वभावतः संक्षिप्त होने को बाध्य हैं। गीत को अनावश्यक विस्तार देने से, उसकी गेयता, मार्मिकता और अन्विति में बिखराव आ जाता है और रचना गद्यात्मक हो जाती है। प्रबन्ध-काव्यों या लम्बी रचनाओं के रूप के गठन का आधार केवल भावोद्रेक ही नहीं, अपितु भावोद्रेक का आधारभूत कथानक होता है। कथानक में समन्वित पात्र, उनके वार्तालाप तथा क्रिया-कलाप, उनके भाव तथा अनुभाव आदि अनेक तत्त्व मिल-कर, विभावन-व्यापार के रूप में प्रस्तुत होकर, कवि के सम्प्रेष्य-भाव को निरूपित करते हैं। गीत में रूप-गठन का आधार भाव है, तो प्रबन्ध-काव्य में भावपूर्ण सुगठित कथानक। दोनों की रचना-प्रक्रिया भी भिन्न है। गीत में किसी पूर्व योजना की

आवश्यकता नहीं होती, किन्तु प्रबन्ध-काव्य, उपन्यास या नाटक में कथानक की रूप-रेखा पहले ही बनानी होती है, भले ही वास्तविक सर्जन के समय उसमें अपेक्षित संशोधन या परिवर्तन क्यों न करना पड़े !

बहिरन्तर्मुखी मानस स्वभावतः दोनों प्रकार की परिस्थितियों को अपने रागोद्रेक का विषय चुनता अथवा चुन सकता है। उत्कृष्ट कोटि के गीत, भावपूर्ण महाकाव्य और खण्डकाव्य, मर्मस्पर्शी उपन्यास, नाटक और नाट्य-काव्य ऐसे ही सृजनात्मक मानस की सृष्टियाँ होती हैं, जिनका प्रभाव एक साथ ही व्यापक और गम्भीर होता है। 'कामायनी', 'उर्वशी', 'चित्रलेखा', 'नदी के द्वीप', 'अन्धायुग' आदि कृतियाँ ऐसे ही मानस की उपज हैं।

काव्य-रूपों के स्वरूप का निर्धारण करने वाले उपर्युक्त प्रत्यक्ष तत्त्वों—कवि की मनःस्थितियों तथा चराचर जगत् की परिस्थितियों—के अतिरिक्त उनमें आन्तरिक या स्वरूपगत विशिष्टता पैदा करने वाले दो अप्रत्यक्ष तत्त्व हैं—भाषा और पाठक। किसी कवि की कृति का क्या रूप होगा, यह कवि के स्वभाव या उसके मानसिक गठन तथा उसके द्वारा चुने हुए विषय पर निर्भर करता है, किन्तु वह रूप कैसा होगा, उसमें विषय-प्रतिपादन और भावाभिव्यंजना कितनी सफलता से किन भाषागत उपकरणों द्वारा सम्भव होगी, यह इस बात पर निर्भर है कि कवि परम्परा से भाषा का कितना विकसित रूप प्राप्त करता है और अर्जित भाषा को अपनी साधना से कितने विकसित और विशिष्ट रूप में प्रयुक्त करता है। कामायनी में भावाभिव्यक्ति का जो उत्कर्ष मिलता है, उसके मूल में कवि द्वारा अर्जित अनुभूति और बोध के साथ ही, वह सूक्ष्म और प्रतीकात्मक भाषा भी निहित है, जो भारतेन्दु-काल और द्विवेदी-काल की भाषा-साधना की क्रिया और प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप तत्कालीन सूक्ष्म संवेदना को अभिव्यक्त करने के लिए छायावादी भाषा के रूप में विकसित हुई थी।

प्रत्येक युग में, उस युग के विशिष्ट बोध और संवेदना को वाणी देने के लिए भाषा के स्वरूप और गठन में भी विशिष्टता आती रहती है। इसलिए विशिष्ट युगों में विशिष्ट काव्य-रूपों का विकास बहुलता से होता है।

रचना-प्रक्रिया के समय कवि की दृष्टि में वह पाठक-वर्ग भी वर्तमान रहता है, जिस तक वह अपनी अनुभूतियों को पहुँचाना चाहता है। सस्ती रुचि के पाठकों को लक्ष्य करके लिखी गयी कृतियों का कृतित्व भी घटिया होता है। सनसनीखेज़ जासूसी उपन्यासों, अश्लील कविताओं, मंचीय गीतों, फिल्मी कहानियों की रचना विशिष्ट पाठक या दर्शक-वर्ग को ध्यान में रखकर ही होती है।

(५) **काव्य-रूप और भारतीय काव्य-शास्त्र**—संस्कृत के आचार्यों ने काव्य-रूपों पर निम्नलिखित दृष्टियों से विचार किया है—(१) छन्द के अभाव और सद्भाव की दृष्टि से (२) विषय की दृष्टि से (३) भाषा की दृष्टि से (४) ग्राहिका इन्द्रिय की दृष्टि से, (५) बन्ध या रचना-विधि की दृष्टि से, (६) अर्थोत्कर्ष की दृष्टि से।

छन्द के अभाव और सद्भाव की दृष्टि से भामह ने काव्य (साहित्य) के दो भेद किए हैं—गद्य और पद्य।[१] दण्डी ने साहित्य के उक्त आधार पर तीन भेद माने हैं—गद्य, पद्य और मिश्र।[२] दण्डी ने 'मिश्र' के अन्तर्गत नाटक तथा उसके विविध भेदों को ग्रहण किया है तथा साथ ही, यह भी उल्लेख किया है कि गद्यपद्यमयी रचना को 'चम्पू' कहा जाता है।[३] उक्त कथन में एक स्पष्ट अन्तर्विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा मानने से 'नाटक' और 'चम्पू' को अभिन्न मानना होगा, जबकि दोनों पृथक्-पृथक् विधाएँ हैं। वास्तव में, इस अन्तर्विरोध का कारण साहित्य का 'दृश्य' और 'श्रव्य' भेदों में वर्गीकरण है। नाटक गद्यपद्यमयी रचना होते हुए भी अभिनेय होने के कारण 'दृश्य' काव्य है, जबकि 'चम्पू' भी गद्यपद्यमयी रचना है, जो 'श्रव्य' काव्य के अन्तर्गत आती है। वामन ने साहित्य के दो भेद—गद्य और पद्य—माने हैं[४] और गद्य के तीन भेद—वृत्तगन्धि, चूर्ण और उत्कलिकाप्रायः—किये हैं।[५] वृत्तगन्धि पद्य-भागयुक्त अर्थात् बीच-बीच में छन्द की गन्धवाला होता है; समास-रहित ललितपदों से युक्त गद्य 'चूर्ण' कहलाता है और इसके विपरीत, दीर्घ समासों तथा उद्धत पदों से युक्त गद्य 'उत्कलिका-प्रायः होता है।[६] विश्वनाथ ने भी साहित्य के गद्य और पद्य दो भेद स्वीकार किए हैं।[७] उन्होंने गद्य के चार भेद माने हैं। छन्द की गन्ध से भी मुक्त और समासरहित गद्य को 'मुक्तक', छन्द-गन्ध से युक्त गद्य को वृत्तगन्धि, दीर्घ समासयुक्त गद्य को उत्कलिका-प्रायः और अल्प-समासयुक्त गद्य को चूर्ण के नाम से अभिहित किया गया है।[८]

संस्कृत के कतिपय आचार्यों ने विषय की दृष्टि से भी काव्य-रूपों का वर्गीकरण किया है। भामह ने इस दृष्टि से काव्य के चार भेद किये हैं—(१) ख्यातवृत्त, जिसकी कथावस्तु ऐतिहासिक या पौराणिक होने से लोक-प्रसिद्ध हो (२) कल्पित वस्तु वाला, जिसकी कथावस्तु कवि द्वारा उद्भूत हो, (३) कलाश्रित, जो काव्य किसी कला-नाट्य, संगीत आदि पर आश्रित हो (४) शास्त्राश्रित, जिस काव्य में किसी शास्त्र, व्याकरणशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र आदि का आश्रय लिया गया हो।[९] वस्तुतः विषय की दृष्टि से काव्य के अन्तिम दो भेद असंगत प्रतीत होते हैं। किसी कला और

---

१. "शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा।" भामह, काव्यालंकार (१,१६)
२. 'पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।' दण्डी, काव्यादर्श (१, ११)
३. वही (१, ३१)।
४. 'काव्य गद्यं पद्यञ्च।' वामन, **काव्यालंकार सूत्रवृत्ति** (१,३,२१)
५. "गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायञ्च।" वही (१,३,२२)
६. वामन, **काव्यालंकार सूत्रवृत्ति** (१,३,२३-२५)
७. 'श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा।' विश्वनाथ, **साहित्य-दर्पण** (६,३१३)
८. वही, (६,३३०)
९. वृत्तदेवादिचरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च।
कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः॥
भामह, **काव्यालंकार** (१,१७)

शास्त्र को मूलरूप में विषय बनाकर किसी काव्य का प्रणयन नहीं हो सकता, हाँ, ये मूल विषय वस्तु के पोषक होकर आनुषंगिक रूप में काव्य में समाविष्ट हो सकते हैं। संस्कृत में नाट्य-कला को लेकर लिखा गया नाट्यशास्त्र काव्य के अन्तर्गत नहीं आता। व्याकरण-शास्त्र को राम-कथा के साथ निबद्ध करने वाला भट्टिकाव्य (रावण-वध) भी व्याकरण-शास्त्र के नियमों के चामत्कारिक और साग्रह समावेश के कारण घटिया किस्म का काव्य बन पड़ा है। फिर भी उसे 'व्याकरण-शास्त्र-काव्य' न कहकर 'राम-कथा-काव्य' ही कहना अधिक संगत है। रुद्रट ने काव्य, कथा और आख्यायिका नामक प्रबन्धों के, विषय की उद्भावना की दृष्टि से दो भेद किये हैं—उत्पाद्य और अनुत्पाद्य।[1] आनन्दवर्धन ने ऐतिहासिक वृत्तों की उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी इस बात पर बल दिया है कि कवि को पूर्णतः रस-परतन्त्र होना चाहिए, न कि ऐतिहासिक वृत्तों का अनुकर्त्तामात्र। उन्होंने ऐतिहासिक वृत्तों में भी उत्पाद्य वस्तु के समावेश का परामर्श देते हुए कहा है, "यदि उस इतिवृत्त में रस के प्रतिकूल स्थिति देखे तो उसे तोड़कर भी स्वतन्त्र रूप से, रस के अनुकूल दूसरी कथा का सृजन कर ले। केवल इतिवृत्त के निर्वाह से कवि का कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि उसकी सिद्धि इतिहास से हो जाती है।"[2]

भाषा के आधार पर भामह ने काव्य के तीन भेद माने हैं—संस्कृत काव्य, प्राकृत काव्य और अपभ्रंश काव्य।[3] दण्डी ने उक्त भेदों में 'मिश्र' और जोड़कर, भाषा की दृष्टि से, काव्य के चार भेद माने हैं।[4] यद्यपि यह ठीक है कि भाषा का स्वरूप अभिप्रेत अर्थ और उसकी काव्यगत अभिव्यक्ति के रूप को प्रभावित करता है, तथापि भाषा के आधार पर काव्यों का वर्गीकरण युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि भाषाओं की कोई सीमा नहीं है।

संस्कृत साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य की ग्रहणशीलता के ऐन्द्रियिक आधार पर भी काव्य-रूपों का वर्गीकरण किया है। हेमचन्द्र ने इस दृष्टि से काव्य के दो भेद किये हैं—प्रेक्ष्य (दृश्य) काव्य और श्रव्य काव्य।[5] उन्होंने प्रेक्ष्य काव्य की परिभाषा करते हुए उसे पाठ्य और गेय कहा है,[6] और श्रव्य काव्य में महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, चम्पू और अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य को समाविष्ट किया है।[7] ध्यान देने

---

१. "सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि॥" रुद्रट, **काव्यालंकार** (१६,२)

२. "तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगां स्थितिं पश्येत्तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्। न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किंचित्प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः।" आनन्दवर्धन, **ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत**, पृ० ७९६

३. "संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।" भामह, **काव्यालंकार** (१,१६)

४. दण्डी, **काव्यादर्श** (१,३२)

५. "काव्यं प्रेक्ष्यं श्रव्यं च"। हेमचन्द्र, **काव्यानुशासन** (८,१)

६. प्रेक्ष्यं पाठ्यं गेयं च, **वही** (८,२)

७. श्रव्यं महाकाव्यमाख्यायिका कथा चम्पूरनिबद्धं च॥ **वही** (८,५)

से स्पष्ट होगा कि श्रव्य काव्य भी दृश्य काव्य की भाँति पाठ्य और गेय होता है या हो सकता है। अतः इस वर्गीकरण का आधार एक का पाठ्य और गेय होना तथा दूसरे का ऐसा न होना नहीं है और न ही इसका आधार ग्राहिका इन्द्रियाँ ही हैं, क्योंकि नाटक आदि दृश्य काव्य देखने के साथ-साथ सुने भी जाते हैं। इस प्रकार ऐन्द्रिय आधार पर किया गया यह वर्गीकरण अतिव्याप्तिपूर्ण और अवैज्ञानिक है। वस्तुतः इस वर्गीकरण का आधार अभिनेयता है। आठवें अध्याय के प्रथम सूत्र की वृत्ति में, हेमचन्द्र ने स्वयं इस बात की पुष्टि करते हुए प्रेक्ष्य काव्य को अभिनेय और श्रव्य को अनभिनेय कहा है।[१] विश्वनाथ ने भी दृश्यत्व और श्रव्यत्व के आधार पर काव्य के उक्त दो भेद स्वीकार किये हैं।[२] उन्होंने दृश्य के अन्तर्गत रूपक (नाटक) के दस भेदों और उप-रूपकों के अठारह भेदों की गणना की है तथा श्रव्य के अन्तर्गत पद्य, गद्य और गद्य-पद्य (चम्पू) का उल्लेख किया है।

प्रबन्धात्मकता अथवा काव्य-बन्ध[३] के आधार पर भी संस्कृत के आचार्यों ने काव्य-रूपों पर विचार किया है। भामह ने काव्य के पाँच भेद माने हैं—(१) सर्गबन्ध महाकाव्य (२) अभिनेयार्थ, नाटक आदि (३) आख्यायिका (४) कथा (५) अनिबद्ध-मुक्तक।[४] दण्डी ने पद्य के भेदों में महाकाव्य तथा मुक्तक और उसके कुलक, कोष, संघात आदि भेदों की गणना की है।[५] दण्डी ने गद्य के भामह द्वारा प्रतिपादित कथा और आख्यायिका भेदों को अमान्य ठहराकर दोनों को एक ही माना है।[६] भामह के अनुसार आख्यायिका संस्कृत गद्य में लिखित वह रचना है, जो उच्छ्वासों में विभक्त होती है, जिसमें नायक स्वयं कथा कहता है तथा जिसमें वक्त्र और अपवक्त्र छन्दों का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग होता है; जबकि कथा संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश में लिखित रचना होती है, न उसमें उच्छ्वास होते हैं और न वक्त्र-अपवक्त्र छन्द तथा न नायक स्वयं अपनी कथा कहता है।[७] दण्डी की दृष्टि से आख्यायिका और कथा के भेद के उपर्युक्त आधार सर्वथा बाह्य और औपचारिक हैं। वामन ने पद्य के निबद्ध (प्रबन्ध) और अनिबद्ध (मुक्तक) भेद माने हैं[८] तथा मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य को

---

१. "प्रेक्ष्यमभिनेयम्। श्रव्यमनभिनेयम्।" **हेमचन्द्र, काव्यानुशासन** (८,१ की वृत्ति)

२. "दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्॥" विश्वनाथ, **साहित्यदर्पण** (६,१)

३. "काव्यस्य बन्धो रचना काव्यबन्धः।" वामन, **काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** (१,३,१३ की वृत्ति)

४. "सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धश्च काव्यादि तत्पुनः पंचधोच्यते॥" भामह, **काव्यालंकार** (१,१८)

५. दण्डी, **काव्यादर्श**, (१,३३)

६. "तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता।" **वही**, (१,२८)

७. भामह, **काव्यालंकार**, (१,२५-२९)

८. वामन, **काव्यालंकार सूत्रवृत्ति** (१,३,२६-२७)

अधिक चारुत्वमूलक बतलाया है।[१] उन्होंने प्रबन्ध काव्यों को 'सन्दर्भ-काव्य' नाम से अभिहित किया है तथा सन्दर्भ-काव्यों में दशरूपकों (नाटक के दस प्रकारों) को उत्तम कहा है'[२], क्योंकि रूपकों में नृत्य, संगीत, वाद्य, कथा, अभिनय, संवाद आदि श्रेष्ठ विशेषताओं की समग्रता के कारण वैशिष्ट्य अथवा वैचित्र्य का समावेश होता है।[३] ध्वनि-प्रस्थापनाचार्य आनन्दवर्धन ने मुक्तक के विविध प्रकारों के अतिरिक्त वसन्त-वर्णन इत्यादि से युक्त 'पर्यायबन्ध', धर्म इत्यादि पुरुषार्थों में से किसी एक को उद्देश्य मानकर अनेक प्रकार के अनेक वृत्तान्तों से युक्त 'परिकथा', कथा के एक भाग के वर्णन से युक्त 'खण्डकथा' तथा फलागम तक पहुँचने वाले अनेक इतिवृत्तों के वर्णन से युक्त 'सकल कथा' का भी निरूपण किया है।[४] वामन की मान्यता के विपरीत आनन्दवर्धन ने अपना अभिमत व्यक्त करते हुए कहा है कि प्रबन्धों के समान मुक्तकों में भी रसबन्धाभिनिवेशी कवि देखे जाते हैं। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने अमरूक कवि का उदाहरण दिया है।[५] हेमचन्द्र ने प्रेक्ष्य काव्य के अन्तर्गत पाठ्य और गेय काव्यों को सम्मिलित किया है और पाठ्य के अन्तर्गत नाटक, प्रकरण आदि रूपकों[६] को तथा गेय के अन्तर्गत डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, गोष्ठी आदि रूपक-प्रकारों को समाविष्ट किया है।[७] उन्होंने श्रव्य काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू के लक्षणों का निरूपण करने के साथ ही अनिबद्ध काव्य के प्रकारों के लक्षण भी दिये हैं। उनके अनुसार क्रमशः एक, दो, तीन, चार श्लोकों की अनिबद्ध रचनाओं को मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक कलापक कहा जाता है तथा पाँच से लेकर चौदह श्लोकों तक की अनिबद्ध रचना को कुलक और स्वरचित अथवा पर-रचित सूक्तियों के संग्रह को 'कोश' कहा जाता है।[८] वास्तव में, अनिबद्ध काव्यों के प्रकारों के नामों और लक्षणों के विषय में संस्कृत आचार्यों में किंचित् मतभेद है। आचार्य विश्वनाथ ने एक, दो, तीन, चार, पाँच श्लोकों की अनिबद्ध रचनाओं को क्रमशः मुक्तक, युग्मक, सांदापतिक, कलापक और कुलक नाम दिये हैं।[९] उन्होंने प्रबन्ध काव्य के तीन भेद गिनाए हैं। पंच सन्धियों से युक्त, सर्गबद्ध धीरोदात्त नायक से युक्त तथा अन्य अनेक गुणों से सम्पन्न रचना को महाकाव्य, सर्गहीन, सन्धिहीन, एकार्थप्रवण प्रबन्ध को 'काव्य' तथा काव्य के एक अंश का अनुसरण

---

१. **वही**, (१,३,२९)
२. 'सन्धेषु दशरूपकं श्रेयः।' वामन, **काव्यालंकार सूत्रवृत्ति**, (१,३, ३०)
३. तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्। (१,३,३१)
४. **आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक** (तृतीय उद्योत), पृ० ७५५
५. **वही**, पृ० ७६१
६. हेमचन्द्र, **काव्यानुशासन** (८,३)
७. **वही**, (८,४)
८. **वही**, (८,११,१३)
९. **विश्वनाथ, साहित्यदर्पण** (६,३१४)

करने वाले 'एकदेशानुसारी' काव्य को 'खण्डकाव्य' कहा गया है।[1] विश्वनाथ ने भामह का अनुसरण करते हुए कथा (यथा कादम्बरी) और आख्यायिका (यथा हर्षचरित) के लक्षण भी दिए हैं[2] तथा गद्यपद्यमय काव्य का, जिसे चम्पू कहते हैं, विश्वनाथ ने एक विशिष्ट रूप 'विरुद' बताया है, जिसमें राजस्तुति की जाती है। अन्त में उन्होंने काव्य के एक और नवीन भेद 'करभक' का उल्लेख किया है, जो विविध भाषा में लिखा जाता है।[3]

गुणवत्ता अथवा अर्थोत्कर्ष की दृष्टि से भी कुछ संस्कृत आचार्यों ने काव्य के रूपों पर विचार किया है। भारतीय काव्य-सिद्धान्तों में ध्वनि-सिद्धान्त का सीधा सम्बन्ध अर्थोत्कर्ष के द्वारा रसोद्रेक से है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन के अतिरिक्त आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने भी ध्वनि-काव्य को सर्वोत्कृष्ट माना है। मम्मट के अनुसार ध्वनि की दृष्टि से काव्य के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। उनके अनुसार वह काव्य उत्तम होता है, जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारजनक होता है, उसी को काव्य-मर्मज्ञ ध्वनि कहते हैं।[4] जिस काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण हो, वह मध्यम कोटि का होता है।[5] व्यंग्यार्थ से शून्य चित्र-काव्य अधम होता है।[6] विश्वनाथ ने काव्य के प्रथम दो भेद ही स्वीकार किए हैं—(१) ध्वनिकाव्य और (२) गुणीभूतव्यंग्य काव्य। उन्होंने ध्वनिकाव्य को उत्तम माना है,[7] और गुणीभूतव्यंग्य काव्य को अनुत्तम।[8] विश्वनाथ ने व्यंग्य के अभाव को काव्यत्व का अभाव मानने के कारण 'चित्र-काव्य' का अस्तित्व ही नहीं माना है।

संक्षेप में, संस्कृत के आचार्यों ने अनेक दृष्टियों से काव्य-रूपों पर विचार किया है। यद्यपि प्रत्येक कृति का अपना पृथक् वैशिष्ट्य होता है, तथापि कथानक, छन्द, भाषा रचना-विधि और अर्थोत्कर्ष आदि से सम्बन्धित सामान्य विशिष्टताओं के आधार पर ही कुछ कृतियों को नाटक और कुछ को महाकाव्य या मुक्तक आदि नाम से अभिहित किया जाता है। किन्तु किसी कृति को केवल नाटक या महाकाव्य कहने से ही उसके वास्तविक रूप का परिचय नहीं मिलता है, क्योंकि नाटक या महाकाव्य उत्तम भी हो सकता है और अनुत्तम भी। संस्कृत के आचार्यों ने समान लक्षणों के आधार पर काव्य के भेद निर्धारित किए हैं, साथ ही उनकी गुणवत्ता के स्तर निश्चित करने के लिए अर्थोत्कर्ष को कसौटी घोषित किया है।

---

१. **वही** (६,३१५-३२९)
२. **वही** (६,३३२-३३५)
३. **वही** (६,३३७)
४. इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः। मम्मट, **काव्य प्रकाश** (प्रथम उल्लास, का० ४, सू० २)
५. अतादृशिगुणीभूतव्यंग्यम् व्यंग्ये तु मध्यमम्। वही (प्रथम उल्लास, सूत्र ३)
६. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यग्यं त्ववरं स्मृतम्। वही (प्रथम उल्लास, का० ५, सू० ४)
७. विश्वनाथ, **साहित्यदर्पण** (४,१)
८. **वही** (४,१३)

काव्य-रूप और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र—पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में काव्य-रूपों के वर्गीकरण की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया, जितना भारतीय काव्य-शास्त्र में दिया गया है। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'पोयटिक्स' में तत्कालीन काव्य-रूपों का विवेचन किया है, किन्तु उन्होंने वर्गीकरण की किसी एक सुनिश्चित पद्धति का प्रश्रय नहीं लिया। 'पोयटिक्स' में जिन चार काव्य-रूपों का विवेचन किया गया है, वे हैं त्रासदी (ट्रेजेडी) कामदी (कामेडी), महाकाव्य (एपिक) और सहगान या स्तोत्र (डिथिरेम्ब)। अरस्तू ने सर्वाधिक महत्व त्रासदी को दिया है। उसने 'पोयटिक्स' के छठे से लेकर उन्नीसवें अध्याय तक त्रासदी का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। वस्तुतः अरस्तू की दृष्टि में त्रासदी का विकास मूलतः कविता का ही विकास था। महाकाव्य, जिसका विवेचन अरस्तू ने अपने ग्रन्थ के अन्तिम चार अध्यायों में किया है, उसकी दृष्टि से त्रासदी के उद्भव का ही एक पक्ष है।[१] यद्यपि उपर्युक्त चारों काव्य रूपों में से दो—त्रासदी और कामदी—नाटक के भेद हैं और शेष दो—महाकाव्य और स्तोत्र—कविता के भेद हैं, तथापि अरस्तू ने वर्गीकरण के इस आधार को मान्यता नहीं दी है। वस्तुतः अरस्तू के युग में नाटकों और काव्यों का माध्यम पद्य ही था, गद्यात्मक कथा-साहित्य का उस समय उद्भव नहीं हुआ था।[२]

अरस्तू के अनुसार "त्रासदी किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रस्तुत सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान के रूप में न होकर कार्य-व्यापार के रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"[३] इसके विपरीत 'कामदी' में निम्नतर कोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है—यहाँ 'निम्न' शब्द का अर्थ बिल्कुल वही नहीं है जो 'दुष्ट' का होता है, क्योंकि अभिहस्य तो 'कुरूप' का एक उपभाग मात्र है, उसमें कुछ ऐसा दोष या भद्दापन रहता है जो क्लेशदायक या अमंगलकारी नहीं होता।"[४] महाकाव्य और त्रासदी में यह समानता है कि उसमें भी उच्चतर कोटि के पात्रों की पद्यबद्ध अनुकृति रहती है। भेद यह है कि महाकाव्य में केवल एक प्रकार का छन्द ग्राह्य होता है और उसका रूप समाख्यानात्मक होता है। दोनों के विस्तार में भी भेद होता है। त्रासदी को एक दिन या इससे कुछ अधिक

---

१. William K. Wimsatt, Jr. & Cleanth Brooks, *Literary Criticism*, P. 35

२. "Prose fiction was unknown in Aristotle's day and so he takes verse to be an essential medium for narrative," David Daiches, *Critical Approaches To Literature*, P. 40-41

३. दे०, अनु० श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, अरिस्तोतेलेस (अरस्तू), सम्पा० डॉ० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा, **पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा**, पृ० २९

४. **वही**, पृ० २८

समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु महाकाव्य के कार्य-व्यापार में काल की सीमा का कोई बन्धन नहीं है।[1] त्रासदी के छह तत्त्व—कथानक, चरित्र-चित्रण, पद-रचना, विचार-तत्त्व, दृश्य-विधान और गीत (मैलोडी) होते हैं।[2] महाकाव्य के सभी तत्त्व त्रासदी में वर्तमान रहते हैं, परन्तु त्रासदी के सभी तत्त्व महाकाव्य में उपलब्ध नहीं होते।[3] स्तोत्र के विषय में अरस्तू ने विस्तार से नहीं लिखा। विलियम हेनरी हडसन का मत है कि प्रत्येक ग्रीक त्रासदी में कुछ ऐसे पात्र होते थे, जिनका एक सामूहिक व्यक्तित्व था और जो एक साथ चलते, गाते और नाचते थे तथा अपनी सम्बोधन-गीतियों (ओड्स) के द्वारा निरन्तर कथा के विकास तथा संवादों की व्याख्या करते चलते थे। हडसन के विचार से ग्रीक त्रासदी में यह तत्त्व कहीं बाहर से ग्रहण नहीं किया गया था, वरन् यह उन परिस्थितियों का परिणाम मात्र था, जिनसे यूनानी त्रासदी का उदय हुआ। त्रासदी का उद्‌भव स्तोत्र (डिथिरेम्ब) अथवा सामूहिक गायन में पाया जाता है, जो ग्रामीण पुजारियों के द्वारा डायनिसस (Dionysus) की वेदी के चारों ओर गाया जाता था; व्यक्तिगत अभिनेताओं और संवादों का इसी में से आगे चलकर विकास हुआ। इस प्रकार स्तोत्र या कोरस यूनानी त्रासदी से ही सम्बद्ध था, क्योंकि त्रासदी का विकास ही उससे हुआ।[4] वस्तुतः कोरस अथवा डिथिरेम्ब त्रासदी से स्वतन्त्र कोई पृथक् काव्य-रूप नहीं था, वरन् वह त्रासदी की कथावस्तु में घनिष्ठता से अनुस्यूत रहता था; भावपूर्ण स्थलों पर कोरस का प्रयोग होता था। निष्कर्षतः अरस्तू ने माध्यम, अभिव्यंजना-पद्धति तथा विषय-वस्तु अर्थात् कृति में चित्रित जीवन के स्वरूप को काव्य-रूपों की भिन्नता का आधार माना है। मनुष्य के जीवन के चित्रण के तीन प्रकार हैं—मनुष्यों के जीवन का वास्तविक स्तर, वास्तविक की अपेक्षा उदात्ततर स्तर तथा वास्तविक की अपेक्षा घटिया और हास्यास्पद स्तर। महाकाव्य और त्रासदी में जीवन का गम्भीर और उदात्त स्वरूप चित्रित होता था तथा कामदी में निम्न लोगों की मूर्खताओं और विसंगतियों का उपहास किया जाता था।[5]

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में काव्य-रूपों का वर्गीकरण कवि की अन्तर्मुखी अथवा आत्मनिष्ठ तथा बहिर्मुखी अथवा वस्तुनिष्ठ दृष्टि के भेद के आधार पर किया गया है। वस्तुतः उपर्युक्त दोनों दृष्टियों में कोई निश्चित विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। सभी कवियों में, विभिन्न अनुपातों में, उपर्युक्त दोनों ही दृष्टियों का सामंजस्य रहता है, किन्तु आनुपातिक आधार पर ही किसी कवि को आत्मनिष्ठ तथा अन्य को बहिर्मुखी कहा जाता है। जो कवि बाह्य जगत् की वस्तुगत सत्ता को अपने भाव-जगत् में

---

१. वही, पृ० २८
२. वही, पृ० २९
३. वही, पृ० २८
४. William Henry Hudson, *An Introduction To The Study of Literature*, P. 231
५. David Daiches, *Critical Approaches To Literature*, P. 25

तिरोहित कर भाव-विभोर हो उठता है, वह अन्तर्मुखी और जो अपनी भावना का प्रसार बाह्य वस्तु-व्यापारों के माध्यम से करता है, वह बहिर्मुखी होता है। इसी आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता से आत्मनिष्ठ (सब्जैक्टिव) कविता और वस्तुनिष्ठ (आब्जैक्टिव) कविता का जन्म होता है। व्यक्तिनिष्ठ कविता का सर्वोत्तम उदाहरण गीत (लिरिक) है, जिसमें कवि का निजी भावावेग तीव्र और घनीभूत रूप में प्रस्फुटित होता है। सम्बोधन-गीति (ओड)[१] भी गीत का ही एक प्रकार है, जिसमें कवि किसी विशेष व्यक्ति या वस्तु को सम्बोधित करके अपने भावोद्‌गार प्रकट करता है। आत्मनिष्ठ कविता का एक अन्य प्रकार शोक-गीति (ऐलैजी) है, जिसमें कवि अपने किसी आत्मीय की मृत्यु पर अपने विषण्ण हृदय के करुण उद्‌गार प्रकट करता है। इसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति की तीव्रता और सच्चाई अपनी चरम सीमा पर होती है।[२] अंग्रेजी में ग्रे (Gray) की शोक-गीति—ऐलैजी इन कण्ट्री चर्चयार्ड—इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। आत्मनिष्ठ कविता का एक अन्य भेद 'सोनेट' है, जो चौदह पंक्तियों की रचना होती है। इसमें तुकों तथा सामान्य ढाँचे के विषय में कुछ नियमों का पालन करना होता है, किन्तु शेक्सपियर तथा उसके बाद के अनेक कवियों ने उन पारम्परिक नियमों की अवहेलना की है। अतः नियमित अथवा इटैलियन और अनियमित अथवा शेक्सपीरियन सोनेट नाम से सोनेट के दो भेद माने जाने लगे हैं।[३]

आब्जेक्टिव अथवा वस्तुपरक कविता के दो भेद किये जाते हैं—समाख्यानात्मक (नैरेटिव) तथा नाटकीय।[४] समाख्यानात्मक कविता में वीर-गान (बैलेड) का प्रमुख स्थान है। बैलेड में साहसिक अथवा वीरतापूर्ण कार्यों से सम्बद्ध आख्यान को कविता में निबद्ध किया जाता है।[५] समाख्यानात्मक कविता का अन्य प्रमुख भेद है महाकाव्य (एपिक)। महाकाव्य के भी दो भेद माने गये हैं—विकासमूलक महाकाव्य (एपिक आफ ग्रोथ) और कलामूलक महाकाव्य (एपिक आफ आर्ट)। विकासमूलक महाकाव्यों की रचना सुदीर्घ काल में अनेक कवियों के योग से हुई है। प्राचीन एंग्लो-सैक्सन और जर्मन महाकाव्य इसी कोटि में आते हैं। कुछ क्रान्तिवादी समीक्षक ईलियद और ओडिसी को भी अकेले होमर की रचना न मानकर, विकासमूलक महाकाव्य मानते हैं। कलामूलक महाकाव्य एक ही व्यक्ति की कलाकृति होते थे। मिल्टन का पैरेडाइज़ लास्ट इसका श्रेष्ठ निदर्शन है।[६] समाख्यानात्मक कविता का एक अन्य प्रकार है छन्दोबद्ध प्रेमकथा (मैटरिकल रोमान्स), जो वस्तुतः छन्दबद्ध उपन्यास होता था। चौसर की 'कैण्टरबरी टेल्स' मेटरिकल रोमान्स का उत्तम उदाहरण हैं।[७]

---

१. William Henry Hudson, *An Introduction To The Study of Literature*, P. 99

२. Ibid. P. 100 ३. Ibid. P. 102

४. Ibid. P. 103 ५. Ibid. P. 104

६. Ibid. P. 106-107 ७. Ibid. P. 110

नाटकीय कविता में कवि स्वयं को कथानक और उससे सम्बद्ध पात्र अथवा पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। गद्य में लिखित नाटक की अपेक्षा नाटकीय कविता संवेदना के गहन स्तर को व्यक्त करने में कहीं अधिक समर्थ होती है। टी० एस० इलियट का कथन है कि "इब्सन और चैकोव की भाँति अनेक गद्य नाटककार हैं, जिन्होंने यदा-कदा ऐसी कृतियों की सृष्टि की है, जिनके विषय में मैं यह सोच भी नहीं सकता कि गद्य में ऐसी कृतियों के सृजन की क्षमता हो सकती है, किन्तु उनकी सफलता के बावजूद भी वे लेखक, गद्य में लिखने के कारण, मुझे अपनी अभिव्यक्ति में बाधित हुए प्रतीत होते हैं। संवेदना का विशिष्ट क्षेत्र, अपनी अधिकतम तीव्रता के क्षणों में नाटकीय कविता में ही व्यक्त हो सकता है।"[१] नाटकीय कविता में नाटक और कविता के तत्त्वों का अद्‌भुत सामंजस्य होता है। इस सामंजस्य में दोनों प्रकार के तत्त्वों के आनुपातिक आधार पर अन्य कई प्रकार के काव्य-रूपों का विकास हुआ है, जैसे काव्यात्मक नाटक (पोयटिक ड्रामा), नाट्य-गीति (ड्रेमेटिक लिरिक) गीति-नाट्य, (लिरिकल-ड्रामा) नाट्य-एकालाप (ड्रेमेटिक मोनोलॉग) आदि।

(७) **नाट्य-काव्य अथवा काव्य-नाट्य** ? कवि-प्रतिभा, भाषा-शिल्प और वस्तु —इन तीनों की एकाकार परिणति ही विशिष्ट काव्य-रूप को जन्म देती है, और इन्हीं तत्त्वों के संयोजन के आधार पर एक काव्य-रूप के अन्तर्गत होते हुए भी विभिन्न कृतियों का पृथक् स्वरूप और व्यक्तित्व होता है। उदाहरणार्थ रामचरित मानस, कामायनी, साकेत और प्रिय-प्रवास सभी महाकाव्य हैं, किन्तु सबका पृथक्-पृथक् एक निजी स्वरूप और वैशिष्ट्य है। भाषा और परम्परागत रूपों का दबाव भी कवि की अनुभूति को विशिष्ट रूप ग्रहण करने को विवश करता है। प्रत्येक भाषा के ढाँचे में कुछ विशिष्ट काव्य-रूप ही अधिक फबते हैं। ब्रजभाषा में पदों की तथा कवित्त-सवैयों की रचना जितनी फबती है, उतनी अन्य किसी भाषा में नहीं। इसी प्रकार 'ग़ज़ल' उर्दू का अपना काव्य-रूप है। साहित्य में प्रचलित काव्य-रूपों का दबाव भी कवि-प्रतिभा को विशिष्ट काव्य-रूप के माध्यम से अनुभव करने को मजबूर करता है। इसी-लिए विशिष्ट युगों में काव्य-रूपों की सुदीर्घ परम्पराएँ रही हैं—जैसे चरित-काव्य, रासों, प्रेमाख्यान-काव्य, सतसई आदि। पहले कहा जा चुका है कि ग्राहिका इन्द्रिय के आधार पर दृश्य और श्रव्य नाम से वर्गीकरण करना वस्तुतः नितान्त भ्रामक है। सभी दृश्य काव्य श्रव्य भी होते हैं। अभिनय के चार भेदों में वाचिक तो नितान्त श्रव्य हैं ही, साथ ही सात्विक के भी स्वर-भंग जैसे भेद श्रव्य ही हैं। कायिक और आहार्य अभिनय के विषय में नाटक में कोष्ठकों के मध्य रंग-निर्देश दिया जाता है। अभिनेता अभिनय द्वारा लिखित नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करते हैं। महाकाव्य या खण्डकाव्य में भी दृश्य अथवा मूर्त आधार सदैव वर्तमान रहता है। महाकाव्य का समग्र कथानक एक वृहत् बिम्ब-माला के रूप में अन्वित होता है और पाठक अपने मन-रूपी रंगमंच पर पात्रों के विविध क्रिया-व्यापार मनश्चक्षुओं से देखता और उनके संवाद स्वयं पढ़ता

---

१. T. S. Eliot, *On Poetry and Poets*, P. 86-87

और सुनता है। मनुष्य का ऐहिक बोध पंच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों—रूप, रंग, ध्वनि रस, स्पर्श—पर आश्रित होता है और इन्हीं ऐन्द्रियिक अनुभूतियों का नाटक और महाकाव्य आदि साहित्य-रूपों में प्राधान्य रहता है। नाटक की रचना-प्रक्रिया में नाटककार नाटक में वर्तमान पात्रों के क्रिया-व्यापार और वचनों का अनुकरण करने वाले अभिनेताओं और रंगमंच को दृष्टि में रखकर संवादों और क्रिया-व्यापारमूलक कथावस्तु का विन्यास करता है। इसीलिए नाटक को मिश्रित कला कहा जाता है। महाकाव्यकार कथावस्तु को मनोजगत् में घटित होता हुआ चित्रित करने के लिए विविध दृश्यों और व्यापारों का विशद बिम्बात्मक चित्रण करता है। नाटक में जहाँ अनेक क्रिया-व्यापारों को, अभिनेता द्वारा प्रदर्शित करने के लिए, कोष्ठक में लिखकर छोड़ दिया जाता है, वहाँ महाकाव्यकार उन्हें चित्रात्मक भाषा में इतने सांगोपांग रूप में वर्णित करता है कि दृश्य और सम्बद्ध पूर्ण भाव-गाम्भीर्य अपनी समूची मार्मिकता के साथ उभर आये। रंगमंचीय शिल्प का प्रयोग करने के कारण नाटककार को उन स्थूल वस्तु-व्यापारों के वर्णन से मुक्ति मिल जाती है, जिनका प्रदर्शन अभिनेता कायिक, आहार्य और कुछ सीमा तक सात्विक अभिनय के द्वारा कर सकते हैं; उसको वाचिक अभिनय में प्रयुक्त केवल पात्रों के संवादों के माध्यम से कथा-वस्तु को आगे बढ़ाना होता है और वह स्वयं नाटक में प्रत्यक्ष रूप से कहीं नहीं आता है। नाटक और महाकाव्य की वर्णन-पद्धति में दूसरा मौलिक भेद यह है कि महाकाव्यकार किसी घटना का वर्णन पूर्णतः अतीत के रूप में करता है, जबकि नाटककार उसे पूर्णतः वर्तमान के रूप में प्रस्तुत करता है। नाट्य-कला में अपेक्षित कलात्मक संयम की अधिकता के कारण महाकाव्य से अधिक लाघव और गठन होता है तथा नाट्य-कला महाकाव्य की रचना-पद्धति से अधिक निर्वैयक्तिक होती है। लेखन-कला, अभिनय-कला, अभिनय से सम्बद्ध नृत्य, वाद्य आदि अनेक कलाओं के मिश्रण के कारण तथा कलाकार की निर्वैयक्तिकता के कारण नाटक को महाकाव्य और उपन्यास आदि विधाओं से श्रेष्ठ कहा जाता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक और महाकाव्य दोनों में ही दृश्य और श्रव्य सामग्री समन्वित होती है। महाकाव्यों में नाटकीय तत्त्व और नाटकों में काव्यात्मक तत्त्व का सहज सामंजस्य होता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार "आधुनिक दृष्टि से आलोचना करने पर संस्कृत के रूपक नाटक न होकर नाटकीय-काव्य ही माने जा सकते हैं।...संस्कृत नाटकों में कवित्वमय वातावरण है।"[१] यद्यपि उपर्युक्त कथन से पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता, तथापि वह सत्य से सर्वथा शून्य नहीं है। टी० एस० इलियट ने कहा है, "सारी कविता नाटक की ओर प्रवृत्त होती है और सारे नाटक कविता की ओर प्रवृत्त होते हैं।"[२] यद्यपि इलियट का उक्त कथन

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, **'संस्कृत नाटक'** सम्पा० नन्ददुलारे वाजपेयी, आलोचना (नाटक विशेषांक) जुलाई १९५६, पृ० १२

२. "All poetry tends towards drama and all drama towards poetry. T. S. Eliot, *Selected Essays*, P. 52.

अति व्याप्तिपूर्ण है, क्योंकि यह वस्तु-व्यापार से शून्य और भावावेग पर आश्रित गीति-काव्य पर लागू नहीं होता है, तथापि महाकाव्य और नाटक के सम्बन्ध में यह कथन सर्वथा समीचीन है। तुलसी-कृत मानस एक महाकाव्य है, किन्तु फिर भी रामलीला के रूप में हर वर्ष उसका नाटक खेला जाता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक का चौथा अंक इसलिए सर्वाधिक मार्मिक है, क्योंकि वह सर्वाधिक काव्यात्मक है। इस प्रकार नाटकीयता और काव्यात्मकता तत्त्वतः एक ही व्यापार के दो रूप हैं—एक में अनुकरण[1] के आधार पर जीवन की अवस्थाओं के प्रदर्शन द्वारा दर्शकों और श्रोताओं में रसोद्रेक होता है और दूसरे में अवस्थाओं के बिम्बात्मक भाषा में चित्रण द्वारा पाठकों में रस का संचार होता है। शेक्सपियर, कालिदास जैसे विश्व के महान् कवि ही महान् नाटक-कार भी रहे हैं। टी० एस० इलियट के निम्नलिखित कथन से प्रकारान्तर से उक्त मत की पुष्टि होती है—'मैं इससे सहमत हूँ कि जो नाटककार कवि नहीं है, वह नाटककार के रूप में उतना ही घटिया है।'[2]

अब प्रश्न यह है कि ऐसी कृतियों को, जो काव्य होने के साथ ही नाटकीय संवादात्मक शिल्प का प्रश्रय ग्रहण करती हैं, किस नाम से अभिहित किया जाय ? उन्हें काव्य-नाटक कहा जाए या नाट्य-काव्य ? अंग्रेजी में एक विशेष प्रकार का काव्य-नाटक 'क्लौसेट ड्रामा' (Closet Drama) कहलाता है। ऐसे नाटकों के सम्बन्ध में दो मत हैं। प्रो० एच० ए० वीयर्स का मत है कि ये नाटक पाठ्य हैं, अभिनेय नहीं। अभिनेय नाटकों की अपेक्षा इनकी शैली अधिक अलंकृत, भाव सबल, क्रिया-व्यापार मन्द और भाषण प्रौढ़ होते हैं।[3] प्रो० वीयर्स का विरोध करते हुए हैज़लिट और लैम्ब का कथन है कि काव्य-रूपक को नाटक मानना नाटक के साथ अन्याय करना है। इन्हें नाटक नहीं, नाटकीय काव्य ही कहना चाहिए।[4] प्रो० चैंडलर ने इस विषय में कहा है, "तब तो 'काव्य-नाटक', यदि निश्चित परिभाषा करें, न तो क्लौसेट ड्रामा ही है और न नाट्य-काव्य ही। यह रूप और विषय की दृष्टि से एक नाटकीय तथा काव्यात्मक रूपक है—एक कविता में लिखा हुआ अभिनेय रूपक, जिसमें वह सौन्दर्य और आदर्शमयता होती है, जिसे हम उत्तम कविता से सम्बद्ध करते हैं।'[5] 'काव्य-नाटक' के सैद्धान्तिक और

---

१. 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यं···।' धनंजय, **दशरूपक** (१, ७)

२. "I agree that the dramatist, who is not a poet, is so much the less a dramatist. *T. S. Eliot, Selected Essays*, P. 52.

३. डॉ० रघुवंशी, **'पद्य नाटक की विशेषता'**, सम्पा० नन्ददुलारे वाजपेयी, आलोचना (नाटक विशेषांक) जुलाई १९५६, पृ० ८५

४. **वही**, पृ० ८५

५. "The poetic drama, then strictly defined, is neither the closet drama nor the dramatic poem. It is a play poetic and dramatic as to form and content—an acting play in verse possessing the beauty and ideality which we associate with poetry at its best." **वही**, पृ० ८६ पर उद्धृत

व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से समर्थक और उन्नायक टी०एस० इलियट ने 'पोयटिक प्ले' या 'पोयटिक ड्रामा' या 'वर्स प्ले' नाम बार-बार व्यवहृत करने के बावजूद, अनेक बार उसके लिए 'ड्रैमेटिक पोयट्री' शब्द का प्रयोग किया है।[१] उन्होंने 'ड्रैमेटिक पोयट' की कृति के लिए 'पोयटिक ड्रामा' का प्रयोग किया है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि इलियट की दृष्टि में 'पोयटिक ड्रामा' और ड्रैमेटिक पोयट्री' में कोई भेद नहीं है।

यद्यपि यह ठीक है कि इलियट ने 'पोयटिक ड्रामा' और 'ड्रैमेटिक पोयट्री' का एक ही अर्थ में अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है, तथापि प्रश्न यह है कि काव्यमयी अभिव्यक्ति और नाटकीय शिल्प-विधान के संयोजन से निर्मित साहित्य-विधा को उपर्युक्त दोनों संज्ञाओं में से किसके-द्वारा अभिहित करना अधिक उपयुक्त है? यदि हम इलियट के ही विचारों पर ध्यान दें, तो उक्त प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। इलियट का विचार है कि यदि हम कविता का क्षेत्र इतना विस्तृत कर दें कि सामान्य से सामान्य बात भी कविता में ही कहने लगें, तो ऐसी स्थिति में, वह कविता नहीं रहेगी। वह 'कविता' तभी होगी जब नाटकीय परिस्थिति भावात्मक तीव्रता के ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाए कि कविता नैसर्गिक अभिव्यक्ति बन जाए, क्योंकि तब यही एक भाषा है, जिसमें मनोभावों को व्यक्त किया जा सकता है।[३] शैक्सपियर के 'मैकबैथ' तथा 'ओथेलो' में प्रत्येक से एक-एक पंक्ति के प्रभाव का विश्लेषण करने के उपरान्त इलियट का कथन है, "केवल कविता ही यह कर सकती थी, किन्तु यह नाटकीय कविता है अर्थात् यह नाटकीय स्थिति को बाधित नहीं करती, वरन् उसे तीव्रता प्रदान करती है।"[४] इसी सन्दर्भ में इलियट ने कहा है कि 'पोयटिक ड्रामा' की रचना, कविता लिखना सीखने वाले गद्य-नाटककारों की अपेक्षा नाटक लिखना सीखने वाले कवियों द्वारा अधिक सम्भव है।[५] भावावेगमयी नाटकीय स्थितियों को कविता में ही व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि 'मानव-आत्मा' तीव्र भावावेग में स्वयं को कविता में व्यक्त करने को आतुर हो उठती है।"[६] 'ए डायलॉग ऑन ड्रैमेट्रिक पोयट्री' नामक लेख में

---

१. T. S. Eliot, *On Poetry and Poets*, P. 86-87

२. T. S. Eliot, *Selected Essays*, P. 55

३. "It will only be poetry, when the dramatic situation has reached such a point of intensity that poetry becomes the natural utterance, because then it is the only language in which the emotions can be expressed at all." T. S. Eliot, *On Poetry and Poets*, P. 74

४. "Only poetry could do this; but it is dramatic poetry; that is, it does not interrupt but intensifies the dramatic situation." T. S. Eliot, *On Poetry and Poets*, P. 83

५. Ibid. P. 86

६. "The human soul in intense emotion, strives to express itself in verse." T. S. Eliot, *Selected Essays*, P. 46

सी बी से प्रश्न करता है कि क्या बी का अभिप्राय यह है कि शैक्सपियर इब्सन की अपेक्षा महान्, नाटककार होने के कारण नहीं, वरन् महान् कवि होने के नाते है,' तो बी उत्तर देता है 'कौन महान् कविता नाटकीय नहीं है ?'[१] इलियट के अनुसार गद्य-नाटकों में वास्तविकता का उत्तम निरूपण हो सकता है, किन्तु गहन जीवन-सत्यों का नहीं। कविता में लिखे असफल नाटक वे ही हैं, जो घटिया कविता में लिखे गये हैं। उसका कहना है कि संवेदना का विशिष्ट क्षेत्र अधिकतम तीव्रता के क्षणों में नाटकीय कविता में ही व्यक्त हो सकता है।[२] उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जिसे इलियट ने 'ड्रैमेटिक पोयट्री' या 'पोयटिक प्ले' कहा है, उसकी रचना गद्य नाटककार की सामर्थ्य से परे है। कवि ही ऐसी रचना कर सकता है। दूसरे, तीव्र नाटकीय परिस्थिति काव्यात्मक अनुभूति के उद्रेक का उपादान है, यद्यपि यह ठीक है कि काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी नाटकीय परिस्थिति को तीव्रता प्रदान करती है। अतः कवि द्वारा रचित *कृति को 'काव्य' नाम से अभिहित करना उचित होने के कारण और नाटकीय परिस्थिति का काव्यात्मक अभिव्यक्ति का उपादान होने के कारण 'नाटकीय काव्य' अथवा नाट्य-काव्य' नाम ही युक्तियुक्त है*

वस्तुतः समस्त वस्तून्मुखी विधाओं में प्रबन्ध-गुण होता है। गद्य में लिखित कहानी या उपन्यास या नाटक कविता में प्रबन्ध-काव्य का रूप ग्रहण करता है। जिस प्रकार कविता में लिखित कहानी 'काव्य-कहानी' नहीं कहलाती और न कविता में लिखा उपन्यास 'काव्य-उपन्यास' कहलाता है, उसी प्रकार कविता में लिखा नाटक काव्य-नाटक नहीं कहला सकता। सामाजिक जीवन-स्थितियों की व्याख्या यदि गद्य में प्रबन्धत्व से सम्पन्न हो, तो वह उपन्यास कहलायेगा, वही यदि भावात्मक सत्ता पर आधारित होने के कारण कविता में प्रबन्धत्व ग्रहण करे, तो महाकाव्य होगा और गद्य में अभिनेयता-गुण से युक्त होकर नाटक कहलायेगा। कविता में लिखा कोई भी प्रबन्ध —चाहे वह वर्णनात्मक शैली में लिखा हो या नाटकीय शैली में—काव्य ही कहलायेगा। जायसी के पद्मावत् को 'प्रेमगाथा काव्य' तो कहा जाता है किन्तु 'काव्य-उपन्यास' नहीं कहा जा सकता और न रामचन्द्रिका को नाटकीय तत्त्वों से युक्त होते हुए भी काव्य-नाटक कहा जा सकता है। ये दोनों ही, भिन्न शैलियों में लिखे होने पर भी 'काव्य' ही हैं। उसी प्रकार प्रतीकात्मक तथा नाटकीय शैली में लिखे हुए आधुनिक काव्यों को 'काव्य' कहना ही युक्ति-युक्त है; हाँ, उनके नाट्य-गुण को लक्षित करने के लिए उन्हें 'नाट्य-काव्य' नाम देना और भी अधिक सार्थक और समीचीन है। जब जीवन की परिस्थितियाँ और उनसे सम्बद्ध अनुभूतियाँ गद्य के सामान्य धरातल से ऊपर उठकर गम्भीर स्थितियों और अर्थों की नियमित लयात्मक भाषा—कविता—में ढल जाती

---

१. "What great poetry is not dramatic ?" *Ibid*, P. 5

२. "This peculiar range of sensibility can be expressed by dramatic poetry at its moments of greatest intensity." T. S. Eliot, *On Poetry and Poets*, P. 87

हैं, तब उन परिस्थितियों और उनसे सम्बद्ध भावों की नाटकीयता, औपन्यासिकता, प्रतीकात्मकता आदि विशेषताएँ भी 'काव्य' के पोषक उपादान बनकर उपस्थित होती हैं। ऐसी स्थिति में भले ही उसे 'नाट्य-काव्य' 'प्रेम-गाथा काव्य' 'प्रतीकात्मक काव्य' आदि कोई नाम दें, किन्तु वह रहता है 'काव्य' ही। काव्य-नाटक नाम से नाटक की स्थापना होती है, काव्य की नहीं। नाटकीय शिल्प का प्रश्रय लेने वाला 'काव्य' काव्य पहले है नाटक बाद में।

(८) **नाट्य-काव्य तथा अन्य सम्बद्ध नामकरण**—'नाट्य-काव्य' तथा 'काव्य-नाटक' नामों पर विचार करके यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 'काव्य-नाटक' नाम असंगत हैं। अंग्रेजी में नाटकीयता और काव्य के सामंजस्य के आधार पर रचित कृतियों को 'लिरिकल ड्रामा' और 'ड्रैमेटिक लिरिक' नाम से भी अभिहित किया जाता है। हिन्दी में ऐसी रचनाओं को अंग्रेजी के आधर पर ही 'गीति-नाट्य' नाम दिया गया है। डॉ० बच्चनसिंह ने गीति-नाट्य के विषय में विचारणीय बातें कही हैं—

(१) 'गीति-नाट्य' का गीति-तत्त्व नाटक का अनिवार्य अंग होने से उसे अपेक्षित ऊँचाई दे पाता है। यह बाह्य रूप से जोड़ा हुआ कोई उपकरण नहीं है, बल्कि उसके भीतर से ही नाटक सिरजा जाता है।"[१]

(२) 'काव्यगत लय के कारण गीति-नाट्य पाठकों की संवेदनाओं और संवेगों के गहनतर स्तरों को उद्घाटित करने में अधिक समर्थ होता है। काव्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व बिम्ब-योजना है। आधुनिक जीवन की पेचीदगियों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीक-विधान भी आवश्यक हो गया है। इन तत्त्वों के कारण गीति-नाट्य के व्यंग्य को जो वैशिष्ट्य प्राप्त हो जाता है, वह गद्य-नाटक के लिए शक्य नहीं है।"[२]

(३) "इन समस्त प्रयोगों के बावजूद भी काव्य-तत्त्व से रिक्त नाटकों में सार्वकालिकता उस सीमा तक नहीं आ पाई जिस सीमा तक काव्य-तत्त्व समन्वित नाटकों में देखी जाती है।"[३]

पहले उद्धरण में गीति-तत्त्व को नाटक का अनिवार्य तत्त्व बतलाया गया है। वास्तव में, गीति और नाटक दो स्वभावतः विरोधी विधाएँ हैं। इसका मतलब यह नहीं कि नाटकों में कतिपय स्थलों पर गीतों की योजना नहीं हो सकती। गद्य-नाटकों में भी, भावपूर्ण स्थलों पर, पात्रों के मनोभावों के अभिव्यंजक गीतों की योजना मिलती है। किन्तु वहाँ नाटकीय व्यापार का इतना महत्त्व नहीं होता, जितना विशेष परिस्थिति या मनःस्थिति से सम्बद्ध भाव का। आशय यह है कि नाटक एक प्रबन्धात्मक विधा है, जिसमें एक सुसम्बद्ध वस्तु-व्यापार का आश्रय लिया जाता है और गीति एक मुक्तक रचना है, जिसमें कवि या पात्र की किसी एक तीव्र अनुभूति का सहज उच्छलन होता

---

१. डॉ० बच्चनसिंह, कृष्ण सिंहल द्वारा लिखित **'हिन्दी गीति नाट्य'** (भूमिका), पृ०.११
२. **वही**, पृ० ११
३. **वही**, पृ० १०

है। अतः वस्तु-व्यापार को लेकर चलने वाली किसी भी विधा का सांगोपांग निर्वाह गीति के माध्यम से नहीं हो सकता। ऐसा करने पर गीति गीति न रहकर प्रबन्ध-काव्य का रूप लेने को विवश हो जाएगी। वास्तव में, प्रबन्ध-काव्य और नाटक दोनों प्रबन्धात्मक विधाएँ हैं। इसलिए नाटक को काव्य के रूप में अवश्य लिखा जा सकता है। दूसरे और तीसरे उद्धरणों में डॉ० बच्चनसिंह ने काव्यगत लय, काव्य-तत्त्व तथा काव्य के उपकरणों—बिम्ब-विधान और प्रतीक-योजना—को गीति-नाट्य के लिए आवश्यक और प्रभावोत्पादक तत्त्व माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने 'गीति' शब्द का प्रयोग 'काव्य' के अर्थ में ही किया है, जो आपत्तिजनक और भ्रमोत्पादक है। वास्तव में, 'काव्य' शब्द 'गीति' की अपेक्षा व्यापक है, जिसमें प्रबन्ध काव्यों के अतिरिक्त 'गीति' रचनाएँ भी अन्तर्भुक्त हैं। इसलिए क्यों न कविता में लिखे गये तथा कहीं-कहीं मधुर गीतियों से युक्त नाटकों को काव्य की श्रेणी में रखा जाए ? ऐसी स्थिति में उनका नाम 'काव्य-नाट्य' की अपेक्षा 'नाट्य-काव्य' ही अधिक उपयुक्त है, इस पर पहले सविस्तार विचार किया जा चुका है। अतः हिन्दी में नाटक और काव्य के सामंजस्य से रचित कृतियों के लिए प्रचलित 'पद्य-नाटक' 'पद्य-रूपक', 'काव्य-रूपक' आदि नाम भी उपयुक्त नहीं कहे जा सकते। सुमित्रानन्दन पन्त, उदयशंकर भट्ट, भगवतीचरण वर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश कुमार मेहता, सिद्धनाथ कुमार, धर्मवीर भारती आदि कवियों द्वारा रचित नाटकीय काव्यों को काव्य-नाटक कहना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि इन सभी कृतियों में नाटकीयता की अपेक्षा काव्यत्व की ही प्रधानता है।

'ड्रैमेटिक पोयट्री' का हिन्दी पर्याय 'नाटकीय-काव्य' अथवा 'नाट्य-काव्य' है 'गीति-नाट्य' नहीं। फिर गीति-नाट्यकारों के नाम पर वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, कीट्स, शैली, बायरन, ब्राउनिंग, इलियट, ओडन आदि जिन रचनाकारों के नाम दिये गये हैं, वे सभी असन्दिग्ध रूप से कवि ही हैं, नाटकीयता तो उनकी कविता का आनुषंगिक गुण है।

हिन्दी की जिन रचनाओं को 'गीति-नाट्य' नाम से अभिहित किया गया है, वे वस्तुतः न तो प्रमुखतः गीतियाँ ही हैं और न नाटक ही, वरन् छोटी-बड़ी किस्म के नाटकीय काव्य ही हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि कुछ आलोचकों ने धर्मवीर भारती-कृत 'अन्धायुग' को एक सफल 'गीति-नाट्य' माना है, जबकि इस कृति में कहीं भी गीतियों की कोई योजना नहीं है। कथागायनों (कोरस) में 'गीति-तत्त्व' न होकर कथात्मक सरस विवरण और संकेत हैं। धर्मवीर भारती ने स्वयं अन्धायुग को मूलतः काव्य ही कहा है,[1] उन्होंने इसे दृश्य-काव्य[2] भी कहा है, जिसका अर्थ नाटक की अपेक्षा नाट्य-काव्य अधिक प्रतीत होता है। उन्होंने इसे नाटक[3] भी कहा है, किन्तु गीति-नाट्य एक स्थान पर भी नहीं कहा है। यदि नाटकीय काव्य-कृतियों को गीति और

१. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग** (निर्देश), पृ० ५
२. **वही**, पृ० ४
३. **वही**, पृ० ५

नाटक की दृष्टि से परखा जाएगा, तो वे असफल ही दिखलाई पड़ेंगी, इनमें कृतियों का क्या दोष, जब देखने का ढंग ही अनुपयुक्त है। आलोचकों को तथाकथित गीति-नाट्यों से यही शिकायत रही है कि उनमें काव्यात्मकता नाटकीयता पर हावी हो गई है। यदि ऐसा है, तो फिर उन्हें 'गीति-नाट्य' मानकर 'नाटक' की स्थापना करने का दुराग्रह क्यों ? क्यों न उन्हें सीधे ढंग से नाटकीय काव्य या नाट्य-काव्य कहा जाए ? ऐसा करने से 'गीति' और 'नाटक' के पारस्परिक विरोध से भी बचा जा सकता है तथा उक्त कृतियों के साथ न्याय भी किया जा सकता है। सिद्धनाथ कुमार के शब्दों में, 'हमारे साहित्य के तथाकथित गीतिनाट्यों में गीतितत्त्व की भी प्रधानता नहीं है। गीतितत्त्व और नाटकीय तत्त्व दो अलग-अलग चीजें हैं, मात्र गीति-तत्त्व से नाटक की रचना सम्भव नहीं होती। तथाकथित गीति-नाट्यों में काव्यत्व भी रहता है, छन्दोबद्धता भी।'[१] वस्तुतः गीति तीव्र आवेग की संगीतमयी अभिव्यक्ति है, जिसको कथा या प्रबन्ध की अपेक्षा नहीं, और नाटक कथानक और पात्रों के रूप में जीवन की अनुकृति है, जिसमें प्रबन्धात्मक (कथात्मक) तत्त्व अनिवार्य है। अतः इन दो परस्पर विरोधी विधाओं का संयोजन किसी सफल काव्य-रूप की सृष्टि नहीं कर सकता। यही कारण है कि सुमित्रानन्दन पंत और गिरिजाकुमार माथुर जैसे, जिन गीतिकारों ने नाटक के क्षेत्र में हस्तक्षेप किया है, उन्हें असफलता ही हाथ लगी है। प्रबन्धकार कवि और नाटककार में प्रबन्धात्मक या कथात्मक तत्त्व की उभयनिष्ठता होने के कारण नाट्य-काव्य की रचना वही कवि कर सकता है, जिसमें जीवन के विशाल परिदृश्य को अनुभूति में लपेट लेने की प्रतिभा हो। रोनाल्ड पीकॉक का यह कथन सही है कि 'इस विषय में गीति-कार कवि, प्रमुख दोषी हैं, जो नाटक के क्षेत्र में घुसपैठ करते हैं। वे कविता करते हैं, किन्तु ग़लत ढंग की; रूप के सही अन्तर्गठन की धारणा बना पाने की असमर्थता में उनकी असफलता निहित होती है।'[२]

टी० एस० इलियट ने भी काव्य और नाट्य के मिश्रण से उद्भूत कृतियों को 'लिरिकल ड्रामा' न कहकर 'काव्य-नाट्य' या 'नाट्य-काव्य' ही कहना अधिक उपयुक्त समझा है।[३] फिर भी, हिन्दी के समीक्षकों ने बिना सोचे-समझे 'गीति-नाट्य' नाम का ही अधिक प्रयोग किया है। यह ही नहीं, संस्कृत के आचार्यों तक ने, हिन्दी के समीक्षकों की देखा-देखी, इस शब्द का सर्वथा अनुपयुक्त और अप्रासंगिक ढंग से प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया है। पं० बलदेव उपाध्याय ने भवभूति-रचित 'उत्तररामचरित' के

---

१. सिद्धनाथ कुमार, **'हिन्दी काव्य-नाटक' : एक सर्वेक्षण**, सम्पा० बालकृष्ण राव **माध्यम**, फरवरी १९६५, पृ० ९२

२. "The chief offenders here are the lyric poets, who intrude into drama. They have poetry, but the wrong sort; their failure is in their inability to conceive the right intertexture of the form." Ronald Peacock, *The Art of Drama*, P. 220

३. T. S. Eliot, *On Poetry and Poets*, P . 83

विषय में कहा है, "भावों के स्निग्ध चित्रण के कारण यदि उत्तररामचरित गीति-नाटक (लिरिक ड्रामा) है, तो प्रकृति तथा युद्ध के वर्णनों के विन्यास के कारण यह 'एपिक ड्रामा' भी कहा जा सकता है।"[1] केवल भावों के स्निग्ध चित्रण के आधार पर किसी कृति को 'गीतिनाट्य' कहना उपयुक्त नहीं है। भावों के स्निग्ध चित्रण के कारण ही 'गीतिनाट्य' नाम के स्थान पर 'भाव-नाट्य' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। उदयशंकर भट्ट ने अपनी उक्त प्रकार की रचनाओं को भाव-नाट्य नाम दिया है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या गद्य में लिखे गये नाटक भाव-शून्य होते हैं? फिर 'भाव-नाट्य' शब्द से न तो कृति की रचना-शैली का बोध होता है, न काव्यात्मक रूप का ही। भट्ट जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि "जिन नाटकों का सम्बन्ध उनकी बाहरी भावनाओं, चेष्टाओं से होता है, उनको गद्य में लिखा जाता है। पर आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए गद्य उपयुक्त नहीं होता। कविता में भावों को तरंगित करने की शक्ति गद्य की अपेक्षा अधिक होती है···।"[2] उनके इस कथन से तर्कसंगत रूप में यह निष्कर्ष निकलता है कि गद्य-नाटक और कविता में लिखे गये नाटक में भेद ऊपरी नहीं, आन्तरिक अथवा मौलिक है। दोनों की रचना के लिए भिन्न प्रकार की प्रतिभाओं और मनःस्थितियों की आवश्यकता है। स्वयं भट्ट जी के शब्दों में "पद्य में ही आन्तरिक भावों की अनुभूति अधिक सम्भव है। इस अनुभूति के लिए तदनुकूल मनःस्थिति होनी आवश्यक है।"[3] गद्य-नाटक लिखने वाला कोरा गद्यकार कविता-बद्ध नाटक नहीं लिख सकता। अतः दोनों का व्यावर्तक तत्त्व नाटकीयता नहीं, मनःस्थिति की भिन्नता है अर्थात् वह मनः-स्थिति है, जिसमें परिस्थिति और पात्र काव्यमयी संवेदना में संवलित होकर प्रस्तुत होते हैं। दूसरे शब्दों में, गद्य-नाटक और कविता-बद्ध नाटक का व्यावर्तक तत्त्व कवित्व है; वही परिस्थिति, पात्रों और भाषा आदि के स्वरूप को भी निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी गद्य-नाटक को कविता-बद्ध करके नये सिरे से लिखवायें तो दो बातें सामने आयेंगी। प्रथम तो, ऐसा करने के लिए ऐसे कवि की आवश्यकता होगी, जो कोरा गीतिकार नहीं वरन् प्रबन्धकार हो या लम्बे कथानकों को लेकर कविता रचने की क्षमता से युक्त हो। दूसरे, कविता में लिखे जाने के उपरान्त हम देखेंगे कि गद्य-नाटक से काव्य-नाटक में, कथानक, पात्र, संवाद आदि सभी दृष्टियों से मौलिक अन्तर आ गया है। हम देखेंगे कि गद्य-नाटक और कविता-बद्ध नाटक दोनों में ही नाटकीयता है, किन्तु कवित्व सिर्फ एक में है। यह दूसरी बात है कि मूल व्यावर्तक तत्त्व कवित्व होने के कारण कविता-बद्ध नाटक की नाटकीयता में भी तदनुसार अन्तर आ जाएगा। अतः कवित्व ही दोनों का मूल भेदक तत्त्व होने के कारण नाटकीय प्रबन्ध-काव्यों को 'काव्य-नाटक', 'पद्य-नाटक', 'गीति-नाट्य', 'भाव-नाट्य' आदि नाम न देकर 'नाट्य काव्य' कहना ही अधिक न्यायसंगत और वैज्ञानिक है।

---

१. बलदेव उपाध्याय, **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, पृ० ५५६

२. 'उदयशंकर भट्ट', **विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य** (स्पष्टीकरण), पृ० क

३. **वही**, पृ० क

संक्षेप में, 'पद्य-नाटक', 'गीति-नाट्य', 'भाव-नाट्य' आदि नाम नाटकीय शिल्प की स्थापना करते हैं, उसके मूल अन्तवर्ती तत्त्व-कवित्व—की नहीं। पद्य-नाटक में यदि 'पद्य' का अर्थ 'कविता न होकर शुद्ध पद्य ही है, तो ऐसी कृतियों को गद्य में कहीं अधिक सफलता से लिखा जा सकता है, क्योंकि शुद्ध पद्य में लिखे जाने वाले विषय शुद्ध गद्य के लिए और भी अधिक अनुकूल पड़ते हैं। वास्तव में, उपर्युक्त नामों से अभिहित कृतियों की नाटकीयता की सफलता ही उनके कवित्व में निहित है। अतः इन्हें 'नाट्य-काव्य' नाम से अभिहित करना ही सर्वाधिक उपयुक्त है।

(६) **नाट्य-काव्य के तत्त्व**—आधुनिक युग में कवियों ने जो नाट्य-काव्य लिखे हैं, उनमें नाटकीयता और कवित्व का ऐसा सामंजस्य है कि न तो गद्य-नाटक जैसी स्थूल क्रिया-व्यापार की बहुलता ही है और न काव्यों जैसी भावुकता की प्रचुरता। किन्तु फिर भी, उनमें गद्यात्मक नाटकों की अपेक्षा अधिक भावमयता और कविता से अधिक व्यापार रहता है। इस सामंजस्य में कुछ सीमाएँ नाटकीयता को छोड़नी पड़ती है और कुछ कवित्व को, और इस प्रकार एक नये काव्य-रूप का उदय होता है। नाट्य-काव्य के तत्त्व इस प्रकार हैं—(१) कथानक (२) पात्र और चरित्र-चित्रण (३) संवाद (४) अभिव्यंजना (५) अभिनेयता (६) उद्देश्य। यों तो ये सभी तत्त्व एक ही तत्त्व के उपतत्त्व या आवयविक तत्त्व हैं, इसलिए सभी तत्त्वों की पारस्परिक एकता के सन्दर्भ में ही प्रत्येक की सार्थकता है। अतः इनके पृथक्-पृथक् वैज्ञानिक विश्लेषण का कोई भी प्रयास स्वयं में बहुत गम्भीर नहीं हो सकता। यहाँ इस प्रकार के विश्लेषण की सीमाओं को स्वीकार करते हुए भी, उसकी व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से, संक्षेप में, उपर्युक्त तत्त्वों पर पृथक्-पृथक् विचार किया जा रहा है।

(अ) **कथानक**—विशिष्ट देश और काल में, विशिष्ट व्यक्तियों के सन्दर्भ में घटित तथा कारण-कार्य क्रम में नियोजित घटनाओं की शृंखला को कथानक कहते हैं। प्राकृतिक, अलौकिक, ऐतिहासिक, समसामयिक आदि विभिन्न प्रकार की घटनाओं की सार्थकता साहित्य में तभी है, जब वे मानवीय अर्थों या सन्दर्भों से सम्बद्ध हों। मानवीय सन्दर्भ देश, काल, पात्र, और परिस्थिति के कारण-कार्य-भाव से जुड़े होते हैं। इसलिए मानवीय सन्दर्भों के उक्त सभी पक्षों का कथानक में महत्त्व होता है। कथानक के सभी पक्ष परस्पर सकारण गुम्फित होते हैं। "कथानक में प्रत्येक क्रिया-व्यापार और शब्द का सकारण होना नितान्त आवश्यक है।"[1] इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कथानक में रहस्यमय या पौराणिक और अतिमानवीय प्रसंगों के गुम्फन के लिए कोई गुंजायश नहीं है, किन्तु वे सब साभिप्राय होने चाहिएँ।

नाट्य-काव्य का कथानक स्थूल परिस्थितियों के संयोजन तक सीमित नहीं रह सकता, उसे नाटकीय क्रिया-व्यापार की सम्भावनाओं को सुरक्षित रखते हुए काव्यात्मक संवेदना के स्तर तक उठना होता है। इसीलिए सामान्य जीवन के सामान्य क्रिया-व्यापारों के लिए उसमें कोई अवकाश नहीं होता। नाट्य-काव्यों के कथानकों का

१. "Every action or word in a plot aught to count..." E.M. Forster, *Aspect of the Novel*, P. 95

उद्देश्य जीवन और जगत् के विविधतामय बाह्य स्वरूप का उद्घाटन करना नहीं होता, वरन् जीवन और जगत् की उस गम्भीरता को दर्शाना होता है, जिसमें सारी विविधता अपने बाह्य विस्तारों को छोड़कर केन्द्रीभूत अथवा घनीभूत हो जाती है। इसलिए इन कथानकों को केवल समसामयिक जीवन की स्थूल, सतही यथार्थता तक सीमित न रहकर युग-युगीन जीवन-सत्य को उद्घाटित करने वाली गहराई को अपने में समाहित करना होता है। नाट्य-काव्य के कथानक में केवल उन्हीं घटनाओं को समाविष्ट किया जा सकता है, जिनमें गहन अनुभूतियों को जागरित करने की क्षमता हो। इसीलिए नाट्य-काव्यों के कथानक विविध विस्तारों से मुक्त होकर, गहन अभिप्रायों की अभिव्यंजना के निमित्त प्रतीकात्मक आख्यानों का रूप ग्रहण करते हैं। जीवन के गहन अभिप्रायों या अर्थों की व्यंजना उन्हीं कथानकों के माध्यम से हो सकती है, जो जातीय जीवन के मूल में चिरप्रतिष्ठित हों, और अपने मूलरूप से विच्छिन्न न होते हुए, जो अपने प्रतीकात्मक अथवा व्यंजक स्वरूप के कारण विभिन्न युगों में अपनी सार्थकता सिद्ध कर चुके हों। पौराणिक कथानक किसी देश के जातीय जीवन के इतिहास, संस्कृति, धर्म और दर्शन से सम्बद्ध होते हुए भी किसी विशिष्ट युग और उसके किसी विशिष्ट सन्दर्भ तक सीमित नहीं होते। उनके विशिष्ट रूप में भी उनका सामान्य स्वरूप निहित रहता है, जो उनको असीम अर्थवत्ता और प्रतीकात्मक रूप प्रदान करता है। "जब अनुभव करने की एक रीति और कार्य करने की एक पद्धति लोगों के बड़े समूह के पुराख्यान में निबद्ध हो जाती है, तो उसे असीम शक्ति प्राप्त हो जाती है।"[१] कवि जिस प्रकार प्रकृति के विभिन्न रूपों और व्यापारों से मानव-जीवन की गतिविधियों और मनोदशाओं के गहन सादृश्य के आधार पर अपनी कविता में अनेक प्रतीकों की योजना करता है, उसी प्रकार वह अनेक ऐतिहासिक तथा पौराणिक प्रसंगों का प्रतीकात्मक रूप में प्रयोग करता है। जब कोई कवि किसी पुराख्यान (मिथक) का अपने काव्य में प्रयोग करता है तो वह केवल अपनी ही व्यक्तिगत संवेदना को मूर्त नहीं करता, वरन् उन मानव-समूह की संवेदना को भी व्यक्त करता है, जिसके अवचेतन के संस्कारों में वह पुराख्यान पैतृक दाय के रूप में युग-युग से प्रतिष्ठित हैं।[२] पुराख्यानों की काव्यात्मक व्यंजकता की सम्भावनाएँ इसी लिए अपरिसीम हैं, क्योंकि उनमें निहित पात्र, शब्द और बिम्ब लोक-मानस में संस्कार रूप में बद्धमूल रहते हैं। पुराख्यान किसी जाति के अवचेतन के संस्कारों, अनुभूतियों, कल्पनाओं और चिन्तन की परिणतियाँ हैं। जिस प्रकार विभिन्न युगों की ऐतिहासिक घटनाओं में अनेक बार साम्य दिखलायी पड़ता है और उसके आधार पर कह

---

१. "Once a way of feeling or a mode of action has been embodied in the mythology of a large group of people, it acquires an incalculable power." E. M. W. Tillyard, *Some Mythical Elements in English Literature*, P. 28

२. Maud Bodkin, *Archetypal patterns in Poetry*, P. 8

दिया जाता है कि इतिहास की आवृत्ति होती है, उसी प्रकार पुरा यानों में निहित अर्थ-तत्त्व अपने गाम्भीर्य और प्रतीकात्मक तथा नम्य स्वरूप के कारण प्रत्येक युग के चिन्तन और संवेदन से कहीं-न-कहीं मेल अवश्य खाता है, यदि ऐसा न हो तो पुराख्यानों के निरन्तर चलते रहने का कोई आधार न रहे। कवि पुराख्यान में निहित अर्थ-तत्त्व और स्वयं द्वारा अपने परिवेश से अधिगत अर्थ-तत्त्व के घनिष्ठ सादृश्य के आधार पर ही पुराख्यान में प्रतिष्ठित अर्थ के द्वारा अपने अर्थ को पूर्ण भास्वरता के साथ उद्‌भासित करता है। जिस प्रकार दो ज्योतिर्मय दर्पणों को आमने-सामने रखने से प्रत्येक की दीप्ति कई गुनी बढ़ जाती है, उसी प्रकार प्रस्तुत अर्थ और पुराख्यान को आमने-सामने रखने से दोनों का ही महत्त्व बढ़ जाता है। वास्तविकता तो यह है कि पुराख्यान के काव्यमय प्रयोग के समय पुराख्यान और प्रस्तुत अर्थ दोनों अभिन्न रूप में अवतरित होते हैं।

आदिमकालीन समन्वित चिन्तन पुराख्यानों में दिखलाई पड़ता है जो प्राचीन एकान्वित अर्थों को उस रूप में व्यक्त करते हैं, जिस रूप में वे अनेक धारणाओं में विच्छिन्न किए जाने से पूर्व वर्तमान थे।[1] उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में आया हुआ यह पुराख्यान द्रष्टव्य है, जिसमें इन्द्र पणियों से युद्ध करके गायों को मुक्त करते हैं। ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर पणि लोग निश्चित रूप से ऐसे पौराणिक व्यक्तियों या दैत्यों के रूप में आते हैं, जो आकाश की गायों अथवा जलों को रोक लेते हैं।[2] 'सरमा' नाम की कुतिया इन्द्र को वहाँ तक ले जाती है, जहाँ से उस चट्टान को आसानी से तोड़ा जा सकता है, जिसके पीछे गायें या जलधाराएँ बन्दी हैं। इस युद्ध में अंगिरस इन्द्र का साथ देते हैं। विद्वानों ने इस प्रसंग के अनेक अर्थ लगाये हैं। कुछ विद्वानों को इसमें प्रागैतिहासिक काल का एक जाति से दूसरी जाति के युद्ध का अभिप्राय प्रतीत होता है, तो कुछ इसे पशु-अपहरण का एक सामान्य वर्णन मानते हैं। अरविन्द घोष ने इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए, इन्द्र को शुद्ध अस्तित्व या दिव्य चेतना के रूप में, अंगिरस को मानवीय चेतना की शक्तियों के रूप में, पणि को अज्ञान और पाप के प्रतीक के रूप में, सरमा को अन्तर्ज्ञान (इन्ट्यूशन) के रूप में और चट्टान को मनुष्य के भौतिक अस्तित्व के रूप में ग्रहण किया है।[3] यह ठीक है कि मूल 'प्रसंग' में इस प्रकार के गूढ़ अर्थ अभिप्रेत न रहे होंगे, तथापि उक्त प्रसंग की प्रतीकात्मक अर्थवत्ता का दोहन करके इस प्रकार के अर्थ निकाले जा सकते हैं। इस प्रकार के अर्थ-निर्वचन का मूल प्रसंग के वास्तविक अर्थ तक पहुँचने की दिशा में कोई योग न होने पर भी

---

१. This Primitive, integral thinking is seen in the myths, which give us the old single meanings as they existed before they were split up into several concepts." V. K. Gokak, *The Poetic Approach To Language*, P. 62

२. दे०, ऋग्वेद १,३२,११; २,२४,६; ४,५८,४; ६,४४,२२

३. V. K. Gokak, *The Poetic Approach To Language*, P. 70

काव्यात्मक महत्त्व है। नाट्य-काव्य में कवि पुराख्यानों में निहित अर्थों की सम्भावनाओं का मंथन करके, उन्हें सहज काव्यात्मक रूप प्रदान करता है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह मूल पुराख्यान में ऐसे नए और असम्बद्ध अर्थ खोजे या आरोपित करे जिनकी उनमें सम्भावना ही न हो।

नाट्य-काव्य में कथानक का सौन्दर्य चुनी हुई मार्मिक घटनाओं के द्वन्द्व-मूलक विकास में निहित रहता है। इसका मतलब यह है कि अनुकूल और प्रतिकूल घटनाओं में टकराव चलता रहता है और इसी टकराव से वस्तु का विकास होता है। पात्र परिस्थितियों से जुड़े होते हैं, इसलिए घटनाओं के टकराव में मूलतः पात्रों का ही टकराव निरूपित होता है। पात्रों की मनःस्थितियों का द्वन्द्व मानसिक स्तर पर भी व्यक्त होता है और क्रिया-व्यापारों अथवा घटनाओं के रूप में भी। प्रत्येक पात्र की मनःस्थिति उसके परिवेश और परिस्थिति से परिचालित होती है और बदले में वह परिस्थिति को अपनी मनःस्थिति में, यथार्थ की प्रतिक्रिया से उगे आदर्श के अनुरूप ढालना चाहता है, किन्तु बाहरी परिस्थितियाँ और पात्र उसे ऐसा नहीं करने देते हैं। इस प्रकार कथावस्तु में संघर्ष व्यक्तिगत स्तर पर भी रहता है और सामूहिक स्तर भी।

कथानक में घटित संघर्ष अधिकांशतः पात्रों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम होता है। कुछ पात्र संकीर्ण और निम्न उद्देश्यों के लिए लड़ते हैं, कुछ व्यापकतर उद्देश्यों के लिए। इस प्रकार यह संघर्ष मूल्यों के टकराव को व्यंजित करता है। जब भी अच्छाई पर बुराई हावी होने का यत्न करती है, अन्याय न्याय को दबोचता है, तभी अच्छाई और न्याय के पक्ष को संघर्ष में कूदने के लिए विवश होना पड़ता है। सभी संघर्षों की जड़ में अन्याय निहित रहता है। इस अन्याय से मुक्ति के लिए ही सत्पक्ष को संघर्ष छेड़ना पड़ता है। इस प्रकार कथावस्तु का द्वन्द्वात्मक स्वरूप सत् और असत् पक्षों के टकराव से ही उभरता है। यह संघर्ष मूल्यात्मक होता है। यदि असत् पक्ष भी उतना ही प्रबल है, जितना सत्, तो संघर्ष वास्तविक और विश्वसनीय होता है, किन्तु यदि कवि सतही भावुकता के कारण सत्पक्ष को जान बूझकर प्रबलतर दिखलाता चलता है तो संघर्ष अपना यथार्थ सौन्दर्य खो देता है।

(आ) **पात्र और चरित्र-चित्रण**—पात्र केवल कथानक रूपी यन्त्र के पुर्जे नहीं होते और न ही कथानक पात्रों के इर्द-गिर्द बुना हुआ एक ऊपरी ताना-बाना होता है, वरन् दोनों अभिन्न रूप में परस्पर गुँथे होते हैं। पात्रों की स्वभावगत विशेषताएँ और आचार-विचार कथानक की गतिशीलता को निर्धारित करते हैं और कथानक का सोद्देश्य नियोजन पात्रों के चरित्र को क्रमिक परिवर्तन के द्वारा विकसनशील और गतिमय रूप प्रदान करता है। इस प्रकार कथानक और पात्रों की समन्वित गतिशीलता जीवन और जगत् के किसी विशेष पक्ष के प्रकाशन में परिणत हो जाती है। पात्रों के जीवन अथवा चरित्र का विकास कथानक को गति देता है और कथानक पात्रों के जीवन अथवा चरित्र के विकास की परिणति है। कोई भी कथात्मक कृति तभी सफल होती है, जब कथानक और पात्र जीवन-सापेक्ष हों। "यदि जीवन के उन्मुक्त घटन को

सर्वथा अस्वीकार करके किसी स्थिति का तर्कसम्मत ढंग से उपयोग किया जाता है तो पात्रों के यथार्थ होते हुए भी, परिणाम यान्त्रिक होगा।"[1] वस्तुतः, इससे भी बढ़कर सच्चाई तो यह है कि जीवन की सहजता को अस्वीकृत करने पर पात्र और स्थिति दोनों ही यान्त्रिक हो जाते हैं। पात्र परिस्थिति के माध्यम से ही अपने जीवन को व्यक्त करता है।

कथानक चाहे ऐतिहासिक हो या पौराणिक, उत्पाद्य हो या मिश्र, किन्तु वह सपाट न होकर संघर्षपूर्ण अवश्य हो। यह संघर्ष इस प्रकार का होना चाहिए कि पात्रों की रागात्मक तथा बौद्धिक प्रतिक्रियाएँ अपने चरमोत्कर्ष पर व्यक्त हो सकें। कथानक की बुनावट इतनी जटिल हो कि उसमें मार्मिक स्थितियाँ घनीभूत हो जाएँ। मार्मिक स्थितियों के इस घनीभूत संयोजन को ही कथानक की बुनावट में प्रयुक्त 'संघनन पद्धति' कहा जाता है।

नाट्य-काव्य में जीवन की यथार्थपरक विविधता और व्यापकता के लिए गुंजाइश नहीं होती, उसमें जीवन की तीव्रता, सघनता और गम्भीरता व्यक्त होती है। इसीलिए नाट्य-काव्य की कथावस्तु के समान ही उसके पात्र भी प्रतीकात्मक और गूढ़ होते हैं। जिस प्रकार नाट्य-काव्य के कथानक में स्थूल घटनाओं और क्रिया-व्यापारों की भरमार नहीं होती और न ही बहुत अधिक बाह्य उथल-पुथल, उसी प्रकार नाट्य-काव्य के पात्रों के चरित्रों में बाह्य दृष्टि से परिवर्तन तो दूर, उत्तरोत्तर विकास भी बहुत कम होता है। गूढ़ अर्थ-गर्भित तथा आन्तरिक संघर्ष से युक्त कथानक की भाँति नाट्य-काव्य के पात्र अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान और गूढ़ होते हैं। उनका विकास विस्तार की दिशा में न होकर आन्तरिक गहराई में होता है। इन पात्रों को जितनी गम्भीरता से परखने और समझने की चेष्टा की जाती है, उतने ही गहन अर्थों की परतें उनके भीतर से खुलती जाती हैं। नाट्य-काव्य के पात्र बहुधा स्वभाव-रूप या भाव-रूप होते हैं, वस्तून्मुखी नहीं। ये पात्र जीवन की सतही क्रियाओं, प्रवृत्तियों के द्योतक न होकर, जीवन की अतल गहराइयों में निहित उन गहन शक्तियों, आन्तरिक प्रवृत्तियों और मनोद्वन्द्वों के प्रकाशक होते हैं, जो उनके निजी जीवन को परिचालित करने वाले होने के साथ ही समष्टिगत जीवन की भी मूलभूत प्रेरणादायिनी शक्तियाँ हैं।

नाट्य-काव्य के पात्र दैनिक जीवन में मिलने वाले पात्रों से कुछ भिन्न होते हैं। दैनिक जीवन में तो अनेक ऐसे पात्र भी मिलते हैं, जिनका जीवन नितान्त यान्त्रिक और गद्यवत् होता है; दूसरी ओर ऐसे भी अनेक जटिल पात्र होते हैं जिनके एक ही व्यक्तित्व में अनेक प्रकार की विशेषताओं का सामंजस्य होता है, जो देखने में भावुक और सरल प्रतीत होते हैं और यथार्थ में नितान्त बौद्धिक और चतुर होते हैं। नाट्य-काव्य के रचयिता को ऐसे पात्रों की सृष्टि करनी होती है, जिनमें नाटकीय क्रिया-व्यापार भी

---

१. "If the situation is worked out logically, without any allowance for the free invention of life, the result will be mechanical even if the characters are true." Edwin Muir, *The Structure Of The Novel*, P. 48

हो और काव्यात्मक भावात्मकता भी। इसलिए नाट्य-काव्य के पात्रों के जीवन में सामान्य व्यक्तियों के जीवन की अपेक्षा कम वैविध्य होता है, किन्तु वे उनकी अपेक्षा कहीं अधिक चिन्तन-प्रधान और संवेदनशील होते हैं। नाट्य-काव्य का लक्ष्य मानव के अन्तर्जीवन का चित्रण होने के कारण, उसमें पात्रों की मनःस्थितियों का गहराई से मन्थन किया जाता है। प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने नाट्य-कविता के पात्रों के विषय में कहा है, "सबसे अच्छा प्रभाव तब पड़ता है जब पात्र सांस्कृतिक उन्नयन के एक विशिष्ट धरातल पर प्रतिष्ठित हों, जिससे कि उनके कार्य नैतिक, राजनीतिक अथवा यान्त्रिक विचारणाओं से अभिभूत हुए बिना, उनके व्यक्तित्व की निर्भ्रान्त अभिव्यंजना करें। इन्हीं कारणों से वीर-युग की पुराण-कथाएँ कवियों के लिए विशेष उपयोगी हुआ करती थीं।"[1]

(इ) **संवाद**—नाट्य-कवि की यह विशेषता है कि वह अपनी कृति में सर्वत्र व्याप्त होने पर भी सर्वत्र अप्रत्यक्ष रहता है। यह अप्रत्यक्षता की स्थिति संवादात्मक शैली के प्रश्रय से ही सम्भव है। किन्तु नाट्य-काव्य केवल संवाद-काव्य ही नहीं होते। उनमें संवादों के माध्यम से कथानक तथा पात्रों के संयोजन में से ही कवित्व का संचार होता है। नाट्य-काव्यों का सम्पूर्ण विधान काव्यमय होता है; काव्यमय कथानक और पात्रों को काव्यमय भाषा-शैली में ही निबद्ध किया जा सकता है। काव्यमय व्यापारों और उद्गारों की अभिव्यक्ति के लिए गद्य उपयुक्त नहीं हो सकता। भट्ट जी के शब्दों में 'पद्य में ही आन्तरिक भावों की अनुभूति अधिक सम्भव है। इस अनुभूति के लिए तदनुकूल मनःस्थिति होनी आवश्यक है। कविता में भावों को तरंगित करने की शक्ति गद्य की अपेक्षा अधिक होती है, अतः भावपूर्ण नाट्य लिखने के लिए गद्य की अपेक्षा पद्य सदा उपयुक्त रहता है।'[2] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सुपरिचित तथ्य है कि घनीभूत भावावेग अत्युक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है।[3]

नाट्य-काव्य में समाविष्ट मार्मिक प्रसंगों और उनसे सम्बद्ध संवेदनशील पात्रों की सजीव अभिव्यक्ति के लिए संवादों का एक ओर काव्यमय होना और दूसरी ओर बोलचाल की भाषा से सम्पर्क बनाए रखना आवश्यक है। वास्तव में, ये दोनों बातें परस्पर विरोधी नहीं है, किन्तु इनके अविरोध की स्थिति को प्राप्त करने के लिए कवि में विशेष प्रतिभा अपेक्षित है, जो बोलचाल की भाषा में से कवित्व का दोहन कर सके। टी० एस० इलियट ने नाट्य-काव्य के लिए ऐसी ही बोलचाल की भाषा की आवश्यकता पर बल दिया है, जो नाटकीय होने के साथ ही काव्यात्मक स्तर को प्राप्त कर सके।[4] जेम्स रीब्स का कहना है कि बोलचाल के निचले स्तर के अत्यधिक निकट की भाषा गँवारू और अश्लील हो जाती है तथा अत्यधिक ऊँची उड़ान भरने वाली साहित्यिक

---

१. दे०, प्र० सम्पा०, डॉ० नगेन्द्र, **पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा**, पृ० १२०

२. उदयशंकर भट्ट, **विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य** (स्पष्टीकरण) पृ० क

३. Ronald Peacock, *The Art of Drama*, P. 223

४. T.S. Eliot, *On Poetry and Poets*, P. 88

भाषा वांछित न होते हुए भी हास्यास्पद हो जाती है।[1] अतः नाट्य-काव्य में भाषा का सहज काव्यात्मक माध्यमिक रूप ही श्लाघ्य है। भावपूर्ण स्थितियों की भाषा संगीतमयी हो जाती है, किन्तु कोरे संगीत में पात्रों और परिस्थितियों के निर्वाह की क्षमता नहीं होती। अतः नाट्य-कवि को संगीत और बोलचाल की भाषा के बीच का माध्यम चुनना होता है, जो ऐसे कवित्व को प्रश्रय देता है, जिसमें संगीत और बोलचाल की भाषा की सीमा-रेखाएँ घुलमिल कर एक हो जाती हैं। इसलिए नाट्य-काव्य के संवाद छन्दबद्ध भी हो सकते हैं, मुक्त-छन्द में भी हो सकते हैं और कहीं-कहीं आवश्यकता के अनुरूप वृत्तगन्धी गद्य के स्तर पर भी पहुँच सकते हैं, किन्तु उनमें किसी न किसी स्तर पर काव्यमयता सर्वत्र रहती है।

सामान्यतः नाट्य-काव्य के लिए मुक्त छन्द सर्वथा उपयुक्त रहता है, क्योंकि मुक्त-छन्द में भावानुसार विविध प्रकार की लयों की योजना की स्वतन्त्रता रहती है। नाटकीय क्रिया-व्यापार की गति और भावों के आरोह-अवरोह को मुक्त-छन्द की लयात्मक विविधता पूरी तरह पकड़ पाने में समर्थ होती है। मनोवेगों की तीव्रता अतिरंजित अथवा काव्यमयी भाषा में व्यक्त होती है, जिसमें लय, प्रतीकात्मक बिम्बों, अलंकारों आदि भाव और भाषा के अन्तर्वर्ती तत्त्वों की अन्विति अनायास घटित होती है। नाट्य-काव्य के संवाद पात्रों और परिस्थितियों के मर्म का उद्‌घाटन करने वाले होने के कारण संक्षिप्त, सजीव, भावपूर्ण, बिम्बात्मक और व्यंजक होते हैं।

संवादों की दृष्टि से नाट्य-काव्य का रचयिता तीन त्रुटियाँ कर सकता है :— (१) वह पात्रों के मुख से ऐसी कविता कहला सकता है, जो उनके अनुरूप नहीं है (२) वह ऐसे लम्बे-लम्बे संवादों का प्रयोग कर सकता है, जो क्रिया-व्यापार में बाधक हों (३) वह स्वगत कथनों के बाहुल्य से चरित्र-चित्रण तथा क्रिया-व्यापार की गति को अवरुद्ध कर सकता है। वस्तुतः, स्वगत कथनों के द्वारा न तो पात्र के चरित्र का विकास होता है और न कथानक का ही। तिस पर, यदि कवि किसी पात्र के स्वगत कथन के माध्यम से अपनी ही बात कहने लगे तो पात्र निर्जीव और व्यक्तित्वहीन हो जाता है। पात्रों के चरित्रों का विकास पारस्परिक वार्त्तालापों और क्रिया-व्यापार के मध्य ही सम्भव होता है। हिन्दी में सुमित्रानन्दन पन्त के नाट्य-काव्यों में उपर्युक्त दोषों के कारण ही पात्रों का व्यक्तित्व निर्मित नहीं हो सका है, और कार्य-व्यापार के अवरुद्ध हो जाने से नाटकीयता और कवित्व दोनों को समान रूप से क्षति पहुँची है।

(ई) **अभिव्यंजना**—तात्त्विक दृष्टि से रूप अभिव्यंजना की ही परिणति है। अभिव्यंजना के सभी तत्त्व मूलतः रूप के भी तत्त्व होते हैं।

संवेदना और शब्द-संगीत के जटिल संयोजन से काव्यगत अभिव्यंजना का स्वरूप निर्धारित होता है। अभिव्यंजना में संवेदना को रूपायित करने वाले तत्त्वों—बिम्ब, प्रतीक और अलंकार—के साथ ही, नाद-सौन्दर्य-सम्बन्धी तत्त्वों—छन्द, लय, तुक—का भी सामंजस्य रहता है। इस प्रकार काव्यगत अभिव्यंजना के मूल तत्त्व हैं—बिम्ब, प्रतीक, अलंकार, लय तथा तुक।

---

१. James Reeves, *Understanding Poetry*, P. 165

(क) **बिम्ब-विधान**—यों तो कविता-मात्र में बिम्ब-विधान का महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु नाट्य-काव्य में नाटकीय क्रिया-व्यापार की गत्वरता को मूर्त करने में बिम्बावली का विशेष महत्त्व होता है।

सारा विश्व नाम-रूपात्मक है। भाषा के सभी शब्द विभिन्न रूपों, भावों क्रियाओं, गुणों के ही नाम हैं। इसलिए सम्पूर्ण बोध के मूल में, किसी न किसी स्तर पर, रूप ही अवस्थित रहते हैं और सारा बोध नामों या शब्दों के माध्यम से ही प्राप्य है। जिस प्रकार संज्ञाओं के मूर्त-अमूर्त स्तर हैं, उसी प्रकार क्रियाओं के भी मूर्त-अमूर्त स्तर हैं। व्यक्तिवाचक संज्ञा की अपेक्षा जातिवाचक संज्ञा अधिक अमूर्त है और जातिवाचक संज्ञा की अपेक्षा भाववाचक संज्ञा और भी अधिक अमूर्त है। इसी प्रकार 'रोना', 'हँसना', 'दौड़ना', आदि क्रियाओं की अपेक्षा 'सोचना', 'अनुभव करना', 'स्वीकार करना' आदि क्रियाएँ अमूर्त हैं। इससे स्पष्ट है कि मूर्त और अमूर्त में सापेक्षता का ही भेद है। अमूर्त के मूल में मूर्त आधार, किसी-न-किसी रूप में, अवश्य रहता है। उदाहरणार्थ, राम एक मानव है और मानव होने के नाते मानवता का अंग है, किन्तु राम विशिष्ट और मूर्त है 'मानव' जातिवाचक होने के नाते उसकी अपेक्षा अमूर्त है और 'मानवता' भाववाचक होने के नाते उससे भी सूक्ष्म या अमूर्त है। किन्तु 'मानव' का बोध राम आदि के बिना सम्भव नहीं है और 'मानवता' का बोध 'मानव' के बिना सम्भव नहीं है। यदि 'मानवता' की कोई मानसिक धारणा न हो, तो उसे 'पशुता' से कैसे भिन्न किया जाए? इसलिए 'मानवता' की धारणा में राम आदि मानव और 'पशुता' की धारणा में बैल, गधा, सिंह आदि पशु के रूप में रूपात्मक आधार निहित रहता है। राम आदि (मानवों) के आधार पर 'मानवता' का स्वरूप निर्धारित करने में और 'मानवता' की कसौटी पर राम का मूल्यांकन करने में सहायता मिलती है। इस प्रकार मनुष्य के सारे ज्ञान की गति विशिष्ट से सामान्य की ओर और सामान्य से विशिष्ट की ओर हुआ करती है। इसलिए ज्ञान-प्राप्ति के लिए आगमनात्मक और निगमनात्मक पद्धतियों का प्रश्रय लिया जाता है। पहली में विशिष्ट तथ्यों के आधार पर सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है और दूसरी में सामान्य सिद्धान्त के आधार पर विशिष्ट तथ्यों की व्याख्या की जाती है।

यदि हम 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग निश्चित काव्य-शास्त्रीय अर्थों में न करके व्यापक और सामान्य अर्थों में करें, तो ज्ञात होगा कि सभी प्रकार के भावन और चिन्तन का आधार किसी-न-किसी सीमा तक मूर्त या बिम्बात्मक ही होता है। बिम्बहीन (Imageless) चिन्तन प्रायः असम्भव है। बिम्बहीन चिन्तन के विषय में सन् १९१० के लगभग अमरीकी और जर्मन मनोवैज्ञानिकों में बहुत मतभेद रहा। कुल्पे (Kulpe) तथा बुहलर (Buhler) आदि विद्वानों ने बिम्बहीन चिन्तन का अनुमोदन किया है, जबकि टिचेनर (Titchener) ने इसे अस्वीकार किया है।[1] भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् अरबन ने अन्तर्ज्ञान का प्रयोग विचारणा या धारणा के अर्थों में किया

१. दे०, Ledger Wood, Imageless thought, Ed. Dagobert D. Runes, *The Dictionary Of Philosophy*, P. 141

है और उसके मूल में इन्द्रियबोध और बिम्बावली को आवश्यक माना है।[1] अमूर्त वास्तव में मूर्त का ही निर्विशेष रूप है। सी० डे० लैविस ने कहा है "मेरे विचार से यह तर्क दिया जा सकता है कि प्रत्येक बिम्ब में···यहाँ तक कि विशुद्धतम भावात्मक तथा बौद्धिक बिम्ब में भी ऐन्द्रिय आधार का कुछ-न-कुछ चिह्न रहता है।"[2] फोस्टर ने बिम्ब को सम्प्रेषणीयता का माध्यम कहा है।[3] सुज़ान के लेंगर ने दार्शनिक धारणाओं के विकास का दार्शनिक के निरीक्षण में आये हुए तथ्यों से सीधा सम्बन्ध माना है।[4] पंच ज्ञानेन्द्रियों की संवेदनाओं के आधार पर विकसित बोध-वृत्ति वाला मन भी वस्तुतः एक इन्द्रिय ही है, इसलिए मन के द्वारा किया हुआ चिन्तन अन्तःकरण में संचित बोध-सामग्री से ही विकसित होता है, भले ही उसके उस विकसित रूप में रूप, रस, गन्ध आदि ऐन्द्रिय विषयों का समावेश न रहे। 'तीसरा सप्तक' के कवि केदारनाथ सिंह का यह कथन सर्वथा समीचीन है कि 'बिना चित्रों, प्रतीकों, रूपकों और बिम्बों की उहायता के मानव-अभिव्यक्ति का अस्तित्व प्रायः असम्भव है, यहाँ तक कि जब हम शुद्ध विचार के क्षेत्र में पहुँच कर गम्भीर तत्त्व-दर्शन की चर्चा करते हैं, तब भी हमारे उपचेतन में कहीं-न-कहीं उन विचारों के वर्ण-चित्र उभरते-मिटते रहते हैं। बिम्ब-निर्माण की यह प्रक्रिया पूरे मानव-जीवन में फैली हुई है।'[5] डॉ० जगदीश गुप्त ने प्रसिद्ध बिम्बवादी कवि एज़रा पाउण्ड की साक्षी देकर सूक्ष्म चिन्तन को भी ऐन्द्रिय संवेदन से सम्बद्ध मानते हुए कहा है, "मान्यता तो यहाँ तक है कि बुद्धि में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो संवेदनों से छनकर न पहुँचा हो (Nothing is in the intellect that is not first in senses।'[6])

अमूर्त भाव या विचार मूर्त के ही सामान्य रूप होते हैं। जब हम वस्तुओं के किसी वर्ग में से किसी एक सामान्य विशेषता को पृथक् कर लेते हैं तो हम उन वस्तुओं की पारस्परिक विभिन्नता को दृष्टि से ओझल रखते हुए उस सामान्य विशेषता पर

---

१. "Now it is entirely true that intuition is not possible without sense perception and imagery···the intuitive element or concept bound up with words is connected with imagery and the processes of imagination." Wilbar Marshall Urban, *Language and Reality*, P. 148

२. C. Day Lewis, *The Poetic Image* P. 18-19

३. "···and imagery is a vehicle of communication" *Leonard Foster Translation : An Introduction*, Ed. A. H. Smith," *Aspects of Translation* P. 15

४. "Actually the growth of conception, which is the aim of philsophy has a direct bearing on our ability to observe facts" Susanne K. Langer, *Feeling And Form* P. 6

५. केदारनाथ सिंह, वक्तव्य, सम्पा० अज्ञेय, **तीसरा सप्तक**, पृ० १९६

६. सम्पा० डा० जगदीश गुप्त तथा विजयदेवनारायण साही, **नयी कविता (१९६०-६१) संयुक्तांक (५-६)** पृ० २१

ध्यान केन्द्रित रखते हैं। वस्तुओं के वर्ग से किसी सामान्य विशेषता का पृथक्करण ही अमूर्तीकरण की प्रक्रिया है।[1] उदाहरणार्थ, लाल वस्तुओं के समूह में से 'लालिमा' नामक विशेषता को पृथक् किया जा सकता है। यद्यपि यह ठीक है कि 'लालिमा' कहने पर उसका कोई निश्चित बिम्ब हमारे मन में नहीं उभरता है, क्योंकि 'लालिमा' स्वयं में कोई मूर्त या गोचर वस्तु नहीं है, तथापि मन में 'लालिमा' की एक निश्चित धारणा है जो *'कालिमा' से बिल्कुल भिन्न है। 'लालिमा' का भावात्मक रूप लाल वस्तुओं के सन्दर्भ में हमारे मन में मूर्त हो उठता है। वस्तुओं के सामान्य या भावात्मक रूप को पुनः पूर्ववर्ती स्थूल वस्तुओं या सन्दर्भों में परिणत किया जा सकता है। 'लालिमा' के भाव को 'सन्ध्या' या 'गुलाब' के रूप में पुनः मूर्त रूप दिया जा सकता है।*

उपर्युक्त विवेचन में 'विम्ब' का प्रयोग विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में न करके सामान्य रूप में किया गया है। बिम्ब के इस सामान्य अर्थ को मानकर चलें तो 'प्रेम', 'स्नेह' और 'श्रद्धा' आदि भावों के, हमारे अन्तःकरण में पृथक्-पृथक् धारणाओं के रूप में बिम्ब उभरते हैं। 'मनुष्य' और 'गधा' यद्यपि जातिवाचक शब्द हैं, फिर भी उनकी पृथक्-पृथक् धारणा हमारे मन में उभरती हैं, किन्तु यहाँ पर उल्लेखनीय है कि 'स्नेह' 'प्रेम' आदि भाववाचक शब्दों और 'मनुष्य', 'गधा' आदि जातिवाचक शब्दों के बिम्ब अपनी निर्विशेषता और सन्दर्भहीनता के कारण किसी सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति को जागरित नहीं करते। काव्यशास्त्र में, कविता के सन्दर्भ में 'बिम्ब' शब्द की सार्थकता विशिष्ट सन्दर्भों और उनसे सम्बद्ध अनुभूतियों को उभारने में है। बिम्ब के इन्हीं ऐन्द्रिय और संवेदनामूलक, काव्यशास्त्रीय अर्थों को ध्यान में रखकर कहा जाता है कि वैज्ञानिक और दार्शनिक अर्थ अमूर्त या बिम्बहीन होते हैं, यद्यपि निश्चित धारणाओं के रूप में उनमें भी बिम्बात्मक आधार सूक्ष्म रूप में रहता अवश्य है। काव्यात्मक अर्थ सन्दर्भमूलक होते हैं। इसलिए प्रेम आदि भावों को भी विशिष्ट सन्दर्भों से जोड़कर 'मूर्त' रूप में अंकित किया जा सकता है। यह अनुभूतिप्राण 'सन्दर्भ-विधान' ही काव्य-बिम्ब का मूल आधार है। 'प्रेम' की निर्विशेष अनुभूतिहीन धारणा या भावना दुष्यन्त और शकुन्तला के सन्दर्भ से जुड़कर अनुभूतिप्राण और सजीव रूप में बिम्बित हो उठती है। कविता का उद्देश्य भावों का प्रत्यक्षीकरण है और प्रत्यक्षीकरण के साधन ऐन्द्रिय विषय—रूप, ध्वनि, गन्ध, रस, स्पर्श हैं। इसलिए काव्य-बिम्बों में सुखात्मक-दुःखात्मक अनुभूतियों के ऐन्द्रिय आधारों—रूप, ध्वनि आदि—से युक्त सन्दर्भों का ही प्रत्यक्षीकरण प्रमुख रहता है।

बिम्ब-विधान कविता का आधारभूत तत्त्व है। अज्ञात और अगोचर विषयों को जब तक मूर्त रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक वे कविता की सामग्री नहीं बन सकते।[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बिम्ब-ग्रहण कराने को ही कवि का प्राथमिक

---

२. Hans Reichenbach, *Elements of Symbolic Logic*, P. 209

१. दे० S. M. Schreiber, *An Introduction To Literary Criticism*. P. 44

कर्त्तव्य बतलाते हुए कहा है, "कवि का प्राथमिक कर्त्तव्य बिम्ब ग्रहण कराना है, और उसका साधन अप्रस्तुत-विधान है। इसके बिना कवि मनोरम भाव को हृदयहारी बनाकर अपना वक्तव्य कह ही नहीं सकता।"[१] आचार्य शुक्ल ने कविता में बिम्ब की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है, "काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (Images) या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं।"[२] डॉ० नगेन्द्र ने काव्य में बिम्ब की मूल्यवत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है, "बिम्ब काव्य का अत्यन्त प्रभावी माध्यम है और इसीलिए काव्य के सन्दर्भ में उसका मूल्य असंदिग्ध है।"[३] विनिफ्रेड नोवोटनी[४] तथा जेम्स रीव्ज़[५] आदि पाश्चात्य समीक्षकों ने भी कविता में बिम्ब का प्रमुख स्थान माना है।

काव्य-शास्त्रियों ने 'बिम्ब' की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। यहाँ उनमें से कुछ परिभाषाओं को उद्धृत करके बिम्ब के विषय में कतिपय महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों का उल्लेख करना उपयोगी होगा—

(१) "काव्य-बिम्ब न्यूनाधिक रूप में एक ऐन्द्रिय शब्द-चित्र होता है, जो कुछ सीमा तक रूपकात्मक होता है, जिसके सन्दर्भ में कुछ मानवीय भावावेग अन्तर्निहित रहता है, किन्तु जो विशिष्ट काव्यात्मक भावावेग या मनोराग से पूर्ण होता है और उसे पाठक के लिए विमुक्त कर देता है।"[६]

(२) "बिम्ब वे सचेष्ट स्मृतियाँ हैं, जो अनुभूति के मूल प्रेरक आलम्बन की अनुपस्थिति में उस पहली अनुभूति को पूर्णतः या अंशतः पुनरुत्पादित करती हैं।"[७]

(३) "कविता में बिम्ब अलंकरण मात्र नहीं हैं, वरन् वे अनुभूतिमयी भाषा के मूल तत्त्व होते हैं।"[८]

(४) "इस प्रकार काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।"[९]

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य**, पृ० ४५६

२. आ० रामचन्द्र शुक्ल, **चिन्तामणि**, (पहला भाग) पृ० १८४

३. डॉ० नगेन्द्र, **काव्य-बिम्ब**, पृ० ६२

४. "....The paramount importance of the image in poetry is beyond dispute." Winifred Nowottny, *The Language Poets Use* P. 76

५. James Reeves, *Understanding Poetry*, P. 160

६. "The poetic image is a more or less sensuous picture in words, to some degree metaphorical, with *an undertone of some human emotion* in its context, but also charged with and releasing in to the reader a special poetic emotion or passion." C. Day Lewis *The Poetic Image* P. 22

७. C. W. Bray, *Imagery, Encyclopaedia Britannica*, Vol. 12 P. 103

८. T. E. Hulme, quoted by William K. Wimsatt, Tr. & Cleanth Brooks, *Literary Criticism*, p. 661.

९. डॉ० नगेन्द्र, **काव्य-बिम्ब**, पृ० ५

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर बिम्ब के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—(१) बिम्ब स्वरूपतः मूर्त होता है (२) मूर्त होने के कारण बिम्ब ऐन्द्रिय होते हैं (क्योंकि इन्द्रिय-संचार का आधार मूर्त तथा साकार ही होता है)। (३) इन्द्रिय-संस्पर्श ऐन्द्रिय बोध का आधार होता है और ऐन्द्रिय-बोध अनुभूति का आधार होता है। इसलिए बिम्ब अनुभूति-प्राण होते हैं (४) अपने भावात्मक या अनुभूतिप्राण स्वरूप के कारण बिम्ब पाठकों के हृदय में भावोद्वेलन की क्षमता रखते हैं (५) बिम्ब बाह्य उपकरण न होकर अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति के मूल तत्त्व होते हैं। (६) अनुभूति और अभिव्यक्ति के मूल तत्त्व होने के कारण बिम्ब वे मानसी सृष्टियाँ हैं, जिनमें वस्तुनिष्ठता और व्यक्तिनिष्ठता का सामंजस्य होता है। (७) बिम्बों के मानसिक सर्जन में कल्पना की विधायिका शक्ति का विशेष योग होता है। (८) रूपक, उपमा आदि अलंकारों तथा प्रतीकों के माध्यम से कल्पना बिम्ब-सृष्टि में समर्थ होती है। (९) बिम्बों के माध्यम से ही कवि अमूर्त और नीरस विचारों को भी मूर्त रूप में प्रस्तुत करके अनुभूतिमय और सरस बना देता है।

कविता में भावोद्रेक का मूर्त आधार प्रत्यक्ष न होकर कल्पना में रूपायित होता है। *बिम्ब ही काव्य का वह तत्त्व है, जिसमें कल्पना की विधायिका शक्ति के सहारे वस्तुगत आधार और रागात्मकता का सामंजस्य घटित होता है। इस प्रकार बिम्ब में कवि के भाव-संचार और उसके लिए अपेक्षित ऐन्द्रिय वस्तुगत आधार सम्पृक्त रहता है।* कल्पना अभीष्ट भाव-संचार के लिए मूर्त आधार को तीन रूपों में प्रस्तुत कर सकती है—(१) प्रतिलिपि के रूप में, जैसा कि फोटो में होता है। (२) समन्वयात्मक रूप में, जिसमें वस्तु और कल्पना के योग से वस्तु प्रभावोत्पादक एवं उदात्त रूप में प्रस्तुत होती है। (३) कल्पना-प्रधान रूप में, जिसमें वस्तुगत आधार अत्यन्त गौण हो जाता है और कल्पना वस्तु को सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत करके सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति करती है। उक्त आधार पर बिम्ब के भी तीन रूप हो सकते हैं—(१) स्थूल या वस्तु-प्रधान बिम्ब—इस प्रकार के बिम्बों में कल्पना का योग प्रायः नहीं रहता या अत्यल्प रहता है। नीरस अभिधात्मक वर्णनों या विवरणों में इस प्रकार के ही बिम्ब रहते हैं। (२) समन्वयात्मक बिम्ब—इस प्रकार के बिम्बों में वस्तुगत आधार कल्पना के सृजनात्मक स्पर्श से नवीन और उदात्त रूप ग्रहण करके अपेक्षित भाव जागरित करने में समर्थ होता है। कल्पना और वस्तु के सामंजस्य के कारण इन बिम्बों में ऐन्द्रिय संवेदना और अनुभूति की ऊष्मा भी समन्वित एवं मनोरम रूप ग्रहण करती है। (३) कल्पना-प्रधान बिम्ब—कल्पना-प्रधान बिम्बों में वस्तुगत आधार गौण एवं सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत होता है और कल्पना प्रधान रूप में क्रियाशील रहती है। कल्पना-प्रधान बिम्ब दो प्रकार के हो सकते हैं—(क) स्वच्छन्द बिम्ब (Free images) (ख) प्रतीकात्मक बिम्ब (Symbolic images) स्वच्छन्द बिम्बों में कल्पना बुद्धि के नियन्त्रण से मुक्त होकर संचरण करती है। स्वप्न या नशे की स्थिति में, जब व्यक्ति के चेतन मन का अवचेतन पर से नियन्त्रण छूट जाता है, तभी स्वच्छन्द बिम्बों की

सृष्टि होती है। स्वच्छन्द बिम्बों में वस्तुगत आधार धूमिल और स्वप्निल होता है। छायावादी कविता में ऐसे बिम्बों के उदाहरण मिल जाते हैं।

प्रतीकात्मक बिम्बों की सृष्टि तब होती है, जब कल्पना बुद्धि द्वारा नियन्त्रित होकर वस्तुगत आधार को ऐसे सूक्ष्म और सांकेतिक रूप में प्रस्तुत करती है कि वह वस्तुगत आधार अपनी (वस्तुगत) सत्ता का अतिक्रमण करके भाव-सत्ता में रूपान्तरित होने लगता है। इस प्रकार के बिम्ब मूर्त ऐन्द्रिय आधार की गौणता के कारण विशुद्ध अनुभूतियाँ नहीं जगा पाते हैं, वरन् वे बौद्धिकता के स्पर्श से युक्त जटिल प्रकार की अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं। इन बिम्बों के सर्जन में कल्पना और बुद्धि भाषा की लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का उपयोग गूढ़ और जटिल भावों को व्यक्त करने के लिए करती है।

ऐन्द्रिय विषय-बोध की दृष्टि से बिम्बो का विभाजन (क) रूप-बिम्ब (ख) ध्वनि बिम्ब (ग) गन्ध बिम्ब (घ) स्पर्श बिम्ब (ङ) रस-बिम्ब के रूप में किया जा सकता है।[1] रूपात्मक बिम्ब तो सर्वाधिक होते ही हैं, किन्तु सूक्ष्म होने के कारण ध्वनि-बिम्ब अपेक्षाकृत कम होते हैं। कवि शब्दों की ध्वननशीलता के माध्यम से झंझावात, बनों की नीरवता, गुफाओं की गम्भीर अस्पष्ट ध्वनि के बिम्ब अंकित करते हैं। ध्वनि-बिम्बों की भाँति गन्धात्मक बिम्ब भी सूक्ष्म होते हैं। जिस प्रकार कवि लोग गेंदा, कमल, रजनीगन्धा आदि की गन्धानुभूतियों को उभारने के लिए गन्ध-सूचक शब्दों का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार फीका, तीखा, कटु, मधुर आदि स्वाद-सूचक शब्दों के प्रयोग द्वारा रसानुभवों को भी बिम्बित करने की चेष्टा करते हैं। इसी प्रकार स्पर्शानुभूति 'कठोर', 'खुरदरा', 'चिकना' आदि शब्दों द्वारा व्यक्त की जाती है। बिम्ब के उपर्युक्त भेदों में रूपात्मक बिम्ब ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं; गन्ध, ध्वनि, स्पर्श, रस का पृथक् कोई मूर्त बिम्ब हो ही नहीं सकता, क्योंकि इनका क्रमशः सुगन्धित, ध्वनिपूर्ण, स्पर्श्य, आस्वादनीय वस्तु से स्वतन्त्र कोई बिम्ब नहीं हो सकता है। वस्तु के रूप से पृथक् तो इनका केवल बोध-मात्र ही सम्भव है। इन बिम्बों की सार्थकता रूप-बिम्बों के साथ सम्बद्धता में निहित है। अतः ये सभी रूप-बिम्बों के आनुषंगिक बिम्ब हैं, जो उनके साथ संयुक्त होकर उनको विविध ऐन्द्रिय संवेदनाओं और सम्बद्ध अनुभूतियों से आप्लावित कर देते हैं।

यहाँ बिम्ब-विधान के माध्यमों पर भी संक्षेप में विचार करना उपयोगी होगा। बिम्ब-विधान के दो माध्यम हैं, जो एकान्वित होकर बिम्ब की रचना करते हैं—(१) मानसिक माध्यम—कल्पना (२) शाब्दिक माध्यम—विशिष्ट रूप-व्यापार-सूचक भाषा। आचार्य शुक्ल ने द्रष्टा या कवि की मानसिक दृष्टि के आधार पर बिम्ब-विधान के

---

१. दे०, "Visual images are the best known, but it is important to recognise that every kind of sensation may have its corresponding images." I. A. Rechards. *Principles of Literary Critism*, p. 106

तीन प्रकारों—प्रत्यक्ष रूप-विधान, स्मृत रूप-विधान, और कल्पित रूप-विधान—का विवेचन किया है। वास्तव में विधायिका कल्पना स्मृति से ही सामग्री ग्रहण करती है। स्मृति कल्पना का ही प्राथमिक रूप है। वह पुराने रूप-व्यापारों का पुनरुत्पादन मात्र करती है। स्मृति संसर्ग (association) तथा सादृश्य से उद्‌बुद्ध होती है। प्रवासी पति के वस्त्र आदि को देखकर या पति की आकृति अथवा प्रकृति से साम्य रखने वाले व्यक्ति को देखकर विरहिणी को उसका स्मरण हो आता है। सादृश्य के आधार पर किसी पूर्वानुभूत वस्तु या व्यक्ति आदि की स्मृति के वर्णन की काव्यात्मक प्रणाली को भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने 'स्मरण' अलंकार नाम से अभिहित किया है।[१] लैंजर-बुड ने स्मृति का उल्लेख बिम्ब के सन्दर्भ में ही किया है।[२] कल्पना का आधारभूत और प्राथमिक रूप होने के कारण स्मृति का सामान्यतः सभी प्रकार की मानसिक क्रियाओं में योग रहता है। बिम्ब-विधान में तो स्मृति का योग सर्वविदित है।[३]

यद्यपि स्मृति और कल्पना के मूल में प्रत्यक्ष अनुभव अनुस्यूत रहता है, तथापि प्रत्यक्ष रूप-विधान नाम का वर्गीकरण पूर्णतः असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष विषय-बोध का क्षण कलात्मक अभिव्यक्ति का क्षण नहीं होता। स्वयं शुक्ल जी के शब्दों में ही प्रत्यक्ष रूप-विधान का खण्डन हुआ है। वे कहते हैं, "अतः जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं। कवि जिन वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन करने बैठता है, वे उस समय उसके सामने नहीं होते, कल्पना में ही होते हैं।"[४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष रूप-विधान नाम का वर्गीकरण अनावश्यक है तथा स्मृत बिम्ब-विधान और काल्पनिक बिम्ब-विधान में तात्त्विक अन्तर न होकर वस्तु और कल्पना के संयोजन के अनुपात का अन्तर है। काल्पनिक बिम्ब में स्मृत बिम्ब की ही आवयविक सामग्री का संशोधित, परिवर्धित तथा उदात्तीकृत रूप में संयोजन होता है। यह भी सम्भव है कि काल्पनिक बिम्ब उक्त प्रकार के संयोजन से सर्वथा रहित हो। यह कवि की प्रतिभा पर निर्भर करता है। संक्षेप में, बिम्बों को निर्मित और सम्प्रेषित करने वाली शक्ति कल्पना ही है।[५] कल्पना शब्द कृप् धातु से

---

१. (क) यथाऽनुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः स्मरणम्। मम्मट, **काव्य प्रकाश** (१०, १३२)
(ख) सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते॥ **विश्वनाथ, साहित्य दर्पण** (१०,२७)

२. दे०, Ledger Wood, Memory, Ed, Dagobert D. Runes, *The Dictionary of Philosophy*, p. 195.

३. दे०, There is no kind of mental activity in which memory does not intervene. We are most familiar with it in the case of images...I. A. Richards, *Principles of Literary Criticism*. p. 106.

४. आ० रामचन्द्र शुक्ल, **चिन्तामणि** (पहला भाग) पृ० १९७

५. C. D. Lewis, *The Poetic Image*, p. 65.

बना है, जिसका अर्थ है रचना करना।[1] भारतीय काव्य-शास्त्र में कल्पना के लिए 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग हुआ है। व्यक्ति की नवोन्मेषशालिनी शक्ति को प्रतिभा कहा गया है। पूर्व अनुभव के आधार पर अपूर्व का सर्जन करना नवोन्मेष है। प्रतिभा का सबसे सुन्दर लक्षण भट्टतोत ने दिया है—'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।'[2] कल्पना के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी पर्याय 'इमेजिनेशन' 'इमेज' शब्द से ही बना है और उसका अर्थ है 'अप्रस्तुत वस्तुओं का बिम्ब-विधान करने वाली मानसिक क्षमता।'[3]

बिम्ब का शाब्दिक माध्यम विशिष्ट रूप-व्यापार-सूचक भाषा है। जिस प्रकार कुछ अर्थ निश्चित रूप से काव्यात्मक होते हैं, उसी प्रकार भाषा के कुछ अवयव भी कल्पना और भावना को आकार देने वाले होने के कारण काव्यात्मक होते हैं। भाषा के इस प्रकार के प्रमुख अवयव हैं—(१) ध्वननशील शब्दावली (Onomatopoetic words) (२) विशेष रूपों, गुणों, क्रियाओं के निरूपक शब्द, जैसे वृन्दाविपिनबिहारी, चतुरानन आदि। (३) कल्पनामूलक और रूपकात्मक शब्द, जैसे शशांक, अंशुमाली, रजनीपति, दिनकर आदि। (४) विलम्बित ध्वनियों वाले शब्द जैसे कोयलिया, पायलिया, आँखड़ियाँ। (५) मुहावरे और लोकोक्तियाँ। इनके अतिरिक्त बिम्ब-विधान के लिए कवि विविध सादृश्य-मूलक अलंकारों और प्रतीकों का भी उपयोग करता है। बिम्ब विधान में अलंकारों और प्रतीकों के योगदान पर आगे विचार किया जायेगा।

विषय-क्षेत्र की दृष्टि से बिम्बों की कोई सीमा नहीं है। जीवन और जगत् के जितने क्षेत्र को कवि अपनी रागात्मक सत्ता के सहज संचार द्वारा स्वायत्त कर लेता है, वह समग्र क्षेत्र ही बिम्बों का क्षेत्र है। इस प्रकार पौराणिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक प्राकृतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि बहुविध क्षेत्रों से कवि बिम्ब-सृष्टि के लिए अपेक्षित सामग्री जुटा सकता है। दार्शनिक और वैज्ञानिक क्षेत्र बिम्ब-सृष्टि के प्रकृत क्षेत्र नहीं है, फिर भी कोई प्रतिभाशाली कवि दार्शनिक और वैज्ञानिक विषयों को उनके मूल स्वरूप से हटाकर ऐन्द्रिय और अनुभूतिपरक स्तर पर ला सके, तो इससे काव्य-बिम्बों के क्षेत्र में विस्तार आ जायेगा। आ० शुक्ल ने इस विषय में कहा है, "अब मनुष्य का ज्ञान-क्षेत्र बुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसन्धान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके, कवियों का काम और उच्च काव्य का एक लक्षण होगा।'[4] यदि प्रतिभाहीन कवि आग्रहपूर्वक

१. दे०, सम्पा० चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, **संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ** पृ० ३०५ तथा ३४७

२. दे०, प्रो० बलदेव उपाध्याय, **संस्कृत आलोचना**, पृ० २४

३. "Mental faculty of making images of things not present." *The New Standard Dictionary* p. 139.

४. आ० रामचन्द्र शुक्ल, **चिन्तामणि** (पहला भाग) पृ० १२५

दार्शनिक या वैज्ञानिक विषयों को कविता का विषय बनायेंगे तो कविता कविता ही न रहेगी—साथ ही न वह गद्य रहेगी न पद्य, न दर्शन, न विज्ञान।

बिम्ब की भावाभिव्यंजकता ही उसकी सफलता की कसौटी है। बिम्ब के अवयव—रूप, रंग, गंध, ध्वनि आदि—पूर्णतः संश्लिष्ट होकर ही उसके पूर्ण प्रभाव को व्यक्त करते हैं, किन्तु अवयवों के ब्यौरों की स्थूलता और अभिधात्मक विशदता से ही किसी बिम्ब में अर्थ-गरिमा नहीं आती। बिम्ब की अर्थवत्ता उसके उस आवयविक जटिल गुम्फन पर निर्भर होती है, जिसके द्वारा वह एक मानसिक व्यापार के रूप में सहज अथवा जटिल अनुभूतियों को पूर्ण गहराई के साथ उभारता है। बिम्ब में ऐन्द्रिय और मानसिक संवेदनाओं को उभारने वाले मूर्त आधारों का जितना सुनियोजित, मौलिक और साभिप्राय संयोजन होता है ,वह उतना ही अधिक प्रभावोत्पादक होता है। डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा के अनुसार "मौलिक (प्राइमार्डियल), सम्पूर्ण (आर्गनिक) और स्वयंभू, ये सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिमा (एस्थेटिक इमेज़) के विशेष लक्षण हैं।"[१] लैविस ने बिम्ब की तीन विशेषताओं—नवीनता, भाव-संकुलता और भावोत्तेजन-क्षमता पर प्रकाश डाला है।[२] प्रभावशाली बिम्बों का स्रष्टा कवि प्रस्तुत और अप्रस्तुत में निहित उस गूढ़ सादृश्य की खोज कर लेता है, जिस पर इससे पहले कभी किसी की दृष्टि नहीं गयी थी। वह पहले से विद्यमान सादृश्य की खोज करता है—सादृश्य का आरोप या आविष्कार नहीं करता।

'भारतीय काव्य-शास्त्र के लिए बिम्ब कोई अज्ञात वस्तु नहीं है।'[३] वस्तुतः विभावन-व्यापार, अप्रस्तुत विधान, अलंकार-योजना, लक्षणा, व्यंजना आदि के मूल में बिम्ब-विधान को किसी-न-किसी रूप में अवश्य मान्यता प्राप्त हुई है। विभावन-व्यापार की धारणा बिम्ब-विधान के बहुत निकट पड़ती है। वस्तुतः अलंकार, अलंकारों में निहित उपमान-योजना तथा लक्षणा-व्यंजना आदि विभावन-व्यापार को ही अधिकाधिक प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत करने के उपकरण हैं। प्रबन्ध-काव्यों या लम्बी कविताओं में कथानक, पात्र, पात्रों की क्रियाएँ और चेष्टाएँ (अनुभाव) आदि मिलकर कवि की कल्पना-पटी पर बिम्बों की शृंखला अंकित करते हैं। धनंजय ने विभावन-व्यापार—आलम्बन तथा उद्दीपन—को भाव का पोषक माना है।[४] डॉ० देवराज ने विभावों के प्रत्यक्षीकरण को ही बिम्ब-विधान माना है। वे कहते हैं, 'प्राचीन कवियों में कालिदास, माघ आदि कवि उपमा तथा दूसरे अलंकारों के प्रयोग द्वारा निरन्तर विभावों के प्रत्यक्षीकरण यानी बिम्ब-विधान का प्रयत्न करते हैं।···श्रेष्ठ साहित्य सिर्फ सफल बिम्ब-विधान या विभावों का सशक्त प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करता, वह उपस्थित बिम्बों

---

१. डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा, सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिभा, प्र० सम्पा०, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी साहित्य कोश**, पृ० ८६०

२. दे० C. Day Lewis, *The Poetic Image*, p. 40

३. डॉ० नगेन्द्र, **काव्य-बिम्ब**, पृ० ४४

४. दे०, धनंजय, **दशरूपक** (४, २)

द्वारा बड़ अर्थ-सन्दर्भों का भी संकेत करता है।"[१]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बिम्ब काव्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "बिम्ब निश्चय ही कला की सिद्धि है।"[२] अलंकार, 'प्रतीक' आदि वस्तुतः बिम्ब को ही प्रभावपूर्ण रूप में अंकित करने वाले तत्त्व हैं।

(ख) **प्रतीक-योजना**—भाषा अपने विकास में स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होती है। भाषा अनुकरण (अभिधा) से सादृश्य (अलंकरण) और फिर सादृश्य से प्रतीक की ओर विकास करती है। विज्ञान के अर्थ वस्तुपरक होते हैं और दर्शन के वैचारिक। विज्ञान की भाषा के शब्द वस्तुओं के सूचक चिह्न होते हैं या वस्तुओं के स्थानापन्न (Substitute) होते हैं। यद्यपि दर्शन के शब्द सूक्ष्म विचारों के द्योतक होते हैं, तथापि दर्शन की भाषा पारिभाषिक होती है और उसके शब्दों में अर्थों को बाँधने या सीमित करने की चेष्टा की जाती है। इस दृष्टि से दर्शनशास्त्र वह विज्ञान है, जिसमें उन विचारों का अध्ययन किया जाता है जो समग्र तात्त्विकता से सम्बन्ध रखते हैं।[३] स्पष्ट है कि विज्ञान और दर्शन में, अर्थों के स्थिरीकरण की प्रवृत्ति होती है, इसलिए दर्शन और विज्ञान के शब्द पारिभाषिक और अभिधात्मक होते हैं। उनके अर्थ 'पारिभाषिक शब्दावली कोश' में सुरक्षित रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि दर्शन और विज्ञान की भाषा अर्थों का अनुकरण मात्र करने के कारण कोशगत और अभिधात्मक है। इसके विपरीत कविता की भाषा में शब्दों के कोशगत अर्थों या अभिधार्थों से काम नहीं चलता है। कविता की भाषा का प्रकृत स्वरूप सादृश्यमूलक और प्रतीकात्मक है। कविता की भाषा के शब्द अपने अभिधार्थ का अनुसरण-मात्र नहीं करते, वे रूढ़ या पारिभाषिक न होकर विभिन्न सन्दर्भों के अनुरूप नित्य नवीन अर्थ ग्रहण करते हैं। अर्थों की अनिश्चितता और असीमता के कारण ही कविता के शब्द अभिधात्मक न होकर लाक्षणिक और व्यंजक होते है। उदाहरणार्थ, जब कवि 'श्वेत कमल' को प्रतीक रूप में प्रयुक्त करता है, तो उसकी दृष्टि 'कमल' के स्थूल अभिधार्य का अतिक्रमण करती हुई, उस सूक्ष्म भावनात्मक अर्थ तक पहुँचती है, जो कमल के साक्षात्कार से मन में उदित होता या हो सकता है। इस प्रकार कवि के लिए 'श्वेत कमल' एक पुष्प मात्र न रहकर 'पवित्रता' आदि भावों का प्रतीक बन जाता है।[४] इसी प्रकार 'समुद्र' विस्तार और गम्भीरता का, 'आकाश' सूक्ष्मता और अनन्तता का, सर्प क्रूरता और कुटिलता का, 'अग्नि' तेज और क्रोध का तथा 'चातक' निःस्वार्थ प्रेम का प्रतीक बन जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रतीक शब्द का प्रयोग उस गोचर वस्तु के लिए होता है, जो अपने आकृतिमूलक या प्रकृतिमूलक गुणों के साम्य के आधार पर

---

१. डॉ० देवराज, **प्रतिक्रियायें**, पृ० १५९

२. डॉ० नगेन्द्र, **रस-सिद्धान्त**, पृ० ३५७

३. दे० Wilbur Marshall Urban, *Language And Reality* P. 632.

४. दे० Jean-Paul Sartre, *What Is Literature* P. 2

सूक्ष्म भावों को लक्षित या व्यंजित कर सकती है। आकृतिमूलक साम्य को बाह्य साम्य और प्रकृतिमूलक साम्य को आभ्यन्तर साम्य कहा जा सकता है। प्रतीक-योजना के मूल में गम्भीर भावों के प्रकाशन की आवश्यकता निहित होने के कारण प्रतीक योजना में बाह्य साम्य की अपेक्षा गुण, क्रिया, स्वभाव और प्रभाव आदि से सम्बन्धित आभ्यन्तर साम्य को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। दुःख, उत्सर्ग, अवसान और उल्लास आदि भावनाओं को व्यक्त करने के लिए क्रमशः प्रयुक्त शूल, शलभ, सन्ध्या, और मदिरा आदि प्रतीकों में आभ्यन्तर साम्य ही निहित है। किन्तु बाह्य साम्य के आधार पर प्रयुक्त प्रतीकों का भी अभाव नहीं है। लावण्य, यौवन, दीप्ति आदि को व्यक्त करने के लिए क्रमशः उषा, वसन्त, स्वर्ण आदि प्रतीकों का प्रयोग बाह्य साम्य के आधार पर किया जाता है।

अरबन ने प्रतीक की परिभाषा करते हुए कहा है, "कला-सम्बन्धी प्रतीक सदैव अनुभूति का गोचर या कल्पित विषय होता है, जो किसी मानसिक विषय-सामग्री की ओर संकेत करता है या उसे स्वयं में समाहित रखता है।"[७] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि प्रतीक अनुभूति का ऐन्द्रिय या मूर्त आधार होता है और वह अपने से बड़े किसी सूक्ष्म भाव या अभिप्राय को व्यंजित करता है। इस प्रकार प्रतीक स्थूल वस्तुगत आधार को सूक्ष्म मानसिक अर्थों अथवा सूक्ष्म मानसिक अर्थों को स्थूल वस्तुगत आधार से जोड़ देता है। वह अभिप्रेत अर्थ इतना सूक्ष्म, नवीन और गत्यात्मक होता है कि स्थूल आधार उसके प्रति समर्पित होकर तिरोहित-सा हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब कवि अदृश्य मानसिक उथल-पुथल को व्यक्त करना चाहता है तो वह उस उथल-पुथल के सदृश ऐसे बाह्य वस्तुगत आधार की खोज करता है, जिसमें उथल-पुथल का रूप मूर्त अथवा गोचर होने के कारण सबकी अनुभूति का विषय रहा हो। उसकी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा उसके सामने 'झंझा' का मूर्तरूप उपस्थित कर देती है और वह उस वस्तुगत आधार (झंझा) को मानसिक उथल-पुथल से इस प्रकार जोड़ देता है कि प्रतीक की मानसिक प्रक्रिया पूर्ण होने तक 'झंझा' अपना मूल बाह्यार्थ खोकर सूक्ष्म अर्थ में विलय-सा हो जाती है और मानसिक अमूर्त अर्थ मूर्त आधार पाकर गोचर और संवेद्य बन जाता है। इस प्रकार प्रतीक में मूर्त के अमूर्तन की और अमूर्तन के मूर्तन की दोनों प्रक्रियाएँ अभिन्न रूप में घटित होती हैं। ऐसा होने से मूर्त आधार सूक्ष्म अर्थ में लय होने को उन्मुख होता है और सूक्ष्म अर्थ ऐन्द्रिय एवं मूर्त रूप ग्रहण करके सभी के लिए अनुभव-गम्य बन जाता है। सूक्ष्म अर्थ को मूर्त आधार से संयुक्त करके अनुभव-गम्य या सम्प्रेषणीय बनाना ही प्रतीक का लक्ष्य है। काव्य के सर्जन और आस्वादन की प्रक्रियाओं में अमूर्त के मूर्तन और मूर्त के अमूर्तन की संयुक्त प्रक्रियाओं का महत्त्व है। कवि के मन में पहले अमूर्त अर्थ उभरता है, किन्तु वह सदृश मूर्त आधार पाकर ही रूप ग्रहण करता है; पाठक का मन पहले मूर्त गोचर आधार को ग्रहण करता है और फिर उसमें

७. "The aesthetic symbol is always some object of intuition perceptual or imaginal, which suggests or embodies an ideal content" Wilbur Marshall Urban. *Language And Reality* P. 466

निहित सादृश्य के आधार पर कवि के अभिप्रेत सूक्ष्म अर्थ तक पहुँच जाता है। वस्तुतः काव्य-भाषा का चरमोत्कर्ष प्रतीकों में ही चरितार्थ होता है। "'काव्य' में प्रतीक-योजना ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा भाषा में भावना और अर्थ के स्तरों की सर्वाधिक जटिलता, दूरतम सीमा तथा पूर्णता की निकटतम मात्रा उपलब्ध होती है।"[1] मलार्मे के अनुसार प्रतीक वह माध्यम है, जिसमें सभी अर्थों और ऐन्द्रिय अनुभूतियों के स्तरों का ऐसे ढंग से समन्वय किया जा सकता है, जो स्पष्ट व्याख्या में असम्भव है।[2] संक्षेप में, 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग उस दृश्य वस्तु के लिए होता है, जो किसी अन्य वस्तु के उस अप्रत्यक्ष सादृश्य को मानस-गोचर कराती है, जिसकी अनुभूति उस वस्तु के साथ संसर्ग के द्वारा होती है।[3] प्रतीक-पद्धति का सार यह है कि इसमें दो सन्दर्भ सम्पृक्त हो जाते हैं और एक सन्दर्भ से सम्बद्ध अनुभूतियाँ दूसरे के प्रति स्थानान्तरित हो जाती हैं। उदाहरणार्थ 'झंझा' से सम्बद्ध अनुभूतियाँ मानसिक उथल-पुथल के साथ सम्बद्ध होकर उसे भी अनुभूति-गम्य बना देती हैं।

प्रतीकों का चयन जीवन और जगत् के उन क्षेत्रों—प्राकृतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, सांस्कृतिक, धार्मिक—से किया जाता है, जो युग-युग से किसी समाज के समष्टि-मानस और व्यष्टि-मानस के रागात्मक संचार के क्षेत्र रह चुके हैं। इसीलिए किसी देश या जाति के प्रतीकों में वहाँ के सामाजिक जीवन के नैतिक, सांस्कृतिक, और भावनात्मक मूल्य निबद्ध रहते हैं। देश और काल के साथ ही ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ किसी देश के प्रतीकों को वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ, फारस-निवासी को आबे जमजम, कोहे-नूर, बुलबुल आदि से जिन अर्थों का बोध हो सकता है, वह किसी अन्य देश के निवासी को नहीं हो सकता। इसी प्रकार गंगा-जल, मानसरोवर, कामधेनु, त्रिशूल, रावण, कंस, जयचन्द, सीता, त्रिशंकु, भगीरथ आदि से भारतीयों को जो अर्थ-बोध होता है, वह दूसरे देश वालों के लिए असम्भव है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि (१) प्रत्येक प्रतीक अपने वस्तुगत आधार से बड़े किसी भाव या आशय को व्यक्त करता है (२) प्रत्येक प्रतीक में सूक्ष्म (अर्थ) और स्थूल (सदृश वस्तु) के रूप में दो सन्दर्भ एकान्वित रहते हैं (३) प्रत्येक प्रतीक में अमूर्त के मूर्तन और मूर्त के अमूर्तन की प्रक्रिया समन्वित रहती है। (४) कवि प्रतीक के माध्यम से अमूर्त अर्थ को मूर्त वस्तुगत आधार से जोड़कर भावचित्र अंकित करता है, तो पाठक वस्तुगत आधार के सहारे कवि के सम्प्रेष्य सूक्ष्म अर्थ को ग्रहण करता है (५) प्रतीक किसी देश की सम-कालिक सामाजिक परिस्थितियों के साथ उस देश के सांस्कृतिक, नैतिक, कलागत और मानवीय मूल्यों का भी बोध कराते हैं। (६) प्रतीक अभिव्यक्ति का ही नहीं, मानवीय चिन्तन एवं अनुभूति का भी महत्त्वपूर्ण

---

१. William Van O' Connor, *Sense and Sensibility in Modern Poetry*, P. 80

२. *Ibid*, P. 89-90

३. *Encyclopaedia Britannica, Vol. 21*, P. 700

साधन है। अमूर्त चिन्तन की तो केवल कल्पना ही की जा सकती है। (७) प्रतीक काव्य-सर्जन और सम्प्रेषणीयता के आधार हैं।

काव्य-भाषा का मूल उद्देश्य भावों या अनुभूतियों के बिम्ब उपस्थित कराना है। अनुभूतिप्राण बिम्बों की सृष्टि अभिधात्मक भाषा से सम्भव नहीं है, वह सादृश्य-मूलक और प्रतीकात्मक भाषा द्वारा ही सम्भव है। मूलतः सादृश्य-मूलक और प्रतीकात्मक भाषा में स्तर का ही अन्तर है तात्त्विक अन्तर नहीं है। ऐन्द्रिय अनुभूतियों की भाषा सादृश्य-मूलक होती है, किन्तु जब ऐन्द्रिय अनुभूतियों में कल्पना के अपेक्षाकृत उदात्त स्तर के साथ ही सूक्ष्म बौद्धिक अभिप्रायों का भी सन्निवेश हो जाता है, तो जटिल अनुभूतियों का उदय होता है, जिन्हें सादृश्यमूलक भाषा के विशिष्ट रूप—प्रतीकात्मक भाषा-द्वारा ही व्यक्त किया जाता है। उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति और प्रतीक में सादृश्य के ही विविध स्तर दिखलाई पड़ते हैं। उपमा में अ को ब के सदृश बतलाया जाता है, तो रूपक में अ पर ब का आरोप करके अ को ही ब बतलाया जाता है, रूपकातिशयोक्ति में अ का कथन नहीं होता, परन्तु उसमें ब के कथन-मात्र से साधर्म्य और अर्थरूढिता के आधार पर 'ब' से ही 'अ' का बोध हो जाता है। अन्योक्ति में ब और उससे सम्बद्ध व्यौरों को सादृश्य के आधार पर ऐसे समानान्तर रूप में उभारा जाता है कि अ और उससे सम्बद्ध व्यौरे स्वतः उभर आते हैं। इसमें ब प्रसंग अपने ऐन्द्रिय स्वरूप के द्वारा सूक्ष्म प्रसंग 'अ' को मूर्त रूप प्रदान करता है, किन्तु दोनों के व्यौरों की सांगोपांग समानान्तरता के कारण सूक्ष्म प्रसंग अ' की अर्थवत्ता गम्भीर होते हुए भी अपनी व्यंजकता में ब के द्वारा सीमित रहती है। प्रतीक में अ और ब का सादृश्य साधर्म्य और प्रभाव-साम्य के असीम स्तर तक पहुँचा होता है, इसलिए कवि केवल ब के प्रयोग द्वारा ही अ के सूक्ष्म अर्थों की अनन्त सम्भावनाओं को व्यंजित और उद्भासित करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ ऐन्द्रिय संवेदनाओं से सम्बद्ध अनुभूतियों को सादृश्यमूलक अलंकारों—उपमा, रूपक आदि—के द्वारा बिम्बित किया जा सकता है, वहाँ सूक्ष्म जटिल अनुभूतियों को प्रतीकों के माध्यम से बिम्बित किया जाता है। जिस प्रकार सूक्ष्म जटिल अनुभूतियों में ऐन्द्रिय संवेदना गौण होती है, उसी प्रकार उन अनुभूतियों की प्रतीकात्मक भाषा में मूर्त आधार गौण होता है। इस प्रकार, जैसा कि बिम्ब-विधान के प्रसंग में कहा जा चुका है, प्रतीकात्मक भाषा का सम्बन्ध प्रतीकात्मक बिम्ब-विधान से है। डैविड डैचिज़ के अनुसार आधुनिक कवियों की प्रतीकात्मक बिम्बों के प्रयोग के प्रति निरन्तर बढ़ती हुई प्रवृत्ति से प्रेरित होने के कारण बिम्बावली के प्रतीकात्मक पक्षों के अध्ययन में आधुनिक समीक्षकों की रुचि बढ़ गई है। सूक्ष्म

---

२. दे०, "Critics have become interested in the symbolic aspects of imagery and the practice of many modern poets, especially of Yeats, with his deliberate use of symbolic images, has encouraged such interest" David Daiches, *Critical Approaches To Literature* p. 168.

अनुभूतियों के बिम्ब-विधान में प्रतीकों, के महत्त्वपूर्ण योग को ध्यान में रखकर *आलोचकों ने कविता में प्रयुक्त प्रतीकों को बिम्बात्मक प्रतीक (Imagistic Symbols)* भी कहा है। "वह भाषा, जिसमें योजनाबद्ध रूप में बिम्बात्मक प्रतीकों की अवहेलना की जाती है, अर्थ की गूढ़ताओं, भाव के सूक्ष्म भेदों, विस्मृतप्राय अथवा सशक्त स्मृतियों अथवा अव्यक्त किन्तु सच्ची भावात्मक प्रतिक्रियाओं की प्रतिध्वनियों को पकड़ पाने में असफल रहती है।"[१]

जो बात भाषा के विकास पर लागू होती है, वही कवियों की साधना के क्रमिक विकास पर भी लागू होती है। यीट्स ने शैले की कविता के प्रतीकों का अध्ययन करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि जैसे-जैसे वर्ष व्यतीत होते गये उनकी कविता में प्रतीकों के सोद्देश्य प्रयोग की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी।[२] यही बात प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा, धर्मवीर भारती आदि कवियों पर भी पूर्णतः लागू होती है। प्रतीकों अथवा प्रतीकात्मक बिम्बों का प्रयोग वे ही कवि कर सकते हैं जिनका मानस जटिल और गूढ़ अनुभूतियों से निर्मित हो, जो कोरे भावुक न होकर गम्भीर चिन्तक भी हों और अपने चिन्तन को रागात्मक भाव-भूमि पर लाकर प्रस्तुत करने की दिशा में अग्रसर हों। जिस कवि के अन्तर्जगत् में बुद्धि, कल्पना और राग-तत्त्व का घनिष्ठ सामंजस्य होगा, वे ही बिम्बात्मक प्रतीकों अथवा प्रतीकात्मक बिम्बों की योजना में सफल होते हैं।

(ग) **अलंकार-योजना**—कविता की भाषा सादृश्यमूलक या उपमानात्मक या अलंकारिक होती है। प्रतीक इसी सादृश्यमूलकता या आलंकारिकता का विकसित रूप है। भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों ने कविता में अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार किया है। आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में चार अलंकारों का निरूपण किया है, किन्तु उन्होंने अलंकार की कोई परिभाषा नहीं दी। भामह ने अलंकारों को काव्य में आवश्यक माना है। उसके अनुसार शब्द और अर्थ की वक्रता का नाम अलंकार है।[३] दण्डी ने अलंकार को काव्य का अनिवार्य धर्म सिद्ध करके भामह की अलंकार-सम्बन्धी विचारधारा को ही आगे बढ़ाया। उसने अलंकारों को काव्य का शोभाकारक धर्म माना।[४] आचार्य वामन ने काव्य के शोभाकर धर्म को 'अलंकार' न कहकर 'गुण' कहा है और उन गुणों के उत्कर्ष में वृद्धि करने वाले तत्त्वों को 'अलंकार' कहा है।[५] अलंकार के विषय में व्यापक दृष्टि से विचार करते हुए वामन ने काव्य के सम्पूर्ण सौन्दय को

---

१. Willian Van O' Connor, *Sense and Sensibility in Modern Poetry*. P. 121

२. Rene, Wellek and Austin Warren, *Theory of Literature*, P. 189.

३. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचमलंकृतिः। भामह, **काव्यालंकार** (१, ३६)

४. काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते। **दण्डी, काव्यादर्श,** (२, १)

५. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।" **वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** (३,१,१-२)

ही अलंकार कहा है।[1] आचार्य विश्वनाथ ने अलंकारों को शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म कहा है और उनको कवच आदि की भाँति शोभा को बढ़ाने वाले तथा रस के उपकारक माना है।[2]

भारतीय आचार्यों ने अलंकार और अलंकार्य का भेद मानते हुए भी उनका अभेद घोषित किया है, क्योंकि दोनों का भेद ऐसा है जैसा अंग और अंगी का या तरंग और समुद्र का होता है। डॉ० नगेन्द्र ने इस विषय में आचार्य कुन्तक के मन्तव्य का सार निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है।[3]

(१) "तत्त्व रूप में अलंकार और अलंकार्य की पृथक् सत्ता नहीं है।

(२) काव्य में शब्द—अर्थ रूप अलंकार्य का और वक्रोक्ति रूप (जिसके अन्तर्गत काव्य के उपमादि सभी प्रकार के शोभादायक तत्त्वों का समावेश है) अलंकार का पूर्ण तादात्म्य रहता है। अलंकार कोई बाह्य वस्तु नहीं है जिसका शब्द अर्थ के साथ योग होता है।

(३) फिर भी काव्य-सौन्दर्य को हृदयंगम करने के लिए व्यवहार रूप में इन दोनों का पृथक् विवेचन किया जा सकता है और वह उपादेय भी होता है।"

कविता का उत्कर्ष भाव के उत्कर्ष पर और भाव का उत्कर्ष उसे प्रेरित करने वाले विभावन-व्यापार के उत्कर्ष पर निर्भर करता है। अलंकार सादृश्य या वैषम्य के आधार पर वस्तु-व्यापार को उत्कर्ष प्रदान करके युगपद् रूप में भावना या अनुभूति को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है, कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को, उसी प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर, तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिराकर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं। इनके सहारे से कविता अपना प्रभाव बहुत-कुछ बढ़ाती है। कहीं-कहीं तो इनके बिना काम ही नहीं चल सकता।"[4] संक्षेप में, अलंकार सादृश्य या साधर्म्य की योजना द्वारा अनुभूति के विषयों (विभावन-व्यापार) को अधिकाधिक ऐन्द्रिय और मूर्तरूप में उपस्थित करके, उस सम्बद्ध अनुभूति को तीव्रता प्रदान करते हैं, और यह सर्वथा सही है कि अनुभूति ऐन्द्रिय-संवेदना और बिम्बावली के बिना सम्भव नहीं

---

१. सौन्दर्यमलंकारः। **वही** (१,१,१-२)

२. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥ विश्वनाथ, **साहित्य दर्पण**, (१०, १)

३. डॉ० नगेन्द्र, **अलंकार और अलंकार्य**, सम्पा० डॉ० कृष्णबल, **भारतीय काव्यशास्त्र**, पृ० १३३

४. आ० रामचन्द्र शुक्ल, **चिन्तामणि** (पहला-भाग), पृ० १४५

है ।[1] इस प्रकार अलंकार बिम्ब-योजना के सहायक उपकरण हैं। वे अनुभूति को गोचर और मूर्तरूप में उपस्थित करते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में, "आधुनिक युग में जिसे हम बिम्ब-विधान कहते हैं, वही मुख्यतः अलंकारों की वस्तु है। काव्य में बिम्ब-योजना अव्यक्त को व्यक्त रूप प्रदान करती है।"[2] डॉ० नगेन्द्र ने भी सादृश्यमूलक अलंकारों का सम्बन्ध विभावन-व्यापार से जोड़कर प्रकारान्तर से उन्हें बिम्ब-विधान में उपयोगी माना है।[3] इसी सन्दर्भ में उन्होंने अलंकार को रसात्मक अभिव्यक्ति का अनिवार्य तत्त्व घोषित करते हुए कहा है···"सत्य तो यह है कि अलंकार केवल रस के उपकारक ही नहीं, वे रस की अभिव्यक्ति के अनिवार्य माध्यम हैं। काव्य की भाषा (रस की अभिव्यक्ति)—व्यापक अर्थ में अलंकृत ही हो सकती है—कोई भी कृती कवि चमत्कार-विहीन शब्दार्थ के माध्यम से रमणीय अर्थ या भाव का प्रतिपादन नहीं कर सकता और न कोई आलोचक ही इसे सिद्ध कर सकता है।"[4] भावात्मक सूक्ष्म अर्थों की भाषा आलंकारिक या सादृश्य-मूलक ही हो सकती है, विज्ञान और दर्शन की पारिभाषिक भाषा में भावात्मक अर्थों को बिम्बित नहीं किया जा सकता। आई० ए० रिचर्ड्स ने भी अपने ढंग से उक्त मत की पुष्टि की है।[5]

अनेक पाश्चात्य आलोचकों ने भी अलंकार को काव्यात्मक अभिव्यक्ति का महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है और उसे अनुभूति के मूर्तन अथवा बिम्बन के लिए अनिवार्य माना है। एक समीक्षक ने तो बिम्ब और अलंकार को पर्याय के रूप में ही ग्रहण किया है।[6] एक स्थान पर डॉ० नगेन्द्र ने भी अलंकार, 'अप्रस्तुत विधान', 'बिम्ब-योजना' शब्दों का प्रयोग इस रूप में किया है कि जैसे वे परस्पर पर्यायवाची हों।[7] पाश्चात्य आलोचकों ने अलंकारों में सर्वाधिक महत्त्व रूपक (मैटाफर) को दिया है, क्योंकि वह

---

१. "Now it is entirely true that intuition is not possible without sense perception and imagery."Wilbur Marshall Urban, *Language And Reality*, P. 148

२. सम्पा० नन्ददुलारे वाजपेयी, **आलोचना** (सम्पादकीय), अप्रैल १९५८, (पूर्णांक २६), पृ० ३

३. दे०, डॉ० नगेन्द्र, **रस-सिद्धान्त**, पृ० ३२४

४. **वही**, प० ३२४

५. "Most descriptions of feelings and nearly all subtle descriptions are metaphorical and of the combined type." I. A. Rechards, *Practical Criticism*, P. 222

६. "···and by image, in this chapter, we mean figure of speech". H. Combes, *Literature And Criticism*, P. 49

७. "आधुनिक आलोचना-शास्त्र में अलंकार या अप्रस्तुत-विधान अथवा बिम्ब-योजना का महत्त्व केवल केयूर या भुजबन्ध के समतुल्य नहीं है।" डॉ० नगेन्द्र, **रस-सिद्धान्त**, पृ० ३२४

बिम्ब-विधान में सर्वाधिक उपयोगी है। हरबर्ट रीड के अनुसार रूपक में निरीक्षण की कई इकाइयों का एक प्रभावशाली 'बिम्ब' में संश्लेषण होता है।[1] सी० एम० स्क्रेवर ने रूपक को बिम्ब का ही एक प्रकार माना है।[2] रूपक में तथ्यात्मक शब्दावली का प्रयोग नहीं किया जाता; रूपक के प्रयोग द्वारा हम बहिर्जगत्-सम्बन्धी अपने निजी अनुभव के आधार पर ही निर्दोष बिम्ब की सृष्टि करते हैं।[3] सी० डे० लेविस ने कविता में बिम्ब के साथ रूपक का भी स्थायी महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा है, "फिर भी बिम्ब सम्पूर्ण काव्य में स्थायी रूप में रहता है, और प्रत्येक कविता स्वयं में भी एक बिम्ब होती है। प्रवृत्तियाँ आती जाती रहती हैं, भाषा बदल जाती है, छन्द-सम्बन्धी रीतियाँ परिवर्तित हो जाती हैं, यहाँ तक कि आधारभूत विषय-सामग्री भी इतनी परिवर्तित हो सकती है कि पहचानी भी न जा सके, किन्तु रूपक कविता के जीवन-सिद्धान्त और कवि की प्रमुख कसौटी तथा गरिमा के रूप में वर्तमान रहता है।"[4] हक्सले का कथन है कि "रूपक अपने ही पीछे सांगोपांग बिम्बों की शृंखला उत्पन्न करता है।"[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अलंकार-योजना का बिम्ब-योजना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यों तो पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र में ध्वननशीलता (आनोमेटोपोइया), विशेषण-विपर्यय (ट्रान्सफर्ड एपिथेट), करुणाभास (पैथेटिक फैलेसी) आदि अनेक अलंकारों का उल्लेख है, किन्तु बिम्ब-योजना में सहायक होकर भावों को मूर्तरूप देने में सफलता की दृष्टि से उपमा (सिमली), रूपक और मानवीकरण (परसोनीफिकेशन) का ही सर्वाधिक महत्त्व है। मूलतः रूपक उपमा का ही अपेक्षाकृत जटिल एवं विकसित रूप है। हरबर्ट रीड के अनुसार, "उपमा और रूपक में शैलीगत परिष्कार की मात्रा का अन्तर है।"[6] उपमा और रूपक में स्थूल के द्वारा सूक्ष्म, ज्ञात के द्वारा अज्ञात, प्राचीन के द्वारा नवीन अर्थ का चित्रण किया जाता है। जब हम उपमा का प्रयोग करते हुए कहते हैं, "उसका यौवन कमल-कुसुम के समान खिल उठा" तो कमल-कुसुम के खिलने की ज्ञात, गोचर एवं अनुभूत स्थिति के माध्यम से यौवन के विकास की दुर्गाह्य स्थिति को भी ग्रहण कर लेते हैं। कमल-कुसुम का खिलना साधारण बात है,

---

१. Herbert Read, *English Prose Style*, P. 23

२. "The type of the poetic image is the metaphor." C. M. Schreiber, *An Introduction To Literary Criticism*, P. 43

३. "By not using any of these terms, metaphor allows us to supply an uncontaminated image from our own experience of the Physical world." Winifred Nowottny, *The Language Poets Use*. P. 59

४. C. Day Lewis, *The Poetic Image*, P. 17

५. Aldous Huxley, *Literature And Science*, P. 27

६. "Simile and metaphor differ only in degree of stylistic refinement." Herbert Read, *English Prose Style*, P. 25

किन्तु यौवन का खिलना चमत्कारपूर्ण और नवीन अर्थ का द्योतक है। इस प्रकार कवि एक सन्दर्भ की शब्दावली को दूसरे सन्दर्भ से जोड़कर नये और चमत्कारपूर्ण अर्थों की सृष्टि करता है। मानवीकरण मूलतः रूपक के ही निकट है।[१] जिस प्रकार अगोचर को गोचर या निर्गुण को सगुण के रूप में ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार अचेतन को चेतन और मानवेतर को मानवीय रूप में ग्रहण करने कीप्र वृत्ति मानव-हृदय की आदिम प्रवृत्ति है। जो कवि जितना अन्तर्मुखी या भावुक होगा, बहिर्जगत् को मानवीय संवेदनाओं और क्रियाओं से युक्त देखने और अनुभव करने की प्रवृत्ति उसमें उतनी ही अधिक होगी। कालिदास के अनुसार, "कामार्त्त लोग चेतन-अचेतन के (भेद के) सम्बन्ध में स्वभाव से ही दीन (विवेकहीन) होते हैं।"[२] भारतीय काव्य-शास्त्र में आनन्दवर्धन ने मानवीकरण की प्रवृत्ति को सैद्धान्तिक रूप में मान्यता प्रदान की है।[३] मानवीकरण की यह प्रवृत्ति ऋग्वेद आदि ग्रन्थों में दैवीकरण (Deification) के रूप में परिवर्द्धित एवं उदात्तीकृत रूप में मिलती है। इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए आचार्य शौनक ने कहा है, "महर्षियों और ऋषियों ने अपनी विभिन्न स्तुतियों में यथा-शक्ति अमूर्त पदार्थों तक को देववत् मानकर उनका स्तवन किया है।"[४]

सादृश्य-विधान के माध्यम से अनुभूति और उसके गोचर विभावन-व्यापार को संयुक्त रूप में अंकित करने के कारण ही भारतीय काव्य-शास्त्र में उपमा को अर्थालंकारों का मूलाधार माना गया है। अति प्राचीन आचार्य यास्क तक ने उपमानों के वर्गीकरण के आधार पर उपमा के भेद किये हैं और वैदिक ग्रन्थों से उपमा के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[५] उपमा के सूक्ष्म विवेचन द्वारा यास्क ने अलंकार-शास्त्र की स्थापना की। किन्तु यास्क भी अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य के ऋणी हैं। उन्होंने उपमा के विवेचन में गार्ग्य का मत उद्धृत करते हुए कहा है, "इसलिए अब उपमाएँ (कही जाती हैं)। गार्ग्य का कहना है कि जब एक वस्तु दूसरी से भिन्न हो, किन्तु थोड़ा सादृश्य रहे (तब उपमा होती है)। तब इनका यह काम है कि किसी बड़े गुण के द्वारा किसी छोटी या अप्रसिद्ध वस्तु की उपमा दी जाए। इसके अतिरिक्त छोटी वस्तु के द्वारा भी बड़ी वस्तु की उपमा दी जाती है।"[६] मुख और चन्द्र दोनों ही पृथक्-पृथक् भिन्न वस्तुएँ हैं, किन्तु फिर भी दोनों में समता है। यही उपमा का बीज है। अनुभूति और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में

---

१. Herbert Read, *English Prose Style*, P. 31

२. "कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।" कालिदास, **मेघदूत** (पू० मे०, ५)

३. "भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्,
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया।
आनन्दवर्द्धन, **ध्वन्यालोक**, ३, ४३, के बाद की वृत्ति।

४. 'सत्त्वान्यमूर्तान्यपि च देवतावन्महर्षयः,
तुष्टुवुर्ऋषयः शक्त्या तासु तासु स्तुतिष्विह॥ शौनक, **बृहद्देवता**, (१,८१)

५. दे० यास्क, **निरुक्त**, (३, ३, १५-१७)

६. **वही**, (३, ३, १३)

सादृश्य-योजना की इसी मूल प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर राजशेखर ने उपमा को 'अलंकारशिरोरत्न' तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने 'विपुलालंकारान्तर्वर्तिनी' कहा है। उपमा ही प्रकार-भेद से भिन्न-भिन्न अलंकारों का रूप धारण करती है।[1] मुख के वर्णन में जो कमल चन्द्र आदि सामने रखे जाते हैं, वे इसीलिए कि इनकी कोमलता, वर्ण-रुचिरता, दीप्ति आदि के योग से मुख के सौन्दर्य का ग्रहण समग्र तथा उत्कृष्ट रूप में हो सके। अन्योक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों में सादृश्य-योजना वस्तुओं के मध्य न होकर किंचित् व्यापक प्रसंगों के मध्य रहती है। यदि ध्यान से देखा जाए तो श्लेष और यमक जैसे शब्दालंकारों में भी चमत्कार केवल शाब्दिक न होकर, दो प्रसंगों के सादृश्य से ही सम्बन्धित होने के कारण, अर्थगत होता है। यमक के प्रसिद्ध उदाहरण—"कनक कनक से···"में कनक (सोने) को पाने और कनक (धतूरे) को खाने की दो स्थितियों की तुलना करके, एक का उत्कर्ष दिखलाया गया है। शब्दकोश में कनक का अर्थ सोना भी लिखा है और धतूरा भी, किन्तु इससे कोई चमत्कार उत्पन्न नहीं होता है। चमत्कार तो कवि की इस उद्भावना में है कि उसने कनक के उक्त दोनों अर्थों के सहारे दो सदृश प्रसंग आमने-सामने खड़े कर दिये। यही बात श्लेष के प्रसिद्ध उदाहरण "चिरजीवो जोरी जुरै"—के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। सभी अलंकारों में सादृश्यमूलकता खोजने का आग्रह भी व्यर्थ है। कई अलंकार कविता के अर्थ को रूपात्मक आधार न देकर संगीतात्मक आधार प्रदान करते हैं। इस दृष्टि से अनुप्रास का विशेष महत्त्व है। कुछ अलंकार किंचित् बौद्धिकता के योग से, कथन की भंगिमा द्वारा, अर्थ में चमत्कार पैदा करते हैं, जैसे अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याजस्तुति विरोधाभास आदि।

---

१. (क) उपमा—मुख चन्द्र के समान सुन्दर है।
(ख) रूपक—मुख चन्द्र है।
(ग) उत्प्रेक्षा—मुख मानो चन्द्र है।
(घ) स्मरण—चन्द्र को देखकर मुख याद आता है।
(ङ) सन्देह—यह मुख है या चन्द्र है?
(च) भ्रान्तिमान—मुख को चन्द्र समझकर चकवे का जोड़ा बिछुड़ गया।
(छ) प्रतीप—मुख-सा चन्द्र है।
(ज) अपह्नुति—यह मुख नहीं है, चन्द्र है।
(झ) उल्लेख—उसके मुख को कोई कमल कहता कोई चन्द्र कहता है।
(ञ) अनन्वय—मुख मुख-सा ही है।
(ज) उपमेयोपमा—मुख-सा चन्द्र और चन्द्र-सा मुख है।
(ठ) व्यतिरेक—चन्द्र सकलंक, मुख निष्कलंक, दोनों में समता कैसी?
(ड) अतिशयोक्ति—यह (मुख) चन्द्र है।
(ढ) दीपक—मुख और चन्द्र शोभित हैं।

(घ) **लय तथा तुक**—कविता का उपकरण भाषा है। भाषा में दो तत्त्व हैं—(१) अर्थ और (२) स्वर या नाद। जब तक अर्थ नितान्त बौद्धिक रहता है उसका स्वर या नाद से अभेद्य सम्बन्ध नहीं रहता है। पहले कहा जा चुका है कि दर्शन और विज्ञान के अर्थों में उनके बौद्धिक स्वरूप के कारण स्वर, नाद, या शब्द-संगीत या उससे निर्मित लय का न तो कोई स्थान है और न उसकी कोई सम्भावना ही। रागात्मक अर्थों की भाषा ही रागात्मक या संगीतात्मक हो सकती है। इसीलिए राग या संगीत का सीधा सम्बन्ध अन्तःकरण के रागतत्त्व से है। यही कारण है कि विशिष्ट प्रकार के रागों का सम्बन्ध विशिष्ट प्रकार के रागों या भावावेगों से है। "भावना द्वारा कवि संगीत की सृष्टि किया करता है और कल्पना द्वारा अपनी वर्ण्य-वस्तु का चित्र उपस्थित करता है। इस प्रकार कविता की अभिव्यक्ति शब्दों में संगीत और चित्र के द्वारा होती है।"[1] काव्य-भावनाओं का नादमय बिम्ब प्रस्तुत करता है।

लय का सम्बन्ध रागात्मक अर्थों से है, बौद्धिक अर्थ गद्यात्मक होते हैं। रागात्मक अर्थ के आन्तरिक स्पन्दन से मुक्त होकर कविता कविता नहीं रह सकती है। वस्तुतः लय ही गद्य और कविता का मूल व्यावर्तक तत्त्व है और लय का नियामक है रागात्मक अर्थ का स्वरूप। राजशेखर ने छन्दोबद्ध भाषा को ही गद्य और कविता का व्यावर्तक तत्त्व माना है। उन्होंने कवि को लक्षित करके सरस्वती से कहलवाया है, "पुत्र, यद्यपि मैं समूचे वाङ्मय की माता हूँ, परन्तु तुमने इस प्रकार की छन्दोबद्ध भाषा से आज मुझ पर विजय प्राप्त करली है, यह अत्यन्त हर्ष की बात है।···तुमसे पहले के विद्वानों ने गद्य की सृष्टि की है, पद्य की नहीं। इस छन्दोबद्ध वाणी के प्रथम आविष्कारक तुम ही हो। अतः तुम सचमुच प्रशंसनीय हो।"[2]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कविता का विरोध सारे गद्य से न होकर केवल उतने गद्य से है, जिसमें वैज्ञानिक और दार्शनिक अर्थों—तथ्यों और तर्कों—को व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार गद्य के दो स्पष्ट भेद दिखलाई पड़ते हैं—(१) शुद्ध गद्य और (२) भावात्मक गद्य। शुद्ध गद्य में भाषा के शैलीगत तत्त्वों—ध्वनि, लय, अलंकार, बिम्ब आदि का महत्त्व नहीं होता; इसका उद्देश्य केवल अर्थ-बोध कराना होता है। यही विशुद्ध गद्य और भी अधिक अर्थ-बोधक होने पर पारिभाषिक, सूचनात्मक और फिर रेखा-चित्रात्मक (ग्राफिक) रूप ग्रहण करता है। भावात्मक गद्य में भाव के साथ अलंकार-योजना, प्रतीक और शब्दों की ध्वनि-संगति की ओर भी ध्यान दिया जाता है। भावात्मक गद्य इसीलिए कलात्मक होता है। भावात्मक गद्य के इसी कलात्मक रूप को देखकर कुछ आलोचक उसे 'गद्य-काव्य' या 'गद्य-गीत' का नाम देते

---

१. डॉ० उषा गुप्ता, **हिन्दी के कृष्णभक्ति-कालीन साहित्य में संगीत**, पृ० ९६

२. "वत्स सच्छन्दस्काया गिरः प्रणतवाङ्मयमातरमपि मातरं मां विजयसे। त्वत्तः पूर्वे हि विद्वांसो गद्यं ददृशुर्न पद्यम्। त्वदुपज्ञमथातः छन्दस्वद्वचः प्रवर्त्स्यसि। अहो श्लाघनीयोऽसि।" राजशेखर, **काव्य-मीमांसा**, पृ० १४

हैं। इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर प्रसाद के नाटकों के भावपूर्ण संवादों तक को 'गद्य-गीत' या 'गद्य-काव्य' कहा गया है। रायकृष्णदास, वियोगी हरि, दिनेशनन्दिनी आदि ने स्वतन्त्र रूप से भी गद्य-गीतों की रचना की है। किन्तु यह विधा आगे नहीं चली, यही इस बात का प्रमाण है कि इस प्रकार की विधा की स्थापना का आधार ही दुर्बल था। वास्तव में, भावात्मक गद्य प्रभावपूर्ण और आलंकारिक होने पर भी काव्य नहीं बन सकता और 'गीत' बनना तो और भी असम्भव है। वस्तुतः भावपूर्ण गद्य एक सीमा तक ही भावपूर्ण हो सकता है; उसकी भावपूर्णता जब तक गद्य की सीमा का अतिक्रमण करके आवृत्तिमूलक लय का विधान नहीं करती तब तक उसे काव्य या गीत कैसे कहा जा सकता है ? किन्तु वैसा करने पर वह गद्य नहीं रहेगा। इसलिए गद्यगीत और 'गद्य-काव्य' नाम सर्वथा असंगत हैं। इलियट ने ठीक ही कहा है, "जिस क्षण हम कविता को गद्य और गद्य को कविता समझने लगते हैं, कलाकार की सफलता लुप्त हो जाती है।"[1]

कारलायल, ले हण्ट, और आर्कविशप ह्वाटली की मान्यता है कि छन्द के सौन्दर्यात्मक प्रभाव के बिना कविता अपूर्ण है।[2] छन्दोबद्ध रचना के भी दो रूप मिलते हैं—(१) शुद्ध पद्य तथा (२) भावपूर्ण पद्य। शुद्ध पद्य में प्रयुक्त छन्द रचना की आन्तरिक प्रकृति का बोध नहीं कराता, वरन् वह रचना के बाह्य रूपमात्र का बोध कराता है।[3] शुद्ध पद्य में अर्थ और छन्द पूर्णतः अभिन्न नहीं होते हैं। यदि ऐसे पद्य में से, जिसमें छन्द एक बाह्य आकार या यान्त्रिक ढाँचे के रूप में प्रयुक्त हुआ है, अर्थ को निकालकर शुद्ध गद्य में व्यक्त किया जाए, तो मूल कथन में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। इसका अभिप्राय यह है कि कथन की दृष्टि से शुद्ध पद्य और शुद्ध गद्य में कोई भेद नहीं है। दोनों ही अर्थ-बोध कराते हैं। प्राचीन काल में, स्मरण की सुविधा की दृष्टि से, काव्य-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, वैद्यक-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र जैसे वैज्ञानिक और दार्शनिक विषयों को भी पद्यबद्ध किया जाता था, किन्तु ऐसा करने से वे ग्रन्थ काव्य-ग्रन्थ की श्रेणी में नहीं आते थे। निष्कर्ष यह है कि शुद्ध गद्यात्मक विषयों को शुद्ध पद्य का भी विषय बनाया जा सकता है, किन्तु उन्हें उसी रूप में कविता का विषय नहीं बनाया जा सकता।

जब छन्द भावात्मक अर्थों में से स्फुरित होता है, तो उसमें सजीव एवं संगीतात्मक लय का उदय होता है। भावात्मक गद्य और भावात्मक पद्य (या कविता) में भावावेग और अभिव्यक्ति के स्तर तथा कलात्मक संयम का अन्तर होता है। भावात्मक गद्य में, अनुभूति और कल्पना को निर्बन्ध प्रवाह में व्यक्त करना ही लेखक

---

१. "The moment we think of poetry as prose or of prose as poetry, the artist's success is lost." T. S. Eliot, quoted by Glenn Hughes, *Imagism And The Imagists* P. 75

२. Theodore Savory, *Art of Translation*, P. 80

३. S. M. Schreiber, *An Introduction To Literary Criticism*, P. 121

का ध्येय रहता है, इसलिए उसमें भावोद्रेक और कलात्मक संयम की टकराहट से अर्थ और भाषा के तत्त्वों का ऐसा जटिल संयोजन नहीं हो पाता जैसा भावपूर्ण पद्य या कविता में होता है। कविता की व्यवस्थित किन्तु सजीव लय में ढलने से पूर्व अनुभूति को ऐसे मन्थन से होकर आना होता है, जिसमें छन्द, अलंकार, अर्थ आदि पूर्णतः एक हो जाते हैं। यदि किसी विचार को भाषा के भिन्न गठन में व्यक्त किया जाए तो भी वह अपने मूलरूप में वही रहता है, किन्तु यदि भावना या अनुभूति को भाषा के भिन्न गठन और स्तर द्वारा व्यक्त किया जाए तो उस अनुभूति के भी रूप और स्तर में अन्तर आ जाता है। यहाँ एक ही कवि द्वारा एक ही मनःस्थिति को लेकर लिखे गये भावात्मक गद्य और भावात्मक पद्य (कविता) के उदाहरण द्वारा दोनों में निहित भाव के रूप और स्तर का भेद दिखलाना उचित होगा। जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित 'चन्द्रगुप्त' नाटक के चतुर्थ अंक में यौवन और प्रेम के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए सुवासिनी कार्नीलिया से कहती है—

"अकस्मात् जीवन-कानन में, एक राका-रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन ?' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी, फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू-भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसी में छिपी रहती हैं।"[1]

इसी भाव को लेकर कामायनी का 'काम' सर्ग इस प्रकार प्रारम्भ होता है—

मधुमय वसन्त जीवन-वन के, वह अन्तरिक्ष की लहरों में।
कब आये थे तुम चुपके से, रजनी के पिछले प्रहरों में॥
क्या तुम्हें देखकर आते यों मदमाती कोयल बोली थी।
उस नीरवता में अलसाई, कलियों ने आँखें खोली थीं॥[2]

उपर्युक्त उदाहरणों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि पहले में भाव और कला का वह समन्वित चारुत्व नहीं है, जो दूसरे में है। वास्तव में देखा जाए, तो दूसरे में वही भाव भिन्न रूप में, भिन्न स्तर पर, व्यक्त हुआ है। प्रथम में कलात्मक नियन्त्रण और छन्द की मर्यादा के अभाव में, भाव और लय संयुक्त होकर भावात्मक संगीत के स्तर पर नहीं पहुँच सके हैं। दूसरे में शब्दों की ध्वनियों की व्यवस्था भाव के सधे हुए स्पन्दनों से सम्पृक्त है और इस भावात्मक और ध्वन्यात्मक लय की एकान्विति से भावात्मक संगीत का उदय हुआ है। स्क्रेबर का कहना है कि कवि एक साथ दो कलाओं का सामंजस्य स्थापित करता है— शब्दों का अर्थ-संप्रेषण के माध्यम के रूप में प्रयोग करने की कला का तथा शब्दों को इस ढंग से चुनने और व्यवस्थित करने की कला का, जिससे उनकी ध्वनियाँ ऐसा लयात्मक संगीतमय स्वरूप प्रस्तुत कर सकें जो संगीत के स्वरों की भाँति श्रवण के माध्यम से सीधे कल्पना से बातें करें।[3] भावावेग के क्षणों में मानव-

१. जयशंकर प्रसाद, **चन्द्रगुप्त**, पृ० १८८
२. जयशंकर प्रसाद, **कामायनी**, पृ० ६३
३. S.M. Schreiber, *An Introduction To Literary Criticism*, P. 27

चेतना छन्दमयी अभिव्यक्ति में रूपायित होना चाहती है। अनुभूति की लयात्मक अभिव्यक्ति ही उसे सार्वकालिक और सार्वभौम रूप प्रदान करती है। इलियट का यह कथन सर्वथा समीचीन है कि "मानव-आत्मा घनीभूत भावावेग में पद्य (कविता) में व्यक्त होने के लिए आतुर हो उठती है।···यदि हम स्थायी और सार्वभौम तक पहुँचना चाहते हैं, तो हम (भावों को) कविता में व्यक्त करने को प्रवृत्त होंगे।"[1]

कविता का एक रूप मुक्त-छन्द-कविता (Free Verse) भी है, जो इस तथ्य की पुष्टि करता है कि कविता प्रचलित अर्थों में, छन्द से तो मुक्त हो सकती है, किन्तु लय से नहीं। शुद्ध पद्य के आधार पर यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि छन्द का निर्वाह मात्र ही किसी रचना को कविता का रूप नहीं प्रदान कर सकता है। लय कविता का जीवन-स्पन्दन है, फिर भले ही वह लय काल-मान की अनुशासित आवृत्ति के रूप में किसी निश्चित छन्द में ढली हो या अपने हर स्पन्दन पर नया वेग पकड़ती हुई सब छन्दों को अपने में सिमेटकर भी उनकी सीमा से ऊपर हो। स्पष्ट है कि मुक्त-छन्द-कविता की लय छन्द के किसी नपे-तुले बाह्य ढांचे पर निर्भर नहीं होती। भाव की गति ही मुक्त छन्द का आन्तरिक नियम है। जिस प्रकार कोई नर्तक नृत्य की शास्त्रीय भंगिमाओं से परिचित होते हुए भी, भावोल्लास के क्षणों में शास्त्रीय विधान की औपचारिकता को भूल कर उन्मुक्त रूप से नाचने लगता है और भाव की प्रकृत माँग के अनुसार स्वतः ही कभी उसके चरण दो डग पीछे और कभी अनायास चार-पाँच डग आगे बढ़ जाते हैं, किन्तु इस अनियमितता के होते हुए भी उसके चरणों की लयात्मक गति में कोई अन्तर नहीं आता है, उसी प्रकार मुक्त-छन्द की छोटी-बड़ी पंक्तियाँ भाव के आन्तरिक उतार-चढ़ाव की गति और मात्रा पर निर्भर होती हैं। निराला के शब्दों में "मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और नियम राहित्य उसकी मुक्ति।"[2]

वेदों और उपनिषदों में मुक्त छन्द के सैकड़ों उदाहरण उपलब्ध हैं, जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि भाव-संकुल मनःस्थिति की अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छन्द बहुत अनुकूल है। किन्तु मुक्त स्वरूप में ही इसका बन्धन निहित है। जितने उच्च स्तर की स्वतन्त्रता होगी, वह उतने ही उच्च स्तर के अनुशासन की अपेक्षा करेगी। स्वतन्त्रता के लिए शक्ति और संयम पहली शर्तें हैं। मर्यादित शक्ति ही अन्तश्चेतना से अनुप्रेरित स्वतन्त्रता का रूप ग्रहण करती है। जिस प्रकार कोई अशक्त, असंयत, वृद्ध व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं रह सकता, उसी प्रकार प्रतिभाहीन, असंयत कवि मुक्त छन्द का निर्वाह नहीं कर सकता। यह समझना कि मुक्त छन्द में कविता के छन्द आदि अनुशासनों से मुक्ति मिल जाती है और प्रतिभाहीन तथा साधना-शून्य सभी लोगों को कवियों की सूची

---

१. "The human soul, in intense emotion, strives to express itself in verse....if we want to go at the permanent and universal, we tend to express in verse." T. S. Eliot, *Selected Essays*, P. 46

२. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', **परिमल** (भूमिका), पृ० १९

में सम्मिलित होने और कविता के नाम पर उलटा-सीधा कुछ भी लिखने और छपाने की छूट मिल जाती है, भारी भ्रान्ति है। वास्तव में, मुक्त छन्द के स्वरूप में अपने सीमित शास्त्रीय रूप में कोई निश्चित छन्द समाहित नहीं रहता है, किन्तु सहज रूप में सभी छन्द उसके स्वायत्त रहते हैं। "छन्द की भूमि में भी मुक्त" होने का यही अभिप्राय है। सभी छन्द कविता के प्रवाह के पोषक हैं। मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। कवि की मनःस्थिति के अनुकूल किसी भी छन्द की पंक्ति मुक्त छन्द के सहज प्रवाह का समर्थन कर सकती है। टी० एस० इलियट ने सर्वाधिक मुक्त कविता की पृष्ठभूमि में भी किसी न किसी छन्द की आत्मा निहित मानी है।[1] इलियट की मान्यता है कि उत्तम रचना करने के इच्छुक कवि के लिए कोई कविता 'मुक्त' नहीं है। उसके अनुसार मुक्त-छन्द-कविता के नाम पर ढेरों भद्दा गद्य अथवा भोंड़ा पद्य ही लिखा गया है।[2] एक अधम कवि ही 'रूप' से मुक्ति के रूप में मुक्त छन्द का स्वागत कर सकता है।[3] अपने मित्र को लिखे हुए एक पत्र में इलियट ने कहा है, "और तथाकथित मुक्त-छन्द-कविता, जो उत्तम है, वह और कुछ भले ही हो मुक्त नहीं हो सकती है।"[4]

निष्कर्ष यह है कि लय अथवा छन्द ही कविता का अन्तर्वर्ती अनिवार्य तत्त्व है जो उसे गद्य से पृथक् सिद्ध करता है। लय गति और यति के पारस्परिक संघात से निष्पन्न होती है। यति विरामात्मक एवं काल-सापेक्ष होती है, अतएव लय भी तत्त्वतः काल-सापेक्ष तथा आवृत्तिमूलक होती है। लय में शब्द की ध्वनि और अर्थ-तत्त्व को एकत्र घनीभूत करने की अद्भुत शक्ति होती है। कविता की वस्तु का भावावेगमय स्वरूप कविता के शब्दार्थमय रूप-विधान में लय उत्पन्न करता है। कविता की वस्तु का भावावेगमय होना आवश्यक है और उसके रूप-विधान में लय की स्थिति अनिवार्य है। लयात्मक भाषा के वाक्य-विन्यास में उतार-चढ़ाव के एक निश्चित क्रम के साथ ही, यति की व्यवस्था भी रहती है। यह स्पष्ट है कि गद्य में कविता की उपर्युक्त दोनों विशेषताओं में से एक का भी होना आवश्यक नहीं है। कविता के सम्बन्ध में यदि पुराने अनुशासनों का उल्लेख अपेक्षाकृत ऊँचे स्तर की नयी व्यवस्था लाने के लिए है तो वह निश्चय ही ग्राह्य है, किन्तु यदि वह शब्द और अर्थ की समवेत मर्यादाओं को भंग करके कविता के नाम पर टूटे-फूटे गद्य को चालू करने के उद्देश्य से है, तो वह कभी भी श्लाघ्य नहीं हो सकता। जेम्स रीव्स का यह कथन सर्वथा उचित ही है कि काव्यात्मक तकनीक की

---

१. "···the ghost of some simple meter should lurk behind the arras in even the freest verse..." T. S. Eliot, Quoted by Glenn Hughes, *Imagism And The Imagists*, P. 73

२. T. S. Eliot, *On Poetry and Poets*, P. 37

३. *Ibid*, P. 37

४. "And the so-called verse-libre which is good, is anything but free." T. S. Eliot, Quoted by Glenn Hughes, *Imagism And The Imagists*, P. 73

सफलता स्वच्छन्दता और बन्धन के मध्य सन्तुलन पर निर्भर है। आधुनिक कवि जिन कठिनाइयों का अनुभव करते हैं, उनमें से एक यह है कि अब कोई स्वीकृत बन्धन नहीं रहे।"[१]

यद्यपि यह ठीक है कि कविता केवल संगीत नहीं है, तथापि अनुभूति अपने आवेग और कलात्मक संयम के मध्य जब तक उस स्तर को नहीं प्राप्त करती, जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति के सभी तत्त्व—अनुप्रास, ध्वननशीलता, लय, तुक, आदि—एकान्वित होकर भावपूर्ण संगीत को जन्म दे सकें, तब तक उसे कविता नहीं कहा जा सकता। कविता को केवल संगीत बना देना भी अनुचित है और उसके संगीत को छीन कर उसे केवल गद्य बना देना भी असंगत है। पो का कथन है कि "संगीत को जब आनन्ददायक विचार (अर्थ) के साथ समन्वित किया जाता है तो वह कविता बन जाता है, अर्थ-शून्य संगीत कोरा संगीत है, संगीत-शून्य अर्थ अपनी निश्चितता के कारण गद्य बन जाता है।"[२]

कविता की लय में तुक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। कविता के तत्त्वों में से आग्रहपूर्वक तुक का बहिष्कार करने या उसके महत्त्व को अस्वीकार करने से उसकी वास्तविक महत्ता कम नहीं होती।[3] निराला, प्रसाद, दिनकर और धर्मवीर भारती आदि जिन कवियों ने सफल तुकहीन कविता लिखी है, उन्होंने उससे भी कहीं सुन्दर तुकान्त कविता की रचना की है। जिन कवियों ने तुक और छन्द आदि के बन्धनों से मुक्त होकर मुक्त-छन्द-कविता की रचना की है, उनकी कविता में भी स्थान-स्थान पर अन्त्यानुप्रास के रूप में तुकों का प्रयोग मिलता है। अनेक स्थानों पर तुकें स्वच्छन्द रूप में मिलती हैं अर्थात् एक पंक्ति के आरम्भ, मध्य या अन्त के शब्द की तुक दूसरी पंक्ति के आरम्भ, मध्य या अन्त के शब्दों में से किसी से मिलती है। कुछ तुकें लम्बे अन्तराल के उपरान्त मिलती हैं। ऐसी स्थिति में दूसरी पंक्ति अपने से कई पंक्ति पूर्व की किसी पंक्ति का सहसा स्मरण करा देती है। जिस प्रकार मुक्त-छन्द-कविता के आधार पर इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि लय और अ-यान्त्रिक अर्थों में छन्द भी कविता का अन्तर्वर्ती अनिवार्य तत्त्व है, उसी प्रकार मुक्त-छन्द-कविता में सहज रूप में समाविष्ट तुकों के आधार पर यह सिद्धान्त पुष्ट होता है कि तुक भी कविता का प्रमुख अन्तर्वर्ती तत्त्व है। तुकें अर्थ और उसकी लयात्मक अभिव्यक्ति में स्पन्दन और अनुगूंज उत्पन्न करके अर्थ को घनीभूत और प्रभावपूर्ण बनाती हैं। पहली पंक्ति की तुक की अनुगूंज दूसरी पंक्ति की तुक की अनुगूंज से टकराकर अर्थ को सघन बनाने के साथ ही अद्‌भुत संगीत की सृष्टि करती है।

---

१. "Success in poetic technique depends on a balance between freedom and restraint. One of the difficulties felt by modern poets is that there are now no accepted restraints." James Reeves, *Understanding Poetry*, P. 136

२. Poe, quoted by Herbert Read, *Phases of English Poetry*, P. 115

३. H Combes, *Literature And Criticism*, P. 36

प्रतिभाशाली कवियों की कविता में तुकें अनुभूति और अभिव्यक्ति का ही अंग बनकर आती हैं, किन्तु असफल कवि या तो तुकों का यान्त्रिक रूप में प्रयोग करते हैं या तुकों के प्रयोग से जान-बूझकर बचते हैं और उसके पक्ष में कोई-न-कोई सिद्धान्त गढ़ लेते हैं। यांत्रिक रूप में आरोपित तुकें हास्यास्पद हो जाती हैं, किन्तु अनुभूति के प्रभाव में से उगने वाली अप्रत्याशित तुकें कविता को सजीव और संगीतमय बनाती हैं। अनुभूति के वेग और लय की गति को नियंत्रित करके कलात्मक संयम द्वारा सौन्दर्य सृष्टि करने में तुकों का महत्त्वपूर्ण योग रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कविता की भाषा बौद्धिक अर्थों की भाषा से भिन्न होने के कारण सन्दर्भमूलक होती है। मानवीय सन्दर्भों में बाह्य परिस्थिति और मनःस्थिति का योग रहने के कारण उन सन्दर्भों के बिम्बों में भी रूपात्मकता और भावात्मकता का संयोग रहता है। कविता में बिम्ब-योजना विशिष्ट रूप-व्यापार-सूचक शब्दों, अलंकारों और प्रतीकों द्वारा सम्भव है। स्थूल ऐन्द्रिय प्रसंगों और उनसे सम्बद्ध अर्थों के बिम्ब सादृश्यमूलक अलंकारों द्वारा तथा अपेक्षाकृत सूक्ष्म अर्थों के बिम्ब प्रतीकों द्वारा अंकित किये जाते हैं। प्रतीकात्मक बिम्बों में वस्तुगत आधार की गौणता अर्थ के स्वरूप की सूक्ष्मता द्वारा निर्धारित होती है। कविता में बिम्ब-योजना और लय के संयोजन से अनुभूति के समग्र स्वरूप को अंकित किया जाता है। लय में अनुभूति के वेग को शब्दों के नाद-सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। तुक लय का ही प्रमुख अंग है, जो अनुभूति के स्पन्दन को नियमित करता है और कविता को भाव-संकुल एवं गेय बनाता है। शब्दों के अर्थगत और नादगत तत्त्वों के इसी सामंजस्य के कारण कविता का अनुवाद नहीं हो सकता। सन्दर्भों की विशिष्टता ही कविता के अर्थों को देश और काल से जोड़कर सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों से संयुक्त करती है और कवि की समष्टिव्यापी रागात्मकता उन्हें सार्वभौम और सार्वकालिक बना देती है।

(उ) **अभिनेयता**—यद्यपि नाट्य-काव्य मूलतः काव्य ही है, नाटकीयता उसका आनुषंगिक अन्तर्वर्ती तत्त्व है, तथापि नाट्य-काव्य में निहित नाटकीय व्यापार और काव्यात्मक संवाद उसे अभिनेय रूप प्रदान करते हैं। यदि नाट्य-काव्य का रंगमंच पर अभिनय नहीं भी किया जाय, तो भी उसमें निहित क्रिया-व्यापार की तीव्रता और उसकी व्यंजक प्रतीकात्मक तथा बिम्बात्मक भाषा सहृदय पाठक के मन पर नाटकीयता तथा कवित्व का प्रभाव डालने में समर्थ होती है। क्रिया-व्यापारों तथा उनसे सम्बन्धित अनुभूतियों की निरूपक बिम्बात्मक काव्य-भाषा नाट्य-काव्य के श्रव्य रूप को ही पर्याप्त दृश्यात्मक बना देती है। नाट्य-काव्य की रचना-प्रक्रिया में स्थूल और सूक्ष्म अथवा वस्तु और अनुभूति के साथ कवि की प्रतिभा के अन्य तत्त्वों—बुद्धि और कल्पना—का भी पूर्ण उत्कर्ष समाहित रहता है। अतः कवि की कल्पना सारे कथ्य को ऐसे गोचर और मूर्त रूप में प्रस्तुत करती है कि रंगमंचीय अभिनय की सहायता की आवश्यकता ही नहीं रहती। किन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि नाट्य-काव्य अभिनेय नहीं होते। उपर्युक्त कथन में प्रकारान्तर से नाट्य-काव्यों में अन्तर्निहित अभिनेयता की सम्भावनाओं की ही पुष्टि की गयी है। नाट्य-काव्यों में वस्तु-तत्त्व

और व्यक्ति-तत्त्व, नाटकीयता और कवित्व, दृश्यत्व और श्रव्यत्व का ऐसा सामंजस्य रहता है कि वे जितने अभिनेय होते हैं उतने ही पाठ्य भी।

नाट्य-काव्यों में कथावस्तु के स्थूल विवरणों के लिए अवकाश नहीं होता। अतः कथावस्तु के मार्मिक प्रसंगों की परस्पर अन्विति के लिए नाट्य-काव्य में कोरस या सहगान (जिसे कथागायन भी कहा जाता है) का समावेश नितान्त उपयोगी होता है। सहगान के द्वारा उन कथा-प्रसंगों का संक्षेप में विवरण दे दिया जाता है, जो अभिनय और काव्यात्मक प्रभाव की तीव्रता में बाधक होते हैं, किन्तु जो कथा की शृंखला को बनाये रखने के लिए अनिवार्य होते हैं। सहगान से नाटकीय तथा काव्यात्मक प्रभाव में वृद्धि होती है और रंगमंचीय शिल्प की दृष्टि से उन सभी दोषों का परिहार हो जाता है, जिनकी सहगान के अभाव में आशंका होती है।[1]

यों तो अभिनय के चारों प्रकारों—कायिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक—में से प्रत्येक प्रकार के अभिनय की नाट्य-काव्य में सम्भावना रहती है, किन्तु स्थूल कायिक अभिनय की अपेक्षा सात्त्विक अभिनय की प्रधानता रहती है। वाचिक अभिनय भी बाह्य वस्तु-निरूपक न होकर अर्थ-गर्भित, मार्मिक संवादों पर आश्रित रहता है।

नाट्य-काव्य के अभिनय के लिए जहाँ एक ओर ऐसे मर्मज्ञ तथा कला-कुशल अभिनेताओं की आवश्यकता है, जो पूर्ण तादात्म्य के साथ भावपूर्ण संवादों का उच्चारण कर सकें, तथा उनमें निहित क्रिया-व्यापार के अनुरूप हाव-भाव और चेष्टाएँ व्यक्त कर सकें, वहाँ दूसरी ओर संगीत, दृश्य-सज्जा, रंग-उपकरण, प्रकाश और ध्वनि की व्यवस्था, नृत्य, वाद्य तथा अपेक्षित रंगमंचीय उपकरणों से युक्त ऐसे रंग-शिल्प की भी आवश्यकता है, जिसमें उक्त सभी तत्त्व नाटकीय व्यापार और संवेदना के सूत्र में अन्वित होकर प्रस्तुत होवें। रंग-शिल्प की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए डॉ० सुरेश अवस्थी का कहना है, "नाटक के कला-प्रयोजन में यह बात बड़ी संगत है कि वस्तु-व्यापार की गति के साथ-साथ सामाजिक की भाव-प्रतिक्रियाओं का संकलन भी होता रहे, अन्यथा नाट्य-कथा के चरम क्षणों में वह पात्रों के साथ होकर रस न ग्रहण कर सकेगा। रंग-शिल्प इसी कला-प्रयोजन की सिद्धि में योग देता है।"[2]

रंग, प्रकाश तथा ध्वनि आदि के प्रभाव नाट्य-प्रदर्शनों को प्रभावोत्पादक बनाते हैं। आधुनिक नाट्य-प्रदर्शनों में सभी जगह एक-जैसा प्रकाश नहीं रहता; रंगमंच के पार्श्विक भागों पर रोशनी कम करके अभिनेताओं को अधिक प्रकाश में रखकर उभार दिया जाता है और वे दर्शकों की दृष्टि के केन्द्र-बिन्दु बन जाते हैं। वस्तु-व्यापार की बदलती हुई गति के साथ रंगमंच के वस्तु-व्यापार से सम्बद्ध क्षेत्र और उपकरणों को प्रकाश से इस तरह उद्घाटित किया जाता है, जैसे छोटे-छोटे दृश्य-खण्डों पर से पर्दे उठ रहे हों। छाया-प्रकाश के अनुपातों से अभिनय के प्रभाव को उभार कर दर्शकों में

---

१. T. S. Eliot, *On Poetry Anb Poets*, P. 81

२. डॉ० सुरेश अवस्थी, **रंग-शिल्प : साधन और सिद्धान्त**, सम्पा० नन्ददुलारे वाजपेयी, **आलोचना** (नाटक विशेषांक), जुलाई १९५६, पृ० १४९

अपेक्षित अनुभूति को उभारा जा सकता है। इसी प्रकार ध्वनि-प्रभावों के द्वारा नाटकीय क्रिया-व्यापार को, रंगमंच की सीमाओं से आबद्ध होने के बावजूद भी, जीवनसदृश गम्भीरता और व्यापकता प्रदान की जा सकती है। वर्षा से भीगे व्यक्ति के रंगमंच पर प्रवेश करने पर बादल की गर्जन-ध्वनि से पृष्ठभूमि के दृश्य को भी उभारा जा सकता है। छाया-प्रकाश और ध्वनि के प्रयोग में मात्रा और अवसर की उपयुक्तता का ध्यान अपेक्षित है, अन्यथा विपरीत प्रभाव की शंका रहती है। आज के वैज्ञानिक युग में चित्रपट-कला और रेडियो-कला का भी रंगमंचीय शिल्प-विधान पर गहरा प्रभाव पड़ रहा है।

वास्तव में, नाट्य-काव्य एक साथ ही श्रव्य और दृश्य होने के कारण रेडियो-कला के सर्वथा अनुकूल पड़ता है। रेडियो में ध्वनि-योजना के द्वारा श्रव्य को दृश्य भी बनाया जाता है। बादलों की गड़गड़ाहट, युद्ध की टकराहट, रथ की घड़घड़ाहट, सरिता की कल-कल, झंझावात की भीषण ध्वनि, तोपों का गर्जन आदि को ध्वनियों के माध्यम से बिम्बित किया जाता है। रेडियो-माध्यम की सबसे बड़ी सफलता यह है कि नाटक अथवा नाट्य-काव्य स्वयं सामाजिक के समीप पहुँच जाता है। घर-घर में प्रेक्षागृह हो जाता है। इस माध्यम की दूसरी विशेषता यह है कि यह अनुभूति या विचार की अभिव्यक्ति के सूक्ष्मतम रूप—ध्वनि—का प्रश्रय लेकर चलता है। रेडियो पर ध्वनि का उपयोग जिन तीन रूपों में होता है, वे हैं भाषा और टोन (स्वर), ध्वनि-प्रभाव, तथा संगीत और वाद्य। माध्यम की सूक्ष्मता और नम्यता के कारण रेडियो पर उन गत्यात्मक, विराट् और असीम प्राकृतिक तथा दिव्य दृश्यों का भी आभास कराया जा सकता है, जिन्हें रंगमंच पर नहीं दर्शाया जा सकता। साथ ही रेडियो का माध्यम मूलतः श्रव्य ही है, अतः इसके द्वारा आंगिक (कायिक) और आहार्य अभिनय को नहीं दर्शाया जा सकता; इसके द्वारा केवल वाचिक और सीमित रूप में सात्त्विक (स्वर-भंग नामक सात्त्विक अनुभाव के रूप में) अभिनय सम्भव है। ध्वनि भावाभिव्यक्ति का सबसे बड़ा साधन होने के कारण रेडियो भावाभिव्यक्ति का अत्यन्त सशक्त माध्यम है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, रेडियो के माध्यम से केवल वाचिक और सीमित रूप में सात्त्विक अभिनय ही सम्भव है, तथापि ध्वनि-माध्यम में शब्दों और विविध स्वरों (टोनों) के द्वारा रूप, रंग, रस, गन्ध, क्रिया आदि सभी प्रकार की ऐन्द्रिय अनुभूतियों को बिम्बित करने की शक्ति होती है। 'कली का चटखना' कहने से एक विशेष क्रिया के साथ उससे उत्पन्न ध्वनि का भी बोध होता है। इसी प्रकार ध्वनि के परिमाण (वॉल्यूम) के द्वारा तूफान की तीव्रता और भीषण आकार का भी बोध होता है। मिर्चे के खाने के बाद सी-सी की सीत्कार ध्वनि से तीखे स्वाद का बिम्ब उभरता है। यही कारण है कि रेडियो-रूपकों में प्रयुक्त संवादों में बिम्बात्मक भाषा का बहुलता से प्रयोग किया जाता है। रेडियो माध्यम की तीसरी विशेषता यह है कि इसमें किसी स्थूल रंगमंच की व्यवस्था नहीं है। श्रोताओं की आहिका कल्पना ही रंगमंच का कार्य करती है। इसलिए ध्वनि-माध्यम की उपर्युक्त अनेक सामर्थ्यों और सम्भावनाओं के बावजूद भी इसमें स्थूल क्रिया-कलापों के विस्तारों से ओतप्रोत नाटकों

को भली प्रकार नहीं दर्शाया जा सकता। इसलिए रेडियो-माध्यम उन कृतियों के अनुकूल है, जिनमें जीवन का सतही वैविध्य और विस्तार न होकर जीवन की गहराई अधिक है। रेडियो-माध्यम उन नाटकों और काव्यों के अनुकूल है जिनमें सूक्ष्म प्रतीकात्मक कथानक के माध्यम से जीवन और जगत् के गूढ़ अर्थों की व्यंजना की गई हो। रंगमंच पर अस्वाभाविक प्रतीत होने वाले पौराणिक और प्रतीकात्मक पात्र रेडियो पर स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। रेडियो पर भाव और विचार भी पात्र-रूप में उपस्थित हो सकते हैं। फिर रंगमंचीय नाटकों में अपेक्षित दृश्य-परिवर्तन और देश तथा काल की अन्विति यों के निर्वाह की रेडियो-माध्यम में आवश्यकता नहीं है, इसमें केवल प्रभावान्विति ही वांछित है। रेडियो माध्यम में पट-परिवर्तन की अपेक्षा न होने के कारण, लम्बे अन्तराल वाली प्रतीकात्मक पौराणिक और अर्थगर्भित ऐतिहासिक घटनाओं को भी किसी गहन प्रभाव के अन्तर्गत एकत्र निबद्ध किया जा सकता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रेडियो का माध्यम कवि के दृष्टिकोण की अपेक्षा रखने तथा श्रव्यत्व में दृश्यत्व की संभावनाओं से युक्त होने के कारण नाट्य-काव्यों के आस्वादन के लिए सर्वाधिक अनुकूल है। "·····माइक्रोफोन का माध्यम स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को, घटनाओं की अपेक्षा भाव एवं वातावरण को प्रेषित कर सकने में अपने को अधिक सशक्त पाता है। आँखों को स्थूलता भले ही प्रभावित करे, कानों से गृहीत प्रभावों द्वारा निर्मित कल्पना का आधार सूक्ष्म ही हो सकता है।"[१] इसी तथ्य को ध्यान में रखकर धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर, उदयशंकर भट्ट, सुमित्रानन्दन पन्त, नरेश मेहता, दुष्यन्त कुमार आदि ने रेडियो के लिए नाट्य-काव्यों की रचनाकी है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाट्य-काव्य अपने तात्त्विक रूप में पाठ्य होने के साथ ही अभिनेय भी होते हैं, किन्तु व्यावहारिक रूप में नाट्य-काव्यों की अभिनय-सम्बन्धी सफलता के लिए जहाँ एक ओर यह अपेक्षित है कि उनके मूल लिखित रूप में द्वन्द्वात्मक स्थितियों से पूर्ण संश्लिष्ट कथानक, प्रवाहपूर्ण संक्षिप्त संवाद, सजीव पात्र-सृष्टि और प्रतीकात्मक बिम्बों से युक्त बोलचाल के मुहावरे की ओर झुकी हुई काव्यमयी भाषा आदि तत्त्वों का सामंजस्य हो, वहाँ दूसरी ओर समर्थ, सुशिक्षित, ऐसे कुशल अभिनेता भी अपेक्षित हैं, जो स्वर-भंगिमा तथा संयत, सूक्ष्म भावाभिव्यंजक चेष्टाओं द्वारा नाट्य-काव्य की मूल अनुभूति को सहृदय-संवेद्य रूप में सम्प्रेषित कर सकें।

(ऊ) **उद्देश्य**—कोई भी कृतिकार, जो द्रष्टा होने के साथ स्रष्टा भी होने की सामर्थ्य रखता है, निरुद्देश्य कुछ नहीं लिखता है। कला-कृति में प्रच्छन्न रूप में व्यंजित उद्देश्य उस कृति को भी संयत रूप देकर कलात्मक उत्कर्ष की ओर अग्रसर करता है। उद्देश्य पारदर्शी विवेक-बुद्धि की उपज होता है और कोई भी कला-कृति बुद्धि के अनुशासन के बिना महान् और स्थायी नहीं हो सकती है। यह ठीक है कि बुद्धि मन की अन्य शक्तियों—अनुभूति और कल्पना—पर हावी नहीं होनी चाहिए,

---

१. सिद्धनाथ कुमार, **रेडियो नाटक और हिन्दी में उसका विकास**, सम्पा० नन्ददुलारे वाजपेयी, **आलोचना**, (नाटक विशेषांक), जुलाई १९५६, पृ० ११६

किन्तु बुद्धि की चाशनी के बिना कोरी भावुकता क्षणिक प्रलाप बन जाती है और कोरी कल्पना निराधार असम्बद्ध स्वप्न। बुद्धि कृति में द्विविध स्तरों पर सक्रिय होती है, वह कला के अन्तर्वर्ती सभी तत्त्वों का संयोजन और नियमन करती है तथा साथ ही कृति को विशिष्ट जीवन-दर्शन प्रदान कर सोद्देश्य बनाती है। जिस कृति की रचना-प्रक्रिया में बुद्धि के ये दोनों स्तर भावना और कल्पना के साथ घुलमिलकर एक हो जाते हैं, वही कृति कलात्मक उत्कर्ष प्राप्त करती है। अभिप्राय यह है कि कृति का जीवन-दर्शन कृति के अन्तर्वर्ती कलात्मक गठन से संयुक्त होकर ही विकसित होना चाहिए, उसमें बाहर से आरोपित न हो।

नाट्य-काव्य अपने आन्तरिक गठन के अनुसार नितान्त सतही सामयिक समस्याओं और उनके कामचलाऊ समाधानों को उद्देश्य के रूप में ग्रहण न करके जीवन और जगत् की मूल समस्याओं, चिरन्तन संदेशों और उदात्त आदर्शों को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं, जिनमें प्राचीन और अर्वाचीन मानवीय सन्दर्भों और समस्याओं की सीमारेखाएँ एक दूसरे में घुलमिल जाती हैं। उदाहरणार्थ, 'अन्धायुग' के कवि की दृष्टि ने महाभारत-युग और आधुनिक युग के समन्वित मन्थन से ऐसे सामान्य सत्य का उद्घाटन किया है, जो दोनों युगों का साँझा सत्य ही नहीं, मानव-वृत्ति का भी सहज सत्य है। वस्तुतः कवि ने अन्धता के विघटनकारी प्रभाव को अपना कथ्य बनाया है, किन्तु उसमें अनुस्यूत जीवन-दृष्टि ने उसे 'अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा' बना दिया है। यह ज्योति की कथा ही कवि का मूल सन्देश है, किन्तु कवि ने उसे प्रच्छन्न रूप से 'अन्धों की कथा' के माध्यम से व्यंजित किया है। नाट्य-काव्य का उद्देश्य इसी प्रकार कथित न होकर व्यंजित होना चाहिए।

(१०) **नाट्य-काव्य का विधागत वैशिष्ट्य**—जिस काव्य-रूप में परस्पर विरोधी जितने अधिक तत्त्वों का जितने अधिक संश्लिष्ट रूप में उदात्त स्तर पर कौशलपूर्ण संयोजन होगा, उसमें उतनी ही सशक्त और महान् होने की संभावना निहित होती है। नाट्य-काव्य एक साथ ही पाठ्य भी है, अभिनेय भी, काव्य भी है, नाट्य भी, प्रबन्ध-काव्य होने के नाते वस्तुपरक भी है और एक विशिष्ट कवि की रचना होने के कारण व्यक्तिपरक भी है। वस्तुतः नाट्य-काव्य में नाटकीय तथा काव्यात्मक, वस्तुपरक तथा व्यक्तिपरक, पाठ्य तथा रंगमंचीय सभी तत्त्वों का ऐसा जटिल संघात घटित होता है कि उनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहता है। कवि-मानस की सभी क्षमताओं—कल्पना, भावना और बुद्धि—का जैसा उत्कृष्ट संयोजन नाट्य-काव्य में संभव है, वैसा अन्य विधाओं में नहीं। नाट्य-काव्य की रचना केवल वे महान् कवि ही कर सकते हैं, जो नाटकीय प्रतिभा से भी सम्पन्न हों। जो कवि एक साथ ही अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी होते हैं, अथवा जिनमें अनुभूति और वस्तुपरकता का उच्चस्तरीय सामंजस्य होता है, वे ही उत्कृष्ट नाट्य-काव्यों की रचना कर सकते हैं। नाट्य-काव्य में कवि सर्वत्र व्यक्त भी रहता है और प्रच्छन्न भी। कवि की इस प्रकार की निर्वैयक्तिक प्रच्छन्न अभिव्यक्ति के लिए भारी कलात्मक संयम अपेक्षित है, जो बदले में कलाकृति को विरल उत्कर्ष प्रदान करता है।

अध्याय ३

नाट्य-काव्यों की परम्परा

वस्तुगत यथार्थ और व्यक्तिगत अनुभूति के विभिन्न संघातों से विभिन्न काव्य-रूपों की सृष्टि होती है। अतः कोई भी काव्य-रूप नितान्त नया न होकर आनुपातिक रूप में ही नया होता है और उसकी यह नवीनता वस्तुगत यथार्थ और व्यक्तिगत अनुभूति के नये अनुपात में घटित संघात के स्वरूप पर निर्भर करती है। जितने भी काव्यरूप हैं अथवा हो सकते हैं, उन सभी का मूल स्रोत बहिर्जगत् के प्रति सतत संवेदनशील मानव-मन ही है। यही कारण है कि मानव-मन के सहज उच्छ्वासों से युक्त प्राचीनतम काव्य-संग्रह 'ऋग्वेद' में नाटकीय कविता के नमूने उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल में पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम-प्रसंग को लेकर लिखे गये सूक्त में मार्मिक तथा गत्यात्मक कार्य-व्यापार से युक्त आख्यान भावपूर्ण संवादात्मक शैली में निबद्ध हुआ है, जो उत्कृष्ट नाटकीय कविता का निदर्शन है।[१] इसी मण्डल में यम-यमी का मार्मिक संवाद-सूक्त भी नाटकीय कविता का सुन्दर उदाहरण है।[२]

संस्कृत के महाकाव्यों में, जहाँ गतिशील क्रिया-व्यापार (विभावन व्यापार) संवादात्मक भावपूर्ण शैली के माध्यम से व्यक्त हुआ है, वहाँ उत्तम नाटकीय कविता के दर्शन होते हैं। कालिदास के रघुवंश का दूसरा सर्ग, जिसमें नन्दिनी पर आक्रमण करने वाले मायावी सिंह और राजा दिलीप के मार्मिक संवाद हैं, नाटकीय कविता का उत्कृष्ट नमूना प्रस्तुत करता है। रघुवंश के ही छठे सर्ग का इन्दुमती-स्वयंवर का चित्रण भी नाटकीय कविता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसकी नाटकीय और काव्यात्मक सम्भावनाओं से प्रभावित होकर ही हिन्दी के वर्तमान युग के कवि गिरिजाकुमार माथुर ने इन्दुमती स्वयंवर के विषय में सुन्दर नाटकीय कविता 'इन्दुमती' की रचना की है, जो 'धूप के धान' में संगृहीत है। इसी प्रकार 'कुमारसंभव', नैषधचरित आदि अन्य काव्यों में भी ऐसे स्थल सुलभ हैं, जिनमें नाटकीय क्रिया-व्यापार के अनुकूल संवादात्मक शैली का प्रश्रय लिया गया है। यह सब लिखने का उद्देश्य यह सिद्ध करना कदापि नहीं है कि संस्कृत में भी वैसे ही नाट्य-काव्य लिखे जाते रहे हैं, जैसे आज की नयी-कविता के युग में लिखे गये हैं। सच तो यह है कि संस्कृत के नाटक कवियों द्वारा ही लिखे गये हैं और उनमें श्लोकों के रूप में कविता की प्रचुरता है, किन्तु संस्कृत में एक भी ऐसा नाटक नहीं लिखा गया, जो पूर्णतः श्लोक-बद्ध हो। संस्कृत महाकाव्यों में उपलब्ध

---

१. दे० ऋग्वेद, (१०, ९५)
२. दे० वही, (१०, १०)

नाटकीय प्रसंगों और नाटकों में प्राप्त कविता से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध हो जाती है कि नाटक और कविता का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है।

हिन्दी कविता के भक्ति-काल और रीति-काल में कविता का ही एकाधिपत्य रहा। रामचरितमानस में 'लक्ष्मण-परशुराम-संवाद' तथा 'अंगद-रावण-संवाद' के रूप में नाटकीय कविता के श्रेष्ठ नमूने उपलब्ध हैं। यों सारे काव्य में ही नाटकीयता और कवित्व का ऐसा अद्‌भुत समन्वय है कि प्रतिवर्ष 'रामलीला' के रूप में उनका नाटक खेला जाता है। केशव की 'रामचन्द्रिका' में नाटकीय स्थलों की प्रचुरता है, साथ ही ऐसे स्थलों पर संवाद-शैली का प्रश्रय लिया गया है। यह बात भिन्न है कि रामचन्द्रिका न तो नाटकीय दृष्टि से ही सफल है और न कवित्व की दृष्टि से ही। "सत्रहवीं शती के केशव के 'विज्ञानगीता' कृष्णजीवन के 'करुणाभरण', हृदयराम के 'हनुमान नाटक', यशवन्तसिंह के 'प्रबन्धचन्द्रोदय, अठारहवीं शती के नेवाज कवि के 'शकुन्तला', देव के 'देव माया प्रपंच', आलम के 'माधवानलकामकन्दला' और उन्नीसवीं शती के महाराज विश्वनाथसिंह के 'आनन्द-रघुनन्दन', मंजु के 'हनुमान नाटक', मनसाराम के 'रघुनाथ रूपक', कृष्ण शर्मा साधु के 'रामलीला बिहार नाटक', हरिराम के 'जानकी रामचरित नाटक', ब्रजवासीदास के 'प्रबन्ध चन्द्रोदय नाटक' जैसे नाटकों की परम्परा मिलती है।"[1] वस्तुतः ये कृतियाँ नाटकीय शैली में लिखित काव्य-ग्रंथ ही हैं तथापि इनमें न तो नाटक का ही उत्कर्ष मिलता है न कवित्व का ही। डॉ० दशरथ ओझा के शब्दों में, "पर ये वास्तव में नाम मात्र के ही नाटक हैं। ये या तो अधिकांश अनुवादित हैं या रामायण और महाभारत की कथाओं पर आधारित पद्यात्मक कृतियाँ हैं।"[2]

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि भले ही प्राचीन काल में आधुनिक अर्थों में नाट्य-काव्यों की रचना न हुई हो, किन्तु नाटकीयता और कवित्व के सामंजस्य के अनेक उदाहरण प्राचीन काव्यों में उपलब्ध रहे हैं। आधुनिक युग में जिन नाट्य-काव्यों की रचना हुई है, उनका रूपगत वैशिष्ट्य आधुनिक युग की संवेदना की जटिलता तथा अभिनय-सम्बन्धी शिल्प और सुविधाओं के विकास पर निर्भर है। यीट्स तथा इलियट आदि पाश्चात्य नाट्य-कवियों ने भी हिन्दी के आधुनिक नाट्य-काव्यों के स्वरूप को प्रभावित किया है, किन्तु रूप और संवदेना की दृष्टि से उन्हें पाश्चात्य नाटकों का अनुकरण-मात्र मानना भ्रान्ति होगी। वास्तव में, हिन्दी के नये नाट्य-काव्यों के मूल में यहाँ की भावपूर्ण, संगीतमयी कवित्व-प्रधान नाटक-परम्परा भी अनुस्यूत रही है। पिछले दो दशकों के नाट्य-काव्यों की शिल्प-विधि पर रेडियो रूपकों के शिल्प का भी प्रभाव है, जिससे उनमें दृश्य-व्यापार को श्रव्य माध्यम से प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति की प्रचुरता है।

---

१. डॉ० दशरथ ओझा, **नाटक**, प्र० सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी साहित्य कोश**, पृ० ३८१-३८२

२. **वही**, पृ० ३८२

आधुनिक ढंग के नाट्य-काव्यों का विकास जयशंकर प्रसाद के 'करुणालय' से प्रारम्भ हुआ। जैसा कि इसकी भूमिका (सूचना) के अन्त में किये गये उल्लेख से प्रतीत होता है, इसका प्रकाशन 'इन्दु' कला ४ खण्ड १ किरण २ में, माघ मास में, संवत् १९६९ में हुआ था। प्रसाद ने इसके मुख-पृष्ठ पर इस काव्य को 'गीति-नाट्य' नाम दिया है और सूचना के अन्तर्गत इसके रूप की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "यह दृश्य-काव्य 'गीति-नाट्य' के ढंग पर लिखा गया है।"[1] इसके छंद के विषय में उन्होंने लिखा है, "तुकान्त-विहीन मात्रिक छंद में वाक्यानुसार विराम-चिह्न दिया गया है।"[2] सारा काव्य छोटे-छोटे पाँच दृश्यों में विभक्त है और हर दृश्य में इक्कीस मात्राओं के एक ही छंद का निर्वाह किया गया है, केवल पाँचवें दृश्य के अन्त में छंद-परिवर्तन के नाम पर केवल एक 'पद' रख दिया गया है। स्पष्ट है कि इस नाटकीय काव्य में कहीं भी 'गीति' जैसी कोई रचना नहीं है। यद्यपि कवि ने बीच-बीच में रंग-संकेत देकर इसको अधिकाधिक अभिनेय बनाने की चेष्टा की है, तथापि इसमें कवित्व की ही प्रधानता है। कवि ने स्वयं इसे 'कविता' और 'काव्य' नाम से अभिहित करते हुए कहा है, "यद्यपि हिन्दी में इस ढंग की कविता का प्रचार नहीं है, तथापि अन्य भाषाओं में (जैसे संस्कृत में कुलक, अंग्रेजी में ब्लैंक-वर्स, बंगला में अमिताक्षर छन्द आदि) इसका उपयुक्त प्रचार है। हिन्दी में भी इस कविता का प्रचार कैसा लाभदायक होगा, इसी विचार के लिए आज यह 'काव्य' पाठकों के सामने उपस्थित किया गया है।"[3] प्रश्न यह है कि जब यह कृति न तो गीति शैली में लिखी गयी है और न ही इसमें नाटकीयता कवित्व की अपेक्षा प्रधान है, और साथ ही जब कवि ने इसे 'कविता' या 'काव्य' के रूप में ही पाठकों के सम्मुख रखना चाहा है, तो फिर इसको दिया गया 'गीति-नाट्य' नाम कहाँ तक युक्तियुक्त है? हमारा विचार है (जैसा कि स्वयं कवि का विचार भी है) कि यह मूलतः काव्य ही है। नाटकीय शैली में लिखे जाने के कारण इसे 'नाट्य-काव्य' कहना और भी अधिक समीचीन और सार्थक है।

'करुणालय' की कथावस्तु ऐतरेय ब्राह्मण में प्राप्त शुनः शेप के आख्यान पर आधारित है। प्रसाद ने मूल कथा को किंचित् परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है। बलिकर्म के लिए यज्ञ-यूप से बँधे हुए असहाय शुनः शेफ (शुनः शेप) के, करुणा-याचना के रूप में, परमात्मा के प्रति जो मर्मोद्गार प्रकट हुए हैं, वे कवित्व की दृष्टि से पर्याप्त प्रभावोत्पादक हैं।[4] कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में से होने के कारण, इसमें भाषागत त्रुटियाँ और फालतू शब्दावली काफी है। अवकाश होने पर भी कवि संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व की परिस्थितियों को पूर्ण नाटकीय ढंग से नहीं उभार सका है, साथ ही हरिश्चन्द्र, वसिष्ठ, अजीगर्त और विश्वामित्र के चरित्रों में विद्यमान आन्तरिक विसंगति

---

१. जयशंकर प्रसाद, **करुणालय,** पृ० ८
२. **वही,** पृ० ८
३. **वही,** पृ० ८
४. **वही,** पृ० ३१-३२

को भी तीव्र रूप में नहीं दर्शाया जा सका है। इस प्रकार यद्यपि करुणालय में नाटकीयता और कवित्व का बहुत प्रौढ़ रूप नहीं प्राप्त होता, तथापि एक नवीन प्रयोग के रूप में इसे पर्याप्त सफल कहा जा सकता है।

मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'अनघ' एक आदर्शात्मक नाट्य-काव्य है। इसमें गाँधीवादी आदर्शों के प्रति आग्रह के कारण यथार्थ जीवन के आन्तरिक संघर्षों का अभाव है। 'मघ', जो इस नाट्य-काव्य का नायक है, आदर्शों की प्रतिमा बनकर रह गया है। इसमें नाटकीयता और कवित्व का मधुर सामंजस्य घटित नहीं हो सका है। गुप्त जी के 'पृथिवीपुत्र' में 'दिवोदास', 'जयिनी' और 'पृथिवीपुत्र' नामक तीन नाट्य-काव्य संगृहीत हैं। उन्होंने इन्हें 'संवाद' कहा है—"प्रस्तुत पुस्तक में तीन संवादों का संग्रह है, जो क्रम से पौराणिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक हैं।"[1] 'दिवोदास' का नायक रिपुंजय अपने पौरुष से दिव (देवलोक) को भी अपना दास बनाकर दिवोदास बन जाता है और ब्रह्म के आदेश से वासुकि-नाग-राजपुत्री को वरण करता है। वह अपने श्रम तथा साहस से अकाल-पीड़ित काशीराज्य का भरण-पोषण करता है। इसमें देवाश्रय के स्थान पर पौरुष की प्रतिष्ठा की गयी है। 'जयिनी' में मार्क्स' और उसकी पत्नी 'जेनी' के पारस्परिक संवादों के माध्यम से वर्ग-वैषम्य की शोचनीय स्थिति पर विचार किया गया है। अन्त में मार्क्स और जेनी दोनों सामाजिक समता लाने का संकल्प करते हैं। यह संकल्प-साम्य दोनों के दाम्पत्य जीवन में मधुरता का संचार करता है। 'पृथिवीपुत्र' में माता भूमि और पृथिवीपुत्र के संवादों के माध्यम से मानव-सभ्यता के विकास में निहित विनाश और युद्ध की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है तथा अन्त में माताभूमि पृथिवीपुत्र को सेवा, प्रेम आदि सत्प्रवृत्तियों के विकास द्वारा विश्व-मानव बनने का उपदेश देती है। तीनों रचनाओं में आदर्श की महानता है, किन्तु कार्य-व्यापार और संघर्ष का अभाव होने के कारण नाटकीयता और कवित्व का स्तर ऊँचा नहीं हो पाया है।

सियारामशरण गुप्त द्वारा रचित 'उन्मुक्त' की कथा उत्पाद्य और प्रतीकात्मक है। लौहद्वीप के निवासी ताम्रद्वीप, रौप्यद्वीप और हेमद्वीप को पराजित कर अन्त में कुसुम-द्वीप पर आक्रमण करते हैं, कुसुमद्वीप की रानी कुसुमावती की सेनाएँ वीरतापूर्वक शत्रु-सेना का सामना करती हैं। किन्तु कुसुमद्वीप के एक यान्त्रिक (जयन्त) के द्वारा तैयार किया गया महा-विध्वंसक भस्मक अस्त्र छल से शत्रु-सेना के हाथ पड़ जाता है और दुर्भाग्यवश वही कुसुमद्वीप की पराजय का कारण बनता है। पराजित कुसुमद्वीप-वासी अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिंसानल से हिंसानल शान्त नहीं हो सकता है, हिंसा का अहिंसा ही एकमात्र प्रत्युत्तर है।[2] यद्यपि यह कृति संवाद-शैली में लिखित एक प्रवाहपूर्ण सुन्दर काव्य है और इसमें बीच-बीच में संक्षिप्त मार्मिक संवादों से युक्त अभिनेय स्थल भी पर्याप्त हैं, तथापि अधिकांश भाग में लम्बे-लम्बे संवादों की योजना ने इसकी नाटकीयता को आघात पहुँचाया है।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, **पृथिवीपुत्र** (भूमिका), पृ० ५
२. दे०, सियारामशरण गुप्त, **उन्मुक्त**, पृ० १५७

भगवतीचरण वर्मा द्वारा रचित 'तारा' नाट्य-काव्य में चित्रलेखा नामक उपन्यास की पुण्य-पाप की समस्या को नये ढंग से उठाया गया है। इस नाट्य-काव्य पर फ्रायड की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। उद्दाम वासना से पीड़ित तारा के मन में स्वच्छन्द काम-वृत्ति और अपने पति वृहस्पति के प्रति पातिव्रत्य की भावना के मध्य द्वन्द्व चलता है। वृहस्पति के धार्मिक उपदेशों का उसकी अतृप्त वासना के वेग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। उधर वृहस्पति के शिष्य चन्द्रमा के मन में भी यही द्वन्द्वात्मक स्थिति उभरने लगती है। एक दिन पाप-पुण्य की व्याख्या करते हुए वृहस्पति के मुख से सहसा निकल पड़ता है, "प्रकृति स्वयं है, पाप-पुण्य कुछ भी नहीं।" चन्द्रमा के मन में यह वाक्य बार-बार गूँजने लगता है। इसी समय वासना-विकल तारा प्रवेश करती है, चन्द्रमा के रूप-सौन्दर्य से उसकी वासना और भी उद्दीप्त हो उठती है। तारा के सौन्दर्य से आहत चन्द्रमा भी प्रेम-विह्वल हो जाता है। अन्त में चन्द्रमा और तारा के मन में इदम् (इड) और नैतिक चेतना (सुपरइगो) के मध्य भीषण द्वन्द्व चलता दिखलाया गया है। तारा चन्द्रमा के प्रणय-प्रस्ताव को स्वीकार करती हुई आत्म-समर्पण कर देती है। अन्तर्द्वन्द्व की तीव्रता के कारण प्रस्तुत नाट्य-काव्य में नाटकीयता और कवित्व का सुन्दर सामंजस्य घटित हुआ है। यद्यपि पाप-पुण्य की समस्या का जो समाधान कवि ने प्रस्तुत किया है, उससे सहमत नहीं हुआ जा सकता, तथापि अन्तर्द्वन्द्व की मनोवैज्ञानिक स्थितियों के सूक्ष्म एवं सजीव चित्रण की दृष्टि से यह नाट्य-काव्य सफल है।

नाट्य-काव्यों के क्षेत्र में उदयशंकर भट्ट का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। 'विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य' में तीन नाटकीय कविताएँ हैं। 'विश्वामित्र' नामक नाट्य-काव्य में तीन पात्र हैं—विश्वामित्र, मानव के दम्भ का प्रतीक है, उर्वशी, मानव के प्रति स्त्री की विवश उपेक्षा की प्रतीक है और मेनका सौन्दर्य और मातृत्व की प्रतीक है। मेनका उर्वशी की प्रेरणा से अहंकारी तपस्वी विश्वामित्र के दम्भ की चट्टान को अपने रूपातप से विगलित करने में सफल हो जाती है। उसके नारीत्व की परिणति मातृत्व में होती है। उर्वशी के संकेत पर विश्वामित्र का दम्भ भंग करने के उद्देश्य से उसे छोड़कर इन्द्रलोक चली जाती है। बाद में विश्वामित्र का दम्भ पुनः जागरित होता है और वह भी नवजात बालिका (शकुन्तला) को उसके भाग्य के सहारे छोड़कर तपस्या करने चला जाता है। यह नाट्य-काव्य कथानक के गठन, चरित्र-चित्रण की गहनता, भावपूर्ण संवाद-योजना तथा मनोभावों के नाटकीय उतार-चढ़ाव के चित्रण की दृष्टि से पूर्णतः सफल है। कवि ने सूक्ष्म मानसिक व्यापारों के गत्यात्मक बिम्ब अंकित करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है।[1] चालीस पृष्ठों के इस नाट्य-काव्य में तीन

१. (क) आओ मेरा भ्रू-विलास मुसका रहा, नारी का मृदु गर्व सरित की लहर-सा।
उदयशंकर भट्ट, **विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य**, पृ० १२
(ख) मैं उसकी उल्लास बल्लरी का कुसुम। **वही**, पृ० १२
(ग) 'होगे, विश्वामित्र, मुझे क्या, सो रहो,
चक्षु गोलकों में समाधि का सिन्धु भर। **वही**, पृ० १८
(घ) तप की केंचुल त्याग हृदय है उफनता। **वही**, पृ० २१

भावपूर्ण गीतों को भी स्थान दिया गया है। इस संग्रह के दूसरे 'नाट्य-काव्य' 'मत्स्य-गन्धा' में चार पात्र हैं। केवट-कन्या मत्स्यगन्धा यौवन की प्रतीक है, अनंग यौवन का सहचर है, सुभ्रू संसार है और पराशर यौवनगत दुर्बलता का प्रतीक है। मत्स्यगन्धा में यौवन का उभार आने पर सुभ्रू उसे उसके उद्दाम यौवन का बोध कराती है, तभी उसे यह हीन-भावना आक्रान्त कर लेती है कि, "मैं तो नाविका हूँ, केवट की बेटी।"[1] यौवन का वरदान देने को उत्सुक छायामय अनंग और मत्स्यगन्धा के वार्तालाप में मत्स्यगन्धा के अन्तर्द्वन्द्व की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। इसी समय पराशर के प्रति आकृष्ट होकर वह उसे नौका-विहार कराती है। पराशर के रति-प्रस्ताव से उसका मन पाप-पुण्य के प्रश्नों में उलझ जाता है। पराशर पाप-पुण्य सम्बन्धी चिन्तन का मिथ्यात्व सिद्ध करते हुए मत्स्यगन्धा की दमित वासना को उभारता है। अन्त में मत्स्यगन्धा पराशर के रति-प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती है। पराशर उसे चिर यौवन का वरदान देता है। मत्स्यगन्धा को क्षणिक तृप्ति मिलती है, किन्तु आत्म-निरीक्षण करने पर उसका मन दो विरोधी भावों से आन्दोलित हो उठता है। महाराज शान्तनु के निधन से उसके यौवन का वेग खण्डित हो जाता है। शान्तनु का निधन वासना-पूर्ति के समुचित साधनों की समाप्ति का प्रतीक है। मत्स्यगन्धा को चिरयौवन का वरदान अभिशाप बन जाता है। यह नाट्य-काव्य नाटकीय क्रिया-व्यापार, मनोवेगों और अन्तर्द्वन्द्व के सूक्ष्म चित्रण, प्रवाहपूर्ण संगीतमयी बिम्बात्मक भाषा और कवित्व की दृष्टि से विशेष सफल है। तीसरे नाट्य-काव्य 'राधा' में चार पात्र हैं। कृष्ण अनिर्वचनीय रस-स्रष्टा हैं, राधा सात्त्विक रूप और प्रेम की प्रतीक है, नारद भक्ति के अहं के प्रतीक हैं और विशाखा राधा की प्रिय सखी है। पूर्वार्द्ध में नाटकीय क्रिया-व्यापार का अभाव है, किन्तु कृष्ण के मथुरा-गमन और राधा के प्रेम की परीक्षा लेने आये हुए नारद के द्वारा स्वयं ही राधा के समक्ष अपनी तुच्छता स्वीकार करने के प्रसंगों से उत्तरार्द्ध में क्रिया-व्यापार में गतिशीलता आ गयी है। यद्यपि राधा के चरित्र में वासना के उद्रेक के अभाव के कारण तथा कृष्ण के धर्म-संस्थापक योगेश्वर होने के कारण अनुभूति की तीव्रता और स्वाभाविकता को ठेस पहुँची है, तथापि राधा के वचनों में कुछ स्थानों पर अनुभूति की तीव्रता और स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं। राधा की विरह-व्यथा अजस्र वेग के साथ प्रवाहित हो उठी है।[2] बीच-बीच में कुछ मधुर गीतियों की योजना वातावरण-सृष्टि में बड़ी सहायक सिद्ध हुई है। कुछ स्थलों पर

---

१. **वही**, पृ० ४६

२. "वे गए, ऐसे गए मानो कि साँसें ही गई हों,
प्राण भी, हृत्कम्प भी, आशा मनोरथ साथ ही सब।
एक ठठरी रह गई हूँ, भावहीन, निरर्थ-भाषा,
लता स्रस्त कली ढली, मद-लुठित भू, सौन्दर्य-विगलित,
सर्प सी मणिहीन गतमद·····।" **वही**, पृ० ११६

उपदेशात्मकता और दार्शनिकता के कारण नीरसता भी आ गयी है, किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

'एकला चलो रे' भट्ट जी का एक अन्य नाट्य-काव्य है, जिसे उन्होंने 'पद्य-नाटक' कहा है।[1] इसमें कवि ने गाँधी जी की नोआखाली-यात्रा के वर्णन के माध्यम से उनके लोक-संग्रही चरित्र की उदात्तता का दर्शन कराया है। इस कथ्य को विविध स्वरों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। इससे स्पष्ट है कि इस नाट्य-काव्य में एक ही पात्र है और शेष सब 'स्वर' हैं। गाँधी को भी पात्र-रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है, वे वर्ण्य-विषय मात्र बनकर रह गये हैं। सजीव पात्रों की योजना के अभाव में सभी स्वर निस्पन्द से प्रतीत होते हैं और नाटकीय क्रिया-व्यापार भी यान्त्रिक और निर्जीव है।

'कालिदास' नामक संग्रह में तीन रचनाएँ हैं, जिन्हें उन्होंने 'ध्वनि-रूपक' कहा है। पहली रचना 'कालिदास' गद्य-पद्य में लिखित है, अतः वह नाट्य-काव्य के अन्तर्गत नहीं आती। शेष दो रचनाएँ 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशी' हैं। कवि ने 'मेघदूत' में कालिदास की मूल रचना को नाट्य-काव्य का रूप देने के लिए वर्णनात्मक प्रसंगों को छोड़ दिया है और कतिपय ऐसे नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है, जो मूल काव्य की रचना के समय कालिदास के मनश्चक्षुओं के समक्ष रहे होंगे। उन्होंने स्वयं कहा है, "काव्य में नाटकत्व लाने के लिए यह आवश्यक था कि उन विशेष प्रसंगों को नाटकत्व से युक्त किया जाए। ऐसा ही मैंने किया है।"[2] 'विक्रमोर्वशी' नाट्य-काव्य में कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का नाटकीय शैली में काव्यात्मक रूपान्तर प्रस्तुत किया गया है। बयालीस पृष्ठों के नाट्य-काव्य में लगभग दो पृष्ठों में गद्य का भी समावेश किया गया है। पुरूरवा के विरहोद्गारों में वेदना की मर्मभेदी अभिव्यक्ति मिलती है।[3] नाटकीयता तथा कवित्व के सामंजस्य की दृष्टि से 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशी' दोनों ही पर्याप्त सफल बन पड़े हैं। बिम्बात्मक भाषा तथा काव्यात्मक अनुभूति की प्रचुरता की दृष्टि से रेडियो पर इनका प्रसारण बहुत सफलता से किया जा सकता है।

'अशोक-बन-बन्दिनी' और तीन गीति-नाटक में चार नाट्य-काव्य संगृहीत हैं। 'अशोक-बन-बन्दिनी' में दम्भी तथा कामातुर रावण, मन्दोदरी तथा त्रिजटा आदि पात्रों के क्रिया-व्यापारों तथा वचनों के सन्दर्भ में सीता की उन विविध मनःस्थितियों का उद्घाटन हुआ है, जो नारीत्व के उदात्त रूप की परिचायक हैं। नाटकीय व्यापार की क्षति-पूर्ति वार्तालापों की विदग्धता और भाव-मंगिमा से हो गयी है। मन्दोदरी का अन्तर्द्वन्द्व भी सहज रूप में उभरा है।[4] 'सन्त तुलसीदास' नामक नाट्य-काव्य में

---

१. दे०, उदयशंकर भट्ट, **एकला चलो रे** (प्रारूप) पृ० ५

२. उदयशंकर भट्ट, **कालिदास** (प्रारम्भिक),

३. दे०, **वही**, पृ० ११२-११३

४. बाँध चली आई क्यों गठरी रूप की,
आग लगा दी तूने मेरे महल में।" उदयशंकर भट्ट, **अशोक-वन-बन्दिनी और तीन गीति-नाटक**, पृ० ३८

काम-पीड़ित तुलसी और उनकी पत्नी रत्ना के संवादों में वासना और विवेक-बुद्धि की टकराहट है। अतृप्त वासना से पीड़ित तुलसी का चित्रण यथार्थ बन पड़ा है। रत्ना की भर्त्सना से तुलसी का हृदय-परिवर्तन हो जाता है—'अन्तर्मन्थन हुआ निरन्तर, सब कुछ बदल रहा था भीतर।'[१] प्रस्तुत नाट्य-काव्य का अन्त नीरस और गद्यात्मक है। 'गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण' में गुरु द्रोण के चेतन और अवचेतन मन का गहन संघर्ष अंकित हुआ है। सामाजिक संकीर्णताओं से आकीर्ण उनका चेतन मन उनके हर कुकृत्य का औचित्य सिद्ध करता है, किन्तु उनके सामने छाया-रूप में अवस्थित उनका मुक्त अवचेतन मन एक-एक करके उन सब पापों का अनावरण करता चलता है। द्रोण अनुताप की आग में जलने लगते हैं। जीवन की व्यर्थता की गहरी अनुभूति के कारण उन्हें अपने जीवन का अन्त निकट दिखलाई पड़ने लगता है। इस स्थल की भाषा अपने अन्दर उबलती हुई अनुभूतियों में लिपटे हुए बिम्बों को सिमेटे हुए होने के कारण अत्यन्त सशक्त है।[२] इस नाट्य-काव्य में स्थूल कथानक नाममात्र का ही है, किन्तु द्रोण के अन्तर्मन्थन की स्थितियाँ नाटकीयता तथा कवित्व की सम्पोषिका बनकर उपस्थित हुई हैं। अन्तिम नाट्य-काव्य 'अश्वत्थामा' में प्रतिहिंसा के प्रतीक 'अश्वत्थामा' की दहकती हुई अनुभूतियों का सशक्त भाषा में सफल प्रकाशन हुआ है। प्रतिहिंसाजन्य क्रूरता से उन्मत्त अश्वत्थामा रात्रि के गहरे सन्नाटे में पाण्डव-शिविर में प्रवेश करके सोये हुए पांचाली पुत्रों, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी आदि की निर्मम हत्या करता है, किन्तु दुर्योधन पाण्डवों के बचे रहने के कारण उसकी इस नृशंसता से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता है और असन्तोष से कराहता हुआ ही दम तोड़ देता है। अश्वत्थामा और अर्जुन के प्रलयंकारी युद्ध का वर्णन भी सशक्त बन पड़ा है। मानव के प्रतिहिंसाजन्य पतन का वीभत्स रूप है अश्वत्थामा, जिसकी विभिन्न मनःस्थितियों की अनेकानेक परतों को इस नाट्य-काव्य में अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से उद्घाटित किया गया है। "अशोक-वन-वन्दिनी और तीन गीति-नाटक" के सभी नाट्य-काव्य अभिनेय हैं। लेखक का इस विषय में कहना है कि, "ये नाटक निश्चित रूप से खेले जा सकते हैं। अभिनय की क्षमता होनी चाहिए।"[३]

'नहुष निपात' नामक नाट्य-काव्य में नहुष कामान्धता का प्रतीक है, जिसको आज के जीवन में मनोविज्ञान का शास्त्रीय आधार मिल गया है।"[४] यज्ञ, तप आदि के द्वारा नहुष स्वर्ग में इन्द्र-पद का अधिकारी तो बन जाता है, किन्तु वह वहाँ के उन्मुक्त वातावरण में अनिन्द्य सुन्दरी शची को देखकर अपना सन्तुलन खो बैठता है। अवचेतन की परतों में दबी हुई उसकी काम-कुण्ठाएँ तप आदि का ऊपरी बन्धन हटते ही सतह पर उभर आती हैं और अपेक्षित उदात्तीकरण के अभाव में नहुष को पतन की ओर ले

---

१. **वही**, पृ० ६२
२. दे०, **वही**, पृ० १०४
३. **वही**, (किंचित् वक्तव्यम्), पृ० ग
४. उदयशंकर भट्ट, **नहुष-निपात** (भूमिका),

जाती हैं। नहुष के आचार-विचार की विसंगतियों का प्रस्तुत नाट्य-काव्य में मनोवैज्ञानिक आधार पर सुन्दर चित्रण है। नाटकीय परिस्थितियों की उद्भावना के लिए भी कवि ने पौराणिक कथानक की सम्भावनाओं का पूरा उपयोग किया है। शची का सौन्दर्य-निरूपण कवित्व की दृष्टि से उत्कृष्ट है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाट्य-काव्यों की रचना में भट्ट जी को अत्यधिक सफलता मिली है। भट्ट जी ने अपनी उपर्युक्त रचनाओं को 'भाव नाट्य', 'गीति-नाटक', 'नाटक', ध्वनि-रूपक', 'पद्य-नाटक' आदि अनेक नामों से अभिहित किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्हें इनमें से कोई भी नाम इन रचनाओं के विधागत वैशिष्ट्य को पूर्ण रूप से प्रकट करने के उपयुक्त नहीं जँचा होगा, तभी वे एक ही विधा में लिखी गयी, विभिन्न कृतियों को विभिन्न नामों से पुकारते रहे, किन्तु स्थिर किसी पर न हो सके। फिर भी एक ही विधा के लिए किये गये इतने नामों के प्रयोग में उपयुक्त नाम की खोज की दिशा में प्रयत्नशीलता अवश्य लक्षित होती है। 'नाट्य-काव्य' नाम इन कृतियों के नाटकीय एवं काव्यात्मक स्वरूप को पूर्णतः चरितार्थ करता है। भट्ट जी मूलतः कवि ही हैं, उनका नाटककार उनके कवि का ही अभिन्न अंग है। भट्ट जी ने केवल नाटक की रचना ही नहीं की है, वरन् उन्होंने अभिनेता के रूप में विभिन्न नाटकों में भाग भी लिया है।[2] इसलिए उनके नाट्य वाच्य मात्र ही नहीं, अभिनेय भी बन पड़े हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने नाट्य-काव्यों की रचना रेडियो के लिए की है। उनके नाट्य-काव्यों के तीन संग्रह—'शिल्पी', 'रजत-शिखर' और 'सौवर्ण' प्रकाशित हो चुके हैं। 'शिल्पी' का प्रथम नाट्य-काव्य शिल्पी ही है। इसमें शिल्पी के अन्तःसंघर्ष का चित्रण ही कवि का लक्ष्य रहा है। शिल्पी के मन में यह संघर्ष निरन्तर चलता रहता है कि बदलते हुए युग-जीवन के सत्य को कैसे अपनी कला-कृति में मूर्त करे। किन्तु इस अन्तः-संघर्ष की अभिव्यक्ति के लिए कथावस्तु का जो ढाँचा खड़ा किया है, वह मूल कथ्य से पूर्णतः सम्पृक्त न हो पाने के कारण अवान्तर सा प्रतीत होता है। कथानक में न कोई गठन है न क्रमिक विकास। पात्र सामान्यीकृत आदर्शों की प्रतिमाओं जैसे प्रतीत होते हैं, जो एक-जैसे स्वर में एक-जैसे आदर्श स्तर की बातें करते हैं। 'शिल्पी' का दूसरा नाट्य-काव्य 'ध्वन्सशेष' है। इसमें कवि का उद्देश्य वैज्ञानिक युग की भीषण यंत्र-शक्ति से उत्पन्न विभीषिका को चित्रित करना है। सैद्धान्तिक विवेचनों की भरमार से सारा नाट्य-काव्य नीरस हो गया है। इसके प्रमुख पात्र हैं वृद्ध, युवती, पुरुष, प्रकृति, नागरिक, सैनिक और द्रष्टा। ये सभी व्यक्ति कम, जातिगत प्रतिनिधि अधिक हैं। तीसरे और चौथे दृश्यों में नागरिकों के स्थान पर 'एक स्वर', 'दूसरा स्वर', 'तीसरा स्वर' तथा 'कुछ स्वर' का प्रयोग किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि कवि सामान्यीकृत पात्रों के स्वरों के रूप में अपने ही स्वर को व्यक्त करने में प्रवृत्त है, उसे पात्रों के निजी

---

१. वही, पृ० २०-२२

२. डॉ० विनयमोहन शर्मा के साथ किये गये वार्तालाप के आधार पर

व्यक्तित्व की कोई चिन्ता नहीं। शिल्पी का तीसरा नाट्य-काव्य 'अप्सरा' है, जिसे पन्त जी ने "सौन्दर्य चेतना का रूपक" कहा है। किन्तु इसमें जिस सौन्दर्य चेतना का निरूपण हुआ है, वह जीवन की वास्तविकता से असम्पृक्त होने के कारण अरूप और छायामयी है।[1] कवि भी अपने सहज संवदेनशील रूप से कट कर स्वप्निल सौन्दर्य के लोक में भटक गया है।[2] कवि की सबसे बड़ी दुर्बलता यही है कि वह अनुभूतियों को मानव-जीवन के यथार्थ सन्दर्भों से जोड़ पाने में अक्षम रहा है। यही कारण है कि इस नाट्य-काव्य में सजीव कथानक, सजीव पात्र और सजीव अनुभूति का अभाव है तथा काल्पनिक अनुभूतियों और विचारों में लिपटे कृत्रिम पात्रों और प्रसंगों का प्राबल्य है।

'रजत शिखर' नामक संग्रह में 'रजत शिखर' 'फूलों का देश', 'उत्तर शती', 'शुभ्र पुरुष', 'विद्युत्त्वसना', 'शरत् चेतना' नामक छह नाट्य-काव्य हैं। पन्तजी ने शिल्पी के नाट्य-काव्यों की भाँति इनका भी 'काव्य-रूपक' नाम दिया है। 'रजत-शिखर' में सामान्यीकृत अथवा जातिसूचक पात्र हैं, जैसे युवक साधक, युवती, मनो-विश्लेषक, राजनीतिज्ञ, विस्थापित आदि। कवि का चिन्तन अयथार्थ और कोरा सैद्धान्तिक है। कवि के अनुसार रजत शिखर मनुष्य की अन्तश्चेतना का शुभ्र प्रतीक है[3] तथा इसमें "मानव-मन के विकास की वर्तमान स्थिति में ऊर्ध्व के अवरोहण तथा समतल के आरोहण पर बल देकर समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।"[4] इसकी भाषा धुँधले और अति-काल्पनिक बिम्बों से लदी है, जो निरर्थकता और अरूपता की सीमा तक पहुँच गये हैं। असम्बद्ध विशेषणों की भरमार के कारण भाषा दुरूह हो गयी है। उदाहरणार्थ "सोच रहा मैं कैसे प्राप्त करूँ महिमोज्ज्वल मानस की उस निभृत रुपहली ऊँचाई को" में महिमोज्ज्वल मानस की इस प्रकार की निभृत रुपहली ऊँचाई की धारणा अनुभव-लोक से परे की बात है। 'फूलों के देश' में कवि और वैज्ञानिक के माध्यम से अध्यात्मवाद और भौतिकतावाद के आधुनिक संघर्ष को व्यक्त करके अन्त में दोनों के समन्वय द्वारा विश्व-जीवन में बहिरन्तर सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा की गयी है। 'उत्तरशती' में बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध के युद्ध की विभीषिका के साथ ही उत्तरार्द्ध के आशामय और मांगलिक रूप का चित्रण हुआ है। कथानक नाम मात्र है और उसके माध्यम हैं पुरुषस्वर, स्त्रीस्वर, सन् १९५१, और जनगण। 'शुभ्र

---

१. (क) जैसे कोई शोभा-छाया मेरे मन से—
सुमित्रानन्दन पन्त, **शिल्पी**, पृ० ९४
(ख) किरणों का घूँघट दे, स्वर्णिम छायापट से
आँख मिचौनी खेला करती है वह मुझ से। **वही**, पृ० ९४
(ग) तुम छाया सी छिप बिलमाती। **वही**, पृ० ९७

२. दन्तकथा के राजकुँवर-सा मोहित हो मैं
भटक गया हूँ किसी शप्त अप्सरा-लोक में। **वही**, पृ० ९५

३. सुमित्रानन्दन पन्त, **रजत शिखर**, पृ० ३

४. **वही**, पृ० ३

पुरुष' में गांधी जी के राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रति युग-जीवन की विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की गयी है। स्त्री और पुरुष के स्वरों में कवि-स्तोता का ही स्वर सर्वत्र सुनायी पड़ता है। गांधी को देवता या अति-मानव के रूप में अंकित करने की प्रवृत्ति की प्रमुखता के कारण उनका मानवीय रूप तिरोहित होकर एक अरूप पारलौकिक सत्ता में परिणत हो गया है। 'विद्युत्वसना' स्वाधीनता की चेतना का रूपक है, जो स्वाधीनता-दिवस के अवसर पर लिखा गया था। स्वाधीनता ध्येय नहीं है, साधन मात्र है, ध्येय है आत्मनिर्भरता तथा लोक-एकता। यही इसका उद्देश्य है। 'शरत्-चेतना' प्रकृति-सौन्दर्य का काल्पनिक रूपक है। इसमें धरती की ऋतुएँ आकाश-वासिनी शरद् ऋतु का अभिवादन करती हैं। शरद् ऋतु को उसके प्राकृतिक सन्दर्भ से काटकर अति-प्राकृतिक रूप प्रदान किया गया है, जो विश्वसनीय और सहज-संवेद्य नहीं है।[१]

'सौवर्ण' पन्त जी का तीसरा संग्रह है, जिसमें 'सौवर्ण' तथा 'स्वप्न और सत्य' नामक रचनाएँ सम्मिलित हैं। इन्हें भी कवि ने काव्य-रूपक ही कहा है। 'सौवर्ण' संक्रमणकालीन मानव-मूल्यों के विकास का प्रतीक रूपक है और 'स्वप्न और सत्य' आदर्श तथा वास्तविकता के बीच युग-संघर्ष का द्योतक है। पन्त जी के अन्य नाट्य-काव्यों के दोष इनमें भी वर्तमान हैं। भाषा यथार्थ जीवन की थरथराहट से शून्य होने के कारण कृत्रिम और अस्पष्ट है।[२]

पन्त जी ने अपनी उपर्युक्त रचनाओं को काव्य-रूपक कहा है, किन्तु उनमें संगठित कथानक, सजीव पात्र-योजना, और स्वाभाविक संवादों के अभाव में न तो रूपकत्व का ही सम्यक् निर्वाह हो सका है, न कवित्व का ही। इन सभी तथाकथित काव्य-रूपकों का रेडियो से प्रसारण हो चुका है, किन्तु रेडियो-रूपक अपने श्रव्य रूप में दृश्य होता है, अर्थात् श्रोता बिम्ब-बहुल भाषा के माध्यम से सारे क्रिया-व्यापार को अपने मानस-मंच पर घटित होते देखता चलता है। इसके लिए बोलचाल के निकट की, ऐन्द्रिय बिम्बों से युक्त, सशक्त और स्वाभाविक जिस भाषा की आवश्यकता है, वह उक्त कृतियों में अपवाद-स्वरूप ही कहीं-कहीं मिलती है। इसलिए रेडियो-रूपक की दृष्टि से भी इन्हें सफल नहीं कहा जा सकता।

---

१. "व्योम वासिनी, सूक्ष्म स्वप्नदेही आभा वह,
-दिव्य अदिति सी अन्तर्मन के रजत गगन में-
उतर रही भू पलकों पर अनिमेष स्वप्न सी।"
वही, पृ० १४२

२. "देश काल से परे, नास्ति में, मन के लोचन
स्वप्नहीन तन्द्रा में कब खुल गए निर्निमिष-
ध्यानावस्थित, स्थिर, निष्कम्प, अरूप, प्रताड़ित।
सुमित्रानन्दन पन्त, **सौवर्ण**, पृ० ५३

उपर्युक्त नाट्य-काव्यों के अतिरिक्त पिछले दो दशकों में अन्य अनेक नाट्य-काव्य लिखे गये हैं। यद्यपि रामधारीसिंह 'दिनकर' का वृहत् नाट्य-काव्य 'उर्वशी' नयी-कविता के युग में सन् १९६१ में प्रकाशित हुआ, तथापि इसकी मूल संवेदना रोमेण्टिक (छायावादी) है। 'दिनकर' ने ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण और कालिदास-कृत विक्रमोर्वशीय में प्राप्त पुरूरवा-उर्वशी-सम्बन्धी पौराणिक आख्यान को लेकर नर-नारी के प्रेम-सम्बन्ध के शारीरिक और आध्यात्मिक स्तरों का मनोरम चित्रण किया है। कवि का कहना है, "पुरूरवा और उर्वशी का प्रेम मात्र शरीर के धरातल पर नहीं रुकता, वह शरीर से जन्म लेकर मन और प्राण के गहन गुह्य लोकों में प्रवेश करता है, रस के भौतिक आधार से उठकर रहस्य और आत्मा के अन्तरिक्ष में विचरण करता है।"[1] सारी रचना पाँच अंकों में विभक्त है और बीच-बीच में यथास्थान रंग-निर्देश भी दिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि कवि का ध्यान इसकी रंगमंचीयता पर भी निरन्तर रहा है, किन्तु प्रस्तुत कृति में भावावेग की तीव्रता, तथा चिन्तन की गूढ़ता ने नाटकीय कार्य-व्यापार को व्याघात पहुँचाया है। कुछ संवाद भावोच्छलन के निर्बाध प्रवाह की परिणति के रूप में आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गये हैं, जिससे नाटकीय व्यापार की गति अवरुद्ध हो गयी है। पहले, दूसरे तथा चौथे, पाँचवें अंकों में कवित्व के साथ नाटकीयता भी सन्तुलन साधे हुए चलती है, किन्तु तीसरे अंक में उर्वशी और पुरूरवा के संवादों में कवित्व नाटकीयता की मर्यादाओं को लाँघकर निर्बन्ध हो गया है। यहाँ दिनकर जी पात्रों के माध्यम से स्वयं ही लम्बे-लम्बे भाषण झाड़ते प्रतीत होते हैं। दिनकर जी का दार्शनिक पुरूरवा और उर्वशी को भी ज़बरदस्ती दार्शनिक बना देता है और वे 'दिनकर' जी के इशारे पर 'कामाध्यात्म' की प्रतिष्ठा में लग जाते हैं। वृहत्काय तीसरे अंक ने उर्वशी के नाट्य-काव्यात्मक स्वरूप को घपले में डाल दिया है। तीसरे अंक के कारण 'उर्वशी' काव्य उस गर्भिणी स्त्री के समान प्रतीत होता है, जिसके उदर में 'कामाध्यात्म' नामक अवैध शिशु है। अनुभूति के सशक्त प्रकाशन, भावपूर्ण नवीन बिम्ब-योजना, प्रवाहमयी समर्थ भाषा आदि की दृष्टि से 'उर्वशी' एक प्रभावपूर्ण कृति है। यद्यपि उसकी बिम्बात्मक, सजीव भाषा नाटकीयता और कवित्व दोनों के उत्कर्ष में सहायक है, तथापि उसके सफल अभिनय के लिए अपेक्षित काट-छाँट द्वारा उसे नाटकोपयोगी गठन प्रदान करना होगा।

सिद्धनाथकुमार द्वारा प्रणीत 'सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य-नाटक' संग्रह में पाँच नाट्य-काव्य संकलित हैं। 'सृष्टि की साँझ' में युद्ध की विभीषका तथा उसके भीषण परिणामों का चित्रण है। 'लौह देवता' में वर्तमान युग की औद्योगिकता और यान्त्रिकता से उत्पन्न विषमताओं का निरूपण है। 'संघर्ष' शीर्षक नाट्य-काव्य में वस्तुजगत् से विच्छिन्न मूर्तिकार पंकज के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण है। 'विकलांगों का देश' में आधुनिक भौतिकतावादी तथा व्यक्तिवादी विचारधारा के प्रसार से उत्पन्न सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन के विघटन का चित्रण है। 'बादलों का शाप' में सामाजिक

---

१. रामधारीसिंह 'दिनकर', **उर्वशी** (भूमिका), पृ० च

विषमताओं का प्रतीकात्मक शैली में चित्रण हुआ है। उक्त नाट्य-काव्यों में 'सृष्टि की एक साँझ' को छोड़कर शेष में कथानक अत्यन्त क्षीण है। कवि का ध्यान पात्रों के क्रिया-व्यापार की अपेक्षा उनके मनोवैज्ञानिक चित्रण पर अधिक रहा है। कुल मिला कर इनको सफल नाट्य-काव्य नहीं कहा जा सकता।

नयी कविता के युग की भौतिकताजन्य युयुत्सा, अहन्ता, विघटन, संत्रास, मूल्यहीनता आदि ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों को लेकर चलने वाले नाट्य-काव्यों में धर्मवीर भारती-कृत 'अंधायुग' (१९५४) एक युग-प्रवर्त्तक नाट्य-काव्य है। इसकी रचना हिन्दी नाट्य-काव्यों के विकास के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटना है। इसके बाद गिरिजाकुमार कृत 'पृथ्वी-कल्प' (१९६०), डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल-कृत 'सूखा सरोवर' (१९६०) नरेश मेहता-कृत 'संशय की एक रात' (१९६२), दुष्यन्त कुमार-कृत 'एक कंठ विषपायी' (१९६३) तथा अज्ञेय-कृत 'उत्तरप्रियदर्शी' (१९६७) नामक नाट्य-काव्यों का प्रकाशन हुआ है। उल्लेखनीय बात यह है कि इन सभी नाट्य-काव्यों की मूल संवेदना में भी किसी-न-किसी स्तर पर एक साम्य है। इसलिए इनके एकत्र पर्यालोचन में एक प्रकार की अन्विति और संगति सम्भाव्य है। अगले अध्यायों में इन्हीं नाट्य-काव्यों का रूप तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से पर्यालोचन किया गया है।

अध्याय ४

अंधायुग : रूप और अभिव्यंजना

(क) **सामान्य विवेचन**—अंधायुग धर्मवीर भारती का पौराणिक नाट्य-काव्य है। भारती की काव्य-साधना की जो परिणति अन्धायुग में मिलती है, उसके विकास के सोपान उनकी 'दूसरा सप्तक' में संगृहीत रचनाओं और 'ठण्डा लोहा' नामक काव्य-संग्रह में लक्षित होते हैं और उसका भावी विकास 'कनुप्रिया' और 'सात गीत वर्ष में दिखाई पड़ता है। भावन और चिन्तन की सम्मिलित प्रक्रिया द्वारा पौराणिक प्रसंगों' में से ऐसी कविता दुहने की प्रवृत्ति, जिसकी संवेदना में व्यष्टि और समष्टि, प्राचीन और नवीन की सीमा-रेखाएँ घुलमिल गयी हों, किन्तु इतनी व्यापकता के बावजूद भी उसकी गहराई और तीखेपन में अन्तर न आया हो, उनकी अन्धायुग से पूर्ववर्ती तथा परवर्ती रचनाओं में भी परिलक्षित होती है। 'कनुप्रिया' में भारती ने अन्धायुग की समस्या को ही दूसरे भावस्तर से उठाया है।[1] अन्धायुग का रचना-काल सन् १९५४ है। आकाशवाणी के सभी प्रमुख केन्द्रों से इसका प्रसारण हो चुका है। कन्नड़ भाषा में इसका अनुवाद भी किया जा चुका है।[2]

'दृश्य-काव्य', 'गीति-नाट्य' जैसे भ्रामक नाम के प्रचलित हो जाने के कारण समीक्षकों में ही नहीं स्वयं रचनाकारों में भी ऐसी भ्रान्ति व्याप्त है कि वे अपनी रचना के रूप के विषय में निश्चित नहीं हैं। स्वयं भारती ने 'अन्धायुग' को 'दृश्य-काव्य', 'नाटक', 'लम्बा नाटक', 'गीति-नाट्य' और 'काव्य' नामों से अभिहत किया है।[3] डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त ने 'अन्धायुग' के 'रूप' पर विचार करते हुए कहा है, "दृश्य-काव्य' शब्द 'गद्य नाटक' के लिए रूढ़ है' गद्य के अनेकत्र प्रयोग के कारण यह केवल 'काव्य' भी

---

१. "लेखक के पिछले दृश्यकाव्य में एक बिन्दु से इस समस्या पर दृष्टिपात किया जा चुका है—गान्धारी युयुत्सु और अश्वत्थामा के माध्यम से। कनुप्रिया उससे सर्वथा पृथक्—बिल्कुल दूसरे बिन्दु से चलकर उसी समस्या तक पहुँचती है; उसी प्रक्रिया को दूसरे भाव-स्तर से देखती है और अपने अनजान में ही प्रश्न के ऐसे सन्दर्भ उद्घाटित करती है जो पूरक सिद्ध होते हैं।" धर्मवीर भारती, **कुनप्रिया**, भूमिका भाग

२. दे०, डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त, **अन्धायुग**, सम्पा० डॉ० यश गुलाटी, **हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्यांकन**, पृ० ६५४

३. दे०, धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, (निर्देश), पृ० ४-५

नहीं है, मुक्त छन्द के लयात्मक प्रवाह के बावजूद गीति-तत्त्व के अभाव में इसे 'गीति-नाट्य' नहीं कहा जा सकता और लम्बा नाटक यह इसलिए नहीं है कि न तो इसका वस्तु-विस्तार अधिक है और न यह केवल नाटक है। ध्वनि-प्रभाव, स्वर-कंप आदि पर बल के कारण 'अन्धायुग' को 'रेडियो-रूपक' अथवा 'रेडियो-नाटक' भी कहा जा सकता है, किन्तु क्योंकि इसकी अभिनेयता अथवा रंगधर्मिता संदिग्ध नहीं है और इसमें कवित्व तथा नाट्य-गुणों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध है, अतः इसे 'काव्य-रूपक' अथवा 'काव्य-नाटक' कहना उचित होगा।[1] डॉ० गुप्त ने सामान्यतः सही तर्क-पद्धति का प्रश्रय लिया है और युक्तियुक्त आधार पर स्थापित किया है कि अन्धायुग को 'दृश्य-काव्य', 'गीति-नाट्य' 'नाटक' आदि में से किसी नाम से अभिहित करना उचित नहीं है। किन्तु उन्होंने उक्त नकारात्मक स्थापना के साथ, अन्धायुग को 'काव्य-रूपक' या 'काव्य-नाटक' नाम देने के पक्ष में जो अभिमत दिया है, वह सर्वथा असंदिग्ध नहीं है। यह ठीक है कि अन्धायुग में नाटकीय और काव्यात्मक गुणों का सुन्दर सामंजस्य घटित हुआ है, किन्तु प्रश्न यह कि इस सामंजस्य को किस नाम से चरितार्थ किया जाय—**'काव्य-नाटक'** से या 'नाट्य-काव्य' से ? प्राथमिक दृष्टि में ये दोनों ही नाम उक्त सामंजस्य को व्यक्त करते प्रतीत होते हैं। अब प्रश्न यह है कि अन्धायुग के कृतित्व में घटित इस सामंजस्य का भी अन्तिम नियामक और निर्धारक तत्त्व क्या है—इसकी नाटकीयता या इसका कवित्व ? इसी प्रश्न को दूसरे शब्दों में यों पूछा जा सकता है कि इसकी नाटकीयता को सुरक्षित रखते हुए यदि इसकी रचना गद्य-नाटक के रूप में की जाती, तो क्या इसके अन्तर्वर्ती तत्त्वों—कथानक, चरित्र-चित्रण, संवाद, उद्देश्य आदि—का स्वरूप इसी प्रकार सुरक्षित रहता ? डॉ० गुप्त ने स्वयं एक स्थान पर कहा है, "वैसे भी, 'अन्धायुग' में प्रायः नाटकीयता से युक्त प्रसंगों का ही समावेश किया गया है। फलतः वस्तु-विस्तार अधिक न होने से चरित्र-चित्रण और कथा-विन्यास में पर्याप्त संगति रही है। यह स्थिति विशेषतः इसलिए सम्भव हुई है कि इस कृति में काव्य-तत्त्व पर बल रहा है। यदि इसकी रचना गद्य-नाटक के रूप में की गयी होती तो कथा-प्रसंगों का चुनाव निश्चय ही भिन्न आधार पर किया जाता।"[2] अब स्वाभाविक प्रश्न यह है कि यदि, "इस कृति में काव्य-तत्त्व पर बल रहा है" और काव्य-तत्त्व ही इसकी संरचना के स्वरूप का नियामक तत्त्व है, तो क्यों न उसे दृष्टि में रखते हुए इसे युक्तियुक्त आधार पर काव्य-नाटक के स्थान पर 'नाट्य-काव्य' कहा जाय ? वैसे भी धर्मवीर भारती मूलतः नाटककार न होकर कवि हैं। उन्होंने अपने सृजनात्मक स्वभाव पर प्रकाश डालते हुए स्वयं कहा है, "यों भारती को साहित्य के हर रूप में दिलचस्पी है लेकिन असल में भारती का मन कविता में ही रमता है, क्योंकि कविता के माध्यम से ही भारती आज की बेहद

---

१. डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त, **अन्धायुग**, सम्पा० डॉ० यश गुलाटी, **हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्यांकन**, पृ० ६५४-६५५

२. डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त, **अन्धायुग**, सम्पा० डॉ० यश गुलाटी, **हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्यांकन**, पृ० ६५६-६५७

पिसती हुई संघर्षपूर्ण, कटु और कीचड़ में बिलबिलाती हुई ज़िन्दगी के भी सुन्दरतम अर्थ खोज पाने में समर्थ रहा है।"[1]

डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव ने अन्धायुग के रूप के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है, "यों किसी ने उसमें 'अच्छी कविता' खोजने की कोशिश की है और किसी ने 'अच्छा नाटक'—और निराशा जब तब दोनों प्रकार के समीक्षकों को हुई है। कठिनाई यह है कि बहुत कुछ एक सम्पूर्ण काव्य-कृति के रूप में भारती ने इसकी रचना की है।"[2] प्रत्येक प्रबन्धात्मक काव्य-कृति में क्रिया-व्यापार की योजना रहने से नाटकीय तत्त्व किसी-न-किसी अनुपात में अवश्य रहते हैं, अतः सृजनात्मक उत्कर्ष की एक स्थिति में एक ही कृति में 'अच्छी कविता' के साथ 'अच्छा नाटक' भी समाहित रह सकता है; और ऐसी कृति का सही मूल्यांकन उक्त दोनों ही पक्षों की सर्वांगीण, मीमांसा की अपेक्षा करता है। केवल 'नाटक' या 'काव्य' विषय पर समालोचनात्मक ग्रन्थ लिखने के उद्देश्य से प्रेरित एकपक्षीय दृष्टि वाले समीक्षक यदि उस कृति में पृथक्-पृथक् केवल 'नाटक' या केवल 'काव्य' के ही दर्शन करें तो उसे दृष्टि-दोष के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है? डॉ० श्रीवास्तव ने दोनों प्रकार के समीक्षकों की जिस निराशा की ओर संकेत किया है, उसके कारणों का उल्लेख नहीं किया। फिर यदि भारती ने अन्धायुग की रचना एक सम्पूर्ण काव्य-कृति के रूप में की है तो इसमें कठिनाई की कौन-सी बात है? क्या वे इसकी रचना एक अपूर्ण काव्य-कृति के रूप में करते?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्धायुग को रूप की दृष्टि से एक 'नाट्य-काव्य' कहना ही सर्वाधिक युक्तियुक्त है। यह नाम उसके नाटकीय विधान को लक्षित करते हुए उसकी मूल आत्मा—कवित्व—की प्रतिष्ठा करता है।

(ख) **रूप तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से पर्यायलोचन**—यह मत स्थापित हो चुकने के उपरान्त कि 'अन्धायुग' एक 'नाट्य-काव्य' है, फिर भले ही उसके नाटकीय तथा काव्यात्मक गुणों को पृथक्-पृथक् महत्त्व देकर उसे सीमित दृष्टि से नाटक या 'खण्ड-काव्य' या 'रेडियो-रूपक' कह दिया जाए। यहाँ हम नाट्य-काव्य के विभिन्न तत्त्वों के आधार पर अन्धायुग का विवेचन करके यह निर्धारित करने का प्रयत्न करेंगे कि रूप और अभिव्यंजना की दृष्टि से प्रस्तुत कृति किस सीमा तक सफल अथवा असफल है।

(१) **कथानक**—'अन्धायुग' के कथानक पर विचार करने से पूर्व, संक्षेप में, कथानक के प्रेरणास्रोतों पर विचार करना उपयोगी होगा। कथानक की प्रेरणा के मूल में अनेक मानसिक क्रियाएँ निहित रहती हैं। कई बार कवि अपने समकालीन परिवेश की किसी विशेष घटना या परिस्थिति से प्रभावित होकर उसी को कथानक के रूप में पुनर्गठित करता है; कई बार उसके मन में उठी किसी परिस्थिति की प्रतिक्रिया उसे एक

---

१. धर्मवीर भारती, **वक्तव्य**, सम्पा० अज्ञेय, **दूसरा सप्तक**, पृ० १७७

२. डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, **नयी कविता का परिप्रेक्ष्य**, पृ० ७५-७६

विशेष चिन्तन, जीवन-दृष्टि या कथ्य तक पहुँचा देती है और फिर उसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि अनुरूप पौराणिक, ऐतिहासिक या कल्पित (उत्पाद्य) कथानक की योजना करता है। अनेक बार कोई एक पात्र ही अपनी चरित्रगत विशिष्टताओं के कारण कवि के आकर्षण का केन्द्र बन जाता है, और कवि उस पात्र को ही अपने कृतित्व के मूल संवेदना-स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए उससे सम्बद्ध वास्तविक या कल्पित घटनाओं और पात्रों की एकत्र संयोजना करता है। कवि भले ही इनमें से एक या एकाधिक प्रक्रियाओं के माध्यम से सर्जनात्मक समाधि-दशा में लीन हो, किन्तु सर्जनात्मकता के क्षणों में उक्त सभी स्थितियों का एकान्वित रूप में साक्षात्कार होता है। उसी जटिल मनःस्थिति के चरम बिन्दु से—जहाँ सब स्थितियाँ सिमट कर केन्द्रित हो जाती हैं—रचना का सांगोपांग रूप में विकास होता है। अन्धायुग की रचना में कवि प्रेरणा के किस माध्यम से सर्जनात्मक मनःस्थिति के चरम बिन्दु पर पहुँचा होगा, यह बहुत-कुछ कवि के निजी मनोविज्ञान से सम्बन्धित है, फिर भी रचना के अध्ययन और कवि के तत्सम्बन्धी निर्देश से ऐसा प्रतीत होता है कि सबसे पहले कवि का ध्यान द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय और अन्तर-राष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त संशय, ग्लानि, मर्यादाहीनता, बर्बरता और सामाजिक मूल्यों के विघटन की समस्या की ओर आकृष्ट हुआ है। इस बोध की पुष्टि कवि को विष्णुपुराण में दिये गए कलियुग के वर्णन में मिली है,[1] जिसका कवि ने प्रस्तुत नाट्य-काव्य के आरम्भ में उल्लेख किया है।[2] भारती की निम्नलिखित पंक्तियों का स्रोत भी विष्णुपुराण[3] ही प्रतीत होता है—

> जिस क्षण प्रभु ने प्रस्थान किया
> द्वापर युग बीत गया उस क्षण
> प्रभुहीन धरा पर आस्थाहत
> कलियुग ने रक्खा प्रथम चरण"[4]

प्रतिक्रिया के रूप में उदित पाश्चात्य अस्तित्ववादी दर्शन के क्षणवाद और वरण की स्वतन्त्रता-परतन्त्रता के आधार पर अस्तित्व की सार्थकता-निरर्थकता की धारणाओं से भी कवि के उक्त कथ्य को बल मिला है। कवि ने अपने मन पर हावी इसी कथ्य को महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास-तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक के कथानक के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। प्रश्न उठता है कि कवि ने महाभारत से ही कथानक का चयन क्यों किया? बात यह है कि युद्धजन्य विसंगति

---

१. दे०, **विष्णुपुराण**, (चतुर्थ अंश, अ० २४, श्लो० ७३-९२)

२. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ९-१०

३. यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदहनि।
प्रतिपन्नं कलियुगं···॥" **विष्णुपुराण**, (चतुर्थ अंश, अ० २४, श्लो० ११३)

४. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० १२२

और विघटन की समस्या से सम्बन्धित कथ्य को युद्ध-सम्बन्धी कथानक के माध्यम से ही सफलतापूर्वक व्यक्त किया जा सकता है। युद्धजनित मर्यादाहीनता का जो वातावरण बीसवीं शताब्दी के इन दो महायुद्धों से उत्पन्न हुआ है, उससे भी कहीं अधिक मर्यादा-हीनता के वातावरण का उदाहरण महाभारत-काल में उपलब्ध होता है।[1] भारती ने स्वयं स्वीकार किया है, "जिस नये राग-बोध को लेकर हिन्दी की नयी कविता अग्रसर हो रही है, व्यास उसके सबसे निकट पड़ते हैं। उन्होंने प्रथम बार मनुष्य को उसके समग्र परिवेश में आँका था और विस्तृत किन्तु जटिल युग-पीठिका में मनुष्य के राग-द्वेष का एक विराट् मानचित्र समुपस्थित किया था।"[2] एक युग के बोध को किसी अन्य युग के कथानक और उससे सम्बद्ध बोध के माध्यम से निरूपित करना कहाँ तक समीचीन है? इस प्रश्न के उत्तर में भारती का मत इस प्रकार है,—"मानवीय सत्य किसी विशेष बिन्दु पर 'एक' और अविभाज्य होता है। उसे अतीत, वर्तमान और भविष्य में नहीं बाँटा जा सकता। अतीत, वर्तमान और भविष्य एक-दूसरे में प्रसुप्त हैं और इस प्रकार समस्त इतिहास एक प्रकार से समकालीन इतिहास है। काव्य मानवीय सत्य और ऐतिहासिक परिवेश को उसी विशेष बिन्दु पर पकड़ने का प्रयास करता है।"[3] कवि ने जिस प्रकार कथ्य और कथानक के सम्बन्ध में प्राचीन और अर्वाचीन का सामंजस्य स्थापित किया है, उसी प्रकार शिल्प और अभिव्यंजना के क्षेत्र में भी परम्परा और प्रयोग में संगति स्थापित की है, जिस पर यथास्थान आगे विचार किया जायेगा। यहाँ आलोच्य कृति के कथानक की विशद् रूपरेखा प्रस्तुत करने के उपरान्त कथानक के स्वरूप की समीक्षा करना अभीष्ट है।

अन्धायुग के कथानक का समारम्भ मंगलाचरण के रूप में प्रयुक्त एक श्लोक से होता है।[4] यह श्लोक महाभारत में प्रत्येक पर्व के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में लिखा गया है। तदुपरान्त कवि ने अपने कथ्य के सम्बन्ध में 'उद्घोषणा' की है, जिसकी

---

१. "वर्तमाने तथा युद्धे निर्मर्यादे समन्ततः,
वध्यमानेषु योधेषु तावकेष्वितरेषु च।
× × ×
निर्मर्यादे महायुद्धे वर्तमाने सुदारुणे।
प्रादुरासन् विनाशाय ततोत्पाताः सुदारुणाः।" **महाभारत**, शल्य पर्व, अ० २३, श्लो० १७ तथा २१

२. धर्मवीर भारती, **विशेष**, सम्पा० डॉ० जगदीश गुप्त तथा रामस्वरूप चतुर्वेदी, **नयी कविता**, अंक दो, १९५५, पृ० ४९

३. **वही**, पृ० ४९

४. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥
(नारायण-स्वरूप भगवान् कृष्ण, नरस्वरूप अर्जुन, भगवती सरस्वती और महर्षि व्यास को नमस्कार करके जय (भारत) का पाठ करना चाहिए।)

प्रेरणा, जैसा कि कहा जा चुका है, विष्णुपुराण से प्राप्त हुई है। कवि का लक्ष्य युद्ध के उपरान्त अवतरित हुए उस अन्धे युग का वर्णन करना है, जिसमें घोर मर्यादाहीनता के मध्य केवल कृष्ण के रूप में मर्यादा की एक सूक्ष्म रेखा अवशिष्ट रह गयी थी। कवि ने अन्धे युग के अन्धे लोगों के माध्यम से ज्योति (मर्यादा=कृष्ण) की कथा कही है।

पहले अंक "कौरव नगरी" के प्रारम्भ में "कथागायन" के रूप में कवि ने अपने नाट्य-काव्य की पृष्ठभूमि को उभारते हुए महाभारत के युद्ध में कौरवों और पाण्डवों के अमर्यादित आचरण की ओर संकेत करके दोनों ही पक्षों में हुई विवेक ही पराजय और ममता, भय तथा अधिकार-लिप्सा के रूप में अन्धत्व की विजय का उल्लेख किया है। पर्दा उठने पर, महायुद्ध के अन्तिम दिन की संध्या में, कौरव के महलों के सूने गलियारे में दो प्रहरी घूमते हुए वार्तालाप करते दिखाई पड़ते हैं। वे अन्धे राजा धृतराष्ट्र की रोगी मर्यादा और अन्धी संस्कृति के पहरेदार के रूप में अपने अस्तित्व की निरर्थकता की गहरी अनुभूति से पीड़ित हैं।[1] सहसा उन्हें कुरुक्षेत्र की दिशा में उड़ते हुए असंख्य गिद्धों का समूह दिखलाई पड़ता है।[2] इस भयानक अपशकुन से वे अनिष्ट की भावी आशंका करते हुए सिहर उठते हैं। इसी बीच विदुर प्रवेश करते हैं और पहले प्रहरी से उक्त अपशकुन के विषय में चर्चा करते हैं। वे युद्धभूमि की घटनाओं की जानकारी के लिए संजय की प्रतीक्षा करने लगते हैं। "कथागायन में संजय की प्रतीक्षा में व्याकुल गांधारी और धृतराष्ट्र की विषण्ण स्थिति की ओर संकेत किया गया है।[3] जैसे ही विदुर अन्तःपुर में गांधारी और धृतराष्ट्र के पास पहुँचते हैं, धृतराष्ट्र को धोखा होता है कि संजय आ गये हैं। जीवन में प्रथम बार आशंकित धृतराष्ट्र को विदुर स्मरण दिलाते हैं कि भीष्म, द्रोण और स्वयं कृष्ण ने उन्हें अनेक बार मर्यादा तोड़ने के दुष्परिणामों के विषय में चेतावनी दी थी। तिस पर धृतराष्ट्र स्वीकार कर लेते हैं कि अन्धेपन से ही उनकी सारी वृत्तियाँ परिचालित होने के कारण वे बाहरी यथार्थ और सामाजिक मर्यादा को देख और समझ नहीं सकते थे।[4] धृतराष्ट्र आगे कहते हैं कि उनका धर्म नितान्त वैयक्तिक था, अपनी मांसलता से उपजे कौरवों तक ही उनके स्नेह, मर्यादा और सत्य की सीमा थी। विदुर के यह पूछने पर कि गत सत्रह दिनों में हुए नर-संहार की सूचना से भी उनकी अज्ञान-तन्द्रा क्यों नहीं टूटी, धृतराष्ट्र कहते हैं कि संजय के शब्दों के पीछे जो भयानक दृश्य-बिम्ब निहित थे, वे अन्धत्व के कारण उनके मानस-पट पर नहीं उभर पाते थे। विदुर उन्हें समझाते हैं कि यदि उनका ज्ञान वैयक्तिक न होकर भगवान् (कृष्ण) के प्रति समर्पित रहा होता तो आशंका और भय का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। विदुर के इस वचन से गांधारी विक्षुब्ध होकर कृष्ण को वंचक और मर्यादा की हत्या करने वाला घोषित करती है और

---

१. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० १२-१३
२. **वही**, पृ० १३-१४
३. **वही**, पृ० १५-१६
४. **वही**, पृ० १७-१८

नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति आदि को प्रवंचना और पाखण्ड बतलाती है।[1] इतने में दुर्योधन की जय का उद्घोष करता हुआ एक वृद्ध याचक प्रवेश करता है। उसके इस जय-जयकार से अंधे धृतराष्ट्र को अपने पुत्र की विजय का निश्चय होने लगता है। वह वृद्ध याचक वही ज्योतिषी है, जिसने बहुत पहले धृतराष्ट्र और गांधारी के समक्ष कौरव-दल की विजय के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की थी। इस सम्बन्ध में पूछे जाने पर वह बताता है कि सहसा एक महान् अनासक्त व्यक्ति (कृष्ण) ने आकर नक्षत्रों से शासित नियति की गति को बदल दिया है और अब उस (याचक) का सब विज्ञान मिथ्या सिद्ध हो चुका है। भिक्षा लेकर वह याचक गांधारी और दुर्योधन की जय बोलता हुआ चला जाता है। धृतराष्ट्र शंकाकुल हृदय से पुनः संजय की प्रतीक्षा करने लगते हैं। तीनों के मंच से चले जाने के उपरान्त दोनों प्रहरी पुनः प्रवेश करते हैं और आस्था-अनास्था, मर्यादा-अमर्यादा की अनुभूति से शून्य अपने निरर्थक जीवन के सम्बन्ध में वार्तालाप करने लगते हैं।[2] अंक के अन्त में प्रस्तुत 'कथा-गायन' में कौरव-नगरी के सूनेपन को उभार कर मोह-निशा में घिरे किसी कंटक-पथ पर भटके हुए संजय की ओर संकेत किया गया है।

इसके उपरान्त 'पशु का उदय' नामक दूसरा अंक प्रारम्भ होता है। प्रारम्भिक 'कथा-गायन' के माध्यम से पुनः कथा-सूत्र को ग्रहण किया गया है। मार्ग में भटका हुआ संजय प्रवेश करता है। उसकी पग-ध्वनि से पार्श्व में सोये हुए कृतवर्मा की नींद खुल जाती है। संजय कृतवर्मा को अर्जुन द्वारा किये गये कौरव-दल के विनाश का वृतान्त सुनाता है और बतलाता है कि स्वयं उसे मारने के लिए भी सात्यकि ने शस्त्र उठाया था, किन्तु व्यास ने अन्धे राजा से सत्य कहने के लिए उसे अवध्य घोषित करके मुक्त करा दिया।[3] संजय कृतवर्मा को बतलाता है कि उसने स्वयं सम्राटों के अधिपति दुर्योधन को घायल अवस्था में, टूटे हुए रथ के समीप, निश्शस्त्र खड़ा देखा।[4] संजय के चले जाने के उपरान्त 'अश्वत्थामा' को पुकारते हुए कृपाचार्य प्रवेश करते हैं। इसी समय अश्वत्थामा, जिसने पराजित दुर्योधन को देखकर अपना धनुष मरोड़ दिया था, उस टूटे हुए धनुष को हाथ में लिये हुए प्रवेश करता है। वह दुःखी मन से युधिष्ठिर के अर्द्ध सत्य को और धृष्टद्युम्न द्वारा किये गये अपने पिता द्रोण के वध को स्मरण करता है और पाण्डवों के वध से अपने मिथ्या अस्तित्व को सार्थक बनाने की प्रतिज्ञा करता है। वन-मार्ग से आते हुए संजय को देखकर वह उसे कोई पाण्डव

---

१. **वही**, पृ० २०-२१

२. **वही**, पृ० २६-२७

३. (क) **वही**, पृ० ३१
   (ख) दे०, **महाभारत**, शल्यपर्व, अ० २९, श्लो० ३८-४०

४. (क) दे०, धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ३२
   (ख) दे०, **महाभारत**, शल्यपर्व, अ० २९, श्लोक० ४२-४४

योद्धा समझता है और पीछे से आकर उसका गला दबोच देता है।[1] शीघ्र ही कृतवर्मा और कृपाचार्य आकर संजय को मुक्त कराते हैं।[2] संजय से उन्हें ज्ञात होता है कि दुर्योधन सरोवर[3] में है और उसने माया से सरोवर के जल को बाँध दिया है।[4] अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्य दुर्योधन को खोजने के लिए प्रस्थान करते हैं। मार्ग में उन्हें हस्तिनापुर से लौटा हुआ वृद्ध याचक मिलता है, जो मन ही मन में विचार करता आ रहा है कि कौरवों की पराजय ने भविष्य की सारी अनिवार्यता को असत्य सिद्ध कर दिया है, केवल कर्म ही सत्य है, उसी में मानव का भविष्य भी निहित है। अश्वत्थामा उसकी बातें सुनकर क्षुब्ध मन से उससे प्रश्न करता है, "तुमने कहा था—जय होगी दुर्योधन की।" उत्तर में वृद्ध याचक कहता है, "मैंने उसे झूठा भविष्य बतलाया था। अब जाकर उसको बतलाऊँगा कि वर्तमान से स्वतन्त्र कोई भविष्य नहीं है। इसलिए अब भी समय है, क्योंकि हर क्षण इतिहास बदलने का क्षण होता है।"[5] अश्वत्थामा सोचता है, "यदि भविष्य पहले से ही मेरे पक्ष में निर्धारित नहीं है तो वह तटस्थ है, शत्रु है।" वह उस वृद्ध याचक—झूठे भविष्य—का वध कर देता है। कृपाचार्य प्रमत्त अश्वत्थामा को पकड़कर लिटा देते हैं। कृतवर्मा उसे सोया हुआ समझकर निहत्थे वृद्ध की हत्या के लिए उसकी निन्दा करता है। कृपाचार्य कृतवर्मा को समझा देते हैं कि सभी योद्धा नामधारी ऐसा ही करते हैं; बूढ़े निहत्थे द्रोण का धृष्टद्युम्न ने वध किया और अकेले निहत्थे अभिमन्यु का सात कौरव महारथियों ने। तदुपरान्त अश्वत्थामा और कृतवर्मा को सोने को कहकर कृपाचार्य पहरा देने लगते हैं। अंक के अन्त में दिये गये 'कथा-गायन' में विजयोन्माद में सोये हुए पाण्डवगण, सरोवर में छिपे हुए दुर्योधन और विकृत अश्वत्थामा के उल्लेख द्वारा तीसरे अंक की कथा की ओर संकेत किया गया है।

इसके बाद 'अश्वत्थामा का अर्द्धसत्य' नामक तीसरा अंक प्रारम्भ होता है। कथा-गायन में संजय के वापस लौटने और युद्ध-भूमि से टूटे हुए रथों और छकड़ों पर लदकर लौटती हुई उस कौरव-सेना का उल्लेख किया गया है, जिसमें केवल बूढ़े, बौने और घायल ही शेष रह गये थे।[6] धृतराष्ट्र और विदुर के परस्पर वार्तालाप

---

१. यह प्रसंग महाभारत में नहीं है।

२. धर्मवीर भारती, **अन्धा युग**, पृ० ३७-३८

३. महाभारत में इस सरोवर का नाम "द्वैपायन सरोवर" दिया गया है।
दे० **महाभारत**, शल्यपर्व, अ० ३०, श्लोक ४७

४. (क) धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ३९
(ख) एवमुक्त्वा महाराज प्राविशत् तं महाह्रदम्।
अस्तम्भयत तोयं च मायया मनुजाधिपः॥ **महाभारत**, शल्यपर्व, अ० २९, श्लो० ५४

५. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ४२

६. **वही**, पृ० ४५-४७

के समय एक गूंगा, प्यासा, ज्वरग्रस्त सैनिक घिसटता हुआ आता है। प्रहरी उसे जल लाकर देता है। धृतराष्ट्र जब प्रहरी को आदेश देते हैं कि वह गांधारी से सैनिक के लिए वस्त्र लाकर दे, तो प्रहरी सूचना देता है कि माता गांधारी दान-गृह में नहीं हैं, वे सीढ़ी पर जड़वत् बैठी हैं। धृतराष्ट्र, भीम और दुर्योधन के अन्तिम द्वन्द्व-युद्ध के समाचार की प्रतीक्षा में व्याकुल हैं। तभी चारों ओर शोर मच जाता है। हारी हुई घायल सेना के साथ आये हुए युयुत्सु को देखकर प्रहरी और नगर-निवासी उसे विपक्षी योद्धा, लुटेरा और मायावी समझकर भयभीत हो उठते हैं।[1] अपने प्रति उपेक्षा, घृणा और आशंका के इस व्यवहार से युयुत्सु को भारी आत्मग्लानि होती है। वह यह सोचकर व्यथित होता है कि यदि वह असत्य का पक्ष लेकर अपने बन्धुओं—कौरवों—की ओर से ही लड़ता तो पराजित होने पर भी उसे अपने ही परिवार में इतनी घृणा न मिलती।[2] विदुर युयुत्सु को देखकर प्रसन्न होते हैं और उसकी आत्मग्लानि का परिहार करते हैं।[3] प्रहरी के साथ माता गांधारी प्रवेश करती हैं। युयुत्सु उनके चरण छूता है। गांधारी युयुत्सु पर व्यंग्य करती हैं। इसी बीच उस गूंगे सैनिक के दम तोड़ने की आवाज़ सुनाई पड़ती है। विदुर के कहने से युयुत्सु गूंगे सैनिक को जल देता है, किन्तु कौरव-सेना का वह सैनिक, जिसके घुटने स्वयं युयुत्सु के ही अग्नि-बाण से झुलस गये थे, युयुत्सु को पहचानकर घिसटता हुआ दूर भाग जाता है। इससे युयुत्सु की आत्मग्लानि और भी अधिक बढ़ जाती है। सहसा अन्तःपुर में भयंकर आर्तनाद सुनाई पड़ता है। संजय द्वन्द्व-युद्ध में दुर्योधन की पराजय का समाचार लाते हैं। विदुर और युयुत्सु झपटकर अन्दर चले जाते हैं। वन-पथ में, धनुष चढ़ाये, भागते हुए कृतवर्मा तथा कृपाचार्य दिखलाई पड़ते हैं। विजयी पाण्डवों की समवेत हर्ष-ध्वनि सुनाई पड़ती है। तभी अश्वत्थामा आता दिखलायी पड़ता है जो छद्म वेश धारण कर दुर्योधन और भीम का द्वन्द्व-युद्ध देखने गया था। वह कृपाचार्य को भीम द्वारा दुर्योधन के अधर्मपूर्वक मारे जाने की सूचना देता है। तभी नेपथ्य से बलराम और कृष्ण का संवाद सुनाई पड़ता है।[4] बलराम द्वन्द्व-युद्ध में भीम के दुर्योधन पर गदा-प्रहार को अन्यायपूर्ण[5] बतलाते हुए कृष्ण की कूटबुद्धि की भर्त्सना करते हैं

१. वही, पृ० ५०-५२ २. वही, पृ० ५३

३. युयुत्सु के मूल प्रसंग को भारती ने किंचित् अतिरंजित और परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है। मिलाइये, महाभारत, शल्यपर्व, अध्या० २९, श्लो० ७८-१०५

४. (क) धर्मवीर भारती, अन्धायुग, पृ० ६१-६२
(ख) महाभारत, शल्यपर्व, अ० ६०, श्लो० १-३०

५. भारती ने 'अन्धायुग' में यह स्पष्ट नहीं किया कि भीम का गदा-प्रहार अन्यायपूर्ण क्यों था। महाभारत में, उक्त तथ्य पर प्रकाश डालते हुए बलराम जी कहते हैं:—

"अहो धिग् यदधो नाभेः प्रहृतं धर्मविग्रहे।
नैतद् दृष्टं गदायुद्धे कृतवान् यद् वृकोदरः॥"

(अहो! इस धर्मयुद्ध में नाभि से नीचे जो प्रहार किया गया है, और जिसे भीमसेन ने किया है, यह गदायुद्ध में कभी नहीं देखा गया।)

महाभारत, शल्यपर्व, अ० ६०, श्लो० ५

और कहते हैं कि भले ही वे (कृष्ण) युधिष्ठिर के कहने से हस्तिनापुर जाकर गांधारी के भीषण क्रोधजनित शाप से बचने के लिए उसे सान्त्वना दें,[१] किन्तु पाण्डवगण भी इसी प्रकार अधर्म से मारे जायेंगे। अश्वत्थामा बलराम की उक्त भविष्यवाणी से प्रेरणा लेकर मन ही मन पाण्डवों के विनाश की प्रतिज्ञा करता है। जब कृतवर्मा उस पर व्यंग्य करते हैं, तो वह उन्हीं का वध करने को उद्यत हो जाता है।[२] कृपाचार्य द्वारा मर्यादित आचरण की शिक्षा दिये जाने पर अश्वत्थामा धृष्टद्युम्न और भीम आदि पाण्डवों के निर्मर्यादित आचरण की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करता है और सारी मर्यादाबुद्धि का स्वयं ही ठेका लेने से इन्कार करता है। वह कृपाचार्य और कृतवर्मा के समक्ष पाण्डवों से प्रतिशोध लेने की अपनी नृशंस योजना प्रस्तुत करता है और कृपाचार्य से प्रार्थना करता है कि वे उसे दुर्योधन द्वारा सेनापति घोषित करा दें। कृपाचार्य और अश्वत्थामा दोनों उस स्थान की ओर चले जाते हैं, जहाँ मांस-भक्षी जन्तुओं से घिरा हुआ दुर्योधन अन्तिम साँसें ले रहा है। कृतवर्मा पीछे ही रह जाते हैं।[३] अश्वत्थामा के सेनापति पद पर अभिषिक्त किये जाने के उपरान्त कृपाचार्य कृतवर्मा के समीप लौट आते हैं।[४] कृतवर्मा द्वारा यह पूछे जाने पर कि अश्वत्थामा का सेनापति-पद पर अभिषेक कैसे हुआ, कृपाचार्य बतलाते हैं कि दुर्योधन ने उन (कृपाचार्य) से कहा, "यहाँ जल नहीं है, तुम स्वेद-जल से ही अश्वत्थामा का अभिषेक कर दो।"[५] बाद में अश्वत्थामा प्रवेश करता है और सूचित करता है कि दुर्योधन तब तक जीवित रहेंगे जब तक प्रतिशोध का संवाद नहीं मिल जाता।[६] कृतवर्मा और

---

१. दे०, **महाभारत,** शल्यपर्व, अ० ६२, श्लो० ४०-४५ और अ० ६३

२. (क) धर्मवीर भारती, **अन्धायुग,** पृ० ६३

   (ख) यह प्रसंग महाभारत में नहीं है। भारती ने मूल प्रसंगों के व्यापक रूप और उनमें निहित मूल चेतना को सुरक्षित रखते हुए भी उनमें कहीं-कहीं गौण किन्तु भावोत्तेजक परिवर्तन कर लिए हैं।

३. महाभारत के अनुसार कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा-तीनों ही दुर्योधन के समीप जाते हैं। दे० **महाभारत,** शल्य पर्व, अध्या० ६५

४. महाभारत के अनुसार अश्वत्थामा के सेनापति पद पर अभिषेक के उपरान्त अश्वत्थामा, कृतवर्मा, कृपाचार्य तीनों साथ-साथ ही दुर्योधन के पास से दूर चले जाते हैं। दे० **महाभारत,** शल्य पर्व, अ० ६५, श्लो० ४६

५. (क) धर्मवीर भारती, **अंधायुग,** पृ० ६६

   (ख) महाभारत के अनुसार कृपाचार्य दुर्योधन की आज्ञा से जल का कलश भरकर लाते हैं और उससे अश्वत्थामा का सेनापति-पद पर अभिषेक करते हैं। भारती ने स्वेदजल से अभिषेक कराया है, जो अधिक भाव-गर्भित होने के साथ ही परिस्थिति के अनुरूप भी है। दे० **महाभारत,** शल्य पर्व, अध्या० ६५, श्लो० ३९-४३

६. धर्मवीर भारती, **अंधायुग,** पृ० ६७

कृपाचार्य को सोने का आदेश देकर सेनापति अश्वत्थामा स्वयं पहरा देने लगता है। उसे उस गहन वन में अनेक प्रकार के वन्य जन्तुओं के भयानक स्वर सुनायी पड़ने लगते हैं। इमली, बरगद, पीपल के वृक्षों की छायाएँ सोयी हैं। उसे एक भयानक उल्लू दिखलाई पड़ता है, जो तन्द्रावस्था में करवट लेते हुए एक कौए पर भयंकर आक्रमण करता है और उसकी हत्या करके वधोल्लास से झूम उठता है।[1] वह कौए के कटे पंख को लेकर, उससे शिविर में सोये हुए पाण्डवों के वध की प्रेरणा प्राप्त करता है। वह समझता है कि कृष्ण इस समय हस्तिनापुर गांधारी को समझाने गये होंगे, इसलिए वह इसे पाण्डवों पर आक्रमण का दुर्लभ अवसर समझता है। वह अपने पिता के हत्यारे धृष्टद्युम्न और अन्य पाण्डव वीरों को मारने के उद्देश्य से पाण्डव-शिविर की ओर चल देता है। कृतवर्मा और कृपाचार्य भी उसका अनुसरण करते हैं।[2]

तीसरे अंक के उपरान्त 'पंख पहिए और पट्टियाँ'[3] नामक अन्तराल की योजना की गयी है।[4] अश्वत्थामा द्वारा मारे गये वृद्ध याचक (झूठा भविष्य) की प्रेतात्मा प्रवेश करती है। वह प्रेतात्मा कथा की क्रमिक गति को बाँधकर सब पात्रों की आन्तरिक असंगति को समझने का प्रयत्न करती है। प्रेतात्मा को अपने युग का स्तम्भित अन्धा भव-प्रवाह दिखलायी पड़ता है, जिसमें अन्धे सर्पों के कुछ केंचुल सफेद पट्टियों के रूप में तैरते दिखलायी पड़ते हैं। ये सफेद पट्टियाँ गान्धारी की आँखों पर और सैनिकों के घावों पर दिखलायी पड़ती हैं। युयुत्सु, विदुर, संजय आदि पात्र प्रेतात्मा के पीछे पंक्ति-बद्ध खड़े हो जाते हैं और स्वगत वक्तव्यों के माध्यम से अपनी-अपनी आन्तरिक असंगति को व्यक्त करने लगते हैं। युयुत्सु अनुभव करता है कि वह युद्ध के समय ग़लत धुरी (कृष्ण=गति-नियामक आधार) में लगा रहा और अब उससे उतरकर और भी निरर्थक हो गया है। संजय अनुभव करता है कि वह दो बड़े पहियों (कौरवों-पाण्डवों) के मध्य लगा एक शोभाचक्र है, जो न रथ (जीवन-सन्दर्भों) को गति देता है, न धरती (वास्तविकता) को छूता है और न धुरी से उतर ही सकता है। विदुर अनुभव करता है कि वह एक ऐसा नीतिज्ञ है, जिसकी नीति साधारण स्तर की है और युग की सारी स्थितियाँ असाधारण हैं। कृष्ण के प्रति आस्था होते हुए भी अब कृष्ण उसे ऐसे लगते हैं जैसे वे एक ऐसी निकम्मी धुरी हों, जिसके सभी पहिए उतर गये हैं। विदुर की विवशता है कि प्रभु की निरर्थकता समझकर भी एक नीतिज्ञ के नाते उनके प्रति संशय करना पाप समझता है।

---

१. महाभारत के अनुसार उल्लू एक विशाल वटवृक्ष पर सोये हुए असंख्य कौओं की निर्मम हत्या करता है। दे० **महाभारत**, सौप्तिक पर्व, अ० १, श्लो० ३५-४३

२ दे० **महाभारत**, सौप्तिक पर्व, अध्या० ५

३. 'अन्तराल' का अधिकांश भारती के कथा-मंथन की निजी उपलब्धि है। कथा और पात्रों के इस प्रकार के बौद्धिक मंथन से नाट्य-काव्य में प्रसंगों और पात्रों ने प्रतीकात्मक रूप ग्रहण कर लिया है।

४. धर्मवीर भारती, **अंधायुग**, पृ० ७२-७६

सहसा वृद्ध (प्रेतात्मा) को हस्तिनापुर से लौटते हुए कृष्ण के रथ की घण्टियों की ध्वनि सुनायी पड़ती हैं। उसे कृष्ण के किरीट से गिरा हुआ मोर-पंख प्राप्त होता है। तभी उसे पाण्डव-शिविर की ओर निर्बाध गति से बढ़ता हुआ अश्वत्थामा का रथ दिखलायी पड़ता है। वह सोचता है कि क्या यह (मर्यादा का) मोरपंख अश्वत्थामा की कटे-पंख-सी काली घृणा पर विजय प्राप्त कर सकेगा ? तभी उसे पाण्डव-शिविर के द्वार पर एक विराटकाय दैत्य-पुरुष दिखायी पड़ता है, जो अश्वत्थामा को शिविर में प्रवेश करने से रोकता है।[1]

चौथा अंक है 'गान्धारी का शाप'। प्रारम्भ में दिये गये 'कथा-गायन' में रौद्र-वेशधारी शंकर पाण्डव-शिविर में घुसकर विनाश-लीला करने के इच्छुक अश्वत्थामा को चुनौती देते हैं कि 'मुझको पहले जीतो तब जाओ अन्दर।' अश्वत्थामा अनेक भयंकर अस्त्रों का प्रयोग करके भी अन्त में हार मानकर महादेव जी की स्तुति करने लगता है।[2] आशुतोष भगवान् महादेव अश्वत्थामा की स्तुति से प्रसन्न हो, हाथ उठाकर कहते हैं "अब तक मैं कृष्ण-प्रेम-वश पाण्डवों की रक्षा करता रहा, किन्तु अब उनके पुण्यों का क्षय हो चुका है, अधर्म-वध करके उन्होंने स्वतः अपनी मृत्यु के द्वार खोल दिये हैं।"[3] अश्वत्थामा ने पाण्डव-शिविर में प्रवेश करते ही सर्वप्रथम धृष्टद्युम्न को शय्या से खींचकर नीचे पटक दिया और गला दबोचकर उसका वध कर दिया।[4] नकुल के पुत्र शतानीक ने रथ-चक्र से अश्वत्थामा पर प्रहार किया, किन्तु अश्वत्थामा ने तलवार से उसका वध कर दिया।[5] इसके उपरान्त उसने शिखण्डी की हत्या कर डाली।[6] संजय से पाण्डवों के विनाश की यह कथा सुनकर भी जब गान्धारी की तृप्ति नहीं होती है तो विदुर[7] आगे की कथा का सूत्र ग्रहण कर गांधारी को बतलाते हैं कि जितने भी पाण्डव-शिविर के योद्धा हत्यारे अश्वत्थामा से जान बचाकर भागे उन सबको द्वार पर स्थित कृतवर्मा और कृपाचार्य ने मौत के घाट उतार दिया और फिर पाण्डव-शिविर

---

१. दे० **महाभारत**, सौप्तिक पर्व, अध्या० ६, श्लो० ३-६
२. (क) धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ७८
   (ख) दे०, **महाभारत**, सौप्तिक पर्व, अ० ७, श्लोक १-१२
३. (क) धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ७८
   (ख) **महाभारत**, सौप्तिक पर्व, अ० ७, श्लो० ६३-६५
४. **महाभारत**, सौप्तिक पर्व, अ० ७, श्लो० ६६
५. (क) धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ७९
   (ख) दे०, **महाभारत**, सौप्तिक पर्व, अ० ८, श्लो० १६-२१
६. (क) धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ८०
   (ख) दे०, **महाभारत**, सौप्तिक पर्व, अ० ८, श्लो० ५७-५८
७. (क) दे०, धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ८०
   (ख) दे०, **महाभारत**, सौप्तिक पर्व, अध्या० ८, श्लो० ६४
८. **महाभारत** में संजय ही इस सारे प्रसंग का धृतराष्ट्र से वर्णन करते हैं।

में आग लगा दी।[१] अश्वत्थामा की इस नृशंस लीला के वर्णन से मुग्ध होकर वह उसके दर्शनों से कृतार्थ होने की कामना व्यक्त करती है। अतः संजय अपनी दिव्य दृष्टि से गान्धारी को अश्वत्थामा और उससे सम्बद्ध दृश्यों को दिखाने की चेष्टा करते हैं। वे बतलाते जाते हैं कि सामने हिंसक जन्तुओं से घिरा हुआ मरणासन्न दुर्योधन पड़ा है। कृपाचार्य के मुख से अश्वत्थामा द्वारा की गयी पाण्डवों की विनाश-लीला का वर्णन सुनकर उसके मुख पर सन्तोष की आभा आ जाती है। जब अश्वत्थामा आकर दुर्योधन को अपने कारनामों से अवगत कराता है और उत्तरा के गर्भ को नष्ट करने की अपनी भावी योजना पूरी करने का निश्चय प्रकट करता है, उसी समय दुर्योधन का प्राणान्त हो जाता है। गान्धारी यह सब सुनकर ही मूर्च्छित हो जाती है, वह आँखों की पट्टी उतारने का साहस नहीं कर पाती है।[२] अश्वत्थामा के उद्‌गारों से प्रभावित होकर अन्त में वह उसके शरीर को दृष्टिमात्र से वज्र बना देना चाहती है और उसके दर्शन के लिए आँखों पर से पट्टी उतार फेंकती है। किन्तु दुर्योधन के मरते ही संजय की दिव्यदृष्टि छिन चुकी होती है।[3] इस अंक के मध्य में दिए गये 'कथा-गायन' में मृत वीरों के तर्पण के लिए कौरव-विधवाओं और पुरजन-परिजन को लेकर धृतराष्ट्र, युयुत्सु, संजय, गान्धारी के युद्ध-भूमि की ओर प्रस्थान का उल्लेख है।[४] अचानक ही संजय, धृतराष्ट्र, गान्धारी और विदुर आदि को कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा दिखलायी पड़ते हैं। गान्धारी देखने भर से अश्वत्थामा के तन को वज्रवत् दृढ़ बना देती हैं। पाण्डवों को लेकर कृष्ण अश्वत्थामा का पीछा करते हैं। अर्जुन के वाणों से आहत अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करता है,[५] उधर कृष्ण के कहने से अर्जुन

---

१. मिलाइये, **महाभारत**, सौप्तिक पर्व, अ० ८, श्लो० १०६ तथा १०९

२. दुर्योधन के मरण के दृश्य को गान्धारी को दिखाने और गान्धारी के देख न पाने का यह प्रसंग भारती की निजी उद्‌भावना है। इससे निश्चय ही प्रसंग में अपेक्षित भंगिमा आने से नाटकीय प्रभाव में वृद्धि हो गई है। दुर्योधन की दशा देखकर कृपाचार्य और अश्वत्थामा के विलाप तथा उनके मुख से पांचालों और पाण्डव-सेना के विनाश का वृतान्त सुनकर दुर्योधन के प्रसन्न होने और प्राण-त्याग करने की कथा महाभारत में संजय द्वारा सीधे धृतराष्ट्र से कहलायी गई है। दे० **महाभारत**, सौप्तिक पर्व, अ० ९

३. (क) धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ८६
   (ख) तवपुत्रे गते स्वर्गं शोकार्तस्य ममानघ।
   ऋषिदत्तं प्रणष्टं तद् दिव्यदर्शित्वमद्य वै॥ **महाभारत**, सौप्तिक पर्व, अ० ९, श्लो० ६२

४. मिलाइये, **महाभारत**, स्त्री पर्व, अ० १०

५. महाभारत के अनुसार कृष्ण द्वारा अनुसृत भीम से आक्रान्त होने पर अश्वत्थामा ने दिव्यास्त्र का प्रयोग किया। दे०, **महाभारत**, सौप्तिक पर्व, अ० १३, श्लो०, १८-२२

अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र को काटने के लिए अपने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करते हैं। व्यास जी के कहने से अर्जुन अपना ब्रह्मास्त्र वापस लौटा लेते हैं, किन्तु अश्वत्थामा उत्तरा के गर्भ को लक्ष्य करके छोड़े गये अपने ब्रह्मास्त्र को लौटाने से इन्कार कर देता है।[1] अचानक ही भयानक विस्फोट होता है और पाण्डव-बन्धुओं का रुदन सुनाई पड़ता है।[2] किन्तु शीघ्र ही कृष्ण पाण्डवों को आश्वासन देते हैं कि उत्तरा के गर्भ से जो मृत शिशु उत्पन्न होगा, उसे वे जीवित कर देंगे।[3] कृष्ण अश्वत्थामा को भ्रूण-हत्या के दण्ड के रूप में शाप देते हैं कि वह युग-युगान्तर[4] तक शरीर में पीप और दुर्गन्धियुक्त लहू से भरे घाव और फोड़े लिये हुए दुर्गम स्थानों में भटकता रहेगा। अश्वत्थामा पाण्डवों को अपनी मणि देकर और कृष्ण से शाप लेकर चला जाता है।[5]

धृतराष्ट्र, संजय, विदुर, युयुत्सु और गान्धारी को युद्धभूमि में दुर्गन्धियुक्त अश्वत्थामा और दुर्योधन का अस्थि-पंजर दिखलाई पड़ता है। पुत्र के अस्थिशेष को देखने से शोक-विह्वल होकर वह कृष्ण पर प्रभुता के दुरुपयोग का आरोप लगाती है और उन्हें शाप देती है, "तुम स्वयं अपने वंश का विनाश करने के उपरान्त किसी साधारण व्याध के हाथों मे मारे जाओगे।"[6] भगवान् कृष्ण गान्धारी के शाप को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। तिस पर गान्धारी रोने और पश्चात्ताप करने लगती है। अंक के अन्त में दिये हुए 'कथा-गायन' में कहा गया है कि जिस क्षण से प्रभु ने वह शाप स्वीकार किया, तभी से युग-युग की संचित मर्यादा निष्प्राण हो गयी।

इसके उपरान्त "विजय : एक क्रमिक आत्महत्या" नामक पाँचवाँ अंक प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में दिये हुए 'कथा-गायन' में युद्धोपरान्त पाण्डव-राज्य की स्थापना

---

१. मिलाइये, **महाभारत,** सौप्तिक पर्व, अध्या० १५

२. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग,** पृ० ९४

३. (क) **वही,** पृ० ९६
(ख) **महाभारत,** सौप्तिक पर्व, अध्या० १६, श्लो० ८

४. महाभारत के अनुसार तीन हजार वर्षों तक, दे० **महाभारत,** सौप्तिक पर्व, अ० १६, श्लोक १०

५. अश्वत्थामा के मस्तक में एक मणि थी, जो उसके साथ ही उत्पन्न हुई थी (दे० **महाभारत,** सौप्तिक पर्व, अध्या० १६, श्लो० २२)। उसे बाँध लेने पर अश्वत्थामा को किसी शस्त्र, व्याध, क्षुधा, देवता, दानव आदि से किसी प्रकार का भय नहीं रहता था। व्यास जी के कहने से अश्वत्थामा उस मणि को पाण्डवों को देने के लिए तैयार हो गया था। (**महाभारत,** सौप्तिक पर्व, अध्या० १५, श्लो० २७-३१)। पाण्डवों ने शोक-पीड़ित द्रौपदी को वह मणि देकर सान्त्वना दी और द्रौपदी की प्रार्थना पर युधिष्ठिर ने उस मणि को अपने मस्तक पर धारण किया। दे० **महाभारत, सौप्तिक पर्व, अध्याय १६,** श्लोक २०-३७

६. मिलाइये **महाभारत,** स्त्री पर्व, अध्याय २५, श्लोक ४२-४५

का उल्लेख है। कौरव-नगरी में युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हो गया।[1] विजय के उपरान्त भी युद्ध की काली छाया से सारी नगरी शोभाहीन प्रतीत होती थी। पाण्डवों में अकेले युधिष्ठिर ही ऐसे थे, जो भावी विकृत युग की चिन्ता में लीन रहते थे। स्वजनों की अज्ञानता, प्रजाओं की पिछले शासन के विकृत सांचे में ढली प्रवृत्ति और भावी अमंगल-युग की कल्पना के कारण उन्हें विजय भी दुर्वह प्रतीत हो रही थी। इसी बीच भीम युयुत्सु का अपमान करता है। विदुर और कृपाचार्य के युधिष्ठिर के साथ वार्तालाप से ज्ञात होता है कि भीम की कटूक्तियों से मर्माहत होकर धृतराष्ट्र और गान्धारी वन में चले गये हैं[2] और तभी से युयुत्सु गूँगा हो गया है। युधिष्ठिर विदुर और कृपाचार्य के साथ युयुत्सु को आश्वस्त करने के लिए चले जाते हैं। तभी दोनों प्रहरी प्रवेश करके युधिष्ठिर के सन्त-स्वभाव और ढुलमुल नीति की आलोचना करते हुए पूर्वकालीन कौरव-शासन को ही अच्छा बतलाते हैं।[3] विदुर और कृपाचार्य देखते हैं कि बच्चों की भीड़ युयुत्सु पर पत्थर फेंक रही है। वह गूँगा, भिखमंगा सैनिक भी, युयुत्सु ने युद्ध में जिसके पैर तोड़ दिये थे, प्रतिशोध-स्वरूप उन पर पत्थरों से प्रहार कर रहा था। जैसे ही कृपाचार्य प्रहरी के हाथ से भाला लेकर उस भिखमंगे का पीछा करते हैं, युयुत्सु उनके हाथ से भाला छीनकर आत्महत्या कर लेता है। युयुत्सु के वध की सूचना पर टिप्पणी करते हुए प्रहरी आपस में कहते हैं कि जब तक अस्त्र रहेंगे, काम आयेंगे ही, फिर भले ही वे दूसरों की हत्या में प्रयुक्त हों या आत्महत्या में।[4] कृपाचार्य आत्मघात वाली युधिष्ठिर की संस्कृति से मुक्ति पाने के लिए हस्तिनापुर से प्रस्थान करने का निश्चय करते हैं। इसी बीच युधिष्ठिर सूचना देते हैं कि युयुत्सु में अभी कुछ प्राण शेष हैं। विदुर युयुत्सु की परिचर्या करते हैं। उधर वनों में भीषण अग्निकाण्ड होता है। संजय के बहुत प्रयत्न करने पर भी कुन्ती, गान्धारी और धृतराष्ट्र उस भीषण दावाग्नि में भस्म हो जाते हैं।[5] मरते समय गान्धारी को बोध होता है कि जो शाप उसने कृष्ण को दिया था, वही अग्नि, आत्म-हत्या, अधर्म आदि के रूप में परिव्याप्त हो रहा है। युधिष्ठिर को अपनी विजय खोखली लगने लगती है। वे किरीट धारण करना छोड़ देते हैं। हस्तिनापुर में अप-शकुन दिखाई देने लगते हैं। उधर गान्धारी और धृतराष्ट्र का तर्पण करने के उपरान्त

---

१. (क) धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० १०३
   (ख) **महाभारत**, शान्ति पर्व, अध्याय ४०
२. मिलाइये, **महाभारत**, आश्रमवासिक पर्व, अ० ३ तथा अ० १५
३. महाभारत में युधिष्ठिर के शासन की अत्यधिक प्रशंसा की गयी है और उसे धर्म-राज्य कहा गया है। उसकी तुलना राम-राज्य तथा स्वर्ग से भी की गयी है। दे० **महाभारत**, आश्वमेधिक पर्व, अ० १४
४. **धर्मवीर भारती, अन्धायुग**, पृ० ११०
५. दे०, **महाभारत, आश्रमवासिक पर्व**, अ० ३७

युयुत्सु के घाव पुनः खुल जाते हैं और उसका आत्मघात फलित होकर रहता है।[1] उन्हें कृष्ण के अवसान के लक्षण दिखलाई देने लगते हैं। वे विदुर के समक्ष हिमालय के शिखरों पर गलकर प्राणान्त करने का निश्चय प्रकट करते हैं।

पाँचवें अंक के उपरान्त 'समापन' में 'प्रभु की मृत्यु' का प्रसंग है। कवि ने 'समापन' के प्रारम्भ में पूर्ण भक्ति-भाव से प्रभु की वन्दना की है, तदनन्तर कथा-गायन में अपनी दाहिनी जाँघ पर मृग के मुख जैसा बाँया पग टिकाकर पीपल के नीचे प्रभास-वन क्षेत्र में विराजमान कृष्ण का उल्लेख है। भयंकर रूप वाला अश्वत्थामा मदिरा के नशे में डूबे हुए यादव-वंशियों के कृष्ण द्वारा संहार[2] की तुलना अपने द्वारा किये गये नर-संहार से करके भगवान् कृष्ण को भी अपनी ही कोटि का अपराधी घोषित करता है। दूसरी ओर से अग्निकाण्ड में झुलसे हुए घुटनों वाला संजय आत्म-ग्लानि से पीड़ित हो घिसटता हुआ आता है। सहसा झाड़ी के पीछे से जरा नामक एक व्याध[3] कृष्ण के बायें पैर को मृग-मुख समझकर वाण चलाता है। प्रभु के पैर में बाण लगते ही पीप-भरा नीला रक्त बह निकलता है। अश्वत्थामा को यह सब देखकर सन्तोष होता है।[4] उसे लगता है जैसे प्रभु ने अपने शोणित से उसकी ही पीड़ा को व्यक्त किया हो। उसके मन में आस्था जागती है। युयुत्सु की प्रेतात्मा नर-पशु अश्वत्थामा के मन में उगी आस्था का उपहास करती है। वह कृष्ण के प्रति अनास्था प्रकट करता हुआ कहता है कि हमारी नियति प्रभु के मरण से नहीं मानव-भविष्य से, परीक्षित के जीवन से बँधी है।[5] व्याध के कथन से स्पष्ट होता है कि प्रभु ने स्वेच्छा से ही मरण को वरण किया है। अश्वत्थामा स्वीकार करता है, "अन्धायुग अन्धी प्रतिहिंसा बनकर मेरी नस-नस में पैठ गया था। प्रभु ने शत्रु होते हुए भी मेरी पीड़ा स्वयं धारण कर ली"।[6] युयुत्सु के यह प्रश्न करने पर कि 'प्रभु के इस कायर मरण के बाद अन्धे युग में 'मानव-भविष्य' की रक्षा कैसे होगी'?[7] बूढ़ा व्याध प्रभु के अन्तिम शब्दों को दोहराता है। प्रभु ने कहा था, "अब तक

---

१. महाभारत में युयुत्सु की आत्महत्या का प्रसंग नहीं आता है। युधिष्ठिर आदि पाण्डव दीर्घकाल तक राज्य-भोग के उपरान्त जब महाप्रस्थान करते हैं, तब वे राज्य का कार्य-भार युयुत्सु को सौंपते हैं और परीक्षित का राज्याभिषेक करते हैं।
"ततो युयुत्सुमानाय्य प्रव्रजन् धर्मकाम्यया।
राज्यं परिददौ सर्वं वैश्यापुत्रे युधिष्ठिरः॥
अभिषिच्य स्वराज्ये च राजानं च परीक्षितम्
महाभारत, महाप्रस्थानिक पर्व, अ० १, श्लोक ६-७

२. दे० **महाभारत**, मौसल पर्व, ३

३. दे० **महाभारत**, मौसल पर्व, अ० ४, श्लो० २२-२३

४. महाभारत में कृष्ण के स्वर्गारोहण के समय अश्वत्थामा का उनके समीप होने और उन्हें जरा के वाण से विद्ध होते हुए देखने का उल्लेख नहीं है। दे०, **महाभारत**, मौसल पर्व, अ० ४

५. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० १२५

६. **वही**, पृ० १२६ ७. **वही**, पृ० १२७

मानव-भविष्य को मैं जिलाता था, लेकिन अन्धे युग में मेरा एक अंश निष्क्रिय (संजय), आत्मघाती (युयुत्सु) और विगलित (अश्वत्थामा) रहेगा, क्योंकि इनका दायित्व मैंने लिया है और मेरा शेष अंश, जिसका दायित्व अन्य सभी व्यक्तियों को लेना होगा, मानव-मन के उस वृत्त में निवास करेगा जो सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए पिछले ध्वंसों पर नूतन निर्माण करेगा। मर्यादायुक्त आचरण, नूतन सृजन, निर्भयता, साहस आदि के क्षणों में मैं बार-बार जीवित हो उठूंगा।" अन्त में भरत-वाक्य के रूप में कथा-गायन का प्रयोग किया गया है, जिसमें कवि ने कामना की है कि संजय की निष्क्रियता, अश्वत्थामा की बर्बरता, प्रहरियों की दास-वृत्ति के रूप में युग-मानस पर गहरा अन्धकार छा जाने के बावजूद भी हमारे मन में बीज-रूप में स्थित वह तत्त्व, जो साहस, स्वतन्त्रता, नूतन सर्जन, दायित्वयुक्त मर्यादित आचरण में अवतरित होता है, हमेशा मानव-भविष्य को अर्द्धसत्य, ब्रह्मास्त्रों के भय, दासता, संशय और पराजय से बचाता रहे।

कथानक की ऊपर प्रस्तुत की गई विशद् रूपरेखा का यहाँ विश्लेषण करना अपेक्षित है :—

(१) अन्धायुग का कथानक अधिकांशतः प्रख्यात है, क्योंकि इसमें महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का प्रश्रय लिया गया है। प्रख्यात कथावस्तु के साथ कतिपय उत्पाद्य प्रसंगों और पात्रों का भी इसमें समावेश किया गया है। उत्पाद्य कथा-तन्तुओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :—(क) प्रख्याताश्रित उत्पाद्य कथा-तन्तु और (ख) पूर्णतः उत्पाद्य कथा-तन्तु। प्रख्याताश्रित या अर्द्ध-उत्पाद्य कथा-तन्तु वे हैं, जो पूर्णतः कवि-कल्पित न होकर महाभारत के प्रसंगों और पात्रों के किंचित् परिवर्तित संस्करण हैं। युयुत्सु की आत्म-हत्या, अश्वत्थामा को कृष्ण की मृत्यु के प्रत्यक्ष द्रष्टा के रूप में उपस्थित करना, अश्वत्थामा द्वारा वृद्ध याचक का वध, वृद्ध याचक (की प्रेत काया) को ही जरा नामक व्याध के रूप में प्रस्तुत करना, अश्वत्थामा का कृतवर्मा के वध के लिए उद्यत होना, कृपाचार्य का स्वेद-जल से अश्वत्थामा को सेनापति-पद पर अभिषिक्त करना, अश्वत्थामा द्वारा पाण्डव योद्धा के भ्रम से संजय का गला दबोचा जाना आदि और भी कई प्रसंग हैं, जिनमें प्रख्यात प्रसंगों में कुछ-न-कुछ परिवर्तन किया गया है। दोनों प्रहरी, वृद्ध याचक और गूंगा सैनिक कल्पित पात्र हैं और स्वभावतः उनसे सम्बद्ध घटनाएँ भी कल्पित या उत्पाद्य हैं। प्रश्न उठता है कि प्रख्यात कथावस्तु में कहीं-कहीं परिवर्तन करना और बीच-बीच में स्वकल्पित पात्रों और प्रसंगों का भी समावेश करते चलना कहाँ तक उचित है? वस्तुतः कोई भी प्रख्यात कथावस्तु अपने विशिष्ट युग की संवेदना को व्यक्त करने में समर्थ होती है, उसे किसी अन्य युग की संवेदना के संवहन का माध्यम बनाने के लिए उसमें ऐसा परिवर्तन-परिवर्धन सर्वथा उचित है जिससे प्रतिष्ठित प्रसंगों और पात्रों का मूल स्वरूप भी खण्डित या विकृत न हो और साथ ही वह कवि द्वारा सम्प्रेष्य संवेदना की अभिव्यक्ति का भी सफल माध्यम बन सके। प्रख्यात कथावस्तु में किये गये गौण परिवर्तन और कुछ कल्पित पात्रों और प्रसंगों के समावेश के द्वारा ही कवि मूल

कथा-वस्तु में ऐसा लचकीलापन पैदा करता है, जिससे वह दो युगों के अन्तराल को मिटाकर दोनों की संवेदना को बिम्बित करती है।

(२) अन्धायुग के कथानक में महाभारत के शल्य पर्व, सौप्तिक पर्व, स्त्री पर्व, शान्ति पर्व, आश्रमवासिक पर्व, मौसल पर्व, महाप्रस्थानिक पर्व आदि के विस्तीर्ण कलेवर में बिखरे प्रसंगों को चुनकर और एकत्र संयोजित करके भारती ने चयन और संयोजन की विलक्षण क्षमता का परिचय दिया है, जिससे कथानक में अद्‌भुत समाहार शक्ति आ गई है। गतिमय एवं भावोद्दीपक प्रसंगों की सुगठित संयोजना से अपेक्षित नाटकीय एवं काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में सहायता मिली है। कथानक का यह कलात्मक कसाव जहाँ कृतित्व के चारुत्व में वृद्धि करता है, वहाँ कुछ इने-गिने स्थानों पर उसके कारण दुरूहता भी आ गई है। शायद कवि यह धारणा बनाकर चला है कि 'अन्धायुग' को पढ़ने से पहले उसके प्रत्येक पाठक ने महाभारत का विधिवत् पारायण कर लिया है। केवल अन्धायुग को पढ़ने से यह पता नहीं लग पाता है कि भीम ने गदा-युद्ध में दुर्योधन के प्रति क्या अन्याय किया? अश्वत्थामा की मणि का क्या महत्त्व था, पाण्डवों ने उसे क्यों और कैसे प्राप्त किया? युयुत्सु के प्रति गांधारी की कटूक्तियों में निहित व्यंग्य के तीखेपन को सुरक्षित रखने के लिए ही सम्भवतः कवि ने अपने पाठकों को यह पता नहीं लगने दिया है कि युयुत्सु गांधारी का वास्तविक पुत्र न होकर एक वेश्या दासी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

(३) भारती ने कथानक को व्यवस्थित करने में प्रभावात्मक संघनन की पद्धति अपनाई है। इसके लिए कवि ने कई साधनों का सहारा लिया है :—(क) मूल प्रसंगों के विस्तारों को काट-छाँटकर उन्हें संक्षिप्त, तीव्र एवं प्रतीकात्मक रूप दिया गया है। (ख) कहीं सम और कहीं विषम प्रभाव वाले प्रसंगों को एक-दूसरे के समानान्तर या परस्पर सटाकर रखा गया है। युयुत्सु और गूंगे सैनिक के प्रसंगों[1] को आमने-सामने रखकर कवि ने समूचे प्रसंग को तीखी संवेदना से भर दिया है। इसी प्रकार गांधारी का संजय से अश्वत्थामा और उससे सम्बद्ध दृश्यों को दिखाने का आग्रह करना फिर उन दृश्यों को देखने का साहस न कर पाना[2] भी वैषम्य के द्वारा प्रभाव-वृद्धि का उदाहरण है। कृष्ण के शाप से ग्रस्त अश्वत्थामा को गांधारी के शाप से ग्रस्त कृष्ण की मृत्यु का प्रत्यक्ष द्रष्टा[3] बनाकर कवि ने दो समान स्थिति वाले प्रसंगों को सटाकर एकान्वित कर दिया है। कहीं-कहीं कवि ने एक या दो पंक्तियों में ही समानान्तर दृश्य-योजना द्वारा अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की है।[4] (ग) कहीं-कहीं कवि ने प्रमुख प्रसंगों के प्रभाव में तीव्रता लाने के लिए अन्य छोटे-छोटे सहकारी प्रसंगों

---

१. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ४८-५८

२. **वही**, पृ० ८१-८४

३. **वही**, पृ० १२२-१२७

४. "इस रात विजय में मदोन्मत्त पाण्डवगण।
इस रात विवश छिपकर बैठा दुर्योधन॥ **वही**, पृ० ४६

की सद्भावना की है। उदाहरणार्थ कुरुक्षेत्र की दिशा में उड़ने वाले नरभक्षी गिद्धों के भूखे बादल के प्रसंग[1] द्वारा युद्ध की भीषण परिणतियों के प्रसंग को तीव्रता प्रदान की गई है। ठीक इसी प्रकार कोटर से झाँक रहे खूँखार गिद्धों और जीभें निकाले लोलुप नेत्रों से देखते हुए झाड़ियों में घूमने वाले गीदड़ और भेड़ियों का प्रसंग[2] दुर्योधन की मृत्यु के दृश्य को और अधिक अर्थ-गर्भित और मार्मिक बनाता है। गांधारी का फूल-सी कौरव-बधुओं की कलाइयों से अपने हाथों से चूड़ियाँ उतारने का प्रसंग[3] प्रमुख प्रसंग को मार्मिकता प्रदान करता है। पाँचवे अंक में दो प्रहरियों के द्वारा अपशकुनों के उल्लेख में सूरज में हिलते हुए मुण्डहीन कबन्धों के नज़र आने के अनिष्ट-कारी अपशकुन के साथ ही द्वारिका में आधी रात के समय काला और पीला वेश धारण किए घूमते हुए काल का भी उल्लेख है, जिस पर जब बड़े-बड़े धनुर्धारी बाणों की वर्षा करते हैं तो वह अन्धड़ बनकर उड़ जाता है।[4] इस प्रकार के अपशकुनों के द्वारा यादव वीरों और कृष्ण की मृत्यु के प्रसंग को तीव्रता प्रदान की गई है। (घ) कथा-गायनों के प्रयोग द्वारा भी कवि ने बहुत से प्रसंगों को समेटने और अंकों में पूर्वापर घनिष्ठता लाकर, सम्पूर्ण कथानक में घनत्व लाने में सफलता प्राप्त की है। (ङ) 'अन्धायुग' के कथानक का कोई भी प्रसंग ऐसा नहीं है, जो स्थूल घटना-मात्र के स्तर पर रह गया हो; सभी प्रसंग पात्रों के मन में गहरे उतर कर संवेदना और चिन्तन में अपनी सार्थकता प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि इस कृति के सभी पात्र संवेदनशील और चिन्तक हैं और सभी प्रसंग अर्थगर्भित और विचारोत्तेजक। 'अन्धा-युग' के कथानक में गुम्फित एक भी पात्र और एक भी प्रसंग बिना किसी गम्भीर प्रयोजन के नहीं हैं। कवि ने प्रभावोत्पादकता की योग्यता को ही परिस्थितियों और पात्रों के चयन का सही आधार माना है। सभी पात्र और प्रसंग एक ही वातावरण और प्रभाव के विविध पक्षों को सफलतापूर्वक उभारते हैं। (च) जिस प्रकार कथागायनों के माध्यम से भूत, वर्तमान और भावी घटनाओं की सूचना देकर समूचे घटनाचक्र को सम्बद्ध रखने की चेष्टा की गई है, उसी प्रकार कुछ पात्रों के मुख से पूर्वघटित घटनाओं का बार-बार उल्लेख करा के घटना-क्रम को सम्बद्ध बनाये रखने के साथ ही प्रभाव को भी घनीभूत किया गया है। उदाहरणार्थ, अश्वत्थामा का अपने पिता तथा दुर्योधन के अन्यायपूर्ण वध का बार-बार स्मरण उसे पाण्डवों के विनाश के अपने संकल्प को बार-बार दुहराने को प्रेरित करता है। संजय के माध्यम से भी कथानक में घनत्व लाया गया है। प्रत्यक्ष दृश्यों को तो पाठक और दर्शक मानसिक अथवा वास्तविक रंगमंच पर घटित होते देखते ही हैं, साथ ही अन्धे धृतराष्ट्र के साथ वे उन अप्रत्यक्ष दृश्यों को भी मनश्चक्षुओं से देखते चलते हैं, जिन्हें संजय दिव्य दृष्टि से

---

१. वही, पृ० १४ तथा १६
२. वही, पृ० ६६
३. वही, पृ० २२
४. धर्मवीर भारती, अन्धायुग, पृ० ११७-११८

दिखलाता है। इस प्रकार शिल्प की दृष्टि से कवि को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, निकटवर्ती और दूरवर्ती दृश्यों को एकत्र संयोजित करने में सफलता मिली है।

(४) भारती ने पहले तीन अंकों में परिस्थितियों का चित्रण इस ढंग से किया है कि उनके माध्यम से सभी प्रमुख पात्र अपना-अपना एक विशिष्ट अर्थ ग्रहण कर लें। तीसरे अंक के बाद दिये गए 'पंख पहिये और पट्टियाँ' शीर्षक 'अन्तराल' में कथा-मन्थन और विश्लेषण के आधार पर कवि ने अपने पात्रों के, परिस्थितियों के सन्दर्भ में उभरे, विशिष्ट अर्थों की खोज की है और पात्रों के उन्हीं प्रतीकार्थों को बाद के दो अंकों और 'समापन' में पुष्ट एवं चरितार्थ किया है। प्रतीकात्मकता के इस आद्योपान्त निर्वाह के कारण पात्रों और परिस्थितियों में एक गहरी संगति आ गयी है। या यों कहना चाहिए कि पात्रों और परिस्थितियों की गहरी संगति में से ही गम्भीर प्रतीकार्थों का उदय हुआ है।

(५) परिस्थितियों के प्रति पात्रों की मानसिक प्रतिक्रिया उभारने में भारती ने दोहरी प्रक्रिया अपनायी है। सभी प्रमुख पात्र अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार दूसरे पात्रों और परिस्थितियों के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते चलते हैं, किन्तु दोनों प्रहरी बीच-बीच में उपस्थित होकर तटस्थ रूप में पात्रों और परिस्थितियों की समग्रता का सामान्य सर्वेक्षण करते हुए अपना बहुमूल्य अभिमत देते चलते हैं। विभिन्न पात्र अपनी दृष्टि से उपलब्ध सीमित सत्यों या असत्यों (या अर्द्धसत्यों) को ही पूर्ण सत्य मानते चलते हैं, जबकि प्रहरियों की समीक्षात्मक टिप्पणियों के माध्यम से तटस्थ एवं सामान्य सत्य अधिगत होता है। कथानक के साथ ही प्रहरियों के माध्यम से कथानक का पर्यालोचन या अध्ययन भी उसके साथ निबद्ध करके भारती ने अपने कृतित्व को गम्भीर अर्थवत्ता प्रदान की है।

(६) 'अन्धायुग' में अति-मानवीय और अति-प्राकृतिक तत्त्वों का समावेश भी मिलता है। दुर्योधन का सरोवर के जल को 'माया से बाँधकर' निश्चल बैठना, युयुत्सु के कौरव-नगरी में प्रवेश करने पर वहाँ के निवासियों का उसे मायावी समझना तथा यह सोचना कि वह गृद्ध-रूप में, बन्द नगर-द्वार के ऊपर से उड़कर छत पर सोये बच्चों को खाने लगा है, पाण्डव शिविर की रक्षा के लिए रौद्र-वेशधारी प्रलयंकर शंकर का उपस्थित होना और अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये दिव्यास्त्रों का उनके एक रोम में समा जाना, अर्जुन से आक्रान्त होकर अश्वत्थामा का उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र छोड़ना, व्यास की आकाशवाणी, द्वारिका में काल का काला और पीला वेश बनाकर घूमना, युयुत्सु का अन्धे प्रेत के रूप में प्रवेश करना, प्रभु के चरण में व्याध का बाण लगने से अश्वत्थामा की पीड़ा का शान्त होना आदि और भी कई ऐसे स्थल हैं, जो आधुनिक वैज्ञानिक युग के लिए अविश्वसनीय हैं।[1] यद्यपि प्रख्यात कथा का प्रश्रय लेने के कारण ऐसे पौराणिक प्रसंगों का समावेश स्वाभाविक ही था, तथापि इनमें से कुछ प्रसंगों को सहज मानवीय रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता था। उदाहरणार्थ, यदि दुर्योधन

---

१. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ३६, ५२, ७७-७८, ९२, ११७, १२४, १२६

सरोवर के जल को माया से न भी बाँधता, तो भी प्रसंग की मार्मिकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार अश्वत्थामा द्वारा ब्रह्मास्त्र छोड़ने पर व्यास अपनी प्रतिक्रिया आकाशवाणी के रूप में व्यक्त न करके यदि सहज मानवीय रूप में ही व्यक्त करते, तो भी प्रसंग की तीव्रता घटने के स्थान पर बढ़ती ही। किन्तु मूल कथानक के प्रमुख पौराणिक प्रसंगों को बदलकर सहज रूप में प्रस्तुत करना न तो न्यायसंगत ही था और न बहुत उपयोगी ही। वस्तुतः तो पौराणिकता अपने मूल रूप में मानव और प्रकृति से भिन्न कुछ नहीं है। मानवीय और प्राकृतिक तत्त्वों को ही जब उनकी परिवेशगत या लौकिक सीमाओं से निकालकर कल्पना के द्वारा अतिरंजित या असीम रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है, तब पौराणिकता का उदय होता है। मानव को उसकी सीमाओं से निकालकर यदि असीमता के धारातल पर अधिष्ठित कर दें, तो वही देवता का रूप ग्रहण करता है। इन्द्र, वरुण, मरुत, विष्णु, शिव आदि मानवीय और प्राकृतिक शक्तियों के सीमा-निरपेक्ष रूप हैं। इसी प्रकार दिव्यास्त्रों की कल्पना के मूल में मानव द्वारा निर्मित भयंकर अस्त्र ही हैं; केवल उनकी शक्ति और प्रभाव को असीमता प्रदान की गयी है। आज के युग में जब मानवीय अस्त्रों (प्रक्षेपणास्त्रों) की शक्ति वास्तव में ही असीम हो गयी है, तब दिव्यास्त्रों की परिकल्पना अतिरंजित होते हुए भी अस्वाभाविक नहीं लगती। महाभारतकालीन दिव्यास्त्रों के युद्ध के प्रकाश में आधुनिक युग के आणविक अस्त्रों के युद्ध की विभीषिका को सहज ही समझा जा सकता है। युयुत्सु को देखकर पहले से ही भयाक्रान्त नगर-निवासियों का उसे मायावी तथा बन्द द्वारों के ऊपर से उड़कर छतों पर सोये बच्चों को खाने वाला गृद्ध समझना भी अस्वाभाविक नहीं है। ऐसा समझने के मूल में भय-भावना का मनोविज्ञान क्रियाशील है। सामान्य जीवन में भी भयाक्रान्त व्यक्ति को वृक्ष और पशु-पक्षी भी भूत या प्रेत दिखलाई पड़ने लगते हैं। युयुत्सु को हिंसक मायावी के रूप में देखने से ही पता लगता है कि नगर-निवासियों के मन पर विपक्षी योद्धाओं तथा युद्ध का कितना भारी भय सवार था। इसी प्रकार दिव्य दृष्टि का प्रसंग अतिरंजित होते हुए भी आज के युग में टेलीविज़न आविष्कृत हो जाने के कारण वास्तविकता के निकट प्रतीत होता है। युद्ध की विभीषिका को महाभारतकार ने पौराणिकता का पुट देकर जिस अतिरजित रूप में प्रस्तुत करना चाहा है, आधुनिक युग में विभीषिका की वही अतिरंजना आज की वैज्ञानिकता के परिप्रेक्ष्य में वास्तविकता में परिणत हो गयी है। इसलिए उसके अविश्वसनीय और अवास्तविक होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? प्राचीन काल की अतिरंजना आज की वास्तविकता बन गयी है। भारती ने इसी वास्तविकता के उद्घाटन के लिए प्राचीन युग की अतिरंजना का सहारा लिया है। यदि अति-मानवीय प्रसंग मानवीय प्रसंगों के ही अतिरंजित रूप होने के कारण उन्हीं को प्रखर रूप में प्रस्तुत करने में सहायक हों, तो उनका प्रयोग अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। अलौकिकता का यान्त्रिक तथा अनावश्यक रूप में आरोपित प्रयोग मानवीय प्रसंगों और मनोभावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधक बन जाता है, जैसा कि 'संशय की एक रात' में दशरथ की

प्रेतात्मा के रूप में दिखलाई पड़ता है।[1] संक्षेप में, अन्धायुग में पौराणिकता का प्रयोग मानवीय अर्थों को तीव्रता एवं असीमता प्रदान करने के उद्देश्य से ही हुआ है। विशिष्ट एवं अतिरंजित मानवीय अर्थों से सन्निविष्ट होने के कारण ही अनेक पौराणिक पात्रों और प्रसंगों ने गूढ़ मानवीय अर्थों को व्यंजित करने वाले प्रतीकों का रूप ग्रहण कर लिया है।

(७) कथानक में विस्मय और कौतुक की वृत्तियाँ जगाने के लिए तथा नाटकीय स्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए नाटकीय विडम्बना (ड्रैमेटिक आयरनी) की पद्धति को अनेक स्थानों पर अपनाया गया है, जिसका विस्तृत विवेचन 'संवाद' के अन्तर्गत आगे किया जायेगा।

(२) **पात्र और चरित्र-चित्रण**—अन्धायुग में पात्रों की योजना में भी एक विलक्षणता दिखलायी पड़ती है। सहज मानवीय पात्रों से लेकर पूर्णतः दिव्य पात्रों तक का इसमें समावेश हुआ है। प्रहरी गूँगा सैनिक, कृतवर्मा, कृपाचार्य, विदुर आदि सहज मानवीय पात्र हैं, तो कृष्ण और शिव ईश्वरीय शक्तियों से युक्त दिव्य पात्र हैं (जो मानवीय गुणों के चरमोत्कर्ष को चरितार्थ करने के कारण मानवीय सन्दर्भों में ही सार्थक हैं)। इन दोनों प्रकार के पात्रों के मध्य वे पात्र हैं, जिनमें मानवीय गुणों के साथ ही कुछ दिव्य गुणों या शक्तियों का भी समावेश है। ब्रह्मास्त्र और मणि से युक्त अश्वत्थामा, मायावी दुर्योधन, ब्रह्मास्त्रधारी अर्जुन, शाप और वरदान देने की क्षमता से युक्त गान्धारी, दिव्य दृष्टि-सम्पन्न संजय आदि मध्यम कोटि के पात्र हैं, जिन्हें अर्द्ध-दिव्य पात्र कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त कुछ पात्रों को प्रेतात्मा के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है, जैसे वृद्ध याचक की प्रेतात्मा तथा युयुत्सु की प्रेतात्मा। यद्यपि भारती के स्रोत-ग्रन्थ महाभारत में पुरुष पात्रों के साथ नारी-पात्रों की भी पर्याप्त संख्या है, तथापि उन्होंने प्रस्तुत कृति में नारी पात्रों में से केवल गान्धारी को ही सम्मिलित किया है। यों प्रासंगिक रूप से उत्तरा, कुन्ती, विधवा कौरव-वधुओं और पाण्डव-शिविर में विद्यमान स्त्रियों का भी उल्लेख मिलता है।[2] महाभारत में स्त्री-पुरुष पात्रों के अतिरिक्त शिखण्डी नामक नपुंसक पात्र ने भी प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया है। अन्धायुग में भी उसका प्रासंगिक उल्लेख मिलता है।[3] पात्रों के उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अन्धायुग में पात्रों का वैविध्य प्रचुर है। डॉ० सुरेशचन्द गुप्त ने अन्धायुग में चरित्र-चित्रण के लिए प्रयुक्त निम्नलिखित चार पद्धतियों का उल्लेख किया है—[4](अ) पात्र विशेष की उक्तियों द्वारा उसके चरित्र की

---

१. दे०, प्रस्तुत **शोध-प्रबन्ध का सातवाँ अध्याय**

२. दे०, धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ७०, ११४, २२, ८०

३. **वही**, पृ० ८०

४. डॉ० **सुरेशचन्द्र गुप्त, अन्धायुग**, सम्पा० डॉ० यश गुलाटी, **हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्यांकन**, पृ० ६५६

व्यंजना, (आ) पात्रों की उक्तियों द्वारा एक-दूसरे के चरित्र की व्यंजना (इ) गान्धारी अश्वत्थामा, विदुर आदि द्वारा अपने संवादों में किसी अन्य पात्र के विचारों अथवा कार्यों की समीक्षा, (ई) कवि द्वारा अपनी ओर से चरित्र-विश्लेषण। ऊपर गिनायी गई पद्धतियों में से दूसरी और तीसरी में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। दूसरी में जिस बात को सामान्य रूप में कहा गया है, तीसरी में उसी को विशिष्ट या व्यावहारिक रूप में। वस्तुतः अन्धायुग में चरित्र-चित्रण की चार पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं—(१) विशेष पात्र की उक्तियों द्वारा उसके चरित्र कीं व्यंजना, (२) विशेष पात्र की क्रियाओं द्वारा उसके चरित्र की व्यंजना, (३) अन्य पात्रों द्वारा उसके चरित्र की समीक्षा (४) कवि द्वारा पात्रों का चरित्र-विश्लेषण। अन्धायुग में चरित्र-चित्रण की यह बड़ी भारी विशेषता है कि जहाँ एक ओर कवि ने अपने पात्रों को विषम और उत्तेजक परिस्थितियों के मध्य रखकर उनके प्रति उनकी मानसिक (वैचारिक तथा भावात्मक) और क्रियात्मक प्रतिक्रियाओं को उभार कर उनके चरित्र की रेखाएँ स्पष्ट की हैं, वहाँ साथ ही, कवि ने अपने पात्रों की परस्पर समीक्षा करवा कर विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से उनके चरित्र के सत्-असत् पक्षों का उद्घाटन किया है। दोनों प्रहरी तो अपने निजी अस्तित्व और व्यक्तित्व की दृष्टि से उतने महत्त्वपूर्ण नहीं, जितने निकटस्थ पात्रों और परिस्थितियों के पर्यालोचक के रूप में। दोनों प्रहरियों को तो हम निस्संदेह टिप्पणीकार या समीक्षक पात्र ही कह सकते हैं। दोनों के व्यक्तित्व में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए भारती ने उनके पृथक्-पृथक् नाम देने की भी आवश्यकता नहीं समझी हैं; कार्य के आधार पर दोनों को सामान्य रूप मे 'प्रहरी' कह दिया है। वे यन्त्रवत् अपना कार्य करते जाते हैं। मर्यादा-अमर्यादा, आस्था-अनास्था, सार्थकता-निरर्थकता के प्रश्नों से उनको कोई सरोकार नहीं। परिवेश और उसकी जटिलताओं से भावना के स्तर पर प्रतिबद्ध न होने के कारण ही वे तटस्थ बौद्धिक स्तर पर उस परिवेश में घटित जीवन-स्थितियों और संचरित पात्रों की गम्भीर समीक्षा करने में समर्थ हैं। जैसा कि डॉ० गुप्त ने उचित ही कहा है कि सामान्यतः काव्य-रूपक (?) में इनमें से अन्तिम पद्धति का समावेश सम्भव नहीं होता,[1] किन्तु भारती ने 'कथा-गायन' के अन्तर्गत इसका सफल निर्वाह किया है। पात्रों और परिस्थितियों की समीक्षा के सन्निवेश द्वारा भारती ने अपनी कृति में भावपूर्ण बिम्बात्मक निरूपण के साथ चिन्तन का समन्वय स्थापित किया है। सच तो यह है कि परिस्थितियों में गहराई से पैठे हुए परस्पर प्रतिक्रियावादी पात्रों की पारस्परिक एकांगी समीक्षाओं के साथ ही निस्संग भाव से की हुई समीक्षात्मक टिप्पणियाँ देना भी कवि ने अपने कृतित्व का अंग माना है। कवि ने अपने

---

१. डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त **अन्धायुग**, सम्पा० डॉ० यश गुलाटी, **हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्यांकन**, पृ० ६५६

२. **"थे भीम बुद्धि से मंद, प्रकृति से अभिमानी।**
अर्जुन थे असमय वृद्ध, नकुल थे अज्ञानी॥"
धर्मवीर भारती, अन्धायुग, पृ० १०३

इस कार्य का कुछ भाग, जो कथा-गायनों के माध्यम से सहज सम्भव नहीं था, प्रहरियों को सौंप दिया है। यही कारण है कि प्रहरी कवि की भाँति चिन्तक हैं और प्रायः उनके अभिमत कवि के अभिमतों से मेल खाते हैं। जिस प्रकार कवि कहता है "अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन"[१], उसी प्रकार पहला प्रहरी कहता है, "देखेंगे कैसे, वे अन्धे हैं"[२] तथा दूसरा प्रहरी कहता है, "संस्कृति थी यह एक बूढ़े और अन्धे की।"[३]

अंधायुग में **अश्वत्थामा** के चरित्र-चित्रण में भारती को सर्वाधिक सफलता मिली है। अश्वत्थामा मूलतः विकृत और क्रूर पात्र नहीं है। वह पितृ-भक्त होने के साथ ही एक निर्भीक मुखर, स्वाभिमानी और समर्थ शूरवीर है। दुर्योधन के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा का वह अन्त तक निर्वाह करता है। मुख्यतः दो कारणों से उसमें वह मानसिक असन्तुलन उत्पन्न हुआ, जिसने उसके अन्दर वर्तमान शुभ और कोमल तत्त्वों की भ्रूण-हत्या करके उसे मर्यादा और विवेक का अतिक्रमण करने को विवश किया—(१) युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य के फलस्वरूप शोकाभिभूत द्रोणाचार्य का धृष्टद्युम्न द्वारा वध[४] तथा (२) गदा-युद्ध में भीम का नियमोल्लंघन और उसके परिणामस्वरूप दुर्योधन की पराजय।[५] युधिष्ठिर के पाखण्ड, धृष्टद्युम्न के पापपूर्ण प्रहार, भीम की अनीति और कृष्ण के कपटपूर्ण व्यवहार की प्रतिक्रिया के रूप में उसमें जो प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की प्रवृत्ति उदित होती है, वही उसकी भावी परिणतियों की नियामक बनती है।[६] प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर ही उसका विकृत, विक्षिप्त, अमर्यादित अहं नृशंसता और पतन के उस निम्न स्तर पर संचरण करता है, जिसके कारण वह युधिष्ठिर, युयुत्सु और व्यास के शब्दों में 'नराधम' और 'नरपशु' तथा स्वयं अपनी ही दृष्टि में "अन्ध बर्बर पशु" बन जाता है। युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य की प्रतिक्रिया में वह और भी आगे बढ़कर 'अमानुषिक अर्द्धसत्य" का मार्ग अपनाता है—

"किन्तु मैं हूँ अमानुषिक अर्द्धसत्य,
तर्क जिसका है घृणा और स्तर पशुओं का है।"[७]

घृणा और प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर ही 'वध' में अपने अस्तित्व की चरम सार्थकता

---

१. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ११
२. **वही**, पृ० १५
३. **वही**, पृ० १३
४. **वही**, पृ० ३४-३५
५. **वही**, पृ० ३५ तथा ६०
६. (क) "मैं हूँ और मेरी प्रतिहिंसा है।" **वही**, पृ० ४२
   (ख) "मैं इस प्रतिहिंसा में बिल्कुल अकेला हूँ।" **वही**, पृ० ६३
   (ग) "अन्धायुग पैठ गया था मेरी नस-नस में,
   अन्धी प्रतिहिंसा बन।" **वही**, पृ० १२६
७. **वही**, पृ० १२५

प्राप्त करता है और अन्ततः 'वध' उसमें एक मनोग्रंन्थि का रूप ग्रहण करता है।[१] यह मनोग्रंथि स्वकीय और परकीय दोनों स्तरों पर चरितार्थ होती है। स्वकीय स्तर पर यह मनोग्रन्थि उसे अपने नपुंसक अस्तित्व से छुटकारा पाने के लिए आत्मघात करने को प्रेरित करती है।[२] दुर्योधन की पराजय से पीड़ित और क्षुब्ध होकर प्रतिशोध के माध्यम से अपने आक्रोश की अभिव्यक्ति में कुण्ठित अश्वत्थामा का आत्म-ग्लानि एवं आत्म-क्षोभ से अपने धनुष को तोड़ना और अन्त में वल्कल धारण कर तपोवन में रहने की बात सोचना उक्त मनोग्रन्थि का स्वकीय स्तर पर फलित होना लक्षित करता है।[३] परकीय स्तर पर सक्रिय इसी मनोग्रन्थि से परिचालित होकर अश्वत्थामा संजय पर आक्रमण करता है, वृद्ध याचक का वध करता है और कृतवर्मा तक का वध करने को उद्यत हो जाता है।[४] पाण्डवों को लक्ष्य करके कृष्ण से कहे गये बलराम के ये शब्द "वे भी निश्चय मारे जायेंगे अधर्म से",[५] उसकी उक्त मनोग्रन्थि को संकल्प में बदल देते हैं।[६] मनोविज्ञान का संकेत-ग्रहण (Suggestion) का सिद्धान्त यहाँ व्यावहारिक रूप में चरितार्थ होता दिखाई पड़ता है। अपनी रक्त-पिपासा की तृप्ति के लिए वह आग्रहपूर्वक कौरव-पक्ष का सेनापति बनता है। उलूक द्वारा सोये हुए कौए के वध की घटना से उसके वध-सम्बन्धी संकल्प की पुष्टि तो होती ही है, साथ ही वध करने की प्रक्रिया और पद्धति का भी संकेत मिलता है। वह तभी आह्लाद से चिल्ला उठता है; "मातुल ! सत्य मिल गया बर्बर अश्वत्थामा को।"[७] वह तुरन्त कृतवर्मा और कृपाचार्य को लेकर पाण्डव-शिवर के द्वार पर पहुँचता है और वहाँ चट्टान-सदृश शंकर से संघर्ष में पराजित हो उनकी वन्दना करके और आशीर्वाद तथा असि लेकर व्यापक नर-संहार में प्रवृत्त होता है। अर्जुन से आक्रान्त होकर वह पाण्डव-वंश का समूल उच्छेदन करने के उद्देश्य से उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करता है और व्यास के कहने पर भी उसे छोड़ने में असमर्थता प्रकट करता है।[८] वह यादवों के वध की घटना देखकर कृष्ण की आलोचना करता है और स्व-वंश का विनाश

---

१. दे०, धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ३६ और ३८

२. दे०, **वही**, पृ० ३५

३. दे०, **वही**, पृ० ३३ तथा पृ० ९०-९१

४. दे०, **वही**, पृ० ३७, ४२, ६३

५. दे०, **वही**, पृ० ६२

६. "मातुल मैंने बिल्कुल सोच लिया
उनको मैं मारूँगा
मैं अश्वत्थामा
उन नीचों को मारूँगा।" **वही**, पृ० ६२

७. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ६९

८. **वही**, पृ० ९२

करने वाले यदुवंशी कृष्ण को अपनी अपेक्षा अधिक नृशंस मानता है।[१] उत्तरा के गर्भ में स्थित भ्रूण की हत्या के अभियोग में कृष्ण उसे शाप देते हैं कि वह युग-युगान्तर तक शरीर पर घाव और फोड़े धारण किये हुए गहन वनों में घूमता रहेगा।[२] संयोगवश, वह छिपकर एक व्याध के बाण से कृष्ण की मृत्यु की घटना देखता है। जैसे ही बाण प्रभु के चरणों में लगता है, उनसे वैसा ही पीप-भरा दुर्गन्धियुक्त नीला रक्त बह निकलता है जैसा अश्वत्थामा के घावों से बहता था। अश्वत्थामा की पीड़ा शान्त हो जाती है। उसे लगता है जैसे भगवान् ने उसकी सारी पीड़ा को स्वयं वहन कर लिया हो। इस घटना से उसके मन में प्रभु के प्रति गहरी आस्था का उदय होता है। महाभारत में, जैसा कि कहा जा चुका है, इस प्रसंग का उल्लेख नहीं है। भारती ने उसके व्यक्तित्व में यथार्थ की आदर्श में और अनास्था की आस्था में परिणति दिखाने के उद्देश्य से ही ऐसा किया है। यह आकस्मिक परिवर्तन खलता अवश्य है। यह भी समझ में नहीं आता है कि कृष्ण के बाण लगने से अश्वत्थामा की सारी पीड़ा अचानक ही कैसे शान्त हो गई! कवि शारीरिक स्तर से ऊपर सूक्ष्म भावात्मक अथवा आध्यात्मिक स्तर पर उक्त परिवर्तन के घटित होने की सम्भावना में विश्वास करके चला है। फिर भी, अश्वत्थामा की आस्था की उपलब्धि ऊपर से आकस्मिक प्रतीत होते हुए भी बहुत अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि उसने अनास्था की दीर्घकालीन पीड़ा सहकर आस्था की उपलब्धि की है।

अन्धायुग की रचना में अनेक आवयविक उपकरणों का जटिल अन्तर्गुम्फन होने के कारण नायक-नायिका, उपनायक तथा खलनायक आदि से सम्बन्धित बँधे-बँधाये प्रश्नों को उठाना परम्परागत सरलीकृत वर्गीकरण की पद्धति का प्रश्रय लेना होगा। जिस प्रकार भारती ने सत्य को समस्या और समाधान अथवा प्रश्न और उत्तर के स्थूल साँचों में बाँटकर नहीं देखा है, उसी प्रकार उनकी कृति अपने अन्दर समाहित पात्रों को नायक, नायिका आदि के संकीर्ण प्रतिमानों से परखने की अनुमति नहीं देती। फिर भी कथानक के सभी प्रमुख प्रसंगों से गहराई से सम्बद्ध होने के कारण, धृतराष्ट्र, दुर्योधन, गांधारी आदि प्रमुख पात्रों की आशा का एकमात्र अवशिष्ट अवलम्ब होने के कारण तथा अन्त में अनास्था की दीर्घकाल तक पीड़ा भोगने के बाद आस्था के रूप में फल-प्राप्ति के कारण अश्वत्थामा ही अन्धायुग का 'नायक' माना जा सकता है।

अन्धायुग का दूसरा सशक्त पात्र **गांधारी** है। संकीर्ण एवं आहत मातृत्व ही उसके व्यक्तित्व का मूल नियामक तत्त्व है। उसमें नारी-सुलभ भावुकता है, जो प्रतिक्रियावश प्रचण्ड रूप ग्रहण करती है। गांधारी के शोक-सन्तप्त आहत मातृत्व की अभिव्यक्ति कोमल और कठोर दोनों रूपों में हुई है। अपने पुत्रों और विशेषतः अपनी ममता के अन्तिम अवलम्ब—दुर्योधन—के प्रति उसका ममत्व असीम है। झूठा भविष्य

---

१. वही, पृ० १२१
२. वही, पृ० ९८

बताने वाले याचक के मुख से 'जयकार' सुनकर उसके ममतामय आशावादी हृदय को दुर्योधन की जय का पूर्ण विश्वास हो जाता है।[१] दुर्योधन की 'जय' बोलने के पुरस्कार के रूप में वह याचक को अंजुलि-भर मुद्राएँ दिलवाती हैं।[२] उसने याचकों के लिए एक दान-गृह भी खोल रखा है,[३] जिससे उसकी दान-वृत्ति और उदारता का परिचय मिलता है। कौरवों की पराजय के समाचार से उसकी मनोव्यथा की सीमा नहीं रहती; न वह रोती है, न शोक करती है और न क्रोध करती है; जड़वत् स्थिर होकर रह जाती है।[४] उसका मातृत्व उस समय वेदना से विगलित हो उठता है, जब वह सत्रह दिन के भीतर ही अपने सभी पुत्रों की मृत्यु का समाचार सुनती है, कौरव-विधवाओं की कलाइयों से चूड़ियाँ उतारती है और स्वयं अपने आँचल से उनकी 'सेन्दूर की रेखाएँ' पोंछती है।[५] उसकी यही कोमल-करुण मातृत्व-भावना अनेक स्थानों पर प्रतिहिंसावश अत्यन्त उग्र और विस्फोटक रूप ग्रहण करती है। वह धर्म, नीति, मर्यादा आदि को आडम्बर मात्र घोषित करती है और इनकी आड़ लेकर अपनी कपट-नीति का आत्म-हित उपयोग करने वाले कृष्ण को 'वंचक' घोषित करती है।[६] पाण्डव-पक्ष की ओर से युद्ध करने वाले कौरव-बन्धु युयुत्सु पर वह निर्ममतापूर्वक कठोर व्यंग्य करती है।[७] उसकी निर्ममता का अत्यन्त प्रचण्ड और विध्वंसक रूप तो तब दिखाई पड़ता है जब वह संजय के मुख से पाण्डव-शिविर में अश्वत्थामा द्वारा किये गये भीषण हत्याकाण्ड का वृतान्त बड़े मनोयोग से सुनती है। धृष्टद्युम्न को वध के पूर्व ही अन्धा कर देने का समाचार सुनकर आत्म-तृप्ति अनुभव करती हुई वह कहती है "कितना दयालु है अश्वत्थामा।"[८] अश्वत्थामा द्वारा किये गये पाण्डव-सेना के संहार से उसकी प्रतिहिंसा की भावना को भारी तृप्ति मिलती है और संजय की दिव्य दृष्टि द्वारा वह उस वीर अश्वत्थामा के दर्शन के लिए व्याकुल हो उठती है।[९] किन्तु मरणासन्न दुर्योधन के समक्ष पड़े होने की सूचना पाकर वह आँखों से पट्टी उतारने का दुस्साहस नहीं कर पाती है और उसकी मृत्यु का समाचार सुनते ही चीखकर मूर्च्छित हो जाती है। उसी क्षण अश्वत्थामा के मुख से उत्तरा को पुत्रहीन कर देने की प्रतिज्ञा सुनकर उसकी प्रतिहिंसा फिर अँगड़ाई लेती है और वह अश्वत्थामा के शरीर को दृष्टि मात्र से वज्र बना देने के उद्देश्य से आँखों पर से पट्टी उतार

---

१. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० २५
२. **वही**, पृ० २४
३. **वही**, पृ० ४६
४. **वही**, पृ० ४६-५०
५. **वही**, पृ० २२
६. **वही**, पृ० २१-२२
७. **वही**, पृ० ५५
८. **वही**, पृ० ७६
९. **वही**, पृ० ८१

फेंकती है।[1] उसकी प्रतिहिंसा एवं उग्रता का प्रचण्डतम रूप तो तब दिखलाई पड़ता है जब वह कृष्ण के शाप से पीड़ित, दुर्गन्धियुक्त अश्वत्थामा को और अपने पुत्र दुर्योधन के अस्थिशेष को देखकर कृष्ण से लोहा लेने का संकल्प करती है और प्रभुता के दुरुपयोग के लिए कृष्ण को शाप देती है।[2] किन्तु जैसे ही कृष्ण उसके शाप को स्वीकार करते हैं,[3] उसकी भावुकता की उग्रता घुल जाती है और वह अगाध ममता में परिणत होकर प्रायश्चित्त की कारुण्य-धारा में प्रवाहित होने लगती है। यहाँ उसके मातृत्व का गरिमा-मण्डित उदात्त रूप उजागर होता है, साथ ही कोमलता और कठोरता के ध्रुवों के मध्य सतत आन्दोलित उसके भावुक व्यक्तित्व के असन्तुलन की कुँजी भी स्वयं उसी के शब्दों में मिल जाती है :—

रोई नहीं मैं अपने
सौ पुत्रों के लिये
लेकिन कृष्ण
तुम पर मेरी ममता अगाध है
... ...
मैं थी निराश मैं कटु थी
पुत्र हीना थी।"[4]

गांधारी स्वभावतः ममतामयी माता है, किन्तु उसकी कटुता का कारण उसका आहत मातृत्व है। अन्त में वन की प्रचण्ड अग्नि में जलते हुए उसे बोध होता है कि कृष्ण को दिया हुआ उसी का शाप नगरों और वनों में अग्नि, आत्महत्या, अधर्म, गृह-कलह आदि के रूप में शतधा होकर बिखर रहा है और इस प्रकार अपने शाप की ज्वाला की वह स्वयं ही प्रथम समिधा बनती है।[5] कवि ने गांधारी के दावाग्नि में भस्म होने के समय की अनुभूति को आध्यात्मिक अथवा अतिप्राकृतिक रूप देकर अन्त में उसके मातृत्व की परिणति भी आस्था में ही दिखलायी है। संक्षेप में, ममताजन्य मोह, करुणा, उदारता, पुत्र-प्रेम, पति-भक्ति, पतिहिंसाजन्य प्रखरता और प्रचण्डता, तेजस्विता, स्पष्टवादिता, गांधारी के स्वभाव की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

अशान्त, शंकाकुल एवं द्विधा स्वभाव का अन्ध एवं अपंग पुरुष मानकर श्री व्यास ने महाभारत में **धृतराष्ट्र** का चरित्र-चित्रण किया है।[6] भारती ने धृतराष्ट्र के चरित्र

---

१. **वही**, पृ० ८५
२. **वही**, पृ० १००
३. "जीवन हूँ मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ माँ
शाप यह तुम्हारा स्वीकार है।" **वही**, पृ० १००
४. **वही**, पृ० १०१
५. **वही**, पृ० ११३-११४
६. सम्पा० म०म० सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, **प्राचीन चरित्रकोश**, पृ० ३२५

के इसी रूप को ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखते हुए उसे मोहान्धता और विवेकहीनता के प्रतीक के रूप में अंकित किया है। उसकी मोहान्धता एक पूरे युग पर छायी हुई थी, जिसके कारण सभी अन्धी प्रवृत्तियों से परिचालित थे। इसीलिए भारती ने उस समूचे युग को 'अन्धायुग' नाम से अभिहित किया है। युगीन विघटनकारी प्रवृत्तियों के प्रवर्त्तन का दायित्व स्वीकार करते हुए वह गांधारी से स्वयं कहता है—"दोष किसी को मत दो, अन्धा था मैं।"[१] भीष्म, द्रोण, विदुर और कृष्ण के बार-बार समझाने पर भी वह पाण्डवों का प्राप्य उन्हें न देकर स्वपक्ष के स्वार्थ में लिप्त रहा और सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन करता रहा।[२] वह जीवन-पर्यन्त कौरव-पक्ष की विजय की झूठी लालसा में लिप्त रहता है। विदुर के पैरों की आहट सुनकर उसे जय का समाचार लेकर आने वाले संजय की भ्रान्ति होती है;[३] इसी प्रकार याचक के मुख से 'जयकार' की ध्वनि सुनकर उसे संजय का धोखा होता है।[४] दुर्योधन की मृत्यु के उपरान्त उसकी अन्धी ममता युयुत्सु के प्रति संक्रमित हो जाती है।[५] उसकी संकीर्ण स्वार्थ-वृत्ति, मोहान्धता, लोभ-लिप्सा और अन्धी आशा की पराकाष्ठा तो उस समय दिखलाई पड़ती है जब वह युयुत्सु को लक्ष्य करके कहता है, "वत्स, तुम मेरी आयु लेकर भी जीवित रहो। यदि अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र उत्तरा के गर्भ पर गिरा है, तो कौन जाने एक दिन युधिष्ठिर सब राज-पाट तुमको ही सौंप दें।"[६] इन सीमाओं के बावजूद भी धृतराष्ट्र के स्वभाव की सबसे बड़ी विशेषता यह है वह अन्धताजन्य अपनी सभी दुर्बलताओं को निस्संकोच स्वीकार करते हुए आत्मग्लानि का अनुभव करता है। उसकी आत्म-स्वीकृतियाँ उसके युद्धजनित सूक्ष्म आत्म-निरीक्षण का परिचय देती हैं। सरोवर में छिपे आहत दुर्योधन के अतिरिक्त शेष सभी पुत्रों के युद्ध में धराशायी होने के उपरान्त उसे जीवन में प्रथम बार आशंका घेरती है।[७] व्यक्तिगत मूल्यों, ज्ञानहीन आस्थाओं, युद्ध की वास्तविक विभीषिका से अपरिचय आदि के कारण ही वह युद्धकाल में और उससे पूर्व उस विवेकपूर्ण दूरदर्शिता से वंचित रहा, जिसके द्वारा वह युद्ध के संकट को आसानी से टाल सकता था। फिर भी वह युद्ध-जन्य शोक और संकट की स्थिति को गांधारी की अपेक्षा अधिक धैर्य, साहस और

---

१. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० २१

२. मैं था जन्मान्ध।
   कैसे कर सकता था
   ग्रहण मैं बाहरी यथार्थ या सामाजिक मर्यादा को। **वही**, पृ० १७

३. **वही**, पृ० १६

४. **वही**, पृ० २३

५. "मेरा है केवल एक पुत्र शेष
   खोकर उसे कैसे जीवित रहूँगा?" **वही**, पृ० ८९

६. धर्मवीर भारती, **अंधायुग**, पृ० ९५

७. **वही**, पृ० १७

दृढ़ता के साथ सहन करता है। वह गांधारी की भाँति युयुत्सु के ऊपर कोई व्यंग्य न करके पर्याप्त मानसिक सन्तुलन का परिचय देता है। अन्त में वह गांधारी, संजय, युयुत्सु, विदुर और कौरव-वधुओं के साथ युद्धभूमि में जाकर अपने सौ पुत्रों का तर्पण करता है और युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के उपरान्त भीम की कटूक्तियों से मर्माहत होकर गांधारी और कुन्ती के साथ सुदूर वनों में चला जाता है और वहाँ प्रज्वलित भीषण दावानल में जलकर भस्म हो जाता है। भारती ने इस घटना को आलंकारिक रूप देकर जीवन-भर अन्धत्व के अंधियारे में भटके हुए धृतराष्ट्र को अन्त में अग्नि के रूप में ज्योति-वृत्त को वरण करते हुए अंकित किया है[1] और इस प्रकार अन्धे धृतराष्ट्र की जीवन-कथा का पर्यवसान ज्योति में दिखलाया है।

अंधायुग के अन्य पात्रों में **युयुत्सु** विशेष उल्लेखनीय है। पहले कहा जा चुका है कि भारती ने युयुत्सु की जीवन-परिस्थितियों और उनसे सम्बद्ध मनःस्थितियों के गहन मंथन द्वारा उसके व्यक्तित्व को किंचित् अतिरंजित अथवा परिवर्तित रूप में प्रस्तुत करके उसे नयी अर्थवत्ता प्रदान की है। भारती ने तीखी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उसके मनोद्वन्द्वों को उनकी पूर्ण तिक्तता और चुभन के साथ उभारा है। महाभारत के युयुत्सु को न तो इतनी अवमानना सहनी पड़ती है, न इतने कटु व्यंग्य, और न ही वह आत्मग्लानि और हीनता-ग्रन्थि से पीड़ित होकर आत्महत्या करता है।[2] अंधायुग में परिस्थितियों और मनःस्थितियों का जैसा नाटकीय और भावोत्तेजक टकराव युयुत्सु के जीवन में दर्शाया जा सका है, वैसा अन्य किसी पात्र के जीवन में नहीं। उसके जीवन का निर्माण विषमताओं और द्वन्द्वों के तन्तुओं के जटिल सम्मिश्रण से हुआ है। स्वभावतः वह एक सत्पात्र है, इसलिए दुर्योधन आदि कौरवों का भाई होते हुए भी वह उनके असत् पक्ष को त्याग कर पाण्डवों का सत् पक्ष ग्रहण करता है। वह सत्य को कौरव वंश से बड़ा मानता है।[3] किन्तु यहीं से उसके जीवन की वह विडम्बनापूर्ण नियति प्रारम्भ हो जाती है जिसके लिए वह परिस्थितियों द्वारा अभिशप्त है। जब वह करुणा और कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर (बची-खुची कौरव-सेना और कौरव-वंशी वधुओं को साथ लिए हुए) हस्तिनापुर लौटता है, तो दोनों पक्षों से उसकी प्रतिबद्धता समाप्त हो चुकी होती है। वह न इधर का रहता है न उधर का। नियति-

---

१. **वही**, पृ० ११३

२. महाभारत में युयुत्सु युधिष्ठिर आदि पाण्डवों के साथ मिलकर धृतराष्ट्र को जलांजलि देता है—

"ततोऽवगाह्य सलिले सर्वे ते नरपुंगवाः।
युयुत्सुमग्रतः कृत्वा ददस्तोयं महात्मने॥"

दे०, **महाभारत**, आश्रमवासिक पर्व, अ० ३९, श्लो० १२

पाण्डवों के महाप्रस्थान के उपरान्त भी युयुत्सु के जीवित रहने का उल्लेख है। दे०, **महाभारत**, महाप्रस्थानिक पर्व, अ० १, श्लो० ६ तथा २६-२७

३. धर्मवीर भारती, **अंधायुग**, पृ० ५३

वश उसे नगर की जनता के भय का, माता गान्धारी की व्यंग्यपूर्ण कटूक्तियों का तथा अन्त में भीम की अवमानना का आलम्बन बनना पड़ता है। भाग्य की विडम्बना यह कि उसके सदुद्देश्यों का भी ग़लत अर्थ लगाया जाता है। इसीलिए उसे क्षण-क्षण जीवन की निरर्थकता का बोध होता चलता है। उसे भासित होता कि पथ चाहे सत्य का हो अथवा असत्य का, अन्तिम परिणति में दोनों जर्जर करते हैं।[१] गूँगे घायल सैनिक के सन्दर्भ से यह सिद्ध हो जाता है कि युयुत्सु जिसको स्नेह और करुणा भी देना चाहता है वह भी उसको स्वीकार्य नहीं है।[२] व्यास के यह कहने पर कि कृष्ण जिधर होंगे, जय भी उधर होगी, युयुत्सु ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया था, किन्तु कृष्ण की जय का उसके लिए इससे बढ़कर कोई अर्थ नहीं निकला कि उसे मातृवंचित और वधिक होने के साथ सार्वजनिक उपेक्षा और घृणा का पात्र बनना पड़ता है।[३] युयुत्सु के जीवन की निरर्थकता का बोध (कृष्ण-रूपी) ग़लत धुरी में लगे रथ के पहिये के प्रतीक के माध्यम से पूरी तरह उभर सका है, जो युद्ध के दौरान रथ में लगा रहा और बाद में उस निकम्मी ग़लत धुरी से भी उतर कर कहीं का नहीं रहा।[४] भीम द्वारा किये गये अपमान और उपहास के कुप्रभाव से तथा धृतराष्ट्र और गांधारी के वन की ओर प्रस्थान करने की पीड़ा से उसकी वाणी लुप्त हो जाती है और वह स्वयं भी गूँगे सैनिक की भाँति गूँगा हो जाता है। अन्त मे सब प्रकार की अवमाननाओं ओर घृणाओं से पीड़ित होकर वह कृपाचार्य के हाथ से भाला छीनकर आत्मघात कर लेता है।[५] युयुत्सु की त्रासदी उन सभी सदाशय युवकों की त्रासदी है जो परस्पर विरोधी परिस्थितियों की चक्की में पिसते हुए अपना जीवन-संघर्ष जारी रखते हैं और अन्त में चारों ओर से उपहास और उपेक्षा के विषय बनकर घुटन, आत्मग्लानि, असवाद, हीनताग्रन्थि, टूटन, निराशा और अनास्था का दंश सहते हुए आत्महत्या कर लेने को विवश होते हैं। अन्धायुग का वह अकेला पात्र है जिसके जीवन का प्रारम्भ आस्था से और अन्त अनास्था से होता है। वह स्वयं घोषित करता है "और मैं हूँ आत्मघाती अंध।" जहाँ एक ओर अश्वत्थामा और गान्धारी जैसे अनास्थावादी पात्रों की भी परिणति कृष्ण के प्रति आस्था में होती है, वहाँ असत्य से समझौता न करके, निश्चित परिपाटी से हटकर अपना पथ आप निर्धारित करते हुए ज्योति-वृत्त को वरण करने वाला युयुत्सु आस्था को नकली खोटा सिक्का समझता है और कृष्ण को वंचक, कायर और शक्तिहीन कहता है।[६] इस कथन में ऊपर से देखने पर भले ही अन्तर्विरोध दिखलायी पड़े, किन्तु वास्तविकता यह है कि युयुत्सु की अनास्था भी एक आस्थावादी

---

१. धर्मवीर भारती, **अंधायुग**, पृ० ५७
२. **वही**, प्र० ५८
३. **वही**, पृ० ५९
४. **वही**, पृ० ७४
५. **वही**, पृ० १०९
६. **वही**, पृ० १२४

की अनास्था है; उसकी अनास्था आस्था और उसके आधार (कृष्ण) की विफलता की पीड़ा से उपजी है। वह कृष्ण के प्रति अनास्थावादी हो सकता है, किन्तु मानव, मानवता और मानव-भविष्य के प्रति उसकी आस्था की जड़ें गहरी हैं। तभी वह कहता है—

"इसीलिए साहस से कहता हूँ
नियति हमारी बँधी प्रभु के मरण से नहीं
मानव-भविष्य से !
परीक्षित के जीवन से
कैसे बचेगा वह ?"[१]

उपर्युक्त प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त अन्धायुग में कतिपय गौण पात्रों का भी सन्निवेश हुआ है। **संजय** तटस्थ सत्य-द्रष्टा और शब्दों का शिल्पी है, किन्तु अंधों की नगरी में उसे सत्य-कथन में तीन रूपों में संकट का बोध होता है—(१) परिवर्तित सत्य की अभिव्यक्ति का संकट[२] (२) विकृत अनुभूति से पूर्ण सत्य प्रस्तुत करने का संकट[३] (३) अन्धे श्रोताओं से सत्य कहने का संकट।[४] उसका संकट हर ईमानदार सत्य-द्रष्टा और सत्य-वक्ता का संकट है। अपात्रों (अन्धों) को सत्य का साक्षात्कार कराना जोखिम से खाली नहीं है।[५] इसीलिए उसे युद्ध की सीमित अवधि के उपरान्त व्यास द्वारा प्रदत्त अपनी दिव्य दृष्टि से हाथ धोना पड़ता है।[६] तटस्थ सत्य-द्रष्टा होने के बावजूद भी उसे सात्यकि और अश्वत्थामा के अकारण आघात से आसन्न मृत्यु के त्रास का अनुभव करना पड़ता है। कैसी विडम्बना है कि उसकी तटस्थता का भी मनमाना अर्थ लगाया जाता है ! अश्वत्थामा के लिए उसकी तटस्थता अर्थहीन ही नहीं शत्रुता की पर्याय है। इन सभी संकटों के तीखे बोध से वह अपने जीवन को

---

१. **वही**, पृ० १२५
२. लेकिन आज अन्तिम पराजय के अनुभव ने
जैसे प्रकृति ही बदल दी है सत्य की
आज कैसे वही शब्द
वाहक बनेंगे इस नूतन अनुभूति के ? **वही**, पृ० ३०
३. सात्यकि ने मेरे भी वध को उठाया अस्त्र
चरम त्रास के उस बेहद गहरे क्षण में
कोई मेरी सारी अनुभूतियों को चीर गया
कैसे दे पाऊँगा मैं सम्पूर्ण सत्य
उन्हें विकृत अनुभूति से ?" **वही**, पृ० ३१
४. **वही**, पृ० ३८
५. "अन्धों को सत्य दिखाने में क्या
मुझको भी अन्धा ही होना है।" **वही**, पृ० ८६
६. **वही**, पृ० ८६

निरर्थक मानने को विवश होता है।[1] वह दो बड़े पहियों के मध्य लगे निरर्थक शोभा-चक्र के समान है, जो पहियों के साथ घूमने पर न तो रथ को गति दे पाता है, न धरती छू पाता है और न ही धुरी से उतर सकता है।[2] दिव्य द्रष्टा होने के अतिरिक्त सजय मानवीय संवेदना और आस्था से ओत-प्रोत है। जलते हुए वन में गान्धारी, कुन्ती और धृतराष्ट्र को अग्नि की लपटों से बचाने के उद्योग में स्वयं उसके भी घुटने झुलस जाते हैं। कृष्ण के प्रति गहरी निष्ठा के कारण वह शर-सन्धान करते हुए व्याघ को भी उसके प्रयत्न से पराङ्मुख करने का विफल प्रयत्न करता है।[3] **विदुर** विवेकी, नीतिज्ञ, मर्यादानिष्ठ, मानवतावादी, स्पष्ट-वक्ता, आस्तिक, आशावादी और आस्थावादी पात्र है। शोकार्त्त युधिष्ठिर और गान्धारी को सान्त्वना देना, कृष्ण के प्रति गहन निष्ठा व्यक्त करना, अभागे युयुत्सु का आत्मीयता से स्वागत करना, युयुत्सु के प्रति कटुतापूर्ण शब्द कहने पर गान्धारी की आलोचना करना, धृतराष्ट्र, गान्धारी और संजय के साथ मृत कौरव योद्धाओं को जलांजलि देने जाना, युयुत्सु के प्रति भीम के आचरण पर चिन्ता व्यक्त करना, मरणासन्न युयुत्सु की परिचर्या करना आदि ऐसे प्रसंग हैं, जो विदुर के उदात्त मानवतावादी आचरण की पुष्टि करते हैं। आस्था, अनास्था, मर्यादित आचरण, सत्य, ज्ञान, आत्महत्या आदि के विषय में अनेक सूक्तियाँ उसके मुख से प्रस्फुटित होती चलती हैं, जो उसके शुभाकांक्षी एवं चिन्तनशील स्वभाव का परिचय देती है।[4] **कृतवर्मा** स्वभावतः सत्प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित पात्र है। वह अश्वत्थामा के मृत्यु-पाश से संजय को मुक्त कराता है तथा वृद्ध याचक की हत्या करने पर अश्वत्थामा की पाशविक प्रवृत्ति पर व्यंग्य करता है।[5] पाण्डवों को अधर्मपूर्वक मारने के अश्वत्थामा के निश्चय को वह हास्यास्पद समझता है और अश्वत्थामा द्वारा वध की धमकी देने पर वह मौन और शान्त बना रहकर असाधारण धैर्य और मानसिक सन्तुलन का परिचय देता है।[6] वह आहत दुर्योधन द्वारा पागल अश्वत्थामा की सेनापति पद पर नियुक्ति को भी वीभत्स आडम्बर मानता है। वह अश्वत्थामा की पाशविकता और परिवेशगत विद्रूपता से इतना ऊबा हुआ और विक्षुब्ध है कि 'कायर नहीं हूँ मैं' कहने के तुरन्त बाद एक ही साँस में स्वयं को 'कायर' कहकर अपनी द्विधा-ग्रस्त मानसिक स्थिति को व्यक्त करता है।[7] कथन का यह अन्तर्विरोध उसके मानसिक अन्तर्विरोध का सूचक है। वह मन से अश्वत्थामा से ऊबा हुआ है, किन्तु दूसरी ओर दुर्योधन के प्रति अन्तिम साँसों तक वफादार रहने के अपने निश्चय के कारण उसका

---

१. "मुझसा निरर्थक और होगा कौन ?" **वही**, पृ० ११५
२. **वही**, पृ० ७४
३. **वही**, पृ० १२२
४. दे० **वही**, पृ० १७, २०, २२, ५४, ६७, १११, ११७
५. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ३७ तथा ४५
६. **वही**, पृ० ६३
७. **वही**, पृ० ६५

साथ देने को विवश है।[१] वह अश्वत्थामा के नहीं, वरन् दुर्योधन के सेनापति अश्वत्थामा के आदेश पर पाण्डव-शिविर के द्वार पर भारी नर-संहार करता है और शिविर में आग लगा देता है। दुर्योधन की असहाय स्थिति और दु:खद मृत्यु के दृश्य से उसे भारी आघात पहुँचता है। **कृपाचार्य** अश्वत्थामा का मामा है। वह अश्वत्थामा के आक्रमण से संजय की रक्षा करके अपनी सहृदयता का परिचय देता है। यद्यपि अश्वत्थामा के द्वारा किये गये वृद्ध याचक के वध की घटना उसे खिन्न बना देती है, तथापि इससे पिता की अधर्मपूर्वक की गयी हत्या से क्षुब्ध अश्वत्थामा के प्रति उसकी सहानुभूति की गहनता में कोई अन्तर नहीं आता। कृतवर्मा द्वारा अश्वत्थामा के अधम आचरण की आलोचना किये जाने पर वह उसका प्रतिवाद करते हुए कौरव और पाण्डव योद्धा नामधारियों द्वारा किये गये अधर्मपूर्ण वधों का उद्धरण देकर प्रकारान्तर से अश्वत्थामा के आचरण की पुष्टि करता है।[२] वह विक्षिप्त अश्वत्थामा की मन:स्थिति के अनुरूप अपनी मन:स्थिति का समायोग (एडजस्टमैण्ट) बनाये रखना चाहता है। कृतवर्मा के वध को उद्यत अश्वत्थामा को जब वह "पागल हुए हो क्या, कुछ भी मर्यादाबुद्धि तुममें क्या शेष नहीं"[३] कहकर डाँटता है, तो अश्वत्थामा भावुक होकर अकेलेपन का अनुभव करता है,[४] कृपाचार्य उसके भावावेग को सँभालते हुए तुरन्त कहता है "हम सब हैं साथ तुम्हारे इस प्रतिहिंसा में।"[५] किन्तु उसके साथ ही यह शर्त भी लगा देता है कि छिपकर आक्रमण के अतिरिक्त प्रतिहिंसा का कोई दूसरा मार्ग खोजा जाए। पर अश्वत्थामा दुर्योधन पर भीम के अन्यायपूर्ण प्रहार का उल्लेख करके पाण्डवों के अधर्म का उदाहरण प्रस्तुत करता है। कृपाचार्य तुरन्त 'हाँ में हाँ' मिलाते हुए कह उठते हैं, "बस करो अश्वत्थामा, शायद तुम्हारा ही पथ एकमात्र सम्भव पथ है।"[६] वे अश्वत्थामा की इच्छा के अनुरूप दुर्योधन की अनुमति से उसका सेनापति-पद पर अभिषेक करते हैं और बाद में पाण्डव-शिविर में हत्या-काण्ड और अग्नि-काण्ड में पूरा सहयोग देते हैं। अश्वत्थामा और दुर्योधन के अतिरिक्त युयुत्सु के प्रति भी उनकी पूरी सहानुभूति है। युयुत्सु द्वारा आत्महत्या कर लेने पर तो उन्हें पाण्डवों के महलों में अमंगल की पग-ध्वनि सुनायी पड़ने लगती है।[७] युद्ध के उपरान्त यद्यपि वे अपने आचार्य-पद के अनुरूप अभिमन्यु-पुत्र परीक्षित को शस्त्र-संचालन की शिक्षा देने लगते हैं, तथापि

---

१. **वही**, पृ० ६६, ६७
२. **वही**, पृ० ४५
३. **वही**, पृ० ६३
४. "सुनते हो पिता
मैं इस प्रतिहिंसा में
बिल्कुल अकेला हूँ।" **वही**, पृ० ६३
५. **वही**, पृ० ६४
६. **वही**, पृ० ६४
७. **वही**, पृ० १११

आत्मघात वाली युधिष्ठिर की संस्कृति में उनका मन नहीं रमता और वे निर्वासन ग्रहण कर वनों में चले जाते हैं।

वृद्ध याचक के रूप में कवि ने एक अनूठे किन्तु अर्थपूर्ण पात्र की सृष्टि की है। प्रत्येक अविवेकी, स्वार्थ-लिप्त, महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति वर्तमान में रचनात्मक कार्यों से उपरत रहकर मर्यादाहीन और विध्वंसक आचरण करते हुए भी अपने भविष्य के रंगीन स्वप्न संजोये रहता है। भविष्य का वह रंगीन स्वप्न मानव-मनोविज्ञान की ही उपज है। ज्योतिषी लोग मानव-मनोविज्ञान का दोहन करके ही झूठे भविष्य के कथन द्वारा लोगों की क्षणिक मनस्तुष्टि करके उनका शोषण करते रहते हैं। कवि ने निमित्त कारण (भविष्य-वक्ता) और कार्य (झूठा भविष्य) में ऐक्य स्थापित करके महत्त्वाकांक्षी कौरवों के झूठे रंगीन स्वप्नों और लालसाओं का याचक (ज्योतिषी) के रूप में मानवीकरण किया है। यही झूठा भविष्यवक्ता (झूठा भविष्य) दुर्योधन और माता गांधारी की झूठी जय बोल-बोलकर उनसे मुद्राएँ अर्जित करता है।[1] जाने कितने झूठे भविष्य ध्वस्तस्वप्न कौरव-नगरी में बिखरे हैं और माता गांधारी सबको ममता में पाल रही है।[2] किन्तु "वर्तमान से स्वतन्त्र कोई भविष्य नहीं, केवल कर्म सत्य है, मानव जो इसी समय कार्य करता है उसीमें उसका सच्चा भविष्य निहित होता है।[3] कल्पित और झूठे भविष्य की हत्या उन्हीं के हाथों से होती है जो उसे मन ही मन पालते रहते हैं। मिथ्या स्वप्न भंग होने पर वंचक एवं शत्रु प्रतीत होता है।[4] अश्वत्थामा के द्वारा वध किये जाने पर भी वह मिथ्या और वंचक भविष्य प्रेतात्मा के रूप में सारे युग-मानस को स्तम्भित कर देता है, जिसके सन्दर्भ में सभी पात्रों की आन्तरिक असंगतियाँ उभर कर प्रकट होती हैं। महाभारत के प्रायः सभी पात्रों के स्वप्न झूठे सिद्ध होते हैं, किन्तु उन वंचक स्वप्नों के मिथ्यात्व की सापेक्षता में उनके व्यक्तित्व की असंगतियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। वह मिथ्या भविष्य अपने मिथ्यात्व से मुक्ति प्राप्त करके सच्चा मानव-भविष्य तब बनता है जब प्रभु का नया रूपान्तरण होता है, जिसमें उनका एक अंश भले ही निष्क्रिय और विगलित रहे, किन्तु दूसरा अंश सब मनुष्यों के मन के उस ज्योति-वृत्त में रहे, जो कल्याणकारी रचनात्मक कार्यों में संलग्न हो।

उक्त पात्रों के अतिरिक्त बलराम, व्यास, शिव, भीम, दुर्योधन, युधिष्ठिर आदि पात्रों का प्रासंगिक रूप में यत्र-तत्र समावेश हुआ है। **बलराम** क्षत्रियोचित

---

१. "प्रहरी, इसको एक अंजुल मुद्राएँ दो।
तुमने कहा है
"जय होगी दुर्योधन की।" **वही**, पृ० २४

२. 'माता हैं गांधारी
ममता में पाल रही हैं सबको। **वही**, पृ० २५

३. **वही**, पृ० ४०

४. **वही**, पृ० ४२

ओजस्वी रूप में प्रस्तुत होकर द्वन्द्वयुद्ध में भीम के अन्यायपूर्ण प्रहार की भर्त्सना करते हैं और कृष्ण को मर्यादाहीन कूटबुद्धि कहकर फटकारते हैं।[१] व्यास ब्रह्मास्त्र के भीषण परिणामों से अवगत कराते हुए अर्जुन को उसके प्रयोग से उपरत करते हैं, किन्तु अश्वत्थामा को उपरत करने में विफल रहते हैं। एक क्रान्तद्रष्टा महर्षि के रूप में उनका उल्लेख हुआ है। दुर्योधन को अपने कर्मों का फल भोगते हुए दयनीय स्थिति में अंकित किया गया है। **भीम** शूरवीर होते हुए भी बुद्धि से मन्द और प्रकृति से अभिमानी है। **युधिष्ठिर** को भावी विकृत युग के विषय में चिन्तित, युयुत्सु, धृतराष्ट्र और गांधारी के प्रति सहानुभूतिशील, कुटुम्बीजनों के व्यवहार से अशान्त, खोखली विजय से विषण्ण, तथा प्रभु के अवसान की आशंका से व्याकुल दिखलाया गया है। गूंगा सैनिक युद्ध की विभीषिका और दुष्परिणाम का सच्चा उदाहरण है। वह भारती की कल्पना की उपज है, किन्तु वह पाठकों के मन पर युद्ध के विकराल प्रभाव की सच्ची एवं स्थायी छाप छोड़ता है।

अन्त में इस समूची कृति में प्रच्छन्न रूप में व्याप्त **कृष्ण** के चरित्र पर प्रकाश डालना भी अपेक्षित है। धर्मवीर भारती ने कृष्ण को अपनी कृति का केन्द्रस्थ पात्र मानते हुए कहा है, "इसलिए कृष्ण जो मानवीय आचरण की जटिलतम मर्यादा के मर्मज्ञ थे, इस दृश्य-काव्य के केन्द्रस्थ पात्र हैं जो सभी पात्रों और परिस्थितियों पर छाये रहते हैं, यद्यपि शिल्प में इतना कौशल अवश्य बर्ता गया है कि वे सशरीर मंच पर नहीं आते।"[२] यद्यपि कृष्ण को दिव्य पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है, तथापि कतिपय पात्रों की दृष्टि में वे अनेक दुर्बलताओं से युक्त हैं। विदुर उन्हें 'प्रभु' कहते हैं,[३] गांधारी की दृष्टि में वे मर्यादा को अपने ही हित में बदलने वाले "वंचक"[४] हैं, बलराम उन्हें "मर्यादाहीन कूटबुद्धि" कहते हैं।[५] इसके विपरीत वृद्ध याचक ने कृष्ण को "नक्षत्रों की गति से भी ज्यादा शक्तिशाली"[६] कहा है तथा उन्हें ऐसा व्यक्ति बतलाया है, जो अनासक्त होकर इतिहास को चुनौती देता है और अपने निर्णय द्वारा नियति को भी निर्धारित करता है। विदुर और वृद्ध याचक ने अपने कथनों में

---

१. **वही**, पृ० ६१

२. धर्मवीर भारती, 'विशेष', सम्पा० डॉ० जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, **नयी कविता**, अंक दो, १९५५, पृ० ५०

३. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० २०, २२, २४

४. **वही**, पृ० २२

५. **वही**, पृ० ६१

६. **वही**, पृ० २४

भगवान् कृष्ण के गीता में दिये गये ज्ञान[१] और कर्म[२] के उपदेश को उद्धृत करके उनके प्रति गहरी निष्ठा का परिचय दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृष्ण के प्रति कुछ पात्र आस्थावादी हैं और कुछ अनास्थावादी। कृष्ण का मूल वैशिष्ट्य है अनासक्त रूप में सभी की आस्था और अनास्था को स्वीकार करना।[३] गांधारी के शाप को भी वे सहज भाव से स्वीकार करते हैं।[४] कृष्ण के व्यक्तित्व में मानवीय और दिव्य तत्त्वों की सीमा-रेखाएँ सर्वथा घुलमिल गयी हैं। मानवीय रूप में वे प्रमुखतः नीतिज्ञ, राजनीतिज्ञ और ऋषि हैं और अपने दिव्यरूप में वे एक सर्वव्यापी परम तत्त्व अथवा परम सत्ता हैं। कवि ने कृष्ण के तात्त्विक रूप की भावात्मक व्याख्या करते हुए उन्हें सभी प्राणियों में विद्यमान माना है। अठारह दिन के भीषण संग्राम में धराशायी होने वाले प्रत्येक सैनिक के रूप में बार-बार कृष्ण की ही मृत्यु हुई।[५] इसी तर्क के आश्रित वे सभी माताओं के पुत्र हैं, अतः पुत्रहीना माता गांधारी के भी पुत्र हैं। उन्होंने जो शाप उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र गिराने वाले अश्वत्थामा को दिया है, वह भी प्रकारान्तर से स्वयं को ही दिया है और बधिक के बाण से मरने का नाटक रचकर वे स्वयं ही अश्वत्थामा के पाप का दण्ड भोगते हैं। उनके तलवों में बाण बिंधते ही अश्वत्थामा की सारी पीड़ा स्वतः शान्त हो जाती है। वस्तुतः प्रभु का मरण भी मरण न होकर रूपान्तरण मात्र है। इस रूपान्तरण में प्रभु का एक अंश निष्क्रिय और विगलित रहेगा, किन्तु

---

१. "प्रभु ने कहा था यह
ज्ञान जो समर्पित नहीं है
अधूरा है।" **वही**, पृ० २०

२. "अर्जुन
उठाओ शस्त्र
विगतज्वर युद्ध करो
निष्क्रियता नहीं
आचरण में ही
मानव-अस्तित्व की सार्थकता है।" **वही**, पृ० ४१

३. "यह कटु अनास्था भी अपने
चरणों में स्वीकार करो
आस्था तुम लेते हो
लेगा अनास्था कौन?" **वही**, पृ० २२

४. "जीवन हूँ मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ माँ।
शाप यह तुम्हारा स्वीकार है। **वही**, पृ० १००

५. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० १०१

दूसरा सब मनुष्यों के मन के रचनात्मक और मंगल-विधायक ज्योति-वृत्त में भावरूप में निवास करके मानव-भविष्य की रक्षा करेगा। इस प्रकार कृष्ण के लौकिक रूप की परिणति अलौकिक में और स्थूल गोचर रूप की परिणति सूक्ष्म भावात्मक रूप में हो जाती है। कृष्ण के चरित्र के अन्तर्विरोधों का निराकरण करके उसे मांगलिक और दिव्य रूप देने में कवि ने एक भावुक भक्त की भावाश्रित प्रक्रिया का प्रश्रय लिया है, जो विशुद्ध तर्क की कसौटी पर भले ही युक्तियुक्त सिद्ध न हो सके, किन्तु काव्यात्मक सत्य की स्थापना के लिए सर्वथा ग्राह्य है। कवि की दृष्टि में कृष्ण एक मानव ही नहीं, एक नैतिक शक्ति भी है, जो अपने मानवीय और भावात्मक दोनों ही रूपों में आस्था-अनास्था, मर्यादा-अमर्यादा, सत्-असत् की द्वन्द्वात्मक स्थिति से गुज़रती हुई मानव-भविष्य की रक्षा के लिए अनास्था, अमर्यादा, और असत् के ऊपर आस्था, मर्यादा और सत् की प्रतिष्ठा के पक्ष में है।

(३) **संवाद**—अन्धायुग में प्रयुक्त संवादों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

(क) सभी संवाद पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाले तथा कथानक को गति प्रदान करके निश्चित प्रभावान्विति की ओर अग्रसर होने वाले हैं।

(ख) अन्धायुग के संवादों की सबसे बड़ी विशेषता, जो प्रायः अन्य नाट्य-काव्यों में दुर्लभ है, यह है कि इनमें प्रयुक्त भाषा में बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा की सीमा-रेखाएँ घुलमिल गयीं हैं और एक ऐसी अनूठी भाषा विकसित हुई है, जिसमें बोलचाल की भाषा की सजीवता तथा मर्मस्पर्शिता और साहित्यिक भाषा का कलात्मक सौष्ठव विद्यमान है। जिस प्रकार कवि ने कथानक के गठन में उपयुक्त प्रसंगों के चयन और फिर उनके कलात्मक संयोजन में अद्‌भुत कौशल का परिचय दिया है, ठीक उसी प्रकार कवि ने अपनी भाषा के गठन में बोली और साहित्यिक भाषा के शब्दों के चयन और संयोजन में विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। यहाँ उक्त भाषागत सामंजस्य का प्रतिनिधित्व करने वाले नमूने द्रष्टव्य हैं :—

(अ) "यह जो करोड़ों यमलोकों की यातना
कुतर रही है मेरे माँस को
क्यों ये ज़ख्म फूट नहीं पड़ते हैं
उसके कमल-तन पर।"[१]

(आ) "हम जो योद्धा थे
अब लुक छिप कर
बूढ़े निहत्थों का
करेंगे बध।"[२]

---

१. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० १२१

२. **वही**, पृ० ४५

(इ) "सूने गलियारे-सा सूना यह जीवन भी बीत गया।"[१]

(ई) "यह शब्द जलते हुए लोहे की सलाखों-सा
मेरी पसलियों में धँसता है।[२]

(ग) उक्त प्रकार की समन्वित भाषा के माध्यम से कवि ने लोकानुभूतियों को शिष्ट साहित्यिक अनुभूतियों के साथ सम्पृक्त करके अनुभूतियों का विरल एवं जटिल मिश्रण प्रस्तुत किया है। कवि ने साहित्यिक भाषा और अनुभूति को लोकानुभूति और लोकाभिव्यक्ति के स्रोतों से जोड़कर अपनी भाषा को अमर संजीवनी शक्ति प्रदान की है। उदाहरणार्थ :—

(१) "गेहूँ की बालों में सर्प फुफकारेंगे
नदियों में बह-बहकर आयेगी पिघली आग।"[३]

(२) "अपने इन हाथों से
मैंने उन फूलों-सी वधुओं की कलाइयों से
चूड़ियाँ उतारी हैं
अपने इस आँचल से
सेंदूर की रेखाएँ पोंछी हैं।"[४]

(घ) संवादों की भाषा गति-व्यापार-सूचक और बिम्बात्मक है।[५] इसलिए संवादों में नाटकीय भंगिमा सर्वत्र है।

(ङ) संवादों में बोलचाल की टोन या स्वर को सुरक्षित रखने से स्वाभाविकता और मार्मिकता के साथ नाटकीयता आ गई है। टोन या स्वर के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(१) "झुक जाओ
झुक जाओ
ढालों के नीचे
छिप जाओ"[६]

(२) "**धृतराष्ट्र**—कौन संजय ?
विदुर—नहीं
विदुर हूँ,
महाराज !"[७]

---

१. **वही**, पृ० २७
२. **वही**, पृ० २२
३. **वही**, पृ० ९३
४. **वही**, पृ० २२
५. बिम्ब-योजना पर अगले पृष्ठों में विचार किया जायेगा
६. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० १४
७. **वही**, पृ० १६

(३) "ठहरो ! ठहरो !
ओ झूठे भविष्य
वंचक वृद्ध"[1]

उपर्युक्त उदाहरणों के पढ़ने से स्वर के परिमाण (वॉल्यूम) का भी बोध हो जाता है। पहले उदाहरण में सनसनी उत्पन्न करने के लिए ऊपर उठते हुए स्वर को सायास नीचे दबाये रखकर खींचा जायेगा, जबकि इसके विपरीत तीसरे उदाहरण में चुनौती देने के उद्देश्य से स्वर को ऊँचा रखकर झटका दिया जायेगा।

स्वर या टोन के प्रभाव से अनुभूति को घनीभूत करने के लिए अनेक संवादों में शब्दों, वाक्यांशों अथवा पंक्तियों की आवृत्ति की गई है।[2] कहीं-कहीं कोई पात्र एक या अनेक पृष्ठों के अन्तराल के बाद भी अपने कथन की पुनरावृत्ति करके अपनी मनःस्थिति की पुष्टि करता है। उदाहरणार्थ धृतराष्ट्र पृष्ठ १६ पर विदुर से कहते हैं—

"जीवन में प्रथम बार
आज मुझे आशंका व्यापी है"

फिर इन्हीं पंक्तियों की आवृत्ति वे तीन पृष्ठों के अन्तराल के उपरान्त पृष्ठ २० पर करते हैं।

(च) संवाद प्रायः संक्षिप्त, मार्मिक और चुटीले हैं। विशेष मानसिक तनाव से उत्पन्न विक्षिप्तावस्था की प्रभावमयी अभिव्यक्ति के लिए अश्वत्थामा के कथनों का कहीं-कहीं लम्बा होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। छोटे संवादों के द्वारा नाटकीय व्यापार को क्षिप्रता एवं भंगिमाओं से युक्त किया गया है और लम्बे संवादों के माध्यम से नाटकीय व्यापार को अनुभूतियों के गाढ़े रंगों से निर्मित सघन वातावरण से अन्वित किया गया है। लम्बे कथनों में भी अनेक स्थानों पर मानसिक क्रिया-व्यापार इतना गतिशील एवं संकुल है कि कथनों में जड़ता और नीरसता नहीं आने पायी है, वरन् इसके विपरीत भावों और विचारों के क्रमिक उतार-चढ़ाव से रोचकता और नाटकीय प्रभाव में आश्चर्यजनक अभिवृद्धि हुई है। उदाहरणार्थ, अश्वत्थामा के पृष्ठ ३३ से लेकर पृष्ठ ३६ तक चलने वाले सबसे लम्बे स्वगत कथन के मानसिक क्रिया-वैविध्य पर विचार करें तो उसके नाटकीय प्रभाव का रहस्य स्वतः ही स्पष्ट हो जायेगा। इस कथन के प्रारम्भ में अश्वत्थामा को मरोड़े हुए अपने धनुष का ध्यान करते-करते सम्बद्धता (एशोसियेशन) के आधार पर अपने पिता द्रोण की स्मृति हो आती है, जिन्होंने उस पर प्रत्यंचा चढ़ायी थी। फिर द्रोण का ध्यान आते ही उसका मन युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य और धृष्टद्युम्न के घातक प्रहार का ध्यान करके भावुक हो उठता है। उसकी भावुकता उसे प्रतिशोध और प्रतिहिंसा से प्रेरित बर्बरता और पशुता की अपनी प्रवृत्ति पर सोचने के उपरान्त आत्मग्लानि की तीखी अनुभूति तक ले जाती है। तब वह आत्महत्या के विषय में सोचने लगता है। किन्तु नेपथ्य से संजय

---

१. वही, पृ० ४३
२. वही, पृ० १६, ४३, ४४

की आवाज़ सुनकर उसकी अन्तर्मुखता बहिर्मुखता में और आत्महत्या का मनोभाव (पाण्डवों की) हत्या के संकल्प में बदल जाता है और वह संजय के आने की आहट सुनकर तथा उसे कोई पाण्डव समझ कर उस पर आक्रमण करने के विचार से झाड़ी के पीछे छिपकर आक्रमण करने की योजना बनाता है। इस लम्बे कथन की मानसिक क्रिया को संक्षेप में यों समझाया जा सकता है—धनुष→द्रोण→युधिष्ठिर और धृष्टद्युम्न का अधर्म→प्रतिशोध और बर्बरता→आत्मग्लानि→आत्महत्या→हत्या।

(छ) अन्धायुग के संवादों में कहीं-कहीं 'नाटकीय विडम्बना' (ड्रेमेटिक आयरनी) के समावेश से प्रभाव उत्पन्न किया गया है। विदुर के पैरों की आहट सुनकर संजय की प्रतीक्षा में आतुर बैठे हुए धृतराष्ट्र का तुरन्त यह पूछना "कौन संजय ?" नाटकीय विडम्बना का उदाहरण है।[1] इससे अन्धे धृतराष्ट्र की प्रतीक्षातुर मनःस्थिति का कितने स्वाभाविक ढंग से बोध हो जाता है। इसी प्रकार नेपथ्य से 'दुर्योधन की जय हो' की ध्वनि सुनकर धृतराष्ट्र का विदुर को सम्बोधित करते हुए कहना "देखो ! विदुर देखो ! संजय आये" और पट्टी से ढकी हुई आँखों वाली गान्धारी का प्रसन्न होकर यह बोल पड़ना, "जीत गया, मेरा पुत्र दुर्योधन·····", पाठक या दर्शक की कुतूहल-वृत्ति को उभारता है, किन्तु जैसे ही प्रहरी आकर सूचना देता है "याचक है महाराज", तो सारी परिस्थिति की विडम्बना अकस्मात् स्पष्ट हो जाती है।[2] किसी के आने की आहट सुनकर अश्वत्थामा का मन ही मन कहना "आता है कोई, शायद पाण्डव-योद्धा है·····" और उस पर आक्रमण करना तथा उसी क्षण कृतवर्मा और कृपाचार्य का अश्वत्थामा से उसे यह कहते हुए मुक्त कराना कि वह संजय है, कोई पाण्डव नहीं है, नाटकीय विडम्बना का सुन्दर उदाहरण है।[3] इसी प्रकार युयुत्सु को कौरव-नगरी में प्रवेश करते हुए देखकर प्रहरियों तथा अन्य लोगों का उसे 'मायावी' और 'गृद्ध' आदि कहना भी नाटकीय विडम्बना का उदाहरण है।[4] यद्यपि यह ठीक है कि उक्त उदाहरणों में नाटकीय विडम्बना प्रसंगों की विशेष ढंग की योजना से उत्पन्न हुई है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन प्रसंगों के फलस्वरूप संवादों में एक विशेष नाटकीय प्रभाव पैदा हो गया है।

(ज) कहीं-कहीं संवादों में वाक्-पटुता अथवा वचन-वैदग्ध्य के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। प्रश्नोत्तर की पद्धति में दूसरा पात्र पहले पात्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए या उसके किसी एक शब्द या कथन को पकड़कर उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। यहाँ कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) कृपाचार्य—यह क्या किया
अश्वत्थामा।
यह क्या किया।

---

१. वही, पृ० १६
२. वही, पृ० २२-२३
३. वही, पृ० ३६-३७
४. वही, पृ० ५०-५२

अश्वत्थामा—पता नहीं मैंने क्या किया,
मातुल, मैंने क्या किया।
क्या मैंने कुछ किया,[1]

(२) धृतराष्ट्र—क्या कह रहा है यह ?
विदुर—"कहता है जय हो धृतराष्ट्र की।"
जिह्वा कटी है महाराज।
गूंगा है।
धृतराष्ट्र—गूंगों के सिवा आज
और कौन बोलेगा मेरी जय।[2]

कृतवर्मा और विशेषतः गान्धारी की व्यंग्योक्तियों में वाग्वैदग्ध्य और तीखापन प्रचुर है।[3]

(झ) 'अन्धायुग' के पात्र अनेक स्थानों पर मूल आदिम अनुभूतियों को पूरे तीखेपन के साथ व्यक्त करते हैं। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य के जीवन में भय, क्रोध, घृणा, हर्ष, विषाद आदि भावनाओं की अपेक्षा विचार-प्रेरित भावनाओं—देश-प्रेम, वीरता, विश्व-बन्धुत्व, स्पर्धा, भक्ति, वैराग्य, आदि का उदय अपेक्षाकृत बाद में होता है। मनुष्य अपनी मूल भावनाओं—हर्ष, विषाद, भय आदि—को विस्मयादि-बोधक शब्दों के माध्यम से व्यक्त करता है। विस्मयादिबोधक-शब्द तीव्र भावात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करते हैं और तीव्र भावात्मक प्रतिक्रियाएँ मूल या आदिम अनुभूतियों के रूप में ही व्यक्त होती हैं। विचार-प्रेरित भावनाएँ भी जब अपने तीव्रतम रूप में व्यक्त होती हैं, उस समय वे विचार-प्रेरित न रहकर आदिम अनुभूतियों के स्तर पर ही पहुँच जाती हैं।

अन्धायुग में मूल मनोभावों की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए संवादों में विस्मयादि-बोधक शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है।[4] अनेक स्थानों पर कवि ने

---

१. वही, पृ० ४३
२. वही, पृ० ४९
३. वही, पृ० ४५, ५५-५६, ६५-६६
४. (क) छिः
यह सब मिथ्या है। वही, पृ० ५१
(ख) "आता है कोई
शायद पाण्डव-योद्धा है
आहा ! वही, पृ० ३६
(ग) केवल सत्य, केवल सत्य, केवल सत्य
है अन्तिम अर्थ
मेरे·····आह ! वही, पृ० ३७

प्रश्नों के द्वारा तीव्र अनुभूतियों को उभारा है। सारी कृति में प्रश्न-चिह्नों एवं विस्मयादि-बोधक चिह्नों की प्रचुरता है। अनेक स्थानों पर पात्र भावुकता की स्थिति में या साँस फूल जाने या गला रुँध जाने के कारण बोलते-बोलते वाक्य को अधूरा छोड़कर ही मौन हो जाते हैं। कवि ने ऐसे अधूरे वाक्यों के सामने बिन्दुओं का प्रयोग करके भावुकताजन्य मौन को व्यंजित किया है।[1] कुछ स्थानों पर तो पात्र किसी विशेष परिस्थिति या मनःस्थिति के कारण अपने कथन के अन्तिम शब्द तक को भी पूरा नहीं कर पाते हैं। झुलसे हुए घुटनों से घिसट-घिसट कर लम्बी दूरी तय करके आने वाले संजय का हाँफने के कारण अपने कथन के अन्तिम शब्द 'कोस' को पूरा न कर पाना कितना भावाभिव्यंजक है![2] इसी प्रकार संजय युयुत्सु के प्रति अश्वत्थामा के सम्भावित आक्रोश का ध्यान आते ही भयाक्रान्त होकर उसके सामने युयुत्सु का नाम लेते-लेते रुक जाता है।[3]

(ञ) कुछ स्थानों पर एक ही पात्र एक ही समय में अपने कथन का पूर्वार्द्ध किसी एक पात्र को लक्ष्य करके कहता है और उत्तरार्द्ध किसी अन्य को। ऐसा करने से वार्तालाप में व्यावहारिक जीवन जैसी स्वाभाविकता आ गयी है। कृपाचार्य का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है—

"स्वस्थ हो अश्वत्थामा
चलकर आदेश लो दुर्योधन से
संजय, चलो
तुम सरोवर तक पहुँचा दो।"[4]

(घ) क्या है ? ओह !
प्रहरी थोड़ा जल लाओ। **वही**, पृ० ४८

(ङ) आह !
छूट गयी वृद्धा कुन्ती वन में। **वही**, पृ० ११४

(च) मुझसा निरर्थक और होगा कौन ?
आ ऽ ऽ ऽ ह ! **वही**, पृ० ११५

१. दे० **वही**, पृ० ३३, ३७, ३९, ४५, ५९, ६०, ६२, ७१, ७९, ९०, ९१, ९४, ९७, १११, १२३

२. "कैसे मैं पहुँचूँ अश्वत्थ वृक्ष के नीचे
घिसट-घिसट कर आया हूँ सैकड़ों को··· ।" **वही**, पृ० १२२

३. "रुको ओ अश्वत्थामा !
हम हैं संजय
माता गान्धारी, महाराज,
संग हैं हमारे
विदुर और यु···।" **वही**, पृ० ८९

४. **वही**, पृ० ३९

इसका पूर्वार्द्ध अश्वत्थामा को तथा उत्तरार्द्ध संजय को लक्ष्य करके कहा गया है। इसी प्रकार कृतवर्मा के निम्नलिखित कथन में पहली पंक्ति अश्वत्थामा को लक्ष्य करके कही गयी है और दूसरी संजय को—

"पागल हो तुम
संजय, जाओ अपने पथ पर।"[1]

पृष्ठ ५५-५६ पर गान्धारी एक ही बार में पहले विदुर को, फिर युयुत्सु को फिर दुबारा विदुर को और सबसे अन्त में प्रहरी को लक्ष्य करके अपने उद्‌गार प्रकट करती है।

(ट) कहीं-कहीं संवादों की योजना प्रश्न और उत्तर के रूप में न होकर परस्पर पूरक के रूप में है। उदाहरणार्थ जब याचक कहता है "जय हो दुर्योधन की, जय हो गान्धारी की" तो गान्धारी उसी की पूर्ति करते हुए कहती है "होगी, अवश्य होगी।"[2] इसी प्रकार विदुर के "डूब गया दिन·····" कहने पर धृतराष्ट्र विदुर के कथन की पूर्ति करते हैं "पर संजय नहीं आये।"[3] कृपाचार्य अश्वत्थामा को लक्ष्य करके कहते हैं "मत हो निराश अभी·····" तो कृतवर्मा उसकी पूर्ति करते हुए कहते हैं, "करना बहुत कुछ है।"[4] ऐसे कथोपकथन पात्रों की किसी विषय पर सहमति को प्रकट करते हैं, किन्तु ऐसे पूरक संवादों से पात्रों के व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए भारती ने वैचारिक अथवा भावात्मक ऐक्य के कतिपय स्थलों पर ही पूरक संवादों की सफल योजना की है। दोनों प्रहरियों के संवाद अधिकांशतः पूरक ही हैं। प्रहरियों के संवादों में भारती ने जान-बूझकर ऐसा किया है, क्योंकि वहाँ कवि का उद्देश्य पात्रों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास करना नहीं रहा है। दोनों प्रहरी शरीर दो होते हुए भी मन से एक ही हैं।

(ठ) पात्रों के निविड़ घन-संश्लिष्ट आवेगों अथवा भावपूर्ण मनःस्थिति की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए अन्धायुग में कहीं-कहीं स्वगत कथनों की भी सफल योजना हुई है। अश्वत्थामा, संजय, युयुत्सु आदि के स्वगत कथन विशेष मार्मिक बन पड़े हैं।

(४) **अभिव्यंजना**—ऊपर संकेत किया जा चुका है कि अन्धायुग के संवादों की शक्ति का स्रोत कथानक की मूल अनुभूतियों से सम्बद्धता और नयी भाषा-संवेदना है। कवि ने भाषा के मामले में शुद्ध जनतांत्रिक दृष्टिकोण अपनाया है। इसलिए जीवन के विविध क्षेत्रों से अनुभूतियों का सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाले शब्दों को चुना गया है—फिर चाहे वे उर्दू के सिर्फ, ज़्यादा, शायद, आसमान, ख़बर,

---

१. वही, पृ० ३८
२. वही, पृ० २५
३. वही, पृ० २५
४. वही, पृ० ३९

खामोशी, नफ़रत, ज़िम्मे, दर्द, खुद, बाक़ी, बावजूद, बेहद, सुबह, कोशिश, खास आदि शब्द हों या द्वन्द्वयुद्ध, श्वेतकेशी, आजानुबाहु सज्जित, उच्छृंखलता, गर्वोन्नत, कलुषित, श्रीहत, मातृवंचित आदि संस्कृत के तत्सम शब्द हों, या महाप्रलय, शिविर, शक्ति, प्रास, नाराच, दिव्यदृष्टि, ब्रह्मास्त्र, योगमाया, तर्पण, अग्निवाण, तपोवन, सतयुग, त्रेता, द्वापर, शिरस्त्राण, शाप आदि प्राचीन वातावरण के द्योतक शब्द हों, या सपने, नित, बरस, पत्थर, पात, साँवल जैसे तद्भव शब्द हों या झुलस गये, कुतर रही, पाँखुरियों, उसाँस, गलियारा, अँधियारा, दहाड़ता, निगलता, धँसता, कोसों, मरोड़ दिया, गँदले, बिलबिला रहीं, आदि बोलचाल की भाषा के शब्द हों। भारती ने बार-बार चूर-चूर, घिसट-घिसट कर, गाढ़े-गाढ़े, सदा-सदा, सूनी-सूनी, फैले-फैले, युग-युग, रोम-रोम, गली-गली, धीरे-धीरे, बह-बह कर, काले-काले, हड्डी-हड्डी, आते-आते, जोड़-जोड़ कर आदि अनेक दुहरे शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार बचा-खुचा, लुक-छिपकर, टेढ़े-मेढ़े, चीर-फाड़ आदि सहवर्ती शब्दों का प्रयोग भी बहुलता से हुआ है। हरी-भरी, अस्त-व्यस्त, अस्त्र-शस्त्र जैसे समतुकान्त सहयोगी शब्दों का भी कुछ स्थानों पर प्रयोग हुआ है। भारती ने दिन-काटना', पाट देना, खण्ड-खण्ड कर डालना, इतिहास बदलना, भय खाना, लोहा लेना, हाथ पसारना, दम तोड़ना, झूठा पड़ जाना, निर्मल करना, चूर-चूर करना, धुरी से उतरना, मृत्यु के द्वार खोलना, जीवन का दाँव लगा देना, ताने कसना, पछाड़ खाना, नाटक रचना आदि अनेक मुहावरों का प्रयोग अपनी अभिव्यक्ति को मूल अनुभूतियों से सम्बद्ध करने के उद्देश्य से किया है। यद्यपि भारती भाषा के बहुत ही सजग तथा समर्थ साधक हैं, तथापि अन्धायुग में भाषागत दो-चार स्खलन भी रह गये हैं, जिनमें से कुछ तो निश्चय ही मुद्रण की त्रुटि के कारण हो गये प्रतीत होते हैं। "किन्तु मैं निष्क्रिय अपंगु हूँ"[1] मैं 'अपंगु' के स्थान पर 'अपंग' होना चाहिए। "मैं अब भी 'अनाधिकारी'[2] के स्थान पर 'अनधिकारी' शब्द सही है। 'हलक़' भी जमी होगी",[3] में 'हलक़' शब्द के साथ 'जमा होगा' क्रिया का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि यह शब्द पुल्लिग है। "यह सब हैं अन्धी प्रवृत्तियों की पोशाकें" में 'यह' के स्थान पर बहुवचत 'ये' का प्रयोग अपेक्षित है। "गोद में रक्खो सर"[4] में 'सिर' के स्थान पर उर्दू के प्रभाव से 'सर' का प्रयोग किया गया है, जो चिन्त्य है। संवादों की भाषा पर सामान्य रूप में विचार करने के उपरान्त यहाँ अभिव्यक्ति के बिम्बविधान, प्रतीक-योजना आदि तत्त्वों के आधार पर भी 'अन्धायुग' की भाषा का पर्यालोचन उपयोगी होगा।

(क) **बिम्ब-विधान**—अन्धायुग के बिम्बों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये तीखे और तराशे हुए हैं। इन बिम्बों में ब्यौरे (डिटेल्स) बहुत कम हैं, किन्तु थोड़े और भली प्रकार चुने हुए ब्यौरों की संश्लिष्ट योजना द्वारा तीखी अनुभूतियाँ उभारने की

१. वही, पृ० १२८
२. वही, पृ० ८४
३. वही, पृ० ८३
४. वही, पृ० ५८

चेष्टा की गई है। भारती के अनुभूति-प्राण बिम्बों के निर्माण में ऐसी शब्दावली का योग है जो अपनी ध्वनि के द्वारा ऐन्द्रिय बोध को तीव्रता और गहराई से उभारती है। यहाँ ऐन्द्रिय बोध को जगाने वाले बिम्बधर्मी शब्दों के कुछ उदाहरणों पर विचार करना उपयोगी होगा। भारती ने भाषा के सभी प्रमुख अवयवों—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण का प्रयोग बिम्बों के निर्माण में किया है। 'अन्धड़', 'पगध्वनि, फोड़े' 'ज्योतिवाण, झाड़ी,' 'कनपटियाँ', 'पछाड़', 'मोड़', आदि ऐसे कितने ही संज्ञा शब्दों का प्रयोग 'अन्धायुग' में हुआ है, जिनके सुनते ही मन में विशिष्ट रूप-व्यापार उभरते हैं। इन विशिष्ट रूप-व्यापारों को विशिष्ट तीखापन देने में उपयुक्त एवं चुने हुए विशेषणों से सहायता ली गई है। विशेषणों की योजना में कवि ने सराहनीय कवि-कौशल का परिचय दिया है। अन्धायुग के शिल्प-सौन्दर्य में विशेषणों का भारी योग है। 'सूना गलियारा', 'धधकता हुआ बरगद', 'दहाड़ता हुआ समुद्र', 'पिघली आग', 'सैकड़ों केंचुल चढ़े अन्धे साँप', 'उमड़ते हुए भयानक तूफान', 'कोसों तक फैली हुई धरती,' 'अन्धा समुद्र', 'कुचली कमल-कली, "बुझती लपटें" आदि में विशेषणों के प्रयोग विशेष्यों को विशेषता-सूचक ब्यौरों से युक्त करके नई भास्वरता प्रदान करते हैं। कहीं-कहीं कवि ने एक विशेष्य के विशेषण को उससे सम्बद्ध विशेष्य के साथ जोड़कर उसके मूल में निहित रूप-व्यापार और अनुभूति को वैशिष्ट्य प्रदान किया है। 'भूखे पंजे' में 'पंजे' के साथ 'भूखे' विशेषण जोड़कर पंजे वाले व्यक्ति (अश्वत्थामा) की किसी व्यक्ति का वध करने की तीव्र लालसा (भूख) को रूपायित किया गया है। अनेक स्थानों पर कवि ने इस प्रकार के विशेषण-विपर्यय द्वारा वैचारिक, अरूप संज्ञाओं को भी रूपात्मकता से जोड़ दिया है। 'संस्कृति' वैचारिक और अमूर्त शब्द है, किन्तु 'अन्धी संस्कृति' कहते ही अमूर्त भी मूर्त हो उठता है। कहीं-कहीं सर्वनामों के प्रयोग से कवि ने संज्ञाओं द्वारा निर्दिष्ट रूपों की ओर अर्थगर्भित संकेत करके बिम्ब को अनुभूतिपूर्ण बनाया है। "एक बार दृष्टि उठाकर ही दे दें आशीष इसे"[१] में अश्वत्थामा की ओर संकेत करके उसे साग्रह वैशिष्ट्य प्रदान किया गया है। "वह आ रहा है कौन"[२] में आते हुए किसी अज्ञात व्यक्ति का धूमिल बिम्ब बनता है, किन्तु 'वह' के द्वारा उसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है और 'कौन' के द्वारा उस धूमिल बिम्ब में से स्पष्ट एवं विशिष्ट बिम्ब उकेरने की चेष्टा की गई है। जो सफलता कवि को विशेषणों के बिम्बात्मक प्रयोग में मिली है, वही, वरन् उससे भी अधिक सफलता उसे क्रियाओं के बिम्बात्मक प्रयोग में मिली है। 'झुक जाओ', 'मरोड़ दिया', 'फाड़ खायेगा', 'निगल जायेगा, 'कुतर रही,' 'झुलस गये', 'टूट गिरा', 'टँगा रहा,' 'फुफकारेंगे,' 'टकराएँगे', दबोचेंगे आदि क्रियाओं के ऐसे चुने हुए प्रयोग हैं, जो क्रिया-व्यापार को अनायास रूपायित कर देते हैं। क्रिया व्यापार के बिम्बन के साथ ही इन प्रयोगों में

---

१. वही, पृ० ८४

२. वही, पृ० ६०

ध्वननशीलता और संगीतात्मक नाद-सौन्दर्य का भी अपना वैशिष्ट्य है। जिस प्रकार कवि ने चुने हुए विशेषणों द्वारा संज्ञाओं को विशिष्ट संवेदनामूलक ब्यौरों से सन्निविष्ट किया है, उसी प्रकार चुने हुए क्रिया-विशेषणों के माध्यम से क्रियाओं द्वारा निरूपित व्यापारों को विशिष्टता प्रदान की है। "खड़ा था निहत्था ही, "आर्तनाद करता हुआ··· चला गया", "माता खड़ी होती बाहें फैलाये", "बाहें फैलाकर पशुवत् घोर नाद किया", "हृदय विदारक स्वर में वे चीख उठे", "बाँहें पकड़कर किनारे खींच लिया", "झुलस-झुलस कर गिर रही हैं", आदि में क्रिया-विशेषणों द्वारा क्रियाओं के स्वरूप को निर्धारित किया गया है। भारती ने बिम्बों के सर्जन में अलंकारों और प्रतीकों से भी सहारा लिया है। बिम्ब-सृष्टि में अलंकारों और प्रतीकों का क्या योग रहा है, इसका विवेचन यथास्थान आगे किया जायेगा।

यों तो सभी प्रकार की ऐन्द्रिय संवेदनाओं का अन्तर्भाव रूप-बिम्बों में हो सकता है, तथापि विशिष्ट ऐन्द्रिय संवेदनाओं की प्रधानता की दृष्टि से भारती के बिम्बों को रूप-बिम्ब, ध्वनि-बिम्ब, स्पर्श-बिम्ब, गन्ध-बिम्ब और आस्वाद-बिम्ब या रस-बिम्ब में वर्गीकृत किया जा सकता है।

रूप में विभिन्न निर्मायक अवयवों के संश्लिष्ट एवं सन्तुलित गठन के अतिरिक्त रूपगत रंग, कान्ति और गतियों या क्रियाओं का भी सन्निवेश रहता है। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने कारणमूलक क्रियाओं और उनकी परिणाममूलक क्रियाओं की संश्लिष्ट संयोजना द्वारा संक्षिप्त ब्यौरों के माध्यम से ही भयावह विराट् बिम्ब की सृष्टि की है—

"ये दोनों ब्रह्मास्त्र अभी नभ में टकरायेंगे
सूरज बुझ जायेगा
धरा बंजर हो जायेगी।"[1]

उपर्युक्त बिम्ब में दो ब्रह्मास्त्रों के दोनों ओर से तीव्र गति से आने और आकाश में टकराने की क्रिया के बिम्बन के साथ ही उस टकराव की आकाश और पृथ्वी पर व्यापक और भीषण प्रतिक्रिया के बिम्ब को भी सन्निविष्ट किया गया है। ब्रह्मास्त्रों के टकराव की कल्पना स्वयं में बड़ी भीषण है, किन्तु सूरज के बुझ जाने की कल्पना से तो मस्तिष्क फटने लगता है। कहीं-कहीं कवि ने अत्यल्प ब्यौरों के द्वारा ही अत्यन्त व्यापक बिम्ब प्रस्तुत किए हैं। नक्षत्रों के बुझने से तिमिर की परत पड़ जाने पर वन की भयंकरता पर भी और अधिक भयंकरता की परत पड़ गई—

"बुझ गये सभी नक्षत्र, छा गया तिमिर गहन
वह और भयंकर लगने लगा भयंकर बन"[2]

कहीं-कहीं भारती ने कल्पना के योग से ही अपने बिम्बों के सम्भाव्य ब्यौरों की उद्भावना की है, जो अवास्तविक होते हुए भी वास्तविक अर्थों की व्यंजना करते हैं—

---

१. वही, पृ० ९३
२. वही, पृ० १२२

"सूरज में मुण्डहीन
काले-काले कबन्ध हिलते
नज़र आते है"[१]

उपर्युक्त बिम्ब में रूप, गति और रंग की संश्लिष्ट योजना है। सूरज में हिलते हुए कबन्ध दिखलाई पड़ने से भय का संचार होता है, किन्तु बिम्ब की अर्थवत्ता बिम्बगत रूपात्मकता तक ही सीमित नहीं है, वरन् मुण्डहीन कबन्धों के दिखलाई पड़ने के अपशकुन से यादवों के युद्ध की आशका भी व्यंजित होती है। ऐसे बिम्ब को, जिसका अर्थ उसकी रूपात्मक सीमाओं का अतिक्रमण करके असीमता की ओर उन्मुख हो, प्रतीकात्मक बिम्ब (सिम्बोलिक इमेज) कहा जाता है।

यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि भारती ने पीले, हरे रंगों का भी उल्लेख किया है, तथापि अन्धायुग में काले रंग का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है। रक्त का रंग सामान्यतः लाल होता है, किन्तु गाढ़े या सूखे हुए या जमे हुए रक्त का रंग कुछ काला हो जाता है। भारती ने काले रक्त का ही उल्लेख किया है।[२] एक स्थान पर नीले रक्त का भी उल्लेख है।[३] घृणा का रंग भी भारती ने काला ही माना है।[४] अँधियारे के बार-बार प्रयोग द्वारा भी कवि ने काले रंग के माध्यम से अवसादपूर्ण और अमंगलमय वातावरण की सृष्टि करनी चाही है।

कल्पना-प्रसूत रूपों और व्यापारों के समावेश द्वारा कवि ने वास्तविक रूपों और व्यापारों के तीखेपन में और भी वृद्धि की है। निम्नलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत अश्वत्थामा की कामना के बिम्ब में उसका हिंस्र स्वभाव अपनी यथार्थ उग्रता के साथ मूर्त हो उठा है—

"मेरी इस पसली के नीचे
दो पंजे उग आयें
मेरी ये पुतलियाँ
बिना दाँतों के चोथ खायें
पायें जिसे।[५]

उपर्युक्त बिम्ब में कल्पना ने रूप-ग्रहण के साथ रूप-रचना का भी कार्य किया है। निम्नलिखित पंक्तियों में कल्पना सदृश रूप-व्यापारों की योजना (उपमा) द्वारा यथार्थ की रेखाओं को उभारने में क्रियाशील रही हैं—

"बिजली-सा झपट, खींच कर शय्या के नीचे
घुटनों से दाब लिया उसको

---

१. वही, पृ० ११७
२. वही, पृ० १२०, ७६, ८३
३. वही, पृ० १२३
४. वही, पृ० ७५
५. वही, ३६

पंजों से गला दबोच लिया
आँखों के कोटर से दोनों साबित गोले
कच्चे आमों की गुठली जैसे उछल गये
खाली गड्ढों में काला लोहू उबल पड़ा।[१]

उपर्युक्त बिम्ब में ध्वौरों की अधिकता है; यह बिम्ब अपनी अर्थवत्ता में अपनी रूपात्मकता तक सीमित है। ऐसे बिम्ब प्रतीकात्मक बिम्बों से भिन्न होते हैं।

भावपूर्ण मुद्राओं के मर्मस्पर्शी बिम्बों की योजना में भी भारती को सफलता मिली है। ऐसे बिम्बों में कवि ने अनुभावों के चित्रण द्वारा सजीवता और स्वाभाविकता उत्पन्न की है। अनुभावों के चित्रण में क्रियाओं और क्रिया-विशेषणों का विशेष योग दर्शनीय है।[२] भारती ने सूक्ष्म विचारों और भावों के भी बिम्ब अंकित किये हैं। 'मर्यादा मत तोड़ो, मर्यादा के भंग होने से कौरव-वंश का विनाश हो जायेगा···' यह एक उपदेशपरक विचार है। उपदेशपरक विचार अपने रूखेपन के कारण कविता की सरस प्रकृति के वैसे भी विपरीत पड़ता है, किन्तु भारती ने इसी उपदेशात्मक अमूर्त अर्थ-बोध को मूर्त उपकरणों की सहायता से सजीव रूप में बिम्बित करके अपनी अद्‌भुत काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है—

"मर्यादा मत तोड़ो
तोड़ी हुई मर्यादा
कुचले हुए अजगर-सी
गुंजलिका में कौरव वंश को लपेट कर
सूखी लकड़ी-सा तोड़ डालेगी।"[३]

---

१. **अंधायुग,** पृ० ७९
२. (क) सीढ़ी पर बैठे घुटनों पर माथा रक्खे
अक्सर डूबे रहते थे निष्फल चिन्तन में
देखा करते थे सूनी-सूनी आँखों से
बाहर फैले-फैले निस्तब्ध तिमिर घन में। **वही,** पृ० १०४
(ख) अन्तःपुर में मरघट की सी खामोशी
कृश गान्धारी बैठी हैं शीश झुकाए
सिंहासन पर धृतराष्ट्र मौन बैठे हैं
संजय अब तक कुछ भी संवाद न लाए। **वही,** पृ० १६
(ग) टूटे रथ के समीप,
खड़ा था निहत्था ही
अश्रु-भरे नेत्रों से
उसने मुझे देखा
और माथा झुका लिया। **वही,** पृ० ३२
३. **वही,** पृ० १७

यहाँ उपमा-पुष्ट रूपक के द्वारा वैचारिक अर्थ को गोचर अथवा मूर्त रूप प्रदान किया गया है। भावों के बिम्ब में भी कवि ने सादृश्यमूलक अलंकार (उपमा) का सहारा लिया है—

"कौए के कटे पंख-सी काली
रक्तरंगी घृणा है भयानक उसकी
अदम्य।"[१]

कुछ स्थानों पर भारती ने पौराणिक पात्रों, प्रसंगों और प्रतीकों की योजना द्वारा भी अपने बिम्बों को जन-मानस में युग-युग से प्रतिष्ठित रूपों, संस्कारों और संवेदनाओं से जोड़ दिया है। जन-मानस के अवचेतन में चिरकाल से अवस्थित ऐसे सहज संवेद्य बिम्बों को आदि-बिम्ब या आद्य-बिम्ब (आरकेटाइपल इमेजिज़) कहते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में बिम्ब आद्य-बिम्ब का रूप ग्रहण करके भावाभिव्यंजना के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है—

"घृणा के उस नये कालियनाग का दमन
अब क्या कृष्ण कर पायेंगे ?"[२]

कवि का अभिप्रेत केवल इतना था कि क्या कृष्ण घृणापूर्ण प्रकृति वाले अश्वत्थामा को मार सकेंगे अथवा नहीं ? इस अभिप्रेत अर्थ को कवि ने सदृश अर्थ-सम्भावना से गर्भित पौराणिक प्रसंग से जोड़कर अश्वत्थामा को "घृणा का नया कालियनाग" कहा है और यह आशंका की है कि जिस कृष्ण ने कालियनाग का दमन किया था, क्या वे ही कृष्ण घृणा के इस नये कालियनाग का भी दमन कर पायेंगे ? इस प्रकार कवि ने प्रस्तुत प्रसंग को सदृश पौराणिक प्रसंग से सम्पृक्त करके प्रस्तुत प्रसंग को गम्भीर अर्थवत्ता से युक्त कर दिया है। "लेकिन अगणित रौरव की, पीड़ा जगती रहेगी रोम-रोम में",[३] में रौरव की पौराणिक परिकल्पना के योग द्वारा बिम्ब को अर्थगत तीव्रता प्रदान की गई है। शिव और कृष्ण के पौराणिक चरित्र द्वारा भी बिम्बों को अर्थगर्भित और सहज-सम्प्रेषणीय बनाया गया है।

भारती ने दो विषम बिम्बों की एकत्र योजना द्वारा भी अभिप्रेत अर्थों को उत्कर्ष प्रदान किया है। ऐसी स्थिति में दोनों बिम्बों के पारस्परिक टकराव से उनसे सम्बद्ध अर्थों में तीव्रता आ गई है।[४]

---

१. वही, पृ० ७५
२. वही, पृ ७५
३. वही, पृ० ९८
४. (क) यह रात गर्व में
तने हुए माथों की
यह रात हाथ पर
धरे हुए हाथों की। वही, पृ० ४६

भारती की ऐन्द्रिय संवेदना अत्यन्त सजग है। इसलिए अन्धायुग में रूप-बिम्बों से सम्बद्ध गन्ध, ध्वनि, स्पर्श और रस की अनुभूतियों की प्रधानता वाले बिम्ब भी प्रचुर हैं, जिन्हें सुविधा की दृष्टि से गन्ध-बिम्ब, ध्वनि-बिम्ब, स्पर्श-बिम्ब और आस्वाद-बिम्ब कहा जा सकता है। "थी वनतुलसा की गन्ध वहाँ था पावन छायामय पीपल" में गन्धानुभूति को बिम्बित किया गया है। प्रभु की अवसान-वेला के लिए उपयुक्त वातावरण-सृष्टि के उद्देश्य से कवि ने भारतीय लोक-परिवेश में रमी हुई गन्धानुभूति का चयन करके अपनी प्रबुद्ध सांस्कृतिक चेतना का परिचय दिया है। भारती का ध्यान अपने विषय के अनुरूप यथास्थान दुर्गन्धि की ओर भी गया है। कोढ़ से गले हुए अंशों वाले अश्वत्थामा को "रोगी कुत्तों-सा दुर्गन्धयुक्त"[१] कहा गया है। सुनते हो, कैसी है ध्वनि यह, भयावह"[२] में उड़ते हुए गृद्धों के पंखों की 'साँय-साँय' की ध्वनि और उसके प्रभाव की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। "हृदयविदारक स्वर में वे चीख उठे"[३] में दुर्योधन के करुण चीत्कार को शब्दों की ध्वनि-योजना द्वारा ही निरूपित करने की चेष्टा की गई है। "डरे हुए हाथी चिंग्घाड़कर शिविरों को, चीरते हुए भागे"[४] में "चिंग्घाड़कर" शब्द हाथी की ध्वनि को स्वराकार करता है। "गेहूँ की बालों में सर्प फुफकारेंगे"[५] में 'फुफकारेंगे' के माध्यम से 'साँप' की फूत्कार-ध्वनि को बिम्बित किया गया है। "कोटि-कोटि योजन तक दहाड़ता हुआ समुद्र"[६] में ध्वनि के साथ उसके प्रसार की व्यापकता को भी रूपायित किया गया है। अन्धायुग में प्रभास वन-क्षेत्र और सामुद्रिक परिवेश के विविध ब्यौरों की संश्लिष्ट योजना से युक्त अत्यन्त सशक्त ध्वनि-बिम्ब मिलता है—

"वह था प्रभास वन-क्षेत्र, महासागर-तट पर
नभचुम्बी लहरें रह-रह खाती थीं पछाड़
था घुला समुद्री फेन समीर झकोरों में
वह चली हवा, वह खड़ खड़ खड़ कर उठे ताड़"[७]

(ख) जिसके मस्तक पर
मणिजटित राजछत्रों की छाया थी
आज उसी मस्तक पर
गँदले पानी की
एक चादर है। **वही**, पृ० ४१

१. **वही**, पृ० ६८
२. **वही** पृ० १४
३. **वही**, पृ० ६७
४. **वही**, पृ० ८०
५. **वही**, पृ० ६३
६. **वही**, पृ० १६
७. **वही**, पृ० ११६

इसमें लहरों के लिए 'पछाड़' समीर के लिए 'झकोरों' तथा ताड़ के हवा में हिलते पत्तों के लिए 'खड़ खड़ खड़' की विशिष्ट ध्वनियों की योजना हुई है, जिनके माध्यम से पृथक्-पृथक् प्राकृतिक व्यापारों को रूपायित किया गया है। 'पछाड़ खाने' में लहरों के तट से टकराने और झटके से वापस मुड़ने की क्रिया साकार होती है। 'समीर झकारों' में समुद्री फेन के घुले होने का उल्लेख करके कवि ने सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। अन्धायुग में स्पर्श-बिम्बों की भी प्रचुरता है। धृतराष्ट्र के मन पर दृष्टि के अभाव में युद्ध का कोई बिम्ब नहीं उभर पाता। वे छूकर ही युद्ध का अनुभव कर पाते हैं।[1] जब वे कटी हुई बाँह को छूकर देखते हैं तो उन्हें ऐसा प्रतीत होता है जैसे उनके सिंहासन का हत्था हो।[2] संजय के गले को दबोचने से अश्वत्थामा के विकृत मन में युधिष्ठिर के गले को दबोचने का बिम्ब बनता है और वह कहता है:—

इसी तरह
मेरे भूखे पंजे जाकर दबोचेंगे
वह गला युधिष्ठिर का"[3]

इसी प्रकार "स्त्रियाँ जहाँ थीं, वहीं कुचल गयीं[4]," "गले हुए जख्मों से चिपटी हुई पट्टियाँ[5] तथा "होंठ तर किये होंगे"[6] में भी स्पर्श-बिम्बों का अंकन हुआ है। "सात्यकि के उठे हुए शस्त्र के चमकदार ठंडे लोहे के स्पर्श में मृत्यु को इतने निकट पाना"[7] संजय के लिए बिल्कुल नया अनुभव था। यहाँ शस्त्र के स्पर्श की शीतलता की शारीरिक अनुभूति के साथ शस्त्र के स्पर्श के परिणाम से उदित मृत्यु-बोध को भी उसके साथ जोड़कर एक साथ दोहरी अनुभूति जगाई गई है।

आस्वाद-बिम्बों की ओर कवि का ध्यान प्राय: कम गया है। वस्तुत: उसके कथ्य और कथानक का स्वरूप ही आस्वाद-बिम्बों की योजना की सुविधा नहीं देता है। कवि ने "रस" शब्द का प्रयोग काव्यास्वाद और आनन्द के लिए किया है।[8] एक स्थान पर 'रसमय वनस्पति'[9] का भी प्रयोग हुआ है। कवि ने बासी थूक, कफ और जमे हुए हलक़ के उल्लेख द्वारा विकृत स्वाद की अनुभूति को जगाया है।[10]

---

१. आज उसी युद्ध को हाथों से छू छू कर
अनुभव करने का अवसर पाया है। वही, पृ० ४८
२. वही, पृ० ४८
३. वही, पृ० ३७
४. वही, पृ० ८०
५. वही, पृ० ९८
६. वही, पृ० १९
७. वही, पृ० ३१
८. वही, पृ० ११९ तथा १२८
९. वही, पृ० ९३
१०. वही, पृ० ३५, ८३

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्धायुग में विविध संवेदनाओं को उभारने वाले बिम्बों की सफल योजना हुई है।

(ख) **प्रतीक-योजना**—अन्धायुग में प्रतीक-योजना तीन रूपों में हुई है—(१) प्रतीकात्मक प्रसंगों के रूप में, (२) प्रतीकात्मक पात्रों के रूप में और, (३) शब्द-प्रतीकों के रूप में।

कथानक के विश्लेषण में प्रतीकात्मक प्रसंगों की ओर संकेत किया जा चुका है। प्रतीकात्मक प्रसंग वे प्रसंग हैं जो अपनी स्थूल घटनात्मक स्थिति का अतिक्रमण करके किन्हीं गूढ़ अर्थों या स्थितियों को व्यंजित करते हैं। अन्धायुग में, कुरुक्षेत्र की दिशा में उड़ने वाले नरभक्षी गृद्धों का प्रसंग अपनी घटनात्मक स्थिति की दृष्टि से मूल कथानक में कोई महत्त्व नहीं रखता है, किन्तु कवि ने उसके द्वारा युद्ध की विभीषिका और गदायुद्ध में दुर्योधन की पराजय और तदुपरान्त मृत्यु की ओर कलात्मक ढंग से संकेत करके मूल कथानक को अर्थ-गर्भित बनाया है। इसी प्रकार तीसरे अंक में सोये हुए कौवे के उलूक द्वारा वध का प्रसंग अश्वत्थामा को पाण्डव-शिविर में सोये योद्धाओं के वध का गूढ़ संकेत ही नहीं देता, वरन् चौथे अंक की पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत करता है। पाँचवें अंक के अन्त में अमांगलिक प्रसंगों की योजना द्वारा कवि ने यादव-वंश के भावी विनाश के साथ ही 'प्रभु की मृत्यु' को भी व्यंजित किया है।

पात्र और चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत पात्रों के प्रतीकात्मक अर्थों का प्रासंगिक रूप में उल्लेख किया गया है। यहाँ पात्रों के प्रतीकात्मक अर्थों का संक्षेप में इस प्रकार पुनरावलोकन किया जा सकता है :—

धृतराष्ट्र=मोहान्ध और विवेकशून्य संकीर्ण ममत्व; गांधारी=आहत मातृत्व; संजय=निष्क्रिय तटस्थ द्रष्टा; अश्वत्थामा=प्रतिहिंसाजनित बर्बरता या पशुता (अमानुषिक अर्द्धसत्य); युयुत्सु=ग़लत धुरी से उतरा हुआ पहिया—निराधार कुण्ठित और दुर्गतिग्रस्त आत्महन्ता; कृष्ण=सर्वव्यापी सत्ता, मानव-भविष्य।

अन्धायुग में शब्द-प्रतीकों की भी प्रचुरता है। "अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन"[1] में 'अन्धों' का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप में मोहान्ध और विवेकशून्य शासकों के अर्थ में किया गया है। "अन्दर केवल दो बुझती लपटें बाकी"[2], में 'दो बुझती लपटें' धृतराष्ट्र और गांधारी के लिए प्रयुक्त हुआ है। "मेरे अन्धेपन से तुम थे उत्पन्न पुत्र"[3] में "अन्धेपन" को अविवेक और मोहान्धता के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया गया है। भारती ने अँधेरा और अँधियारा शब्दों का प्रयोग अज्ञान या

---

१. **वही**, पृ० ११

२. **वही**, पृ० २७

३. **वही**, पृ० ८९

मूढ़ता के प्रतीक के रूप में किया है।[1] इसके विपरीत 'ज्योति' और 'ज्योतिवृत्त' शब्दों का प्रयोग क्रमशः 'चेतना' और 'सत्पक्ष' या विवेक के अर्थ में हुआ है :—

(१) "ज्योति बुझ रही है वहाँ"[2]

(३) उसको उल्लंघन कर तुमने
जो ज्योतिवृत्त में रहना चाहा···[3]

कहीं-कहीं कवि ने कथा-प्रसंगों को इतने अर्थपूर्ण ढंग से अंकित किया है, कि उन प्रसंगों को वहन करने वाले शब्द स्वतः ही एक प्रतीकार्थ अर्जित कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, उलूक के द्वारा वध किये गये कौए का 'घायल कटा पंख'[4] ही अश्वत्थामा का 'अमानुषिक अर्द्धसत्य' या घृणाभाव है। इसके विपरीत कृष्ण के किरीट से गिरा हुआ 'मोरपंख'[5] कृष्ण की मर्यादा और सत्प्रवृत्ति का प्रतीक है। 'पंख, पहिये और पट्टियाँ' शीर्षक 'अन्तराल' में तो भारती ने सांगरूपकों के अन्तर्गत प्रतीकों का प्रयोग किया है। 'यह युग एक अन्धा समुद्र है' से प्रारम्भ होने वाले सांगरूपक में 'तूफान', 'बहाव' 'मन्थन', 'अन्धे साँप' आदि का प्रतीकार्थ क्रमशः 'विप्लव' या 'स्वार्थ-संघर्ष', 'युग-प्रवाह', 'मोहग्रस्त और विषाक्त प्रकृति के लोग' है।[6] इसी संदर्भ में पट्टियाँ शब्द का प्रयोग 'मोहान्धता या मूढ़ताजन्य संकीर्णता' के अर्थ में हुआ है। जो पट्टियाँ गांधारी की आँखों पर हैं, वे ही संघर्ष और युद्ध का कारण बनकर सैनिकों के ज़ख्मों पर दिखलाई पड़ती हैं :—

ये पट्टियाँ गांधारी की आँखों पर हैं,
सैनिकों के ज़ख्मों पर हैं[7]

कुछ स्थानों पर भारती ने पात्रों के नामों को प्रतीक-रूप में प्रयुक्त किया है :

(१) किसने यह छोड़ दिया धनुष यहाँ ?
क्या फिर किसी अर्जुन के
मन में विषाद हुआ ?

---

१. (क) यह है मेरा
ह्रासोन्मुख कुटुम्ब,
जिसे कुछ ही वर्षों में बाहर घिरा
अँधेरा निगल जायेगा। **वही**, पृ० १०५

(ख) हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
हर क्षण अँधियारा गहरा होता जाता है। **वही**, पृ० १३०

२. **वही**, पृ० १२२

३. **वही**, पृ० ६०

४. **वही**, पृ० ६६

५. मोरपंख उससे हारेगा या जीतेगा ? **वही**, पृ० ७५

६. **वही**, पृ० ७३

७. **वही**, पृ० ७३

(२) "हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग
अँधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है,

पहले उदाहरण में 'अर्जुन' का प्रयोग 'मोह और विषाद से ग्रस्त व्यक्ति' के अर्थ में हुआ है तथा दूसरे उदाहरण में 'अश्वत्थामा' और 'संजय' का प्रतीकार्थ 'अमानुषिक बर्बरता' और 'निष्क्रिय तटस्थ दृष्टि' है।

संक्षेप में, अन्धायुग में भारती ने प्रतीकों का सफल प्रयोग किया है। उनके अधिकतर प्रतीक पुराने या रूढ़ न होकर नवीन और सद्य-स्फुरित हैं; उनकी अभिव्यंजकता उनके सन्दर्भों से शक्ति ग्रहण करती है।

(ग) **अलंकार योजना**—भारती की एक विशेषता यह है कि वे एक ओर नये कवियों में भी अग्रगण्य हैं और साथ ही अधिकतर तथाकथित नये कवियों से हटकर उन्होंने अपने ढंग से प्राचीन परम्परा को भी नई रचनात्मक दिशा एवं व्याख्या दी है। प्राचीन साधारणीकरण के सिद्धान्त को सहज स्वीकृति प्रदान करते हुए वे कहते हैं, "एक धरातल ऐसा भी होता है, जहाँ 'निजी' और 'व्यापक' का बाह्य अन्तर मिट जाता है। वे भिन्न नहीं रहते। कहियत भिन्न न भिन्न।"[१] कदाचित्, परम्परा और प्रयोग, प्राचीन और नवीन का यही विरल सामंजस्य उन्हें अधिकतर नये कवियों से उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित करता है। भारती परम्परा के जीवन्त और प्रेरक रूप को स्वीकारते हैं; परम्परा के नाम पर अन्धी, जड़ रूढ़ियों को उन्होंने कहीं प्रश्रय नहीं दिया। इसलिए परम्परा की अर्थवत्ता और महत्ता को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने नई अनुभूति की अभिव्यक्ति के प्रश्न से जूझने की सर्वत्र चेष्टा की है। अन्धायुग में संजय नई संवेदना के साथ नई भाषा-संवेदना की समस्या को उठाते हुए कहता है :—

लेकिन आज अन्तिम पराजय के अनुभव ने
जैसे प्रकृति ही बदल दी है सत्य की
आज कैसे वही शब्द
वाहक बनेंगे इस नूतन अनुभूति के?[२]

विकृत अनुभूति या व्यक्तिगत वैचित्र्य या वैयक्तिक विसंगति से न तो व्यापक सत्य को अधिगत किया जा सकता है न अभिव्यक्त ही; उसके लिए संयत अनुभूति और अभिव्यक्ति अपेक्षित है। अधिकतर नये कवियों की त्रासदी यही है कि वे वैयक्तिक विकृत अनुभूति को संयत और उदात्त रचनात्मक स्तर तक उठाने के संकट से गुज़रे बिना ही सत्य (?) के प्रवक्ता होने का दावा करते हैं। इस विषय में संजय का मन्तव्य ध्यातव्य है :—

"चरम त्रास के उस बेहद गहरे क्षण में
कोई मेरी सारी अनुभूतियों को चीर गया

---

१. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० २
२. **वही**, पृ० ३०

कैसे दे पाऊँगा मैं सम्पूर्ण सत्य
उन्हें विकृत अनुभूति से ?[१]

भारती ने अनुभूति को उदात्त और सम्प्रेषणीय स्तर तक उठाने के लिए अपेक्षित कलात्मक अभिव्यक्ति की शर्तों को अंगीकार किया है। 'प्रभु की मृत्यु' के चित्रण से पूर्व वे पूर्ण आस्था के साथ उनके चरणों में नमन करते हुए प्रार्थना करते हैं :—

"दो मुझे शब्द, दो रसानुभव, दो अलंकरण
मैं चित्रित करूँ तुम्हारा करुण रहस्य मरण"[२]

भावना के औदात्य के लिए कलात्मक अभिव्यक्ति के उपकरणों की उपासना नितान्त अपेक्षित है, तभी 'अन्धों की कथा' को भी 'ज्योति की कथा' के रचनात्मक स्तर तक उठाया जा सकता है[३] और 'प्रभु की मृत्यु' के माध्यम से नूतन निर्माण, साहस निर्भयता, ममता और रस के क्षणों में उनके पुनर्जीवित होने के व्यापक सत्य की उपलब्धि की जा सकती है।[४]

उपर्युक्त कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि भारती ने जान-बूझकर शाब्दिक पच्चीकारी की है या शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की चेष्टापूर्वक अपनी कविता में भरमार की है। वस्तुतः कलात्मक अभिव्यक्ति के सभी अपेक्षित उपकरण उनकी अनुभूति के अंग बनकर उपस्थित हुए हैं; अनुभूति ने उन्हें सजीवता दी है और उन्होंने अनुभूति को कलात्मक संयम और औदात्य।

अन्धायुग में भारती को सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना में आशातीत सफलता मिली है। कवि की अनुभूति स्वभावतः उपमा और रूपक के साँचे में ढलकर रूपायित होती दिखलायी पड़ती है। जिस अलंकार ने भारती की अनुभूति का सर्वाधिक निरूपण, शिल्पन और संयमन किया है, वह है उपमा। अन्धायुग में से उपमा के कई दर्जन उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यहाँ उनमें से कुछ प्रमुख उदाहरणों के स्वरूप पर विचार करना ही पर्याप्त होगा। भारती ने धृतराष्ट्र की मोहान्धता के

---

१. **वही**, पृ० ३१
२. **वही**, पृ० ११६
३. "यह कथा उन्हीं अन्धों की है,
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।" **वही**, पृ० १०
४. मर्यादायुक्त आचरण में
नित नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूंगा मैं बार-बार। **वही**, पृ० १२८

कारण प्रजा को ऋण बनाने वाली विकृति-ग्रस्त मर्यादा की उपमा जनता को अपने सम्पर्क से रोगी बनाने वाली गलित अंग वेश्या से दी है।[1] इस उदाहरण में सूक्ष्म मर्यादा के लिए स्थूल उपमान की योजना की गयी है। यहाँ दूरगामी प्रभावसाम्य से उत्पन्न अर्थ-गौरव दर्शनीय है। "अन्तःपुर में मरघट की सी खामोशी"[2] में अन्तःपुर की खामोशी की तुलना मरघट की खामोशी से करके उपमेय के प्रभाव में वृद्धि की गयी है। निम्नलिखित पंक्तियों में साधर्म्य की गहनता से युक्त नितान्त नवीन उपमान खोज लाने में कवि ने विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। यहाँ प्रयोग सतही न होकर अनुभूतिप्राण हो उठा है—

शब्द यह जलते हुए लोहे की सलाखों-सा
मेरी पसलियों में धँसता है।

यहाँ शब्द-श्रवण से उत्पन्न मानसिक वेदना की सूक्ष्म अनुभूति को शारीरिक वेदना की अनुभूति के माध्यम से अधिक संवेद्य, मूर्त अथवा गोचर रूप में प्रस्तुत किया गया है। कवि जानता है कि शारीरिक वेदना भी मूलतः मानसिक ही होती है, अतः उसके माध्यम से अमूर्त मानसिक वेदना को अधिक ग्राह्य तथा मूर्त रूप में व्यक्त किया जा सकता है। "सूने गलियारे सा सूना यह जीवन भी बीत गया",[3] में जीवन की शून्यता की तुलना गलियारे के सूनेपन से करके कवि ने जीवन की शून्यता को इन्द्रिय-ग्राह्य रूप में प्रस्तुत किया है, क्योंकि जीवन की शून्यता का भले ही किसी को बोध न हो सके, किन्तु गलियारे का सूनापन तो सभी के निरीक्षण और अनुभव का विषय होता है। कहीं-कहीं कवि ने एक ही उपमेय के लिए दोहरे उपमान जुटाकर भावाभिव्यक्ति को अत्यन्त प्रभावी बना दिया है। यहाँ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

कुचले हुए साँप सा
भयावह किन्तु
शक्तिहीन मेरा धनुष है यह
जैसा है मेरा मन[4]

यहाँ कवि ने एक उपमान—(अश्वत्थामा का) भयावह किन्तु शक्तिहीन धनुष—के लिए एक स्थूल उपमान—कुचला हुआ साँप—तथा एक सूक्ष्म उपमान—(अश्वत्थामा का कुचला हुआ) मन—की योजना करके दोहरे प्रभाव की सिद्धि की है। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि जहाँ धनुष की तुलना (कुण्ठित) मन और कुचले हुए साँप से हुई है, वहाँ साथ ही मन की तुलना कुचले हुए साँप और भयावह किन्तु शक्तिहीन धनुष से हो

---

१. "जिसके अन्धेपन में मर्यादा
गलित अंग वेश्या-सी
प्रजाजनों को भी रोगी बनाती फिरी।" वही, पृ० १३
२. वही, पृ० १६
३. वही, पृ० २७
४. वही, पृ० ३३-३४

गयी है। वस्तुतः कवि का मूल उद्देश्य अश्वत्थामा की विकृत मनःस्थिति का चित्रण ही था, जिसकी सिद्धि उसने बहुत ही कौशल के साथ की है। कुछ स्थानों पर कवि ने सूक्ष्म उपमेयों की तुलना के लिए कल्पना की जटिल प्रक्रिया के आधार पर वैसे ही सूक्ष्म उपमानों की उद्भावना की है—

पर युग-सन्ध्या की कलुषित छाया जैसा
यह शाप सभी के मन पर टँगा रहा।[1]

"धूम्रमेघ घिरते जाते हैं वन-खण्डों से"[2], में प्राकृतिक उपमेय के लिए प्राकृतिक उपमान की योजना सर्वथा नैसर्गिक बन पड़ी है।

भारती का दूसरा महत्त्वपूर्ण अलंकार रूपक है। रूपक के उदाहरणों में से अधिकतर में कवि ने सूक्ष्म या अमूर्त के लिए 'मूर्त' उपमानों की योजना की है।[3] गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने सांग रूपकों का भी प्रयोग किया है। निम्न-लिखित पंक्तियों में सांग रूपक का उदाहरण द्रष्टव्य है—

"मैं दो बड़े पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभा-चक्र हूँ
जो पहियों के साथ घूमता है
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता
और न धरती को ही छू पाता है।"[4]

"यह युग एक अन्धा समुद्र है" से प्रारम्भ होने वाले काव्यांश में भी सांगरूपक है।[5] वास्तव में जहाँ भारती ने गूढ़ अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित कोई जटिल बँधान बाँधा है, वहाँ वे कथन की प्राचीन पद्धतियों का अतिक्रमण करके उनसे बहुत आगे निकल गये हैं। यही कारण है कि उनकी कुछ उक्तियों को परम्परागत अलंकारों के साँचे में ढालकर देखने पर यह निर्धारण करना दुष्कर है कि वहाँ कौन सा अलंकार है। उदाहरणार्थ प्राचीन युग का कोई कवि इस प्रकार की न तो जटिल अनुभूति ही कर सकता था न अभिव्यक्ति ही—

---

१. **वही**, पृ० १०२
२. **वही**, पृ० ११२
३. (क) वह संजय भी
इस मोह-निशा में घिर कर। **वही**, पृ० २८
(ख) पर वह भी भटक गया असमंजस के बन में। **वही**, पृ० २९
(ग) मर्यादित आचरण कवच है
जो व्यक्ति को बचाता है। **वही**, पृ० ९७
(घ) आस्था नामक यह घिसा हुआ सिक्का
अब मिला अश्वत्थामा को। **वही**, पृ० १२३
४. **वही**, पृ० ७४
५. **वही**, पृ० ७२-७३

"जो युग हम सबने रण में मिलकर बोया है
जब वह अंकुर देगा ढँक लेगा सकल ज्ञान।"

यहाँ 'युग' और 'रण' के लिए कोई उपमान नहीं है, किन्तु 'बोया है' क्रिया से युग-रूपी बीज और रण-रूपी क्षेत्र का अनुमान होता है। ऐसी स्थिति में न तो यहाँ पूर्णतः समासोक्ति ही है और न ही विशुद्धतः सांग रूपक।

अन्धायुग में उत्प्रेक्षा के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं। यहाँ उत्प्रेक्षा का निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

"नर रक्त से वह तलवार उसके हाथों में
चिपक गई थी ऐसे
जैसे वह उगी हो
उसी के भुज मूलों से।"[१]

मूलतः इस उक्ति का स्रोत महाभारत में है।[२] अन्यत्र प्रहरी-२ को कुरुक्षेत्र की दिशा में मुड़कर उड़ने वाले गृद्धों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे मौत ऊपर से निकल गयी हो।[३] यहाँ मूर्त की अमूर्त में सम्भावना की गई है।

अन्य अलंकारों के उदाहरण भी अन्धायुग में खोजे जा सकते हैं। "मैं क्या करूँगा, हाय मैं क्या करूँगा"[४] जैसे वीप्सा अलंकार के उदाहरण अन्धायुग में प्रचुर है। अन्धायुग में ऐसे स्थल भी बहुत हैं जहाँ साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया गया है। ऐसे स्थलों पर परिकर अलंकार होता है।[५] यदि वाक्यार्थ या पदार्थ किसी कथन का कारण हो तो काव्यलिंग अलंकार होता है। अन्धायुग में काव्यलिंग के भी

---

१. **वही**, पृ० ८१

२. नृशोणितावसिक्तस्य द्रौणेरासीदसित्सरुः ॥
पाणिना सह संश्लिष्ट एकीभूत इव बभौ।
महाभारत, सौप्तिक पर्व, अ० ९, श्लो० १४३-१४४

३. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० १५

४. **वही**, पृ० ४२

५. (क) हम जो योद्धा थे
अब लुक छिप कर
बूढ़े निहत्थों का
करेंगे वध।" **वही**, पृ० ४५

(ख) "वे आशुतोष हैं
हाथ उठाकर बोले
"अश्वत्थामा तुम विजयी होगे निश्चय।" **वही**, पृ० ७८

उदाहरण मिलते हैं।[१] "मैं हूँ दण्डित, लेकिन मुक्त हूँ"[२] में विरोधाभास के द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया गया है। इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में भी विरोधाभास की छटा दर्शनीय है—

"रक्षक थे हम केवल
लेकिन रक्षणीय कुछ भी नहीं था यहाँ।"[३]

यदि अनेक क्रियाओं का एक ही कारक हो तो कारक-दीपक कहलाता है।[४] अन्धायुग में कारक-दीपक के भी सुन्दर उदाहरण उपलब्ध हैं।[५] "बादल नहीं ये गिद्ध हैं"[६] में अपह्नुति अलंकार है। निम्नलिखित पंक्तियों में विषय-भेद से उल्लेख अलंकार है—

"जय है यह कृष्ण की
जिसमें मैं वधिक हूँ
मातृवंचित हूँ
सबकी घृणा का पात्र हूँ।"[७]

अन्धायुग में विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण, और ध्वननशीलता (आनोमेटोपोइया) आदि पाश्चात्य अलंकारों का भी सहज रूप में समावेश हो गया है। "अन्धी संस्कृति", "नरभक्षी गिद्धों का भूखा बादल", "भूखे पंजे", "कायर हत्या" में विशेषण विपर्यय का सफल प्रयोग मिलता है।[८] "काल घूमा करता है" तथा "एक अर्द्धसत्य ने

---

१. (क) "मैं था जन्मान्ध
कैसे कर सकता था
ग्रहण मैं
बाहरी यथार्थ या सामाजिक मर्यादा को ?" **वही**, पृ० १७
(ख) हमने मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी मर्यादा। **वही**, पृ० २६

२. **वही**, पृ० १२७

३. **वही**, पृ० १२

४. दे० देवेन्द्रनाथ शर्मा, **अलंकार-मुक्तावली**, पृ० ८०

५. (क) "अपने इन हाथों से
मैंने उन फूलों-सी बधुओं की कलाइयों से
चूड़ियाँ उतारी हैं
अपने इस आँचल से
सेंदूर की रेखाएँ पोंछी हैं।" धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० २२
(ख) ये पट्टियाँ गान्धारी की आँखों पर हैं,
सैनिकों के जख्मों पर हैं। **वही**, पृ० ७३

६. **वही**, पृ० १४

७. **वही**, पृ० ५६

८. **वही**, पृ० १३, १६, ३७, ७६

युधिष्ठिर के, मेरे भविष्य की हत्या कर डाली है" में क्रमशः 'काल' और 'अर्द्धसत्य' का मानवीकरण हुआ है।[1] "खड़ खड़ खड़ कर उठे ताड़", में ध्वननशीलता का उदाहरण मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्धायुग में अलंकारों का सहज सफल प्रयोग हुआ है। कवि ने जीवन और जगत् के विविध क्षेत्रों से अछूते किन्तु उपमेयों के साथ सादृश्य और साधर्म्य की गम्भीर सम्भावनाओं से युक्त भावोत्तेजक उपमानों की योजना करके अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति और काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है।

(घ) **लय और तुक**—लय और तुक की दृष्टि से अन्धायुग को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) कथागायनों में लय और तुक, (२) संवादों में लय और तुक।

(१) **कथागायनों में लय और तुक**—यद्यपि अन्धायुग मे, विभिन्न पात्रों के संवादों में भी बीच-बीच में उत्कृष्ट कोटि की कविता के दर्शन होते हैं, तथापि परिस्थितियों के नाटकीय ढंग से निर्वाह के साथ ही उनके प्रति पात्रों की मनःस्थितियों की स्वयं उन्हीं के मुख से अभिव्यक्ति संवादों का उद्देश्य होने के कारण कवि को वार्तालाप और कविता के मध्य की शैली का अनुसरण करना होता है। कथागायन की भी अपनी कुछ सीमाएँ हैं, फिर भी उसके माध्यम से कवि कथानक या उसके किसी अंश के प्रति अपेक्षाकृत अधिक उन्मुक्त रूप में अपनी मानसिक प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकता है। संवादों में कवि स्वयं को विविध पात्रों की मनःस्थितियों में विलय कर देता है और स्वयं तटस्थ रहता है, किन्तु कथागायनों में वह कथानक के निर्वाह की सीमाओं को स्वीकारने के बावजूद अपेक्षाकृत मुक्त और प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति का मार्ग की निकाल लेता है। यही कारण है कि अन्धायुग में कथागायनों के रूप में उत्कृष्ट कोटि की कविता के कुछ ऐसे नमूने मिलते हैं, जो अपनी प्रभाव-क्षमता में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं।

अन्धायुग में पहले अंक में तीन, दूसरे में दो, तीसरे में एक, चौथे में तीन, पाँचवें में दो तथा 'समापन' में चार कथागायनों के क्रम मे कुल मिलाकर पन्द्रह कथागायनों का समावेश हुआ है। इनमें से 'समापन' और पाँचवें अंक के मध्य में दिये गये चार-चार पंक्तियों के कथागायनों[2] को छोड़कर शेष सभी कवित्वपूर्ण हैं। उन सभी में दार्शनिक की-सी अन्तर्दृष्टि का समावेश होने के कारण चिन्तन और भावुकता का विरल सामंजस्य मिलता है। कथावस्तु के साथ चिन्तन और भावुकता का सामंजस्य होने के कारण न तो कथा-गायन गलदश्रु भावोद्रेक से युक्त गीत मात्र बनकर रह गये हैं और न ही प्रबन्धकाव्य के वर्णन-प्रधान अंशों की भाँति इतिवृत्तात्मक मात्र, वरन् उनमें प्रबन्धात्मकता और गीतात्मकता का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। इसीलिए उनमें कथा का भी निर्वाह है और गायन का भी।

---

१. वही, पृ० ११८ तथा ४२

२. दे० धर्मवीर भारती, अन्धायुग, पृ० १२२ और ११५

कथागायनों में भावानुसार लयों का परिवर्तन किया गया है। मोटे तौर पर इन लयों को दो रूपों में देखा जा सकता है—(१) मन्थर गति वाली विलम्बित लयें और (२) लघु आकार वाली क्षिप्र लयें। यह उल्लेखनीय है कि दोनों ही प्रकार की लयों के निर्वाह और प्रवाह में तुकों का भारी योगदान रहा है। जहाँ संवादों में कवि ने अन्त्यानुप्रास के रूप में पंक्तियों के अन्त में आने वाली तुकों तथा मध्यवर्ती तुकों से अधिकांशतः मुक्त रहकर पात्रों के भावोद्वेलन को गेयता से बचाकर वार्तालापों की शैली के अधिकाधिक निकट रखा है, वहाँ कथागायनों में कवि ने लय के साथ तुकों की कौशलपूर्ण योजना पर विशेष ध्यान दिया है। तुकों का प्रयोग नियमित तथा अनियमित दो रूपों में हुआ है।

यहाँ मन्थर गति वाली विलम्बित लय के नीचे दिये गये प्रतिनिधि उदाहरणों के आधार पर उनमें निहित लय के स्वरूप तथा तुकों पर विचार करना अधिक व्यावहारिक होगा—

(१) "संजय का रथ जब नगर-द्वार पर पहुँचा
तब **रात ढल रही थी।**
हारी कौरव-सेना कब लौटेगी···
यह **बात चल रही थी।**[1]

(२) उस दिन जो अन्धा युग अवतरित हुआ जग पर
बीतता नहीं रह रह कर **दोहराता है**
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
हर क्षण अँधियारा गहरा होता **जाता है**[2]

(३) "अन्धों से शोभित था युग का **सिंहासन**
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता **अन्धापन**
भय का **अन्धापन**, ममता का **अन्धापन**
अधिकारों का **अन्धापन जीत गया**
जो कुछ सुन्दर **था**, शुभ **था**, कोमलतम **था**
वह हार गया·····द्वापर युग **बीत गया**[3]

(४) लगता था कुछ-कुछ थका हुआ वह नील मेघ-सा तन **साँवल**
माला के सबसे बड़े कमल में बची एक पँखुरी **केवल**[4]

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम में लय की मन्थरता हारी कौरव-सेना के लौटने की मन्द गति को सूचित करती है। पूर्वार्द्ध के अन्तिम अंश के चार शब्दों की तुकें

---

१. वही, पृ० ४७
२. वही, पृ० १३०
३. वही, पृ० ११
४. वही, पृ० १२०

उत्तरार्द्ध के अन्त के चार शब्दों से मिलती हैं, जिनके कारण लय में भी वैशिष्ट्य आ गया है। दूसरे उद्धरण में सीधी अन्त्यानुप्रास-योजना है। अधिकतर कथागायनों में तुकों का यही क्रम है। तीसरे उद्धरण में अन्त्यानुप्रास की योजना नियमित रूप से न होकर अनियमित रूप से है तथा मध्यवर्ती तुकें भी पायी जाती हैं। कुछ कथा-गायनों में इसी प्रकार से स्वच्छन्द रूप में तुकों का प्रयोग हुआ है तथा कुछ में बीच-बीच में लय भी बदल गयी है। यहाँ तुक और लय के स्वच्छन्द प्रयोग का एक उदाहरण दर्शनीय है—

सब विजयी थे लेकिन सब थे विश्वास-**ध्वस्त**
थे सूत्रधार खुद कृष्ण किन्तु थे शाप-**ग्रस्त**
इस तरह पाण्डव-राज्य हुआ आरम्भ पुण्यहत, **अस्त-व्यस्त**
थे भीम बुद्धि से मन्द, प्रकृति से **अभिमानी**
अर्जुन थे असमय वृद्ध, नकुल थे **अज्ञानी**
सहदेव अर्द्ध विकसित थे शैशव **से अपने**
थे एक **युधिष्ठिर**
जिनके चिन्तित **माथे पर**
थे लदे हुए भावी विकृत युग के **सपने**[1]

चौथे उद्धरण में कोमल कान्त पदावली से युक्त लय है और अन्त्यानुप्रास की नियमित योजना है।

छोटी और क्षिप्र लयों के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) दुपहर होते होते हिल उठा **नगर**
खंडित रथ टूटे छकड़ों पर लद **कर**
थे लौट रहे ब्राह्मण, स्त्रियाँ चिकित्सक
विधवाएँ, बौने, बूढ़े, घायल **जर्जर**।[2]

(२) वे छोड़ चले **कौरव-नगरी को निर्जन**
वे छोड़ चले वह रत्नजटित **सिंहासन**

× × ×

वे छोड़ चले **कौरव नगरी को निर्जन**
करने अपने सौ मृत पुत्रों का **तर्पण**[3]

(३) **वे शंकर थे**
वे रौद्र-वेषधारी विराट्
प्रलयंकर थे

---

१. **वही**, पृ० १०३
२. **वही**, पृ० ४७
३. **वही**, पृ० ८७-८८

जो शिविर द्वार पर दीखे
अश्वत्थामा को
अनगिनत विष भरे साँप
भुजाओं पर
बाँधे
वे रोम-रोम में अगणित
महाप्रलय
साधे
जो शिविर द्वार पर दीखे
अश्वत्थामा को[1]

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम में लय की क्षिप्रता को लघु आकार वाले शब्दों के अतिरिक्त 'नगर', 'लदकर' और 'जर्जर' जैसी वेगवती तुकों से भी साधा गया है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि तुकें तीसरी पंक्ति को छोड़कर शेष पंक्तियों में ही मिलती हैं। दूसरे उदाहरण में तीन पंक्तियों की तुक 'न' पर मिलती है, किन्तु चौथी पंक्ति में 'ण' की योजना है। कवि ने 'न' ध्वनि की तुक अन्य स्थलों पर भी 'ण' के साथ मिलायी है। उदाहरणार्थ दूसरे अंक के अन्त में दिये गए कथा-गायन में भी 'पाण्डवगण' की तुक 'दुर्योधन' से मिलायी गयी है।[2] तीसरे उद्धरण में 'वे शंकर थे' को "वे रौद्र-वेषधारी विराट् प्रलयंकर थे" की टक्कर में रखा गया है, किन्तु आगे छोटी-बड़ी पंक्तियों की ऐसी समकक्षता नहीं है। 'बाँधे' और 'साधे' की तुकान्त वाली पंक्तियाँ आकार में भी बराबर हैं अर्थात् दोनों में चौबीस-चौबीस मात्राएँ हैं। साथ ही यहाँ पर 'अश्वत्थामा को' से अन्त होने वाली चौबीस मात्राओं की पंक्ति को पुनः टेक-रूप में दोहराया गया है। टेक-रूप में दोहराने की यही प्रवृत्ति "वे आशुतोष हैं हाथ उठाकर बोले" से प्रारम्भ होने वाले 'गायन' में भी मिलती है।[3]

(२) **संवादों में लय और तुक**—संवादों में लय और तुक के दो रूप उपलब्ध हैं—(१) मुक्त छन्द की लय और तुक, (२) वृत्तगन्धी गद्य की लय और तुक।

मुक्त छन्द में लय और तुकों का कोई बाह्य विधान नहीं होता, आन्तरिक भावावेश का उतार-चढ़ाव ही उसकी गति, यति को निर्धारित करता है। अन्धायुग में विविध पात्रों के मुख से निसृत संवादों में पात्रों की बदलती हुई परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में प्रतिक्षण परिवर्तित होती हुई मनःस्थितियों के अनुकूल मुक्त छन्द की लय और टोन में भी अन्तर आता गया है। भारती ने इस सम्बन्ध में कहा है, "कुछ स्थलों को अपवादस्वरूप छोड़ दें तो प्रहरियों का सारा वार्तालाप एक निश्चित लय में चलता

---

१. वही, पृ० ७७
२. वही, पृ० ४६
३. वही, पृ० ७८

है, जो नाटक के आरम्भ से अन्त तक लगभग एक-सी रहती है। अन्य पात्रों के कथोपकथन में सभी पंक्तियाँ एक ही लय की हों, यह आवश्यक नहीं। जैसे एक बार बोलने के लिए कोई मुँह खोले, किन्तु उसी बात को कहने में, मन में भावनाएँ कई बार करवटें बदल लें, तो उसे सम्प्रेषित करने के लिए लय भी अपने को बदल लेती है।"[१]

पात्रों की मनःस्थिति और भावावेग पर बल रहने के कारण अन्धायुग में संवादों की लयें संगीत की अपेक्षा स्वर (टोन) पर अधिक आश्रित हैं, वैसे भी मुक्त छन्द में किसी निश्चित लय का निर्वाह न होने के कारण लय स्वर के उतार-चढ़ाव (अण्डर टोन ओवर टोन)तथा मात्रा (वॉल्यूम) पर निर्भर करती है। यहाँ टोन की दृष्टि से लयों के विविध रूपों के प्रतिनिधि कुछ उदाहरणों पर विचार करना उपयोगी होगा।

(१) "सुनो तुम सब नभ के देवगण
अपने अपने
विमानों पर आरूढ़
देख रहे हो जो इस युद्ध को
साक्षी रहोगे तुम
विवश किया है मुझे अर्जुन ने
यह लो
यह है ब्रह्मास्त्र"[२]

(२) "गोद में रक्खो सर
मुँह खोलो
ऐसे, हाँ
खोलो आँखें"[३]

(३) धुआँ लपट, लोथें घायल घोड़े, टूटे रथ
रक्त, मेद, मज्जा, मुण्ड
खण्डित कबन्धों में
टूटी पसलियों में
विचरण करता था अश्वत्थामा
सिंहनाद करता हुआ।[४]

(४) जो कुछ भी ज्ञान संचित किया है मनुष्य ने
सतयुग में, त्रेता में, द्वापर में
सदा सदा के लिए होगा विलीन वह

---

१. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ५
२. **वही**, पृ० ६२
३. **वही**, पृ० ५८
४. **वही**, पृ० ८१

गेहूँ की बालों में सर्प फुफकारेंगे[1]
नदियों में बह बहकर आयेगी पिघली आग।
(५) अब तक मानव-भविष्य को मैं जिलाता था
लेकिन इस अन्धे युग में मेरा एक अंश
निष्क्रिय रहेगा, आत्मघाती रहेगा
और विगलित रहेगा।"[2]

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम में वाणी के वेग और ओज के अनुरूप स्वर प्रखर और ऊँचा रहेगा। अतः यह स्वरारोह (ओवर-टोन) का उदाहरण है। 'यह लो, यह है ब्रह्मास्त्र' कहते-कहते स्वर अपने पूरे उत्कर्ष (पिच) पर पहुँच जायेगा, साथ ही स्वर की मात्रा (वॉल्यूम) में भी वृद्धि हो जायेगी। दूसरे उदाहरण में बोलचाल की सहज गति है। यह स्वरावरोह या अण्डरटोन का उदाहरण है, जिसमें स्वर की सहज भंगिमा के द्वारा लय की पूर्ति की जायेगी। तीसरे उदाहरण में ऊँचे स्वर में तीव्र आघात दे-देकर भावानुकूल क्षिप्र लय की सृष्टि होगी। चौथे उदाहरण में स्वर न बहुत ऊँचा होगा न नीचा, किन्तु स्वर की मात्रा अधिक रहेगी और बाद की दोनों पंक्तियों में स्वर की तीव्रता और उच्चता के साथ मात्रा भी बढ़ जाएगी। पाँचवें उदाहरण में स्वर में कम्पन न होकर उद्घोषणा जैसी एकतानता रहेगी।

अन्धायुग के सभी संवादों में सर्वत्र लय का सफल निर्वाह हुआ हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कुछ संवादों की कुछ पंक्तियाँ तो बोलने या पढ़ने में ही असुविधा पैदा करती हैं, यथा विदुर की यह उक्ति देखिए—

उसने जो भोगा है कृष्ण के लिए अब तक
उसका प्रतिदान जहाँ तक मैं दे पाऊँगा
दूँगा···।"[3]

यह कथन नितान्त गद्यात्मक होने के साथ ही लम्बी पंक्तियों में निबद्ध होने के कारण असुविधा पैदा करता है। कथन में पंक्तियों का विभाजन भी स्वर और लय के अनुकूल नहीं है। इसी प्रकार याचक की यह उक्ति द्रष्टव्य—

"मानव-नियति के
अलक्षित अक्षर जाँचे थे।
मैं था ज्योतिषी दूर देश का।[4]

इस उद्धरण की दूसरी पंक्ति के पहले दो अक्षरों को एक लय में तथा बाद के 'जाँचे थे' को दूसरी लय में पढ़ना पड़ता है। तीसरी पंक्ति की लय तो बिल्कुल ही अलग-थलग है।

---

१. वही, पृ० ६३
२. वही, पृ० १२७
३. वही, पृ० ११२
४. वही, पृ० २३

अन्धायुग के संवादों में तुकों की स्थिति पर विचार करना भी यहाँ प्रासंगिक होगा। ऊपर दिए गये लय के उद्धरणों में केवल दो स्थानों पर तुकें मिलती हैं—तीसरे के मध्य में और पाँचवें के अन्त में। इससे स्पष्ट है कि संवादों में तुक का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। जो तुकें मिलती भी हैं वे भी प्रायः उन पंक्तियों में जिनको सर्वांशतः या अंशतः दोहराया गया है।[1] संवादों में निम्नलिखित प्रकार की तुकें प्रायः विरल हैं—

"शान्त हो युयुत्सु
और सहन करो
गहरी पीड़ाओं को गहरे में **वहन करो**।[2]

अन्धायुग में बहुत से स्थल ऐसे हैं, जहाँ पूरे-पूरे पृष्ठों या कई-कई पृष्ठों तक तुकें नहीं मिलती हैं। उदाहरण के लिए अश्वत्थामा के पृ० ३३ से लेकर पृ० ३६ तक चलने वाले सुदीर्घ स्वगत कथन में एक स्थान पर प्रयुक्त आवृत्तिमूलक तुक[3] के अतिरिक्त तुकों का और कोई उदाहरण नही मिलता है। अन्धायुग में प्रहरियों के संवादों में सर्वत्र एक ही प्रकार की लय मिलती है। लय की यह एकरूपता प्रहरियों की मनःस्थिति की एकतानता और तटस्थता की परिचायक है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'अन्धायुग' के कवि ने संवादों में संगीत और तुकों की ओर ध्यान न देकर काव्यात्मक वार्तालाप की स्वाभाविक भावावेगमयी और मुक्त लय तथा उसकी संवाहिका टोन पर ही विशेष ध्यान दिया है। यदि भावावेग की प्रकृत माँग के अनुरूप कहीं-कहीं कुछ तुकें आ ही गई हैं, तो कवि ने जान-बूझकर उनका बहिष्कार भी नहीं किया है।

भारती ने तीसरे और चौथे अंक के मध्य के 'अन्तराल' में वृत्तगन्धी गद्य का प्रयोग किया है। वृत्तगन्धी गद्य में गद्य का ही कुछ उदात्तीकृत स्वरूप झलकता है, किन्तु उसमें वृत्त या लय का किंचित् स्पर्श रहता अवश्य है; वृत्त की गन्ध से युक्त गद्य होने के कारण ही उसे 'वृत्तगन्धी गद्य' कहते हैं। अन्धायुग में प्रयुक्त वृत्तगंधी गद्य की विशेषताओं और स्वरूप को समझने के लिए नीचे दिये गये दो उद्धरणों का सहारा लेना अधिक व्यावहारिक होगा।

(१) मैं दो पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभाचक्र हूँ

---

१. (क) मैं क्या करूँ
मातुल मैं क्या करूँ ? **वही**, पृ० ३९
(ख) "उनको मैं मारूँगा
मैं अश्वत्थामा
उन नीचों को मारूँगा। **वही**, पृ० ६२

२. **वही**, पृ० ५७

३. "दुर्योधन सुनो।
सुनो, द्रोण सुनो।" **वही**, पृ० ३५

जो बड़े पहियों के साथ घूमता है
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता
और न धरती को ही छू पाता है।[1]

(२) "हाँ, यह उन्हीं के रथ की घण्टियाँ
रोक लूँ उनका रथ
जैसे रोक दिया है प्रवाह मैंने कथा का?"[2]

पहले उद्धरण में गद्य के वाक्यों को ज्यों का त्यों रखा गया है, किन्तु पाँचों पंक्तियों में १९, २१, २१, १८, २० के क्रम से मात्राएँ होने के कारण पंक्तियों की मात्राओं में अधिक से अधिक तीन मात्राओं का अन्तर है, साथ ही घूमता, बढ़ाता, पाता में किसी न किसी स्तर की तुक भी मिल जाती है, और सबसे बड़ी बात यह है कि रूपक अलंकार के माध्यम से सोचने और अनुभव करने की पद्धति मूलतः काव्यात्मक पद्धति है। दूसरे उद्धरण में पंक्तियाँ छोटी-बड़ी हैं और उनमें मुक्त छन्द जैसी लय है। इससे स्पष्ट है कि अन्तराल में प्रयुक्त वृत्तगन्धी गद्य का भी कुछ भाग तो छन्द की लय से मुक्त है और कुछ गद्य और मुक्त छन्द के मध्य पड़ता है।

(५) **अभिनेयता**—अन्धायुग एक रंगमंचीय नाट्य-काव्य है। भारती ने इसके मंच-विधान के विषय में लिखा है, "मंच-विधान जटिल नहीं है। एक पर्दा पीछे स्थायी रहेगा। उसके आगे दो पर्दे रहेंगे। सामने का पर्दा अंक के आरम्भ में उठेगा और अंक के अन्त तक उठा रहेगा। उस अवधि में एक की अंक में जो दृश्य बदलते हैं, उनमें बीच का पर्दा उठता-गिरता रहता है। बीच का और पीछे का पर्दा चित्रित नहीं होना चाहिए। मंच की सजावट कम से कम होनी चाहिए। प्रकाश-व्यवस्था में अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए।"[3] इसी सम्बन्ध में वे आगे लिखते हैं, "मूलतः यह काव्य रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था। यहाँ यह उसी मूलरूप में छापा जा रहा है। लिखे जाने के बाद इसका रेडियो रूपान्तर भी प्रस्तुत हुआ, जिसके कारण इसके संवादों की लय और भाषा को माँजने में काफी सहायता मिली। मैंने इस बात को भी ध्यान में रक्खा है कि मंच-विधान को थोड़ा बदलकर यह खुले मंच वाले लोक-नाट्य में भी परिवर्तित किया जा सकता है। अधिक कल्पनाशील निर्देशक इसके रंगमंच को प्रतीकात्मक भी बना सकते हैं।"[4] उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कवि ने इस कृति की रचना में बहुविध रंगमंचीय सम्भावनाओं को ध्यान में रखा है।

रंगमंचीय प्रभाव और अभिनय की सफलता को दृष्टि में रखकर भारती ने कोष्ठकों में आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय-सम्बन्धी रंग-संकेत दिये

---

१. वही, पृ० ७४
२. वही, पृ० ७५
३. वही (निर्देश), पृ० ४
४. धर्मवीर भारती, अन्धायुग, पृ० ५

हैं, । "अश्वत्थामा आक्रमण करता है । गला दबोच लेता है,"[१] "नेपथ्य में पुनः पुकार, "अश्वत्थाऽऽमाऽऽ।" कृतवर्मा पुकारता है—"कृपाऽऽचार्य"···में[२] क्रमशः आंगिक (कायिक) और वाचिक अभिनय के विषय में रंग-संकेत प्रस्तुत किए गये हैं। कवि ने तीव्र भावोद्रेक से सम्बन्धित भाव-मुद्राओं और भावपूर्ण चेष्टाओं के सात्त्विक अभिनय के विषय में भी स्थान-स्थान पर रंग-संकेत दिये हैं—यथा "गान्धारी जड़ बैठी है"[३] या "फूटकर रोने लगती है।"[४] भारती ने पात्रों की वेश-भूषा (या आहार्य अभिनय) के सम्बन्ध में विशेष निर्देश नहीं दिए हैं। "कवच पर हाथ करते हुए रो पड़ती हैं,"[५] में दुर्योधन के कवच का उल्लेख है तथा "विंग्स से निकलकर प्रहरी खड़े हो जाते है, एक के भाले पर युधिष्ठिर का किरीट,"[६] में युधिष्ठिर के किरीट का उल्लेख किया गया है। कौए और उलूक की भूमिका में उपस्थित होने वाले दो चपल बाल-अभिनेताओं की वेशभूषा के विषय में अवश्य स्पष्ट निर्देश दिए गये हैं, यथा—"बिल्कुल काले-काले कपड़े पहने कौए की मुखाकृति का एक नर्तक शिशु आता है—बाईं ओर बिल्कुल श्वेत बसनधारी एक उलूकाकृति वाला तेज पंजों वाला नर्तक शिशु आता है।"[७] कवि ने बीच-बीच में ध्वनि-प्रभाव और प्रकाश-व्यवस्था के विषय में भी उपयोगी रंग-संकेत दिये हैं, यथा—"ज्वालामुखियों की सी गड़गड़ाहट, तेज महताबी सा प्रकाश, फिर अँधेरा।"[८] नृत्य और वाद्य को भी अभिनय में स्थान मिला है। अन्धायुग के प्रारम्भ में प्रस्तुत 'स्थापना' में 'मंगलाचरण' और 'उद्घोषणा' के साथ-साथ मंच पर नर्तक के द्वारा भाव-नाट्य के प्रदर्शन की व्यवस्था है। शंख ध्वनि के साथ पर्दा खुलता है तथा मंगलाचरण के साथ-साथ नर्तक नमस्कार-मुद्रा प्रदर्शित करता है। उद्घोषणा के साथ-साथ उसकी मुद्राएँ बदलती जाती हैं।[९] पहले अंक का प्रारम्भ तीन बार तूर्यनाद के उपरान्त होता है।[१०] ये रंग-निर्देश प्रस्तुत नाट्य-काव्य के प्रस्तुतीकरण में तो सहायक हैं ही, साथ ही ये मूल कृति के भी प्रभाव में वृद्धि करते हैं। भले ही रंग-संकेतों को कोष्ठकों में रखकर मूल संवादों से अलग रखा जाता हो, किन्तु इनसे पात्रों की भाव-भंगिमाओं को

---

१. **वही**, पृ० ३७
२. **वही**, पृ० ३२
३. **वही**, पृ० ८६
४. **वही**, पृ० १०१
५. **वही**, पृ० ९७
६. **वही**, पृ० ११५
७. **वही**, पृ० ६८
८. **वही**, पृ० ९२
९. **वही**, पृ० ९
१०. **वही**, पृ० ११

समझने में सुविधा होती है तथा वे मंच (पाठकों के मानस-मंच) पर क्रियाशीलता बनाये रखने में सहायक हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित रंग-संकेत को लीजिए—"प्रहरी के हाथ से भाला लेकर दौड़ता है। गूंगा भागता है। युयुत्सु आगे आकर कृपाचार्य को रोकता है और भाला खुद ले लेता है और सीने पर भाला रखकर दबाते हुए नेपथ्य में चला जाता है। नेपथ्य में भयंकर चीत्कार। विदुर दौड़कर अन्दर जाते हैं।"[1] यदि इस रंगनिर्देश का कृति में समावेश न किया जाता, तो कृति के पाठक को ऊपर और नीचे के संवादों की सम्बन्ध-सूत्रता को ग्रहण करने में भारी कठिनाई होती तथा निर्देशक को रंग-मंच पर क्रिया-व्यापारों की योजना में कोरी अटकल से काम लेना पड़ता। अन्धायुग के रंग-निर्देश भावों और व्यापारों के प्रस्तुतीकरण से गहराई से सम्बद्ध होने के कारण कृति के कथानक और कथ्य के भी महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

अन्धायुग का कथानक विविध क्रिया-व्यापारों से संकुल है। पहले कहा जा चुका है कि कथानक के गठन में संघनन की पद्धति का प्रश्रय लिया गया है। परिस्थितियों और मनःस्थितियों की इसी विविधता में एकता और एकता में विविधता के कारण नाटकीय प्रभाव में वृद्धि हुई है। सारा कथानक भावों और विचारों को उत्तेजित करने वाले दृश्यों, सनसनीपूर्ण घटनाओं तथा क्रिया-व्यापारों की सुगठित शृंखला है। अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष की स्थितियों की प्रचुरता के कारण रंगमंचीय प्रभाव-क्षमता की अमित सम्भावनाएँ इस कृति में निहित हैं। कथानक में नाटकीय विडम्बना (ड्रेमेटिक आयरनी) के अनेक प्रसंग भी अभिनय की दृष्टि से कौतूहलवर्धक तथा प्रभावपूर्ण हैं। ऐसे प्रसंगों पर कथानक-सम्बन्धी विवेचन के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

कई स्थानों पर महाभारत के मूल प्रसंगों को अभिनय की सुकरता और प्रभावपूर्णता की दृष्टि से किंचित् परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ महाभारत के सौप्तिक पर्व के प्रारम्भ में दिए गये प्रसंग को रंगमंचीय रूप देने के लिए भारती ने उसमें अपेक्षित परिवर्तन कर लिया है। महाभारत में उलूक विशाल वटवृक्ष पर सोये हुए असंख्य कौओं का वध करता है, जबकि भारती ने उलूक के द्वारा एक ही कौए का वध दर्शाकर अपेक्षित सनसनीपूर्ण वातावरण की सृष्टि की है। यद्यपि कुछ अंकों में, यथा—चौथे अंक में—दृश्य-परिवर्तन कई बार होता है, तथापि रंग-सज्जा प्रायः सर्वत्र ज्यों की त्यों चलती रहती है, केवल कुछ पात्र आते और जाते हैं। अतः दृश्य-परिवर्तन से अभिनय के सातत्य में अधिक व्यवधान नहीं पड़ता है।

पात्रों की संख्या भी बहुत अधिक नहीं है। सभी पात्र विविध अनुपात में भावुक और चिन्तनशील हैं। पात्रों के संवाद क्रिया-व्यापारों और मनोभावों के बिम्बों से ओतप्रोत होने के कारण दृश्यात्मक हैं यथा—

(१) "अश्रु-भरे नेत्रों से
उसने मुझे देखा
और माथा झुका लिया।"[2]

---

१. वही, पृ० १०९
२. धर्मवीर भारती, अन्धायुग, पृ० ३२

इस कृति के सभी संवाद गत्वर, दृश्यात्मक, मार्मिक, और सशक्त हैं। संवाद वाक्यों और कथनों की आवृत्ति, प्रश्नवाचक उक्तियों के प्राचुर्य, विस्मयादि बोधक वक्तव्यों की बहुलता, वर्तालाप की भाव-गर्भित टोन, भाषा की बिम्बात्मकता, कथन की मार्मिकता और संक्षिप्तता के कारण अभिनय के सर्वथा अनुकूल हैं। संजय, अश्वत्थामा आदि के भावपूर्ण स्वगत कथन भी अभिनय की सजीवता में सहायक हैं। सूक्तियों, व्यंग्योक्तियों गर्वोक्तियों, स्वगतोक्तियों, दार्शनिक कथनों, आकाशवाणी, मौन और मुखरता से युक्त संवादों द्वारा जिस घनीभूत प्रभाव-वैविध्य की सृष्टि की गयी है, उससे अभिनय में नीरसता या एकरसता के दोष की सम्भावना ही निर्मूल हो गई है। स्वगत कथनों के रूप में एक-पात्री अभिनय की योजना भी मिलती है। अभिनय की दृष्टि से संवादों की सबसे बड़ी विशेषता है कविता में भी वार्तालापों की सहजता को सुरक्षित रखना। संवादों की लय और टोन भी अभिनय के प्रभाव को बढ़ाने में सहायक है।

अभिनय की दृष्टि मे कथागायनों का भी विशेष महत्त्व है। दृश्य-परिवर्तन या अंक-परिवर्तन के समय कथागायन की योजना है। कथानक की जो घटनाएँ मंच पर नहीं दिखलाई जा सकती, उनकी सूचना देने, वातावरण की मार्मिकता को और गहन बनाने या कहीं-कहीं उसके प्रतीकात्मक अर्थों को भी स्पष्ट करने के लिए कथा-गायन की पद्धति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। यह पद्धति लोक-नाट्य-परम्परा से ली गयी है। भारती के अनुसार "कथा-गायक दो रहने चाहिए—एक स्त्री और एक पुरुष। कथागायन मे जहाँ छन्द बदला है, वहाँ दूसरे गायक को कथा-सूत्र ग्रहण कर लेना चाहिए। वैसे भी आशय के अनुसार, उचित प्रभाव के लिये, पंक्तियों को स्त्री या पुरुष गायकों में बाँट देना चाहिये। कथागायन के साथ अधिक वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग नहीं होना चाहिये। गायक-स्वर ही प्रमुख रहना चाहिए।"[१]

रेडियो-रूपक के रूप में भी अन्धायुग की अभिनेयता असन्दिग्ध है। रेडियो श्रव्य-माध्यम से श्रव्यात्मक और दृश्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करता है। इससे कानों को श्रवण-शक्ति के साथ ही दृष्टि भी मिल जाती है। रेडियो-रूपक की दृश्यात्मक या बिम्बात्मक भाषा भावोद्दीपक टोन और बिम्बात्मक ध्वनि-प्रभाव के कारण ही ऐसा सम्भव होता है। अन्धायुग के संवाद इस दृष्टि से बहुत ही सफल बन पड़े हैं। उदाहरण देखिये—

(१) गोद में रक्खो सर
मुँह खोलो
ऐसे, हाँ,
खोलो आँखें[२]

(२) कैसे उठाऊँ हाथ
अपना अशीश को

---

१. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग** (निर्देश), पृ० ४
२. **वही**, पृ० ५८

भूल गयी हैं बाहें
कन्धों के पास से।[1]

रोने, चीखने, हाँफने के अतिरिक्त 'भयानक विस्फोट, गड़गड़ाहट', 'आकाशवाणी' 'विकट अट्टहास', 'कटु हँसी', 'गर्जन' समेवेत अट्टहास, आदि क्रियाओं को रेडियो के माध्यम से बहुत सफलतापूर्वक दर्शाया जा सकता है। अन्धायुग में दृश्यों की बहुलता है, जो मंचीय अभिनय में यत्किंचित् बाधक हो भी सकती है, किन्तु रेडियो के माध्यम में दृश्य-परिवर्तन की कोई समस्या ही नहीं। "वन में फैलती हुई प्रचण्ड दावाग्नि"[2], धधकते हुए बरगद का गान्धारी और धृतराष्ट्र पर टूट गिरना,[3] वन पथ का दृश्य[4] कौरव-नगरी पर गृद्धों के बादल का सन्नाटा[5] आदि दृश्य को रेडियो के माध्यम से सुविधापूर्वक प्रभावपूर्ण ढंग से दर्शाया जा सकता है। कुछ रंग-संसेत तो स्पष्टतः रेडियो के माध्यम को ध्यान में रखकर ही दिये गए प्रतीत होते हैं जैसे—"कृपाचार्य पीछे-पीछे पुकारते हुए जाते हैं! अश्वत्थाऽऽमाऽऽ! अश्वत्थाऽऽमाऽऽ!! अश्वत्थाऽऽमाऽऽ!!! "यह ध्वनि धीरे-धीरे दिगन्त में खो जाती है। "तीनों रथों की घर्घराहट और घोड़ों की टापें शेष बचती हैं।"[6] "दूसरे रथ की ध्वनि" तथा "रथ की ध्वनियाँ तेज होती हैं।"[7] रेडियो-रूपक की दृष्टि दिए गए रंग-संकेत हैं। उक्त सम्भावनाओं से युक्त होने के कारण 'अन्धायुग' का रेडियो-रूपान्तर अत्यधिक सफलता के साथ प्रस्तुत किया जा चुका है।

(६) **उद्देश्य**—'अन्धायुग' के कृतित्व की सबसे बड़ी शक्ति इसी में है कि इसमें यथार्थ और आदर्श, कलापक्ष और भावपक्ष, कथानक और कथ्य, नाटकीयता और कवित्व, दृश्य और श्रव्य, आस्था, और अनास्था, सत् और असत् जैसे औपचारिक वर्गीकरणों की गुंजाइश नही है। इसकी जटिल गुम्फित संरचना में उक्त सभी वर्गीकरण विलीन होकर एक समग्र सत्य के रूप में उद्भासित होते हैं। भारती ने अपनी कृति के प्रारम्भ में लिखा है, "कुण्ठा, निराशा, रक्तपात, प्रतिशोध, विकृति, कुरूपता, अन्धापन—इनसे हिचकिचाना क्या, इन्हीं में तो सत्य के दुर्लभ कण छिपे हुए हैं, तो इनमें क्यों न निडर धसूँ। इनमें धँसकर भी मैं मर नहीं सकता।"[8] अपनी इसी सारभूत मान्यता की

---

१. **वही**, पृ० ६७
२. **वही**, पृ० ११२
३. **वही**, ११४
४. **वही**, पृ० ६०
५. **वही**, पृ० १४
६. **वही**, पृ० ७१
७. **वही**, प० ७५
८. **वही**, पृ० १-२

के साथ जिस ह्रासोन्मुख संस्कृति की रक्षा की उसमें कुछ भी रक्षणीय नहीं था। वरण की स्वतन्त्रता (Freedom of choice) अस्तित्ववाद का प्रमुख सिद्धान्त है,[१] इस स्वतन्त्रता से वंचित होने के कारण भी प्रहरियों को पीड़ा होती है।[२] वरण की स्वतन्त्रता का सही उपयोग यह है कि मनुष्य अपने प्रति और दूसरों (समष्टि) के प्रति स्वयं को उत्तरदायी अनुभव करता हुआ विवेकपूर्वक अपने कार्यों और उद्देश्यों का निर्धारण करे। प्रतिक्रिया या प्रतिहिंसा से उत्पन्न भावावेश में मनुष्य अन्धा होकर अनुत्तरदायी बन जाता है और अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों और उद्देश्यों की पूर्ति में ही अपने अस्तित्व की सार्थकता समझने लगता है। हिंस्र पशु जैसा बर्बर अश्वत्थामा केवल 'वध' को ही अपने अस्तित्व के अन्तिम अर्थ के रूप में वरण करना चाहता है।[३] किन्तु वही अश्वत्थामा जब देखता है कि कृष्ण अपने अवसान के समय स्वयं बाण-विद्ध होकर भी उसकी पीड़ा को धारण करते हैं, तो इस क्षमापूर्ण अनुग्रह के व्यवहार से उसकी वध-लिप्सा की मनोग्रन्थि छिन्न हो जाती है और वह दण्डित होकर मुक्त हो जाता है। मानसिक स्वास्थ्य के इस क्षण में जब उसे वृद्ध वधिक के मुख से कृष्ण का नूतन निर्माण और मर्यादायुक्त आचरण का पुनीत लोक-संग्रही सन्देश सुनने को मिलता है, तो उसके मन में अपने विकृत जीवन को इस नये अर्थ (Essence) से सार्थक करने की प्रेरणा जागृत होती है—

"उसके इस नये अर्थ में
क्या हर छोटे से छोटा व्यक्ति
विकृत, अर्द्धबर्बर, आत्मघाती, अनास्थामय,
अपने जीवन की सार्थकता पा जायेगा ?"[४]

अन्धायुग में कृष्ण को व्यक्ति के अतिरिक्त एक मंगल-विधायिनी सार्वभौम सत्ता या चेतना के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, जो जीवन को सद्गति की ओर प्रेरित करने वाले मर्यादायुक्त आचरण, नूतन सृजन आदि शिवमय तत्त्वों में बार-बार जीवित और सक्रिय हो उठती है। गान्धारी, अश्वत्थामा आदि अशिव-प्रेरित पात्र भी अन्त में इसी प्रेरक मंगल-चेतना को वरण करते हैं। युयुत्सु भी जो कृष्ण के व्यक्ति-रूप का कटु आलोचक है, कृष्ण के प्रति उग्र अनास्थावादी होते हुए भी 'मानव-भविष्य' के प्रति आस्था व्यक्त करके प्रकारान्तर से उसी मंगल-सत्ता (कृष्ण) के प्रति आस्था

---

१. दे०, Jean Paul Sartre, *Existentialism And Humanism*, P. 50-51

२. "नहीं था हमारा कोई अपना खुद का मत,
कोई अपना निर्णय।" धर्मवीर भारती, **अंधायुग**, पृ० २७

३. "वध, केवल वध, केवल वध
अन्तिम अर्थ बने
मेरे अस्तित्व का।" **वही**, पृ० ३६

४. **वही**, पृ० १२८

व्यक्त करता है।[1] इस प्रकार युद्धजनित अशिव को अतिक्रान्त करके मानव-भविष्य की रक्षक शिव-सत्ता की ओर प्रेरित करना ही अन्धायुग का उद्देश्य है। इस कृति में कृष्ण का विशुद्ध मानवीय तथा सम्प्रदाय-निरपेक्ष (सेक्यूलर) रूप उभरा है।

अन्धायुग का कथानक भले ही प्राचीन हो, किन्तु इसका कथ्य सर्वथा अर्वाचीन है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में, "पौराणिक कथानक को लेकर अपने युग के प्रति इतना गहरा 'कन्सर्न' किसी अन्य रचना में कठिनाई से मिलेगा।"[2] ब्रह्मास्त्रों की संस्कृति आधुनिक आणविक संस्कृति से भिन्न नहीं है। नैतिक और राजनीतिक निरंकुशता से जो संकट महाभारत युग में व्याप्त था, वही आज के युद्धोन्मुख साम्राज्य-वादी और विस्तारवादी प्रवृत्तियों से परिचालित युग में व्याप्त है। "सूरज बुझ जायेगा धरा बंजर हो जायेगी" कह कर व्यास ने एक साथ ही ब्रह्मास्त्रों और आधुनिक आणविक अस्त्रों के विस्फोट से उत्पन्न विभीषिका का चित्र अंकित किया है, और "अश्वत्थामा ! अपनी कायरता से तू मत ध्वस्त कर मनुजता को" कहकर समूची कृति में ध्वनित मानवतावादी उदात्त स्वर को मुखरित किया है। ऐसा लगता है जैसे कवि व्यास के माध्यम से स्वयं ही सत्ता-लोलुप, रक्त-पिपासु राजनीतिज्ञों को उनकी युद्ध-लिप्सा के भयानक परिणाम से आगाह कर रहा हो। कवि ने प्रहरियों के वार्ता-लाप के माध्यम से एक बार पुनः निश्शस्त्रीकरण के प्रश्न को उठाया है, "युद्ध हो या शान्ति हो रक्तपात होता है, अस्त्र रहेंगे तो उपयोग में आयेंगे ही।"[3] अन्य स्थानों पर भी आधुनिक युग-बोध के संकेत मिलते हैं। युधिष्ठिर का यह पाना कि प्रजायें पिछले शासन के विकृत साँचे में ढली हुई हैं[4] और प्रहरियों का यह निरीक्षण कि "शासक बदले, स्थितियाँ बिल्कुल वैसी हैं, इससे तो पहले ही शासक अच्छे थे, अन्धे थे, लेकिन शासन तो करते थे, ये तो सन्तज्ञानी हैं, शासन क्या करेंगे ? ये प्रजाओं की प्रकृति को जानते ही नहीं हैं", आदि में भी आधुनिक भारतीय परिवेश की ओर संकेत मिलता है।[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्धायुग कथानक, चरित्र-चित्रण, संवाद, अभिव्यंजना, अभिनेयता और उद्देश्य की दृष्टि से एक सशक्त नाट्य-काव्य है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में "पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्धायुग का महाकाव्यत्व इन अंग्रेजी 'वर्स प्ले' की योजना में कहीं नहीं मिलता। महाकाव्य जैसी गरिमा तथा आधुनिक नाटक की तीव्र संवेदनात्मकता को नयी कविता के शिल्प में जो एक सम्पृक्त रूप मिला है, वह प्रयोग, परम्परा तथा उपलब्धि—सभी दृष्टियों से कवि

---

१. "नियति है हमारी बँधी प्रभु के मरण से नहीं
मानव-भविष्य से।" **वही**, पृ० १२५
२. रामस्वरूप चतुर्वेदी, **हिन्दी नवलेखन**, पृ० ८७
३. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ११०
४. **वही**, पृ० १०४
५. **वही**, पृ० १०७

की असाधारण शक्ति-सम्पन्नता का परिचायक है। वैयक्तिक उपलब्धि की दृष्टि से 'अन्धायुग' नयी कविता का एक अपवाद है।"[1] निस्सन्देह अन्धायुग नयी कविता का एक श्रेष्य (क्लैसिक) नाट्य-काव्य है, इसमें वस्तु, कथ्य और शिल्प की ऐसी सुगुम्फित संयोजना मिलती है, जो इसे सृजनात्मकता के उत्तुंग शिखर पर प्रतिष्ठित करती है।

१. रामस्वरूप चतुर्वेदी, **हिन्दी नवलेखन**, पृ० ९४

अध्याय ५

पृथ्वी-कल्प : रूप और अभिव्यंजना

(क) **सामान्य-विवेचन**—पृथ्वी-कल्प गिरिजाकुमार माथुर द्वारा लिखित नाट्य-काव्य है। अभी पुस्तकाकार रूप में इसका प्रकाशन नहीं हुआ है। इसके कुछ अंश 'कल्पना' नामक पत्रिका में इस ढंग से प्रकाशित हुए थे कि समूचे नाट्य-काव्य का प्रतिनिधित्व हो सके।[1] यद्यपि एक-आध स्थान पर 'पृथ्वी-कल्प' को 'खण्ड-काव्य' की संज्ञा भी दी गई है,[2] तथापि कवि ने नाटकीयता और काव्यात्मक तत्त्वों के समन्वित निर्वाह के आधार पर इसे 'नाट्य-काव्य' कहा है।[3] किसी कवि के द्वारा रचित ऐसी रचना को, जिसमें नाटकीय और काव्यात्मक तत्त्वों की अन्विति हो, 'नाट्य-काव्य' नाम देना हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अभी तक अभूतपूर्व बना हुआ था। गिरिजाकुमार माथुर ने पहली बार अपनी इस ढंग की रचना को 'नाट्य-काव्य' नाम से अभिहित करके गहरी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। प्रस्तुत नाट्य-काव्य 'रूप' और 'अभिव्यंजना' की दृष्टि से किस स्तर का है, यह देखना ही प्रस्तुत अध्याय का विवेच्य विषय है।

(ख) **रूप और अभिव्यंजना की दृष्टि से पर्यालोचन**—रूप और अभिव्यंजना दोनों परस्पर अविच्छिन्न हैं। वास्तव में, अर्थ की अभिव्यंजना ही रूप को निर्धारित करती है। अतः अर्थ और उसकी अभिव्यंजना—दोनों ही रूप में अन्तर्भुक्त हैं। नाट्यकाव्य के कथ्य (अर्थ) और अभिव्यंजना के निम्नलिखित तत्त्व—(१) कथानक, (२) पात्र और चरित्र-चित्रण, (३) संवाद, (४) अभिव्यंजना, (५) अभिनेयता और (६) उद्देश्य—ही उसके रूप के निर्मायक तत्त्व हैं।

(१) **कथानक**—पृथ्वी-कल्प का कथानक सूक्ष्म और वैचारिक है। सम्भवतः इसीलिए कवि ने इसे 'प्रतीकात्मक नाट्य-काव्य' कहा है।[4] यह समस्त रचना चार खण्डों में विभक्त है। प्रथम छायांक में कवि ने मनोमाया (फैण्टेसी) के द्वारा सृष्टि की उस निस्सीम परिधि की कल्पना की है, जिसके अनन्त महाकाश में दमकते हुए असंख्य नक्षत्र-ग्रह, उपग्रह तथा सूर्यों को समेटे अनगिनत आकाश-गंगाओं और नीहारिकाओं के चमकदार विराट् पहिये घूम रहे हैं। इसी निस्सीम सृष्टि की किसी

---

१. दे० 'कल्पना', अप्रैल १९६०, पृ० १७-३३
२. सम्पा० अज्ञेय, तारसप्तक, पृ० १२३
३. दे० 'कल्पना' अप्रैल १९६०, पृ० १७
४. दे० वही, पृ० १७

नामहीन कोर पर पृथ्वी सीमित जीवन और जीवन-पद्धतियों को गोद में छिपाये हुए हैं।[1] कवि की कल्पना अनुभूति के स्तर से परे अगोचर लोकों में विचरण करती हुई कोटि ग्रह-उपग्रहों, सूर्य-दीपित-चक्रमय नीहारिकाओं और तम-अन्ध द्यौ में घूमती हुई सृष्टि की अग्रिम छटाओं का दर्शन करती है।[2]

सृष्टि के असंख्य ग्रह-उपग्रहों के मध्य पृथ्वी का बिम्ब कुछ स्पष्ट होने लगता है और फिर प्रागैतिहासिक युग के उपरान्त इतिहास का प्रारम्भ होता है। कवि ने इतिहास-ग्रन्थ के मध्य से इतिहास-पुरुष के उदय की कल्पना करते हुए कहा है, "पुस्तक के दोनों खुले छोर नीचे से ऊपर आकाश में प्रवेश करते जान पड़ते हैं। पुस्तक के बीच में असाधारण रूप से लम्बा एक वृद्ध यती खड़ा दिखाई देता है, जिसकी पोशाक और दाढ़ी फादर क्रिसमस जैसी है[3]।" "इतिहासों के आवर्तन" की कथा कहते हुए कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि "साधन ही बदले न बदली प्रवृत्तियाँ"।[4] इस निष्कर्ष को साररूप में प्रस्तुत करते हुए वह कहता कि—

"अब भी यह दुनिया
बल वालों की दुनिया है
विवेक-शून्य बल की
अन्ध शक्ति अब भी तो संज्ञा है, न्याय की।"[5]

किन्तु इसी खण्ड में कवि का निर्णय बदल जाता है और वह "स्याह-सुर्ख धब्बों में चलती आलोक किरन" का ध्यान आते ही इस निष्कर्ष पर पहुँचता है :—

"सत्ता नहीं चल सकी बहुत देर
मृत्यु के उपासक अन्याय अविवेक की
विजय हुई है सदा न्याय की विवेक की।"[6]

इस खण्ड के अन्त में कवि ने उपनिवेशवाद, साम्यवाद आदि पद्धतियों को मानव की हत्या करने के निमित्त प्रयुक्त राजनीतिक अस्त्र बतलाया है। कवि की दृष्टि में "लोकतन्त्र भी यहाँ जाल है" क्योंकि इसमें "पतित अधोमुख बूढ़ी कुलटा-सी पद्धतियाँ"

---

१. दे० **वही**, पृ० २१

२. "कोटि ग्रह, उड्डु, सूर्य दीपित
चक्रमय नीहारिकाएँ
घूमती तम अन्ध द्यौ में
सृष्टि की अग्रिम छटाएँ।" **वही**, पृ० २२

३. **वही**, पृ० २४

४. **वही**, पृ० २३

५. **वही**, पृ० २३

६. **वही**, पृ० २४

जनमत पर पहरा देती हैं, सैनिक हस्तक्षेप होते हैं, जिनसे मनुष्यों में प्रेतों का उदय होता है।[१]

दूसरा खण्ड है 'स्वर्ण-देश' है। 'स्वर्ण-देश' भौतिक उपलब्धि का प्रतीक है और उसका स्वामी है स्वर्ण-दैत्य, जो भौतिकतावादी शोषक पूंजीपति अथवा साम्राज्यवादी शक्ति का प्रतीक है। सारे वैज्ञानिक यन्त्र उसकी इच्छापूर्ति में जुटे हैं। काम-कन्या (विलासिता), कूटमन्त्री (राजनीतिक कूटनीतियाँ), अणुपति (आणविक अस्त्रों का स्वामी), मनवधिक (मनदोहन-ब्रेन वाशिंग करने वाला) आर्थिक साम्राज्यवाद और यन्त्र-दैत्य (मशीनें) सब मिलकर मानव-संस्कृति के विघटन के उपकरण जुटाने में सहयोग देते हैं। जैसे ही काम-कन्या "नये मूल्य ले उठने वाली मानवता" के भयानक सन्देश की ओर ध्यान आकृष्ट करती है, स्वर्ण-दैत्य अँधियारे का विरोध करने वाले इंसान को चकनाचूर करने का संकल्प करता है।[२] कूटमन्त्री व्यक्ति-व्यक्ति के बीच घृणा, संशय और खिंचाव की दीवारें खड़ी करके मानव-मूल्यों को विकृत करने और राजनीतिक शून्य को अपने शक्ति-सन्तुलन से भरने की प्रतिज्ञा करता है।[३] अणुपति कठपुतली-से देशों को ब्रह्मास्त्रों से लैस सेना से घेरने का निश्चय करता है।[४] मनवधिक आर्थिक सहायता का पर्दा डालकर सब देशों की जनता का भाग्य-विधाता बन अपने प्रचार और मिथ्या मूल्यों के प्रसार द्वारा दुनिया के मन को दुहने और मानवता को पैसों से खरीदने का निश्चय करता है।[५] यन्त्र-दैत्य जड़वादी विकृति से उपजे अपने मन्त्रों-तन्त्रों से दुनिया भर को उलझाने का प्रण करता है।[६] काम-कन्या जन-जन के मन में कामसूत्र के नये त्रिभंग बैठाकर संस्कृति पर विकृतियों की छाप लगाने का इरादा रखती है।[७] स्वर्ण-दैत्य धरती से नभ तक छा जाने के लिए अन्धकार की महाशक्तियों का आह्वान करता है।[८]

तीसरे छायांक का नाम 'लौह-देश' है, जिसमें राज्यवाद, सैन्यवाद, अधिनायकवाद, समष्टिवाद अथवा यूथवादी सामूहिक तन्त्रों का अभिव्यक्तिकरण है।[९] लौह-देश में परम्परागत सभी नैतिक मूल्यों और आदर्शों को मानव की दुर्बलता समझा जाता है और हर प्रकार की निर्ममता तथा नृशंसता स्वार्थ-सिद्धि के लिए यहाँ साध्य बन गई है। मनुष्य निजत्व खोकर स्वार्थ-चालित यन्त्र अथवा पदार्थ बन गया है; पदार्थ-विज्ञान ने सभी धर्मों को अपदस्थ करके उनका आसन छीन लिया है। साधन-सम्पन्न तथा सत्ताधारी व्यक्तियों के जन-मंगल के सभी झूठे वायदे एकाधिपत्य की दल-सत्ता के गर्त में डूब गये हैं, परिधि, केन्द्र सभी राज्यत्व में सिमट गये हैं।[१०]

---

१. **वही**, पृ० २६
२. **वही**, पृ० २९
३. **वही**, पृ० २९
४. **वही**, पृ० २९
५. **वही**, पृ० २९-३०
६. **वही**, पृ० ३०
७. **वही**, पृ० ३०
८. **वही**, पृ० ३०
९. **वही**, पृ० १७
१०. **वही**, पृ० ३२

चतुर्थ छायांक की पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है "पृथ्वी की क्षितिज-कोरों से घुमड़-घुमड़कर" 'रेडियो एक्टिव' तूफान के झक्कड़ उठते हैं। आकाश में लाल रंग के खूनी बादल मँडरा रहे हैं। मकान गिर रहे हैं, शहर के शहर टूट रहे हैं·····'।[1] ग्राम-संस्कृति की प्रतीक वन्या कृषिकुमार का ध्यान अन्धे विज्ञान की उन भयंकर परिणतियों की ओर आकृष्ट करती है, जिनके कारण अणु-उत्तप्त धरा पर भारी विप्लव मच जाता है; ग्राम, नगर फसलें ही नष्ट नहीं होतीं, वरन् आने वाली पीढ़ियाँ भी अणु-वेदी पर बलि चढ़ रही हैं, जिससे भविष्य की भी अकाल मृत्यु हो रही है।[2] कृषिकुमार को भी इन्सानी इतिहास-चक्र के इस व्यंग्य विपर्यय पर भारी निराशा होती है। उसे प्रतीक्षा थी कि भौतिक उपलब्धियों के उपरान्त अब मन के भीतर की दुनिया बदलेगी, किन्तु आशा के विपरीत ही परिणाम दिखलाई पड़ते हैं। वन्या को भी लगता है कि संस्कृति के विकास की कोई आवश्यक कड़ी अपूजित छूट गई है, जिसके कारण विघटनकारी प्रवृत्तियाँ हावी हो उठी हैं।

कथानक के स्वरूप पर विचार करने से कई बातें सामने आती हैं। पहली बात तो यह है कि कवि ने मनोमाया (फेण्टेसी) के प्रयोग में अधिक स्वच्छन्दता से काम लिया है। सृष्टि की निस्सीम परिधि में घूमते हुए कल्पनातीत ग्रह-उपग्रहों की कल्पना रहस्यमय और विलक्षण होने के कारण पाठक के लिए सर्वथा दुर्ग्राह्य है। कल्पना का स्वरूप भाव-संवलित न होकर स्वप्निल हो गया है। कई स्थानों पर कवि की कल्पना मिथक-रचना में संलग्न दिखाई पड़ती है। कवि का यह रंग-निर्देश कि "दिक्-गीत के विलयन के साथ ही आकाश से प्रकाश-धाराओं का एक आलोक-स्तम्भ उतरता है, जिसके उजियाले की वृत्त-परिधि में एक अति अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र चमक उठता है"[3], स्वप्निल और वायव्य है। कल्पना की उड़ान के ऐसे अनेक उदाहरण इस लघुकाय नाट्य-काव्य में से प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जो व्यक्ति-वैचित्र्य की प्रसूतियाँ होने के कारण नाटकीय तथा काव्यात्मक प्रभाव तथा उसकी सम्प्रेषणीयता में बाधक हैं। कवि उपनिषद्-युग के रहस्यद्रष्टा ऋषि की वाणी में बोलता-सा 'दिव्य का अबूझ आभास' पाने लगता है और 'झिलमिल अनन्त लोक' के दर्शन करता हुआ रहस्यमय का रहस्य खोलता-सा प्रतीत होता है।[4] इतिहास-ग्रन्थ के मध्य से उदित वृद्ध यती की पोशाक और दाढ़ी "फादर क्रिसमस" जैसी बतलाकर शायद

---

१. वही, पृ० ३२
२. वही, पृ० ३३
३. वही, पृ० २२
४. "दिखने लगे हैं कुछ झिलमिल अनन्त लोक
होने लगा है दिव्य का अबूझ आभास
मन पर से पर्दों का कुहर हटा जाता है
अब तक थी भूमिका, इतिहास अब आता है।" वही, पृ० २४

कवि ने मिथक-सृजन के प्रयास में विलक्षण समन्वय-भावना का परिचय देना चाहा है !

दूसरी बात यह है कि कथानक मानवीय जीवन-सन्दर्भों की विकासशील सुगठित शृंखला के रूप में न होकर काल्पनिक और वैचारिक (कन्सैप्चुअल) ही अधिक है। लोक-जीवन की घटनाओं की गतिमय शृंखला से सम्बद्ध न होने के कारण कल्पना असम्बद्ध और विचार यांत्रिक हो गये हैं। कथानक के विकसनशील न होने का ही यह दुष्परिणाम है कि प्रस्तुत नाट्य-काव्य के प्रायः सभी खण्डों में आधुनिक वैज्ञानिक और राजनीतिक पद्धतियों के विघटनकारी प्रभाव से उत्पन्न मूल्यहीनता की प्रकारान्तर से बार-बार आवृत्ति हुई है। यद्यपि कवि ने प्रतीकात्मक पात्रों की योजना की है, तथापि कथानक के कलात्मक गठन के अभाव के कारण पात्रों के कथन उनके आशय को प्रतीकात्मक रूप में ध्वनित नहीं करते, प्रायः सारे कथन अभिधात्मक स्तर पर ही रह जाते हैं। कथानक में परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव के अभाव के कारण पात्रों के व्यक्तित्व और चरित्र का भी कोई विकास नहीं हो सका है। कुल मिलाकर, प्रयोग की दृष्टि से, कवि का प्रयत्न निश्चय ही सराहनीय है। कवि ने एक वैज्ञानिक मनोमाया (साइण्टफिक फैण्टेसी) के रूप में पृथ्वीकल्प की रचना की है। यदि कवि की वैज्ञानिक कल्पना अनुभूति-प्रेरक सन्दर्भों के बिम्बों में ढलकर सहज संवेद्य बन पाती, तो यह प्रयोग निश्चय ही और भी सफल रहता।

(२) **पात्र और चरित्र-चित्रण**—पृथ्वी-कल्प के प्रथम खण्ड में गीतिका और गाथाकार के अतिरिक्त इतिहास और सदियाँ, पात्र रूप में प्रस्तुत हैं। दूसरे खण्ड में परसेप्ट्रोन, काम-कन्या स्वर्ण-दैत्य, अणुपति, मनवधिक, यन्त्र-दैत्य और कूट मन्त्री नामक पात्रों का समावेश है। तीसरे खण्ड में केवल 'गीतिका' द्वारा सब कुछ कहला दिया गया है। चौथे खण्ड में वन्या और कृषिकुमार का समावेश है। उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि कोई भी ऐसा पात्र नहीं है, जो इस छोटे से नाट्य-काव्य में आदि से अन्त तक विद्यमान हो। न ही इसका कोई नायक है। यहाँ पात्रों से कथानक और कथानक से पात्र विकसित होते दिखलाई नहीं पड़ते। कवि ने कथानक और पात्रों की अपेक्षा स्वयं को ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझा है। यही कारण है कि उसने सारे पात्रों को अपने ही विविध राजनीतिक, सामाजिक और वैज्ञानिक विचारों का वाहन बनाया है। अपने विचारों को लादने के लिए कवि को जिस खण्ड में जिस पात्र की आवश्यकता हुई है, उसने उसे ही तुरन्त ला खड़ा किया है। सभी पात्र व्यक्तित्वविहीन कठपुतले हैं और यांत्रिक रूप में कवि के विचारों का भार ढोने के काम में जुटे हैं। सारे पात्र क्रिया-व्यापार-शून्य हैं तथा रटे हुए भाषण झाड़ते हैं। पात्रों का न अपना कोई जीवन है, न क्रिया-व्यापार और न विचार ही। पात्र समग्र कथानक और कथ्य से कटे हुए हैं। वे कथानक और कथ्य की समग्रता के भीतर से विकसित न होकर ऊपर से आरोपित हैं। सभी पात्र बारी-बारी से आते और जाते हैं, न उनमें परस्पर कोई जीवन-संघर्ष है और न वैयक्तिक स्तर पर कोई अन्तर्द्वन्द्व ही।

(३) **संवाद**—प्रस्तुत नाट्य-काव्य की नाटकीयता के सम्बन्ध में लिखते हुए गिरिजाकुमार माथुर ने लिखा है, "काव्य की भाँति, सीधे वर्णन के स्थान पर नाटक के टेकनीक का प्रयोग इसमें किया गया है, किन्तु कथोपकथन के बदले पात्रों द्वारा नाटकीय एकालाप प्रयोग में लाये गये हैं।"[1] उपर्युक्त कथन में एक ओर नाटकीय टेकनीक की बात कही गयी है और दूसरी ओर कथोपकथन के स्थान पर नाटकीय एकालाप (मोनोलॉग) की। ये दोनों बातें पर्याप्त विरोधी हैं। वस्तुतः कथोपकथन नाटकीय टेकनीक की जीवनी शक्ति है, उसी के माध्यम से कथानक और पात्रों के चरित्र का नाटकीय रूप में उत्तरोत्तर विकास होता है। इसके विपरीत एकालाप के द्वारा न तो कथानक का किसी निश्चित दिशा में क्रमिक विकास होता है और न पात्रों के चरित्र और स्वभाव का सजीव और स्वाभाविक अंकन होना है। एकालाप पात्र की किसी एक मनःस्थिति (मूड) या उसके किसी एक विचार का वाहक बन सकता है। इसलिए नाटकों में कहीं-कहीं एकालापों का प्रयोग किसी पात्र की विशिष्ट मनःस्थिति के उद्‌घाटन में सहायक हो सकता है। समूची रचना में एकालापों के प्रयोग से रचना के मूल ढाँचे में ही बिखराव आ जाता है। क्रिया-व्यापार, कथोपकथन, कथानक, चरित्र-चित्रण आदि सभी तत्त्वों की आन्तरिक अन्विति ही किसी कृति को कला-कृति के स्तर तक उठाती है। एकालापों के माध्यम में ऐसी आन्तरिक अन्विति की क्षमता ही नहीं होती।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, पृथ्वीकल्प के पात्र कवि के विचारों को ढोने वाले यंत्र मात्र हैं और उनके एकालापों में उनके निजी उद्‌गारों के स्थान पर कवि के ही विचार सुनायी पड़ते हैं। इसलिए इन एकालापों की भाषा प्रायः सर्वत्र एक जैसी है। ग्राम-संस्कृति की प्रतीक वन्या और वैभव-सम्पन्न स्वर्ण-दैत्य की भाषा में जो अन्तर स्वाभाविक रूप से होना चाहिए, वह यहाँ नहीं है। सभी पात्र एक लहजे में ऐसी कविता बोलते चले जाते हैं, जो क्रिया-व्यापार में बाधक है। आरोपित एकालाप का सर्वाधिक उल्लेखनीय उदाहरण तीसरे खण्ड में काम-कन्या का वह लम्बा एकालाप है, जिसमें वह अपने वासनामय स्वरूप से बिल्कुल हटकर 'नये मूल्य ले उठने वाली मानवता का, भयानक सन्देश सुनाने में ही जुट जाती है।'[2] संक्षेप में, प्रस्तुत नाट्य-काव्य में पात्रों के एकालाप एक-दूसरे पात्र के प्रति सम्बोधित न होकर एक लम्बी कविता के अंश मात्र हैं, इसलिए वे नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ हैं। एकालापों में पात्रों के स्वभाव और क्रिया-व्यापार से कविता का दोहन नहीं किया गया है, वरन् कवि ने अपनी ही कविता को स्वनिर्मित पात्रों के मुख में रख दिया है।

(४) **अभिव्यंजना**—नाट्य-काव्य के परिप्रेक्ष्य में संवादों के स्वरूप पर संक्षेप में विचार करने के उपरान्त यहाँ संवादों में प्रयुक्त भाषा और अभिव्यंजना-पद्धति के

---

१. वही, पृ० १७

२. वही, पृ० २८-२९

स्वरूप पर विचार करना भी उपयोगी होगा। गिरिजाकुमार माथुर ने पृथ्वी-कल्प की भाषा के विषय में लिखा है, "पृथ्वी-कल्प को मैं विज्ञान-काव्य मानता हूँ और उसी रूप में मैंने इसे लिखा है। इसमें मैंने न केवल अति आधुनिक 'टेकनालॉजी' से सम्बन्धित वैज्ञानिक प्रतीकों, छवि चित्रों तथा यंत्र-क्षेत्र की भाषा का प्रयोग किया है, बहुत से नये शब्द भी रचे हैं।"[1] उक्त कथन में दो बातें विचारणीय हैं, जो वस्तुतः एक ही भ्रान्त धारणा की परिणतियाँ हैं—(१) विज्ञान को कविता का विषय बनाकर 'विज्ञान-काव्य' नामक किसी काव्य की रचना कहाँ तक सम्भव और श्रेयस्कर है ? तथा (२) अति आधुनिक टेकनालॉजी से सम्बन्धित वैज्ञानिक प्रतीकों और यन्त्र-क्षेत्र की भाषा का प्रयोग कहाँ तक कविता के स्वभाव के अनुकूल है और नये गढ़े हुए वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द किस सीमा तक कविता में खप सकते हैं ? पहले प्रश्न के उत्तर में निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कविता का विषय केवल मानव है, विज्ञान अथवा वैज्ञानिक प्रविधि नहीं। विज्ञान की अपेक्षा विज्ञान द्वारा मानव-जीवन और मानव-परिवेश पर छोड़ा गया प्रभाव कविता का विषय बनने के कहीं अधिक अनुकूल है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण को मानव-जीवन की सापेक्षता में ग्रहण करके प्राचीन अन्ध-विश्वासों और ईश्वर-केन्द्रित मूल्यों से मुक्त होकर मानव-केन्द्रित मूल्यों का उद्घोष करने वाली कविता ही कविता का नया आयाम हो सकता है। "कविता वैज्ञानिक सत्यों पर आधारित होगी और विज्ञान-काव्य ही उसका नया आयाम बनेगा,"[2] यह सर्वथा भ्रान्त धारणा है। फिर वैज्ञानिक तथ्यों को 'सत्य' की संज्ञा देना भी भ्रामक है, कोई तथ्य मानव-सापेक्ष और कल्याण-विधायक होकर ही 'सत्य' होता है, किन्तु उस समय वह तथ्य नहीं रहता। इसी प्रकार विज्ञान का वह मानव-सापेक्ष रूप ही कविता का विषय बन सकता है, जो अपनी प्राविधिकता और पारिभाषिकता को त्यागकर भाव-संवलित हो उठा है। 'विज्ञान-काव्य' नाम में चौंकाने वाली प्रवृत्ति ही अधिक दिखलायी पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि अति आधुनिकता और नवीनता के फेर में पड़कर पृथ्वी के कल्प के साथ भाव और भाषा का भी कल्प करके कविता का भी कल्प कर देना चाहता है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि मानव-जाति के भावों के साथ घनिष्ठ साहचर्य रखने वाले विषय-व्यापार ही कविता के विषय बनने की क्षमता रखते हैं, केवल जिज्ञासा, कौतुक या चिन्तन को उभारने वाले शास्त्रीय विषय गद्य की अपेक्षा रखते हैं। दूसरे प्रश्न का उत्तर भी पहले प्रश्न के उत्तर का अनुवर्ती है। प्रस्तुत प्रबन्ध के दूसरे अध्याय में काव्य-भाषा के स्वरूप पर विचार करते हुए स्पष्ट किया जा चुका है कि कविता की भाषा शास्त्रीय, पारिभाषिक, सामान्य वस्तु-व्यापार-सूचक नहीं होती। फिर काव्य-भाषा का जीवन के सन्दर्भों से विकास होता है, उसे गढ़ा या आविष्कृत नहीं किया जा सकता। गढ़ी हुई कृत्रिम भाषा हृदयस्थ रागों में पैठने की क्षमता नहीं रखती। गढ़ी हुई कृत्रिम भाषा के प्रयोग द्वारा चौंकाने की

---

१. **वही**, पृ० १८
२. **वही**, पृ० १८

दिशा में कवि का कितना उत्साह और आग्रह रहा है, यह उसके निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है। भूमानी, 'अलक्त्रान', 'कान्टेक्ट-किरण', 'इम्पल्स तरंगें' जैसे दर्जनों शब्दों के पीछे निहित सिद्धान्त (?) पर प्रकाश डालते हुए कवि कहता है "इन शब्दों को इस प्रकार गढ़ने के पीछे एक विशेष सिद्धान्त और लक्ष्य रहा है। एकत्र रूप से देखा जाए तो ये सारे शब्द मिलाकर यन्त्र-युग की एक ऐसी नयी भाषा के द्योतक हैं जो हमारे यहाँ अब तक नहीं बनी है और जिसके बिना किसी भी साहित्य-रचना में 'टेकनालॉजी', युगीन जीवन की सही वातावरण-गन्ध प्रस्तुत नहीं की जा सकती।"[1] उपर्युक्त उद्धरण में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य अंश है "यंत्र-युग की एक ऐसी नयी भाषा", "जो हमारे यहाँ अब तक नहीं बनी है।" ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कवि ने यंत्र-युग की नयी भाषा के निर्माण का सारा दायित्व अपने ऊपर ले लिया हो। यदि कवि को यही करना था तो उसे वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली के अनुवाद का कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए था। कवि ने वह कार्य कविता के माध्यम से करना चाहा है जो वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली-कोश द्वारा सम्पादित होना चाहिए था। कवि का दृष्टिकोण कविता से हटकर निश्चित रूप से विज्ञान और वैज्ञानिक पारिभाषिकता की ओर प्रवृत्त रहा है, इसकी पुष्टि उसके निम्नलिखित कथन से होती है—"इसके अतिरिक्त जो पारिभाषिक तथा वैज्ञानिक शब्द अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत हो चुके हैं, उन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार करना होगा, अन्यथा वैज्ञानिक तथ्यों और प्रक्रियाओं के गणित-सम्मत अच्युत मूल्यमानों को समझना कठिन होगा। हमारी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में विदेशी पारिभाषिक तथा वैज्ञानिक शब्दों को अविकल स्वीकार किया जा रहा है। भौतिक और रसायन शास्त्र इत्यादि विज्ञान के पाठ्यक्रमों में ऐसे अनगिनत शब्द स्वीकार किये गये हैं, जिन्हें उठती हुई पीढ़ियाँ पढ़ रही हैं।"[2] उपर्युक्त कथन से किसी को कोई विरोध न होगा, किन्तु उसी स्थिति में, जब इसे विज्ञान और वैज्ञानिक पाठ्य-क्रम के सन्दर्भ में रखकर देखा जाये। यह तो स्पष्ट है कि विज्ञान की किसी कक्षा के पाठ्यक्रम के लिए पृथ्वीकल्प की रचना नहीं की गयी है। फैक्टरियों में विकसित जिस "वैज्ञानिक भाषा"[3] की ओर कवि ने संकेत किया है क्या, उसे काव्य-भाषा के लिए आदर्श माना जा सकता है? आश्चर्य तो यह है कि विदेशी और गढ़ी हुई पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग के पक्ष में अनेक प्रकार के तर्क देने के उपरान्त कवि स्वयं स्वीकार करता है, "यदि वैसे शब्द हमारी भाषा में नहीं हैं तो उसका कारण यही है कि विकास की वे प्रक्रियाएँ हमारे समाज में अब तक नहीं थीं। उन प्रक्रियाओं के घटित हुए बिना कृत्रिम शब्द और शब्दकोष बना लेने से काम नहीं चलेगा। शब्द तो बन सकते हैं और बनाये भी जा रहे हैं, किन्तु उनमें वह अर्थवत्ता नहीं हो सकती, जो केवल शब्दों

---

१. वही, पृ० १८
२. वही, पृ० १६
३. वही, पृ० १६

के ऐतिहासिक सन्दर्भों से प्राप्त होती है।"[1] शब्दों के गढ़ने के पीछे जो सिद्धान्त था, उसका इस प्रकार अन्त हो जाता है।

इस प्रकार गढ़े हुए शब्दों के पीछे निहित सिद्धान्त की पहले अनेक तर्कों से स्थापना करके और बाद में स्वयं ही उसकी निरर्थकता सिद्ध करके कवि को अन्त में विदेशी पारिभाषिक शब्दावली के कविता में प्रयोग की बात ही उचित जँचती है—"अतः विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से प्रेरणा-प्राप्त काव्य-रचना में यदि विदेशी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाए, तो वह अनुचित नहीं है, क्योंकि आधुनिक विचार-वस्तु का वातावरण उनके बिना सम्भव नहीं है।"[2] उपर्युक्त कथन के औचित्य-अनौचित्य पर विवाद करने की अपेक्षा यहाँ इसके पीछे निहित मनोवृत्ति से उपजी कविता के स्वरूप का भाषागत पर्यालोचन करना अधिक व्यावहारिक होगा। दूसरे छायांक के कुछ अंश दर्शनीय हैं—

(१) "सावधान
अणु तोपें
'आन',
राडर पट
'आन',
उपग्रह एन्टेना
'आन',
परमाणु धूप के 'राकेट'
'आन'[3]

(२) समय कैमरा के 'फोटोन-नयन',
आन
चित्रांकन का 'प्लेट रिकार्डिंग'
'आन'[4]

(३) 'स्ट्रिप्टीजों', 'फोलीबर्जों', 'बर्लस्कों' से
'रोकिन-रोलों', 'हूला-हूपों' से
'उरियाँ नाइट क्लबों' से
जन-जन के मन में
कामसूत्र के नये त्रिभंग बिठाऊँगी
संस्कृति पर विकृतियों के 'रूज', 'लिपस्टिक' की छाप लगाऊँगी।"[5]

---

१. वही, पृ० १६
२. वही, पृ० १६
३. वही, पृ० २७
४. वही, पृ० २७-२८
५. वही, पृ० ३०

कविता में शब्दों की पच्चीकारी करने का काम वही कवि करता है जो मानवीय जीवन-सन्दर्भों को हृदयंगम नहीं कर पाता और हृदयंगम करने की भाषा अपने ही वंशानुगत जातीय संस्कारों और मनोभावों की नैसर्गिक भाषा होती है। गिरिजाकुमार माथुर में शब्द-प्रयोग के आधार पर वैचित्र्य-सृष्टि करने की प्रवृत्ति दूसरी दिशा में भी दिखलायी पड़ती है, जहाँ वे क्षेत्रीय ग्रामीण बोली से खोज-खोज कर ऐसे शब्द प्रयुक्त करते हैं, जो हिन्दी-कविता के सामान्य पाठक की पहुँच से परे हैं। 'नये शब्द-प्रयोग' शीर्षक के अन्तर्गत वे कहते हैं, "आधुनिक काव्य की भाषा को विस्तृत और समृद्ध करने में कवि के शब्द-प्रयोगों का विशिष्ट योगदान रहा है, अतः उनकी एक संक्षिप्त सूची यहाँ दी जा रही है।"[1] इसके बाद जो दो-तीन पृष्ठों की सूची दी गयी है, उसमें अलोप, सँतिए, धूरी साँझ, फरिया, लुगड़ा, रूँद, बोर, कजलते, काँवर, बेहरा, महूक, दाम, आँसें, खरैरी आदि अनेक शब्द दिये गये हैं, जो सामान्य पाठक के लिए दुर्बोध हैं। 'पृथ्वी-कल्प' में से ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं, उनकी भाषा हिन्दी है या अंग्रेज़ी या दोनों या न हिन्दी न अंग्रेज़ी—यह निर्धारण करना कठिन है। सौभाग्य यही है कि 'विज्ञान-काव्य' के रूप में इस नाट्य-काव्य की रचना करने का दावा करने के बावजूद भी कई स्थानों पर कवि का हृदय वैज्ञानिकता के आरोपित आग्रहों से ऊपर उठकर मानवीय सन्दर्भों की राग-संवलित अभिव्यक्ति कर सका है और ऐसे स्थानों पर काव्य-भाषा का रूप भी सहज और स्वस्थ है।

अनेक स्थानों पर भाषा, व्याकरण की दृष्टि से, सदोष और शिथिल है। "पुरस्कार में हर वर्षों के लिए चुने कुछ नारे देकर"[2] में 'वर्षों' के साथ 'हर' एक वचन का प्रयोग असंगत है। "यहाँ बजी इतिहास बिगुल[3] हैं" में 'बजी' के स्थान पर 'बजा' होना चाहिए। "वह सारे सिद्धान्त……"[4] में 'वह' के स्थान पर बहुवचन 'वे' आना चाहिए। इसी प्रकार "यह मानव की संस्कृतियों"[5] में 'यह' के स्थान पर "ये' अपेक्षित है। "व्यवसायिक"[6] के स्थान पर व्यावसायिक', "कामिनि"[7] के स्थान पर 'कामिनी', 'बजारों'[8] के स्थान पर 'बाज़ारों' का प्रयोग होना चाहिए था। "तेजस आदित्य"[9] के स्थान पर 'तैजस आदित्य' सही है। "उप्पलव हुए

१. गिरिजाकुमार माथुर, **शिलापंख चमकीले**, पृ० ६
२. दे०, **कल्पना**, अप्रैल १९६०, पृ० २६
३. **वही**, पृ० ३२
४. **वही**, पृ० ३२
५. **वही**, पृ० २३
६. **वही**, पृ० २५, ३०
७. **वही**, पृ० ३०
८. **वही**, पृ० २६
९. **वही**, पृ० २५

कितने"[१] में सही शब्द 'उपप्लव' होना चाहिए । 'रश्मि रेडियो से धरती पर छाले पड़ते"[२] में 'रश्मि रेडियो' का प्रयोग सम्भवतः कवि ने 'रेडियो-रश्मि' के लिए किया है, जो चिन्त्य है । "अभी आज तो मार कुण्डली बैठी मूल्यविहीन रात है"[३] में 'अभी' के साथ 'आज' का प्रयोग पूर्णतः निरर्थक है । "यहाँ है सिर्फ मसलहत वक्त की"[४] में उर्दू की लफ़्फ़ाज़ी हिन्दी-शब्दावली में खप नहीं रही है । "मन पर से पर्दों का कुहर हटा जाता है"[५] में 'कुहर' शब्द का प्रयोग कवि ने 'कुहरा' के अर्थ में किया है, जबकि 'कुहर' शब्द का अर्थ 'कुहरा' न होकर 'छिद्र' है । "दूरगाम राकेट"[६] में 'दूरगाम' के स्थान पर 'दूरगामी' होना व्याकरणसम्मत है । 'पैफ्लेटी वायदे', "फंगसवन" और "सामूहिक हिप्नोसिस" जैसे खिचड़ी-शब्दों की तो सारी रचना में बहुतायत है ही । यहाँ अभिव्यंजना के विविध तत्त्वों के आधार पर पृथ्वी-कल्प की समीक्षा की जायेगी ।

(क) **बिम्ब-विधान**—पृथ्वी-कल्प की अधिकांश भाषा बिम्बहीन, वैचारिक, गद्यात्मक भाषा है ।[७] अनेक स्थानों पर संज्ञा-शब्दों के ढेर लगाकर कवि ने वस्तु-परिगणन-शैली का परिचय दिया है ।[८] विशेषणों के प्रयोग में भी यही प्रवृत्ति

१. **वही,** पृ० २४
२. **वही,** पृ० ३३
६. **वही,** पृ० ३२
४. **वही,** पृ० ३२
५. **वही,** पृ० २४
६. **वही,** पृ० ३०
७. (क) "तुम 'बीटा गामा एक्स किरण' से
गला मानवी माँस
फिर 'टेस्ट ट्यूब' में
नया रसायन माँस बनाकर
जान डालने की कोशिश भी कर सकते
तुम 'नार्थ पोल' का बर्फ गलाकर
बिजली-बम पैदा करते ।" **वही,** पृ० २८
(ख) " 'थियेटर', 'मूवी', होटल कितने
ट्रेविल इन्शोरेंस बैंक, यात्रा के ब्यूरो
है चन्द्रलोक में चला दिये ।" **वही,** पृ० २८
८. (क) करुणा, प्रेम, त्याग, निर्भरता,
मैत्री, निष्ठा, वचन-बद्धता
संवेदना, क्षमा, उदारता
मानी जाती है कमजोरी व्यक्ति की । **वही,** पृ० ३२
(ख) रक्त-प्यास, लोलुपता, आक्रमण, बलात्कार
अस्थि-अस्त्र से लेकर अणुओं की चीत्कार । **वही,** पृ० २३

दिखलाई पड़ती है। 'पृथ्वी' का वर्णन करने में कवि ने एक साथ ही पृथ्वी के आठ रंगों का उल्लेख किया है।[1] शायद ऐसा करके कवि ने अपनी रंग-बोध की सूक्ष्मता का परिचय देना चाहा है, किन्तु विशेषणों की इस भरमार में पृथ्वी का कोई रंग-रूप उभर नहीं पाया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि गिरिजाकुमार माथुर में बिम्ब-विधान की क्षमता नहीं है, न्यायसंगत न होगा। वास्तविकता यह है कि जब कुछ विलक्षण और नवीन प्रयोग करने और कुछ नितान्त मौलिक कहने की धुन कवि के कवि-व्यक्तित्व पर हावी हो जाती है, तो कवि के कृतित्व के स्तर पर हानि-कारक प्रभाव पड़ता है। यह ठीक है कि ब्रह्माण्ड में चक्कर काटते हुए ग्रह-उपग्रहों तथा विभिन्न वैज्ञानिक यन्त्रों और बेतार यानों की उड़ानों की[2] उद्भावना करने में कवि की कल्पना को काफी जूझना पड़ा है, किन्तु वह अपने द्वारा बुने गये यान्त्रिक ताने-बाने में उलझकर अरूप और असंवेद्य ही रह गई है। फिर भी, गिरिजाकुमार माथुर में बिम्ब-विधान की अच्छी सामर्थ्य है, इसका परिचय जहाँ-तहाँ आई हुई उन भावपूर्ण पंक्तियों से मिलता चलता है, जहाँ कवि शिल्प, विषय और भाषा के आग्रहों के बावजूद भी कुछ जीवन-सन्दर्भों को सहज संवेदना के स्तर पर ग्रहण कर सका है। कहीं-कहीं तो कवि ने एक-दो पंक्तियों में ही भावपूर्ण बिम्ब अंकित किए हैं।[3] इतिहास-ग्रंथ का स्वरूप खड़ा करने में कवि ने मानव-सन्दर्भों को सहज रूप में सम्बद्ध किया है।[4] अन्तिम छायांक में 'रेडियो एक्टिव' तूफान के कारण उपस्थित

---

१. 'चमकीली, गेहुँई, सिंदूरी, नीलाम्बरी
क्षौममुखी, घन धवला, रेखांकित, साँवरी
पृथ्वी।' **वही**, पृ० २१

२. "अस्सी दशमलव सिफ़र
दो सिफ़र
एक सात छह सिफ़र
अधर हवाई अड्डों पर
दो हज़ार
बेतार यान
"लैंड'
'ओवर'।" **वही**, पृ० २७

३. (क) "पतित अधोमुख बूढ़ी कुलटा-सी पद्धतियाँ
है जनमत पर पहरा देती।" **वही**, पृ० २६
(ख) "इन्सानों को गीले कपड़े-सा निचोड़ कर।" **वही**, पृ० २६

४. "ग्रंथ कहीं छेद भरा
चाट गया जिसे मन्द
दीमक अतीत का

विनाश-लीला का चित्रण भावोद्बोधक, गत्यात्मक बिम्बों से ओत-प्रोत होने के कारण मार्मिक बन पड़ा है। तूफान की विनाश-लीला का सशक्त भाषा में बिम्बांकन दर्शनीय है :—

उखड़ रही हैं एक साथ मीलों की फसलें
जंगल झूम-झूम कर उखड़े
उड़ते भारी ढूह उपटकर
मिट्टी के लोथड़े उड़ रहे
नदियाँ उछल रहीं ऊपर को
खोल भयंकर बाहें अन्धी बाढ़ आ रही।[1]

उपर्युक्त उदाहरण की प्रत्येक पंक्ति में एक गत्यात्मक बिम्ब है और इस प्रकार अनेक सम्बद्ध बिम्बों की संश्लिष्ट योजना द्वारा विनाश का भयावह दृश्य उपस्थित किया गया है। भाषा का प्रवाह भी तूफानी है। इसी छायांक के अन्तिम भाग में कवि ने पौराणिक पात्रों और धार्मिक क्रियाओं के आधार पर क्रियाशील कल्पना द्वारा मार्मिक नाटकीय स्थिति को सशक्त शब्दावली में बिम्बित किया है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ कवि शुष्क वैचारिकता के स्तर से ऊपर उठकर चिन्तन को कल्पना और संवेदना में विलय कर देने के काव्यात्मक स्तर तक पहुँचा है, वहाँ बिम्ब-विधान की सफलता के साथ ही कविता के अन्य सभी

कितने अध्यायों की
पंक्तियाँ फिसी ही रहीं
फैल कर स्याह लाल
स्याही जमी है कहीं
इन्सानी खून की
मुरझाकर जम गई
कहानी प्रसून की।" वही, पृ० २४

१. वही, पृ० ३२

२. (क) "किन्तु आज लगता है जैसे
इस अन्तिम आहुति पर आकर
यज्ञ कुण्ड उड़ गया गगन में
और उलटता जाता है वह
भस्मासुर-सा होताओं पर।" वही, पृ० ३३

(ख) "मन्त्र उड़ रहे कटे शीश से
तन्त्र, रक्त में सनी जटाएँ कापालिक की
आहुति उड़तीं कतरी प्यासी जिह्वाओं-सी
और भभक कर लपटों में से
होते उदित अभय अहिरावण।" वही, पृ० ३३

सम्बद्ध तत्त्वों—लय, अलंकार, प्रतीक, मानवीकरण आदि—का स्वतः ही समावेश हो गया है।

(ख) **प्रतीक योजना**—स्वर्ण-दैत्य, कूटमन्त्री, वन्या आदि प्रतीक-पात्रों के आधार पर ही सम्भवतः कवि ने पृथ्वी-कल्प को 'प्रतीकात्मक नाट्य-काव्य' कहा है, किन्तु प्रतीक-पात्रों के एकालापों में वह कलात्मक संयम और कसावट नहीं हैं, जो सांकेतिक और प्रतीकात्मक शैली की निजी विशेषता है। इसका कारण यही है कि एकालापों और पात्रों में आन्तरिक अन्विति नहीं है। कवि पात्र, कथोपकथन, कथानक आदि की चिन्ता किये बिना अपने ही विचारों को पूर्ण विस्तार के साथ पाठकों तक पहुँचाना चाहता है। कवि का ऐसा विश्वास प्रतीत होता है कि उसने अपनी क्रान्तदर्शी दृष्टि से विश्व के वर्तमान जीवन की जटिलता ही नहीं, भविष्य की पद्धतियों का भी साक्षात्कार कर लिया है,[1] और इस आत्मोपलब्धि को पाठकों तक पहुँचाना कवि अपना पुनीत कर्त्तव्य मानता है। इसी कारण आधारभूत मानवीय मूल्यों के विघटन की बात को कवि ने साग्रह अनेक बार दोहराया है। विचारों को पाठकों तक ज्यों-का-त्यों पहुँचाने की प्रवृत्ति ने पुनरावृत्ति, विस्तार और अभिधात्मकता को जन्म दिया है। कई एकालाप लम्बे गद्यात्मक भाषण बनकर रह गये हैं।

लम्बे-लम्बे एकालापों के बीच कहीं-कहीं कुछ प्रतीकात्मक प्रयोग मिल जाते हैं। "कीड़ों को सभ्य बनाने को"[2] में 'कीड़ों' का प्रयोग असभ्य और पिछड़े हुए लोगों' के अर्थ में हुआ है। 'मनुजों में ये प्रेत बो रहे'[3], 'में प्रेत का प्रतीकार्थ 'पैशाचिक प्रवृत्ति' से है। यहाँ 'बो रहे' क्रिया भी प्रतीकात्मक है, जिसका अर्थ है उत्पन्न करना। यहाँ 'कारण' (बोने) से 'कार्य' (उत्पत्ति) की ओर संकेत किया गया है। "बो देंगे संशय और खिचाव की दीवारें"[4], में भी 'बो देंगे' का प्रयोग प्रतीकात्मक है। "जनमत के सूरज का ज्योति-पत्र अनदेखा"[5], में सूरज 'विवेक-जागरण' का प्रतीक है।' "चलती आलोक किरन"[6] का प्रतीकार्थ है आशा और आदर्शों की ज्योति। "अब भी तुम में वही पुराना आदमखोर जन्तु जिन्दा है"[7], में 'आदमखोर जन्तु' 'हिन्स्र-

---

१. "ऐसे अनेक शब्द इस समस्त रचना में मिलेंगे, जो न केवल सभ्यता के वर्तमान विकास को अभिव्यंजित करते हैं, बल्कि भविष्य की पद्धतियों और चेतनाओं की ओर भी संकेत करते हैं। वस्तुतः 'पृथ्वी-कल्प' की परिणति आने वाले भविष्य में ही होती है, जिसकी अभिव्यंजना इस काव्य का असली लक्ष्य है।" वही, पृ० २०

२. वही, पृ० २८

३. वही, पृ० २६

४. वही, पृ० २६

५. वही, पृ० २६

६. वही, पृ० २४

७. वही, पृ० २६

प्रवृत्ति' का प्रतीक है। यहाँ वस्तु के द्वारा उसके गुणों अथवा स्वभाव की ओर संकेत किया गया है। 'होते उदित अभय अहिरावण"[1] में 'अहिरावण' पौराणिक प्रतीक है, जिसका अर्थ है 'दानवी प्रवृत्ति वाले दुष्ट लोग।'

(ग) **अलंकार-योजना**—आलंकारिकता कविता का अन्तर्वर्ती तत्त्व है। वह एक विशिष्ट मनःस्थिति की उपज है, जिसमें अनुभूति दुहरे सन्दर्भों से उपजती और आकार ग्रहण करती है। आलंकारिक अनुभूति और अभिव्यक्ति में उपमान और उपमेय का महत्त्व इसीलिए है। वैज्ञानिक कथन इसके विपरीत वैचारिक, इकहरा, अभिधात्मक होता है। 'पृथ्वी-कल्प' के कवि ने इसे वैज्ञानिक-काव्य के रूप में लिख कर काव्य और विज्ञान के दो परस्पर विरोधी क्षेत्रों को मिलाने की चेष्टा की है। कवि के साग्रह प्रयत्न के बावजूद विज्ञान की वैज्ञानिकता कविता के प्रवाह में बह गई है और कई स्थानों पर कवि अपने आग्रहों के सामने पराजित होकर अति-आधुनिक बनते-बनते छायावादी बन बैठा है :—

"एक तुम ऋतु, शान्त, चेतन
नील, लोहित, हरित, श्यामल,
रितु-बरन तन, सिन्धु आँचल
दिवस चन्दन, रात काजल
सृजन सौरभ की कमलिनी
ज्योति वदनी
अमर यौवन
खिलीं तुम पर अरुणिमाएँ
मानवी केसर कथाएँ।"[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'पृथ्वी' का कोमलकान्त पदावली में चित्रण है। इसमें 'रूपक' के माध्यम से कवि ने पृथ्वी का एक अमर यौवन वाली ज्योति-वदनी नायिका के रूप में चित्रण किया है, ऋतुओं के रंगों से उसका शरीर बना है, सिन्धु का आँचल है, दिवस का चन्दन है और रात का काजल उसकी आँखों में है। वह सृजन की सुगन्धि वितरित करने वाली कमलिनी है।

कवि की अनुभूति रूपक और उपमा का विशेष आश्रय लेती प्रतीत होती है। कुछ स्थानों पर इन अलंकारों के मूल में स्थित दो सन्दर्भों—उपमेय और उपमान—का सादृश्य बहुत ही दूरगामी और उपयुक्त है। "लो कि स्वयं इतिहास बोलता, कालग्रन्थ के पृष्ठ खोलता" में रूपक के साथ मानवीकरण भी है। इतिहास द्वारा काल-ग्रन्थ के पृष्ठ खोलने की कल्पना में गत्यात्मक बिम्ब निहित होने के कारण नाटकीयता का भी सहज समावेश है। रूपक के माध्यम से कवि ने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मानव की संकीर्ण वृत्तियों का कितना सही और सारगर्भित चित्रण किया है—

---

१. वही, पृ० ३३
२. वही, पृ० २२

हाँफ़ते हुए ये दृश्य
घटित हुए मंच की यवनिका के सामने
अवशिष्ट सीमा पर
सीमित चेतना वाले सँकरे स्थान में
मानते रहे जिसको पूर्ण रंगमंच सभी
और दिव्य दृश्य लिये
अपने गर्भांक में
यवनिका पड़ी ही रही ।[1]

सांसारिक जीवन-नाटक की वास्तविकता यही है कि मनुष्य की मुक्त चेतना के रंगमंच पर घटित होने वाले कितने ही दिव्य दृश्य अघटित ही रह जाते हैं, उन पर पर्दा ही पड़ा रह जाता है और पर्दे के सामने संकीर्ण चेतना के अवशिष्ट मंच-भाग पर कितने ही मार-काट, लूट-हत्या आदि के भयावह दृश्य घटित होते रहते हैं। वे जीवन के सात्त्विक अंश पर इतने हावी हो उठते हैं कि मूल रंगमंच आँखों से ओझल ही रह जाता है और मंच का वह शेषांश ही पूर्ण मंच प्रतीत होने लगता है और वहाँ पर दिखलायी पड़ने वाली भीषण घटनाएँ ही पूर्ण नाटक मालूम पड़ती हैं। "विजय हुई है···बर्बरता कंस पर, संस्कृति के श्याम की"[2] में कंस पर श्याम की विजय के सन्दर्भ को बर्बरता पर संस्कृति की विजय के सन्दर्भ के पर्याय के रूप में रखकर कवि ने दोनों ही सन्दर्भों की अर्थवत्ता को और अधिक गहनता प्रदान की है। इससे जहाँ एक ओर कंस पर कृष्ण की विजय केवल कंस पर कृष्ण की विजय तक सीमित न रहकर बर्बरता पर संस्कृति की व्यापक विजय का गम्भीर अर्थ ग्रहण करती है, वहाँ दूसरी ओर बर्बरता पर संस्कृति की विजय एक आदर्शोन्मुख सिद्धान्त के सामान्य स्वरूप तक सीमित न रहकर विशिष्ट सन्दर्भ से व्यावहारिक समर्थन ग्रहण करती है। इस प्रकार विशिष्ट सन्दर्भ सामान्य आदर्श से और सामान्य आदर्श विशिष्ट सन्दर्भ से समर्थित होकर पूर्णता प्राप्त करता है। इसी प्रकार कवि ने छिद्रयुक्त काल-ग्रन्थ को अतीत के दीमक द्वारा चाटा हुआ कह कर सुन्दर और अर्थगर्भित रूपक की उद्भावना की है।[3]

कुछ उपमाएँ भी बहुत ही सार्थक बन पड़ी हैं। 'मंत्र उड़ रहे कटे शीश से',[4] में कटे शीश से मन्त्रों की तुलना करके उनकी निर्जीवता और निरर्थकता को मूर्तिमंत किया गया है। "आहुति उड़तीं कतरी प्यासी जिह्वाओं-सी"[5] में कवि ने 'आहुति' का

---

१. वही, पृ० २२
२. वही, पृ० २३-२४
३. वही, पृ० २५
४. वही, पृ० २४
५. वही, पृ० २२

प्रयोग 'आहुतियाँ' के अर्थ में किया है और कतरी प्यासी जिह्वाओं की तड़पन-भरी उड़ान से आहुतियों की उड़ान की तुलना करके उनकी विवशताजन्य बौखलाहट और निस्सारता को अभिव्यंजित किया है। "खलनायक-सा खड़ा हँस रहा, भाग्य तन्त्र-साधक इस युग का"[1] में इस तन्त्र-साधक वैज्ञानिक युग के भाग्य के अट्टहास की तुलना खलनायक की हँसी से की गयी है। इन पंक्तियों में भाषा की कसावट, और स्वच्छता के साथ ही यह भी दर्शनीय है कि कवि ने खलनायक की परम्परागत धारणा को तन्त्र-युग के नये सन्दर्भ में प्रयुक्त करके भाषा को नये ढंग से फेंट दिया है। इसमें अभिव्यंजना का रूप छायावादी धूमिलता को लिये हुए न होकर, आधुनिक पैनापन लिये हुए है। नयी कविता के लिए इसी प्रकार की कसी हुई किन्तु व्यंजक भाषा की आवश्यकता है, प्रसंयत और असंस्कारी भाषा की नहीं। 'पृथ्वी-कल्प' में बीच-बीच में ऐसी सशक्त पंक्तियाँ मिल जाती हैं, जो कवि की गहन भावाभिव्यंजक क्षमता की परिचायक हैं, किन्तु खेद यही है कि ऐसी पंक्तियों की संख्या बहुत कम है। "इन्सानों को गीले कपड़े-सा निचोड़ कर"[2] में मनदोहन (ब्रेन-वाशिंग) की पूरी प्रक्रिया का गत्यात्मक बिम्ब खड़ा किया गया है। यहाँ प्रयोग अछूता होते हुए भी यांत्रिक नहीं है, जीवन के वास्तविक सन्दर्भ को अपने चारों ओर लपेटे है। 'पृथ्वी-कल्प' में इस प्रकार की पंक्तियों की अपेक्षा मार्मिक जीवन-सन्दर्भों से कटी हुई या यान्त्रिक कल्पना से उपजे कृत्रिम और अपरिचित सन्दर्भों से जुड़ी हुई पंक्तियों की भरमार है। अपरिचित और कल्पनातीत सन्दर्भों के निरर्थक भार को ढोने वाली यान्त्रिक और निरर्थक पंक्तियों का औचित्य स्थापित करने के लिए ही कवि ने 'पृथ्वी-कल्प' की परिणति आने वाले भविष्य में मानी है और उसकी अभिव्यंजना को काव्य का असली लक्ष्य कहा है। सन्दर्भ-विच्छिन्न या कल्पनातीत अर्थों की (भले ही उनकी परिणति भविष्य में बतला दी जाय) अभिव्यंजना किसी काव्य का असली लक्ष्य नहीं हो सकती। यदि कोई कवि ऐसा दावा करता है, तो वह व्यर्थ ही भविष्यवक्ता होने का आवरण ओढ़ना चाहता है, और ऐसा करके धारदार समीक्षा की खरी कसौटी पर कसे जाने से भाग निकलने का बहाना खोजता है।

(घ) **लय और तुक**—'पृथ्वी-कल्प' में लय-हीनता, यान्त्रिक लय, खण्डित लय और प्रवाहमयी अर्थगर्भित लय के रूप में, लय के सभी स्तर मिल जाते हैं। लय हीनता की स्थिति निम्नलिखित पंक्तियों में दर्शनीय है—

(१) "मधु मक्खियों से युग
'एम्बर' के लाल मोतियों में सुरक्षित हैं।"[3]

(२) "समय कैमरा के 'फोटोन-नयन'
'आन'।"[4]

---

१. वही, पृ० २२
२. वही, पृ० २६
३. वही, पृ० २३
४. वही, पृ० २७

(३) "वह सूरज है इन्सान
तब तो है कुछ बात नहीं।"[१]

(४) "क्या यह कीड़ा इन्सान
कर रहा है विरोध अँधियारे का।"[२]

इन पंक्तियों में भाव ही ऐसा नहीं है जो रागात्मक स्पन्दन उत्पन्न कर सके। गद्यात्मक विचार को गद्यात्मक भाषा में ही कहा जा सकता है। लय के क्षेत्र में कवि की विवशता भाषा से सम्बन्धित न होकर मूलत: भाव से सम्बन्धित होती है। यांत्रिक लय से यहाँ आशय उस लय से है जिसमें शब्दों की ध्वनि की लय तो हो, किन्तु उसमें अर्थ या भाव का स्पन्दन न हो। 'पृथ्वी-कल्प' में यान्त्रिक लय के कई उदाहरण सुलभ हैं। यहाँ निम्नलिखित उदाहरण दर्शनीय है—

"अस्सी दशमलव सिफर
सिफर पर सिफर
एक सात छह सिफर
'रिपीट'।"[३]

इससे भी अधिक निराशाजनक स्थल वे हैं, जहाँ यह भी नहीं है—

तीन अंश
मान पन्द्रह
अक्षांस एक सौ आठ
वायु लम्ब नौ सौ
पश्चिम पश्चिमोत्तर।"[४]

भला इन वैज्ञानिक संकेतों की भाषा में काव्यार्थ और लय कहाँ ? यहाँ कवि सामान्य सहृदय पाठक के लिए न लिखकर किसी बेतार यान के चालक को संकेत दे रहा है। खण्डित लय से आशय उस लय से है जो ऊपर और नीचे ठीक चल रही हो, किन्तु बीच में एक-दो पंक्तियों में टूट रही है। जैसे—

(१) "बनते सामूहिक हत्यारे
अर्थ उपनिवेश बनते हैं
मूल्य बजारों में बिकते हैं।"[५]

(२) "एक भयानक नर बलि लेकर
जन भविष्य की कीमत पर
इतिहासों का हो रहा फैसला।"[६]

---

१. वही, पृ० २६
२. वही, पृ० २६
३. वही, पृ० २७
४. वही, पृ० २७
५. वही, पृ० २५-२६
६. वही, पृ० २६

(३) "दल की वृहद् निहाई पर
मानव आत्मा को लिये टीन-सा
ठोक रहा है पीट रहा है।"[1]

(४) "खोल भयंकर बाहें अंधी बाढ़ आ रही
है अकाल के मेघ खून पीप टपकाते
तेल चुआते।"[2]

उपर्युक्त उद्धरणों की मध्यवर्ती पंक्तियों में प्रवाह खण्डित है। 'पृथ्वी-कल्प' में उत्तम लय के उदाहरण भी कहीं-कहीं मिलते हैं, जो पिछले पृष्ठों में 'बिम्ब-विधान' और अलंकार-योजना' के अन्तर्गत उद्धृत स्थलों में देखे जा सकते हैं।

'पृथ्वी-कल्प' की रचना मुक्त छन्द में की गयी है। अनुकान्त होना मुक्त छन्द का स्वरूप है, क्योंकि मुक्त छन्द प्रवाह के अतिरिक्त और किसी बन्धन को स्वीकार नहीं करता, यों प्रवाह का समर्थन जैसे तुकहीनता के द्वारा होता है वैसे ही कहीं-कहीं तुकों की योजना द्वारा भी सम्भव है। मुक्त छन्द के मुक्त प्रवाह की संवाहिका पंक्तियों में बीच-बीच में नैसर्गिक रूप से आयी हुई तुकें यह सिद्ध करती हैं कि तुक भी कविता का अन्तर्वर्ती तत्त्व है। यान्त्रिक ढंग से ऊपर लादी गयी तुकें अर्थ के निर्वाह और प्रवाह में साधक न होकर बाधक होने के कारण वर्जनीय है। पृथ्वी-कल्प में तुकों के भी कई रूप मिलते हैं। कुछ तुकें तो शब्दों के ध्वनि-संगीत मात्र पर आधारित हैं—जैसे—

देखो यह झाँकी
विराट् छवि आँकी[3]

कहीं-कहीं तो तुकों के यान्त्रिक रूप को देखकर मैथिलीशरण गुप्त जी की, छोटे छन्दों के साँचे में ढली तुकों की याद आ जाती है—

हो गये हैं लुप्त कई
धूल ढँके गुप्त कई[4]

कहीं-कहीं तुक कई पंक्तियों में दूर तक मिलाई गई है। एक ही शब्द पर अन्त होने वाले गद्यात्मक वाक्यों को कविता में भरा गया है। इस दृष्टि से "तुम जो चाहो सो कर सकते" से लेकर "केक्टस नये उगा सकते" तक चलने वाली छह पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं, जो सभी 'सकते' पर समाप्त होती हैं।[5] कहीं-कहीं पर तुक के साथ छन्द का भी सफल निर्वाह दिखलाई पड़ता है।[6] कहीं-कहीं छन्द-निर्वाह के साथ

---

१. वही, पृ० २६ २. वही, पृ० २६
३. वही, पृ० २३ ४. वही, पृ० २४
५. वही, पृ० २८
६. "समय चक्र पर यही चिरन्तन सत्य पल रहा
ज्योति तिमिर का अब भी है संघर्ष चल रहा।" वही, पृ० २५

बाद के तीन-तीन शब्दों तक तुक मिलती है और अर्थ की व्यंजकता में भी वह सहायक हुई है।[1] गाथाकार के मुख से कहलाई गई पंक्तियाँ तुक और छन्द के सम्यक् निर्वाह की दृष्टि से विशेष सफल बन पड़ी हैं :—

"आज सुनाते हैं हम गाथा कोटि युगों की
अन्धकार से महा ज्योति के संघर्षों की
नक्षत्रों में लिखी कथा पृथ्वी के मन की
यह गाथा है इतिहासों के आवर्तन की।[2]

(५) **अभिनेयता**—पृथ्वी-कल्प में न तो व्यवस्थित कथानक है, न व्यक्तित्व-प्रधान पात्रों की योजना, न कथोपकथन ही, फिर भी इसे 'नाट्य-काव्य' कहा गया है। कवि ने प्रत्येक छायांक की पृष्ठिभूमि के रूप में अवस्थित जिन दृश्यों का विवरण दिया है, वे फोटाग्राफी के अत्यन्त कुशल प्रयोगों के माध्यम से केवल चित्रपट पर ही किसी प्रकार दर्शाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, "दृश्य अब पृथ्वी के अधिक निकट उतर आता है। पृथ्वी वृहदाकार होती जाती है। उसकी सुडौल वृत्ताकार परिधि-रेखा असम और विच्छिन्न हो रही है और गोलाईदार विशाल उभार फैलकर आगे का समस्त आकाश ढकता जा रहा है। जो अभी शून्य में सिर के ऊपर चमक रही थी, वह जैसे उछलकर विराट् दीवार-सी सामने आती जा रही है।[3] ऐसे 'विराट्' और 'दिव्य' व्यापक और गतिशील दृश्यों की योजना रंगमंच पर किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। रेडियो के माध्यम से ध्वनि-संकेतों द्वारा इन दृश्यों के चाक्षुष स्वरूप को व्यक्त नहीं किया जा सकता। लम्बे-लम्बे उबाने वाले एकालापों द्वारा न चरित्रों का विकास होता है, न कथानक का ही। संक्षेप, में पृथ्वी-कल्प की रंग-मंच पर अभिनेयता अत्यन्त संदिग्ध है। उसकी नाटकीयता केवल एकालापों तक सीमित है।

(६) **उद्देश्य**—कविता का उद्देश्य मानवीय सन्दर्भों और मानवीय संवेदनाओं तथा उनसे विकसित सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों का उद्घाटन है, सृष्टि के उन रहस्यों का उद्घाटन नहीं, जो अभी भविष्य के गर्भ में है और जिन तक वैज्ञानिकों की पदार्थवादी बौद्धिक दृष्टि और दार्शनिकों की तर्कवादी बौद्धिक दृष्टि भी अभी तक नहीं पहुंची है। कविता का क्षेत्र मानव है—मानवीय सन्दर्भ, संवदेनाएँ और मूल्य। शुक्ल जी के अनुसार "ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।"[4] वह 'ज्ञान-प्रसार' जो अभी भाव-प्रसार का विषय नहीं बन सका, कविता का विषय नहीं हो सकेगा। यही कारण है कि पृथ्वी-कल्प के वे ही अंश कविता की दृष्टि से सफल हैं, जहाँ कवि की चित्तवृत्ति चिरपरिचित मानवीय सन्दर्भों में रम सकी है।

---

१. (१) इतिहासों का अन्धकार लो पिघल रहा है
नये मान-मूल्यों का सूरज निकल रहा है। **वही**, पृ० २९
(२) सुनो कि सदियाँ बोल रही हैं
मन्वन्तर पट खोल रही हैं। **वही**, पृ० २२
२. **वही**, पृ० २२ ३. **वही**, पृ० २१
४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **चिन्तामणि** (पहला भाग), पृ० १२५

पृथ्वी-कल्प के कवि का उद्देश्य यह रहा है कि वह वैज्ञानिक युग में मानव-मूल्यों के बहुमुखी विघटन का चित्र उपस्थित करे। कवि की यथार्थवादी दृष्टि मूल्यों के बिखराव पर जमी है, किन्तु बीच-बीच में कवि की आदर्शवादी दृष्टि मानव की विजय और मुक्ति का उद्घोष करती हुई 'नये मान-मूल्यों का सूरज' उदित होते देखती है और अन्त में कवि की यह आशा कि "दुनिया बदलेगी अब मन के भीतर की[1] निराशा में ही बदल जाती है। यान्त्रिक युग की इस विघटनमयी स्थिति को अंकित करने के लिए ग्रह-उपग्रहों, मशीन-मानवों और अन्य यन्त्रों की जिस रहस्यमयी विराट् पृष्ठभूमि का अंकन हुआ है, उसकी दुर्ग्राह्य विराटता और कल्पित यान्त्रिकता भावना का विषय न बन पाने के कारण पृथ्वी-कल्प के बाद के अंशों से अलग-थलग पड़ी रह गई है। इसीलिए पृथ्वी-कल्प स्वयं शिल्प के विघटन से ग्रस्त मालूम पड़ता है। उद्देश्य भी यथार्थ और आदर्श की द्विविध दृष्टियों के हलके टकराव से प्रभावान्विति की तीव्रता खो बैठा है। दोनों दृष्टियों का ऐसा संघर्ष भी कहीं नहीं दिखलाया गया है, जिससे उस मानसिक तनाव को जन्म मिलता है, जो महान् कृतियों को जन्म देता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'पृथ्वी-कल्प' का महत्त्व एक नवीन प्रयोग की दृष्टि से है। कवि ने इसकी रचना एक 'वैज्ञानिक मनोमाया' (साइण्टिफिक फैण्टेसी) के रूप में की है। कवि की उदभावना तो निश्चय ही नवीन और विविधता-पूर्ण है, किन्तु वह सहज संवेद्य सन्दर्भों में न निरूपित हो सकने के कारण वैचित्र्य-सृष्टि में परिणत हो गई है। इससे 'पृथ्वी-कल्प' के कवित्व की क्षति हुई है। संवाद-शैली के स्थान पर एकालाप की शैली का प्रयोग करने के कारण पृथ्वी-कल्प की नाटकीयता को आघात पहुँचा है। इस प्रकार नाट्य-काव्य की दृष्टि से 'पृथ्वी-कल्प' एक नवीन प्रयोग तो है, किन्तु बहुत सफल प्रयोग नहीं कहा जा सकता। अभिव्यंजना की दृष्टि से बाद के कई अंश बहुत सशक्त हैं, किन्तु प्रारम्भ में अंग्रेजी की वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली की प्रचुरता के कारण भाषा अनुभूतिहीन और अटपटी हो गई है।

---

१. 'कल्पना', अप्रैल, १९६०, पृ० ३३

अध्याय ६

सूखा सरोवर : रूप और अभिव्यंजना

(क) **सामान्य विवेचन**—सूखा सरोवर डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा रचित नाट्य-काव्य है। स्वयं कवि ने इसे 'नाटक' कहा है।[1] 'सूखा सरोवर' की रचना करने से पूर्व डॉ लक्ष्मीनारायण लाल ने 'अन्धा कुआँ', 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस' नामक गद्य-नाटकों 'ताजमहल के आँसू', 'पर्वत के पीछे' नामक एकांकी-संग्रहों, तथा 'धरती की आँखें', 'बया का घोंसला' और 'साँप', 'काले फूल का पौधा', 'रूपाजीवा' नामक उपन्यासों का प्रणयन किया।[2] इससे स्पष्ट है कि वे एक गद्यकार के रूप में ही अधिक प्रतिष्ठित रहे है। 'सूखा सरोवर' की रचना में उन्होंने अपनी सृजन-प्रतिभा के उन अव्यक्त पक्षों को उद्‌भासित किया है, जो अब तक गद्य-लेखन की तह में दबे पड़े थे, किन्तु जिनकी जड़ें लोक-जीवन की स्रोतस्विनी से अभिसिंचित होने के कारण अमोघ जीवनी-शक्ति धारण किये हुए थीं। लोक-गाथा से प्रेरित होकर ही उन्होंने 'सूखा सरोवर' की रचना की है। विषय-सामग्री और प्रेरणा-स्रोत का रचना के रूप पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर उन्होंने 'सूखा सरोवर' के काव्य-रूप के विषय में कहा है, "इसे आप 'लोकधर्मी गाथा नाट्य' की संज्ञा दे सकते हैं।"[3] प्रश्न यह है कि क्या लेखक के कथन के आधार पर 'सूखा सरोवर' को एक 'नाटक' या 'लोकधर्मी गाथा नाट्य' मानकर सन्तोष कर लिया जाय ? यह ठीक है कि इसमें नाटक के तत्त्व वर्तमान हैं, साथ ही यह भी सही है कि इसकी प्रेरणा लोकगाथा से मिली है, किन्तु इसकी मूल प्रेरणा और नाटकीयता को भी नियंत्रित और रूपायित करने वाला एक और तत्त्व है, जिसके बिना लेखक अपने कथ्य को अभिव्यक्त ही नहीं कर सकता था। इसी मूल तत्त्व की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए लक्ष्मीनारायण लाल ने कहा है, "और धर्म की बात तो यह थी कि उस जीवन-चित्र को भीतर से बाहर लाने के लिए मेरे पास कोई सम्पूर्ण माध्यम न था। नाटक का एक माध्यम मेरे हाथ था अवश्य, पर उसका वह वाहन मेरे पास न था जिसे कविता कहते हैं। उस पवित्र वाहन के बिना, गीत के उड़न खटोले, चन्दन की सेज बिना, वह मानस लोक का इन्द्रजालिक (ऐन्द्रजालिक) चित्र

---

१. लक्ष्मीनारायण लाल, **सूखा सरोवर** (उपक्रम), पृ० ६
२. **वही**, (आवरण पृष्ठ, द्वितीय पार्श्व)
३. **वही**, (आवरण पृष्ठ, प्रथम पार्श्व)

नीचे उतरता ही न था।"[1] उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि अनुभूति के उत्कर्ष की एक सीमा पर पहुँचकर गद्य-नाटक का माध्यम असमर्थ हो जाता है और उस स्थिति में कविता एक अनिवार्यता बन जाती है। इसी अनिवार्यता से विवश होकर गद्यकार को भी कवि की मनःस्थिति और उसके संवाहक उपकरणों के उदात्त स्तर तक उठना पड़ता है। तब गद्यकार गद्यकार नहीं रहता, कवि बन जाता है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने स्वयं स्वीकार किया है, "सच मैंने कभी कविता नहीं लिखी। और आज के मुक्तछन्द, मुक्तवृत्त, वृत्तगन्धी आदि को मैं क्या जानूं। मुझे तो विवशता थी, उस चित्रांकन की, जो मुझे तोड़ रहा था और जिसे स्वयं ही फूटना पड़ा मेरे इस नाटक में अजीब स्वर में, स्वर संगति में, छन्दों में, जो शायद ही शास्त्रसंगत हों।"[2] 'अकथनीय अनुभूति' का यही स्तर रचना के रूप का अन्तिम निर्धारक तत्त्व है, जिससे वशीभूत होकर 'सूखा सरोवर' के रचयिता को "गाना पड़ा है—अपने मौलिक छन्द में, अपनी लय में।"[3] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रस्तुत कृति को केवल 'नाटक' कहने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि 'नाटक' कहने भर से इसके मूल रूप-विधायक तत्त्व—कवित्व—का किंचित् भी बोध नहीं होता है। 'लोकधर्मी गाथा नाट्य' में 'नाट्य' के साथ जुड़ा हुआ विशेषण उसकी सृजन-प्रेरणा की ओर तो संकेत करता है, किन्तु उसके काव्यत्व पर उससे भी कोई प्रकाश नहीं पड़ता। वास्तविकता तो यह है कि जिस अधूरी लोक-गाथा से 'सूखा सरोवर' के रचयिता को प्रेरणा मिली थी उसका भी काव्यात्मक स्वरूप ही सर्वाधिक सजीव और प्रेरक था। डॉ० लाल ने स्वयं कहा है "पता नहीं क्यों उस लय की, कथागायन की सुधि मेरे मन में बसी रही।"[4]

जैसा कि अब तक के विवेचन से स्पष्ट है, अनुभूति की अकथनीयता और उसका असामान्य माध्यम—कविता—ही 'सूखा सरोवर' के उस स्वरूप के लिए उत्तरदायी है जो उसे एक सामान्य 'गद्य-नाटक' से पृथक् करता है। अतः उसे 'नाट्य-काव्य' कहना ही सर्वथा युक्तियुक्त और न्यायपूर्ण है।

(ख) **रूप तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से पर्यालोचन**—नाट्य-काव्य के विभिन्न तत्त्वों—कथानक, चरित्र-चित्रण, संवाद आदि के आधार पर 'सूखा-सरोवर' के सर्वांगीण पर्यालोचन के उपरान्त यह निर्णय करना सुगम होगा कि सूखा सरोवर किस कोटि का 'नाट्य-काव्य' है।

(१) **कथानक**—जैसा कि कहा जा चुका है, 'सूखा सरोवर' के कथानक की

---

१. वही, (उपक्रम), पृ० ६
२ वही, (उपक्रम), पृ० ६
३. वही, (उपक्रम), पृ० ६
४. वही, (उपक्रम), पृ० ५

प्रेरणा डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल को एक लोक-गाथा से मिली है।[1] लोक-गाथा के 'सरोवर' के सूखने के प्रसंग को कवि ने प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत करके उसके इर्द-गिर्द एक नये कथानक की उद्भावना की है। सारा कथानक तीन अंकों में विभक्त है। पहला अंक एक वृद्ध के प्रवेश से प्रारम्भ होता है, जिसे राजा ने यह सामान्य सत्य कहने पर कि राजा भी हमारी तरह व्यक्ति है, बन्दी बना लिया था।[2] वह नगरी के सरोवर के अचानक सूख जाने पर दुःखी होता है। वह राज-पुरोहित तथा अन्य राजकीय कर्मचारियों को सरोवर को सुखाने के लिए दोषी घोषित करता है। राजपुरोहित उसे खींचकर बन्दीगृह की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है, तभी एक मुक्ति-प्राप्त बन्दी पानी के अभाव में बन्दीगृह के टूटने की सूचना देता है। पुरोहित घबराकर वृद्ध को छोड़ देता है। मुक्त बन्दी वृद्ध को सरोवर की ओर ले जाता है। सूखे सरोवर के तट पर दुःखी और आश्चर्यान्वित लोगों की भीड़ एकत्र हो जाती है। तभी राज-पुरोहित छिपे-छिपे एक वृक्ष के ठूँठ की ओट से घोषणा करता है "मैं इस नगरी का धर्मराज हूँ। यह सरोवर इस लिए सूखा है, क्योंकि तुम लोग राजा को व्यक्ति मानकर उससे तर्क करने लगे।" इसी बीच एक संन्यासी (अन्तराल दृश्य का असली राजा) आकर पुरोहित के प्रपंच का रहस्योद्घाटन करता है। पुरोहित छिप कर भागता है; लोग उसे पकड़ने दौड़ते हैं।[3] संन्यासी उन्हें रोकता है। लोगों के पूछने पर संन्यासी अपना परिचय देते हुए कहता है कि यही नगरी उसकी जन्म-भूमि है और उसका जीवन ही वह सरोवर है। संन्यासी के अनुसार "जड़ नहीं था वह सरोवर, चेतन था अतिचेतन कोई।"[4] लोगों को सरोवर के सूखने का कोई कारण समझ में नहीं आता है। वे इस विषय में राजा (अन्तराल दृश्य का छोटा राजा) से भी अनेक बार पूछ चुके हैं, किन्तु कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला।

---

१. गाथा संक्षेप में इस प्रकार है—
एक राजा की नगरी में एक सरोवर था। एक पूनम की रात में जब राजा सरोवर में नौका-विहार कर रहा था, अचानक सरोवर सूख गया। राजा-प्रजा सभी सरोवर की शरण में विलाप करने लगे। सरोवर के देवता ने प्रकट होकर कहा "अगर कोई सतवन्ती नार मेरे सरोवर में मंगलघट डाले तो मैं फिर पानी दूंगा।" देवता के अदृश्य होने पर रानी ने अपना घट सरोवर में डाला पर सरोवर में पानी न आया। राजा ने सतहीन रानी को मरवा दिया। फिर रानी की चेरी ने सरोवर में जैसे ही घट डाला सरोवर जल से भर गया। राजा ने उसे रानी बना लिया और सरोवर में फिर जल-विहार प्रारम्भ हुआ। तब सरोवर की राजहंसिनी के रूप में पहली रानी राजा को सुना-सुनाकर एक गीत गाती थी—"रात भर निंदियाँ न आवै·····।" दे०, वही, (उपक्रम), पृ० ४

२. दे०, वही, पृ० १४

३. दे०, वही, पृ० २२

४. दे०, वही, पृ० २६

संन्यासी उन्हें इस सम्बन्ध में राजा से मिलने का आश्वासन देता है। अचानक वही वृद्ध सरोवर की ओर से प्रविष्ट होता है और विक्षिप्त की भाँति बड़बड़ाता हुआ चला जाता है। लोग उसकी ऐसी विक्षिप्तावस्था पर दुःखी होते हैं। संन्यासी लोगों को बतलाता है कि सरोवर को सूखते हुए और नीर देवता को धरती में धँसते हुए उसने स्वयं देखा था। इसी समय तीन व्यक्तियों के साथ नगरी का राजा प्रवेश करता है और वह संन्यासी के निर्देश के अनुसार प्रजा के साथ सरोवर की शरण में जाता है। संन्यासी की स्तुति से सरोवर का देवता प्रकट होता है। वह अपने खाली घट उलट कर सब लोगों को दिखला देता है कि सभी लोगों की प्यास उसमें संचित है।[1] इसी समय लोगों की दृष्टि से बचकर राजा चुपचाप भाग जाता है। सरोवर का देवता लोगों को मर्यादा का सन्देश देता है। वह अपनी मर्यादा के विषय में बतलाता है कि इस नगरी के पहले राजा को उसने (देवता ने) यह वचन दिया था कि यदि इस जीवन में कोई आत्महत्या करेगा तो वह (देवता) सरोवर का सारा जीवन वापस ले लेगा।[2] नगरी के लोग 'आत्महत्या' का अर्थ नहीं समझ पाते, सरोवर का देवता अश्रुपूरित नेत्रों से नगरी की राजकुमारी द्वारा उसी सरोवर में डूब कर आत्महत्या करने की घटना सुनाता है और बतलाता है कि सरोवर के सूखने का कारण यही दुर्घटना है। नगरी के राजा को इस दुर्घटना का ज्ञान था, इसीलिए वह चुपचाप भाग गया था। इसी बीच राजकुमारी का प्रेमी 'पुरुष' घायल अवस्था में अपनी प्रिया की खोज करता हुआ आता है और सरोवर के देवता को अपनी प्रिया की मृत्यु के लिए दोषी ठहराता है। नगर के लोग प्रतिहिंसा से अंधे होकर उसे मारने को झपटते हैं। संन्यासी उन्हें ऐसा करने से रोकता है। सरोवर का देवता खिन्न होकर चला जाता है। संन्यासी अविवेकी लोगों को समझाता है कि नगर का राजा ही सरोवर के सूखने का मूल कारण है जो इस पुरुष से घृणा करता रहा और राजकुमारी की आत्मा के विरुद्ध अन्य पुरुष के साथ उसका विवाह करना चाहता था। अंक के अन्त में, मंच पर अकेला संन्यासी रह जाता है जो अपने अन्तस् के घावों की स्मृति से व्याकुल हो ग्रन्थियों और तनावों की सीमा का अतिक्रमण करके जीवन को मर्यादित सरोवर के समान मर्यादानिष्ठ बनाने की प्रतिज्ञा करता है।[3]

दूसरे अंक के प्रारम्भ में दो सैनिक खाली सिंहासन के निकट पहरा देते दिखलायी देते हैं। नगरी का असली राजा प्रवेश करता है। पूछने पर उसे ज्ञात होता है कि वे दोनों सैनिक उसके लघु भ्राता (छोटे राजा) की आज्ञा से सिंहासन के निकट पहरा दे रहे हैं। तभी अस्त्रों से सुसज्जित छोटा राजा प्रवेश करता है। वह 'छोटा राजा' और 'लघु भ्राता' जैसे लघुतासूचक सम्बोधनों से क्षुब्ध होता है और स्वयं को ही सिंहासन का वास्तविक अधिकारी घोषित करता है। असली राजा उसके साथ तर्क

---

१. दे०, वही, पृ० ३५
२. दे०, वही, पृ० ३८
३. वही, पृ० ४६

करना निरर्थक समझ कर अन्तःपुर की ओर चला जाता है। छोटा राजा उसकी धार्मिक वृत्ति का उपहास करता हुआ सिंहासन पर बैठ जाता है।[1] दोनों प्रहरी चले जाते हैं। छोटा राजा उन्हें वापस बुलाता है और बिना आज्ञा पहरे से हटने के अपराध के सम्बन्ध में उन्हें क्षमा-याचना करने के लिए बाध्य करता है। वह (असली) राजा को ध्यान दिलाता है कि मरते समय पिता उसे ही अभिषिक्त कर गये थे। असली राजा, जो कि विनम्रतावश कभी सिंहासन पर नहीं बैठा है, प्रजा को ही सर्वस्व मानता है।[2] असली राजा के चले जाने पर छोटा राजा दो सैनिकों के साथ प्रवेश करता है और पहले दोनों प्रहरियों को भगाकर उनके स्थान पर नये सैनिकों को सिंहासन की रक्षा के निमित्त नियुक्त करता है। दोनों अपदस्थ प्रहरी प्रतिहिंसा की ज्वाला में जलते हुए चुपचाप चले जाते हैं। छोटा राजा नव-नियुक्त दोनों सैनिकों को खड्ग देता है और अन्तःपुर में जाकर सोते हुए राजा की अविलम्ब हत्या करने का आदेश देता है।[3] सैनिकों के चले जाने पर वह स्वयं भी खड्ग सँभालकर अन्तःपुर की ओर चल देता है और मार्ग में आते हुए राजा पर खड्ग से भयानक प्रहार करता है। असली राजा और छोटे राजा के मध्य के द्वन्द्व युद्ध में असली राजा छोटे राजा के सभी प्रहारों को निष्क्रिय करके उसे उठाकर सिंहासन पर पटक देता है, और राज-कार्य से उदास हो सब कुछ त्याग कर वन में चला जाता है। इसी समय दोनों बहिष्कृत प्रहरी सिंहासन पर अचेतावस्था में पड़े हुए छोटे राजा के वध का प्रयत्न करते हैं, किन्तु बड़े राजा की रानी (राजमाता) तत्क्षण वहाँ पहुँचकर उन्हें ऐसा करने से रोक देती है।[4] राजमाता से राजा के संन्यासी होने की बात सुनकर सैनिकों की प्रतिशोध-भावना और भी प्रबल हो उठती है और वे पुनः अचेत पड़े छोटे राजा पर झपटते हैं। रानी इसे संन्यासी राजा के आदर्शों की हत्या कह कर उन्हें ऐसा करने से रोक देती है। छोटा राजा सचेत होने पर अपनी राज-सत्ता पर मन ही मन गर्व करता है। पुरोहित के आने पर वह राज्य में अपने विरुद्ध चलती हुई ठण्डी क्रान्ति पर चिन्ता प्रकट करता है और उसे सूचित करता है कि अपने स्वत्व की रक्षा और निरंकुश सत्ता की स्थापना के लिए उसने मैनापुरी के अजेय राजा से सन्धि कर ली है। वह पुरोहित का ध्यान उस स्थिति की ओर आकृष्ट करता है, जब उसके सिंहासनारूढ़ होने पर नगरी की आधी प्रजा उसकी सैन्य-शक्ति को चुनौती दे रही थी।[5] पुरोहित राजा के समर्थन में राजकुमारी के प्रसंग का स्मरण दिलाता है, किन्तु छोटा राजा उसे अनपेक्षित समझकर टालना चाहता है। उसी क्षण राजकुमारी उपस्थित होकर राजा की इच्छा के विरुद्ध उस सारे प्रसंग का ब्यौरा प्रस्तुत कर देती है,

---

१. वही, पृ० ५१
२. दे०, वही, पृ० ५३
३. दे०, वही, पृ० ५७
४. दे०, वही, पृ० ६४
५. दे०, वही, पृ० ७४

जिसमें गढ़ी के राजा ने राज-बल से उसका डोला छीनना चाहा था, किन्तु नगरी की मुट्ठी भर प्रजा ने एक पराक्रमी पुरुष के नायकत्व में उसके सब प्रयत्न विफल कर दिये थे। राजा राजकुमारी को डाँटता हुआ उसे वहाँ से जाने के लिए कहता है, किन्तु उसके न जाने पर पुरोहित को साथ लेकर स्वयं ही चला जाता है।[1] इसी समय राजमाता के आने पर राजकुमारी सिसक कर रोती हुई उसे राजा के उस अशोभनीय निर्णय से अवगत कराती है जिसके अनुसार वह मैनापुरी के राजा के साथ केवल सैन्य-सन्धि ही नहीं कर रहा, वरन् उसके साथ उसका (राजकुमारी का) विवाह भी रचा रहा है। राजमाता राजा के इस निर्णय को सुनकर मूर्च्छित हो जाती है। तभी सैन्य वेश में पुरुष (राजकुमारी का प्रणयी) प्रस्तुत होता है और राजमाता की चेतना लौटाने का प्रयत्न करता है। राजमाता सचेत होकर मंगल-थाल सजाकर लाती है और राजकुमारी का मंगल-विवाह सम्पन्न करने के निमित्त उसके माथे पर मंगल-तिलक लगाना चाहती है। किन्तु उसी क्षण पुरोहित के साथ राजा प्रवेश करता है और सारे मांगलिक आयोजन को छिन्न-भिन्न कर देता है।[2]

तीसरा अंक सरोवर के तीर पर स्थित संन्यासी (असली राजा) की आत्म-भर्त्सना से प्रारम्भ होता है। तभी वृद्ध प्रवेश करता है और संन्यासी को ही सारी विसंगतियों का मूल कारण घोषित करता है। वृद्ध के अनुसार उसीकी निर्बलता और निजपरता ने उसे यथार्थ के प्रति निष्क्रिय बनाये रखा और अन्त में संन्यास-ग्रहण के रूप में अहं की गुफा में धकेल दिया। तभी पागल प्रवेश करता है और विक्षिप्तता 'अहंकार, निर्बलता से निर्मित तत्कालीन युग-बोध पर प्रकाश डालता है। वृद्ध, संन्यासी तथा पागल के चले जाने के उपरान्त सरोवर की छाती पर प्रिय-मिलन के लिए आतुर किसी विरहिणी का करुण स्वर गूँजता हुआ सुनाई पडता है।[3] तभी पुरोहित के साथ नगरी का राजा प्रवेश करता है और वह पुरोहित को उन करुण स्वरों में से अर्थ खोजने के लिए सरोवर की ओर भेजता है। ज्योंही पुरोहित सूखे सरोवर में उतरने के लिए आगे बढ़ता है, अंधेरे में छिपा हुआ वृद्ध उसके गले को दबोच लेता है। जैसे ही वृद्ध पुरोहित की हत्या करके सरोवर से निकलता है और राजा के सामने उसकी घोषणा करता है, राजा कृपाण से उसका वध कर देता है। पागल प्रवेश करके दोनों मृतकों की हिंसा-प्रतिहिंसा की वृत्ति पर प्रकाश डालता है। उधर नगर के स्त्री-पुरुषों को राजकुमारी की भटकती हुई आत्मा का वह करुण गीत सुनाई पड़ता है, जिसमें प्रिय मिलन की आकुलता भरी है। अचानक ही राजा प्रवेश करता है और संन्यासी को 'छद्मभेषी' और पाखण्डी घोषित करते हुए उसे ही पुरोहित और वृद्ध की हत्या का मूल कारण ठहराता है। संन्यासी तत्क्षण प्रकट होकर राजा के कथन का प्रतिवाद करता है और नगरी के निवासियों के प्रयास से

---

१. वही, पृ० ७७
२. दे०, वही, पृ० ८२
३. दे०, वही, पृ० ८६

दम तोडने तथा राजकुमारी की भटकती हुई आत्मा के करुण चीत्कार के लिए उसे ही दोषी सिद्ध करता है।[1] राजा राजकुमारी की आत्मा के चीत्कार को संन्यासी का छल घोषित करता है, जबकि नगर-निवासी उसे सरोवर का शाप मानते हैं। जब संन्यासी शाप का कारण पूछता है तो सब मौन रह जाते हैं। उस समय राजकुमारी सम्मोहनकारी वेश-भूषा में मूखे सरोवर से प्रकट होती है और संन्यासी के प्रश्न का उत्तर देना चाहती है। राजा सैनिकों को, राजकुमारी को बन्दी बनाने का आदेश देता है, किन्तु सैनिक ऐसा करने में असमर्थ रहते हैं। तभी राजा के सैनिक आकर राजा को 'पुरुष' के बन्दी बनाये जाने का समाचार देते हैं। राजकुमारी की आत्मा रुदन कर उठती है। कुछ क्षणों में बुरी तरह से घायल, लँगड़ाता हुआ 'पुरुष' प्रविष्ट होता है। मूर्च्छित आत्मा पुनः चेतना प्राप्त करती है, किन्तु दोनों एक-दूसरे का मुँह नहीं देख पाते।[2] दोनों में परस्पर प्रेमालाप चलता रहता है। आत्मा के विलुप्त हो जाने पर पुरुष विह्वल हो उठता है। संन्यासी उसे नगरी के लोगों की हिंसात्मक भावना से अवगत कराते हुए भाग जाने का परामर्श देता है और उसकी बाँह पकड़कर उसे अदृश्य कर देता है। नगर के हिंस्र लोग प्रवेश करते हैं और संन्यासी पर यह आरोप लगाते हैं कि वह पुरुष से, भटकती हुई आत्मा से और सरोवर के देवता से—इन तीनों से मिला हुआ है।[3] संन्यासी इस आरोप के प्रत्युत्तर में कहता है कि वह उन असंख्य लोगों से भी मिला हुआ है जो प्यास से मर चुके हैं और निरन्तर मर रहे हैं। नगरी का राजा संन्यासी का यह वचन सुनते ही भाग जाता है। संन्यासी नगरी के लोगों को सम्बोधित करते हुए उनसे सरोवर के सूखने का कारण पूछता है। एक व्यक्ति उत्तर में नगरी के राजा को दोषी घोषित करता है। तभी पागल प्रकट होकर उस संन्यासी को ही सभी विसंगतियों का मूल घोषित करता है, जिसने अपने झूठे आदर्शों तथा त्याग से प्रजा को धोखा दिया और निरंकुश राज-सत्ता को जन्म दिया तथा जिसके कारण राजमाता तड़पकर मर गई और नगरी की रक्षा के नाम पर राजकुमारी बिकते-बिकते बची।[4] पागल की उक्ति सुनकर संन्यासी उसके चरणों में छिप जाना चाहता है। दोनों अदृश्य हो जाते हैं। नगरी के लोगों को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह संन्यासी वही राजा है जो नगर का प्रतिनिधि था। संन्यासी 'पानी की माँग' करते हुए नगर-निवासियों को सरोवर की शरण में जाकर पुनः नई मर्यादा की माँग करने को प्रेरित करता है। सभी सरोवर से मर्यादा की याचना करते हैं और उसे निभाने का वचन देते हैं।[5] उसी क्षण सरोवर का देवता प्रकट होकर अपनी छाती पर सहसा उद्भासित

---

१. दे०, वही, पृ० ९२-९३
२. दे०, वही, पृ० ९८-९९
३. दे०, वही, पृ० १०४
४. दे०, वही, पृ० १०६-१०७
५. दे०, वही, पृ० ११०

राजकुमारी और उसके प्रेमी की आहत आत्माओं की ओर सबका ध्यान आकृष्ट करता है। किन्तु इस सत्य का किसी ने भी साक्षात्कार नहीं किया था। सरोवर का देवता इस शर्त पर पानी देने की माँग को स्वीकार कर लेता है कि सरोवर की घाटी में किसी जन-प्रतिनिधि की बलि दी जाए, जिसकी आत्मा पहरा देकर सरोवर के पानी की रक्षा करे, जिससे कभी कोई उसमें डूबकर आत्महत्या न करे।[1] जैसे ही नगरी के लोग बलि का प्रस्ताव लेकर राजा के पास जाते हैं, वह मैनापुरी के राजा की शरण में भाग जाता है। अचानक ही पागल प्रवेश करता है और सरोवर के सूनेपन में आत्म-बलि देता है, किन्तु सरोवर में पानी नहीं आता। तभी संन्यासी की आत्मा में राजकुमारी, राजमाता, प्यास से मरे हुए असंख्य लोगों और पागल (प्रेमी) की बलि से सत्य का उदय होता है और वह सच्चे जन-प्रतिनिधि के रूप में बलि देने को उद्यत होता है। सरोवर पानी से भर जाता है। संन्यासी नगर-निवासियों के समक्ष इस सत्य का उद्‌घाटन करता है कि पुरुष की बलि से ही सरोवर में पानी आया है।[2] सभी नगर-निवासी नवीन सत्य पाकर प्रसन्न हो जाते हैं और नई मर्यादा, नये जीवन की उपलब्धि पर सरोवर का पानी अंजुलि में लेकर प्रतिज्ञा करते हैं कि अब कभी सरोवर को सूखने न देंगे। धीरे-धीरे सरोवर की कमल-शय्या पर नीला प्रकाश फैलता है और उस रम्य ज्योति में राजकुमारी की आत्मा से पुरुष की आत्मा का मिलन होता है।[3]

सूखा सरोवर का कथानक उत्साद्य है। कवि ने 'सूखा सरोवर' के प्रतीक को चरितार्थ करने के उद्देश्य से कथानक का ताना-बाना तैयार किया है। पूरे कथानक में क्रमिक विकास दिखलाई नहीं पड़ता है। कहानियों और उपन्यासों में कौतूहल-वृद्धि के उद्देश्य से अनेक बार कथानकों की योजना इस ढंग से की जाती है कि अन्त की ओर की घटनाओं को प्रारम्भ में और प्रारम्भिक घटनाओं को मध्य में या अन्त में रखा जाता है। यह पद्धति उसी स्थिति में अनुसरणीय है जब इससे मूल कथानक के प्रभाव में वृद्धि हो। सूखा सरोवर में भी इस पद्धति का अनुसरण किया गया है, किन्तु उससे अपेक्षित प्रभाव की सिद्धि में कोई सहायता नहीं मिली है। इसके विपरीत कथानक का गठन उखड़ा-उखडा प्रतीत होता है। यदि कवि दूसरे अंक को प्रारम्भ में और प्रारम्भ के अंक को मध्य में रखता तो कथानक में एक स्वाभाविक तारतम्य आ सकता था। दूसरी बात यह है कि कवि के मन पर 'सूखा-सरोवर' का प्रतीक सदैव हावी रहा है। कवि ने पहले 'सूखा सरोवर' के प्रतीक को ग्रहण किया, बाद में उसके अनुरूप कथानक और कथ्य की उद्‌भावना की है। रचना प्रक्रिया-सम्बन्धी यह तथ्य प्रस्तुत नाट्य-काव्य के प्रारम्भ में दी गई भूमिका (उपक्रम) से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि

---

१. दे०, वही, पृ० ११३
२. दे०, वही, पृ० १२०
३. दे०, वही, पृ० १२४

कवि को कथानक के ब्यौरे 'सूखा-सरोवर' के प्रतीक को ध्यान में रखकर गढ़ने पड़े हैं। ऐसी स्थिति में सारे कथानक का मनगढ़न्त प्रतीत होना स्वाभाविक ही है। बार-बार 'सूखा-सरोवर' की रट लगाने पर भी अनेक स्थलों पर 'सूखा सरोवर' स्थूल अभिधार्थ से ऊपर नहीं उठ सका है। यों भी किसी प्रतीक की बार-बार आवृत्ति से उसकी अर्थोष्मा लुप्त हो जाती है। प्रतीकात्मकता के फेर में पड़कर ही कवि कथानक के ब्यौरों में पारस्परिक संगति बैठाने में भी पूर्णतः सतर्क नहीं रह सका है। कवि ने संघर्ष उत्पन्न करने के उद्देश्य से अन्तराल दृश्य में 'बड़ा राजा' और 'छोटा राजा' नाम से दो राजाओं की कल्पना की है। दोनों ही भाई हैं। बड़ा राजा प्रजा द्वारा चुना हुआ प्रतिनिधि है। छोटे राजा को उसका पिता ही अभिषिक्त कर गया था। यह समझ में नहीं आता है कि किस योग्यता के आधार पर पिता ने बड़े पुत्र को छोड़कर छोटे पुत्र को अभिषिक्त किया ? यदि वह वास्तव में योग्य था तो फिर जनता ने उसको छोड़कर उसके बड़े भाई को अपना प्रतिनिधि क्यों चुना ? इस प्रकार की मनगढ़न्त सम्बन्ध-योजना से झूठे संघर्ष की सृष्टि होती है। संघर्ष के झूठेपन का प्रमाण यह है कि बड़ा राजा संघर्ष में विजयी होकर भी अचानक ही सर्वस्व त्यागकर संन्यास ग्रहण कर लेता है और दौड़कर सरोवर के किनारे पहुँच जाता है। इसी प्रकार की असंगत सम्बन्ध-योजना राजकुमारी, राजमाता और छोटे राजा के मध्य है। छोटा राजा अपनी पुत्री के प्रेमी पुरुष से क्यों घृणा करता है ? सैन्य-शक्ति की वृद्धि का एक मात्र उपाय वह मैनापुरी के राजा से सन्धि करना ही क्यों मानता है ? इस सन्धि के बदले में वह अपनी पुत्री के विक्रय जैसा बड़ा मूल्य क्यों चुकाना चाहता है ? फिर राजमाता, जो कि बड़े राजा की पत्नी होने के कारण राजकुमारी की माता नहीं है, राजकुमारी के माता-पिता की अनुमति के बिना ही कैसे राजकुमारी का विवाह-संस्कार उसके प्रेमी पुरुष के साथ सम्पन्न कर देना चाहती है ? यद्यपि इसमें राजमाता के चरित्र की उदात्तता परिलक्षित होती है, तथापि यदि राजकुमारी को राजमाता की पुत्री के रूप में प्रस्तुत किया जाता, तो उसके प्रति छोटे राजा और राजमाता दोनों के व्यवहार में यथार्थताजन्य स्वाभाविकता आ जाती।

कथानक में यथार्थ घटनाओं की अपेक्षा आकस्मिकताओं का अधिक समावेश है। कुछ स्थलों को छोड़कर अधिकतर स्थलों पर पात्र अचानक ही आ उपस्थित होते हैं। पात्र के प्रवेश के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करने की चिन्ता किये बिना आवश्यकतानुसार उसे तत्क्षण प्रस्तुत कर दिया गया है। कथानक में अलौकिक और रहस्यात्मक घटनाओं का भी अभाव नहीं है। राजकुमारी की भटकती हुई आत्मा सुन्दर परिधान धारण करके अपने प्रेमी पुरुष से प्रेमालाप करती है, किन्तु आश्चर्य है कि न तो वह अपने पुरुष को देख पाती है और न पुरुष ही प्रिया के मुख को देख पाता है।[1] इसी प्रकार राजकुमारी के डूबने से सरोवर का सूखना

---

१. दे०, वही, पृ० ६८-६६

और पुरुष द्वारा आत्मबलि देने से सरोवर में पानी का उमड़ आना विचित्र मालूम पड़ता है। कथानक के अन्त में "रम्य ज्योति में राजकुमारी की आत्मा से पुरुष की आत्मा का मिलन" भी घटना-वैचित्र्य और रहस्यात्मकता का उदाहरण है।[1] सरोवर के देवता की उद्‌भावना भी इसी प्रकार की है।

यदि कवि अपने द्वारा अधिगत किसी सत्य या कथ्य को लेकर चलता और उसी के मध्य से अपने कथानक के पात्रों और परिस्थितियों का निर्माण करता तो आरोपित और यथार्थ घटनाओं की अनावश्यक सृष्टि करने से बच जाता। कवि की प्रेरणा का स्रोत एक तो लोक-गाथा का सूखा सरोवर रहा है और दूसरा स्रोत धर्मवीर भारती-कृत 'अन्धायुग' रहा है, जिसका कवि ने उल्लेख करना उचित नहीं समझा है। अन्धायुग में अनेक बार प्रयुक्त 'अन्धा' विशेषण का डॉ० लक्ष्मीनारायण-लाल ने भी कई बार प्रयोग किया है जैसे :—

(१) करलो अन्धी प्रतिहिंसा[2]

(२) मत दो अन्धी यातना[3]

(३) अन्धी लँगड़ी यातना के दर्द में कराहती।[4]

यह ही नहीं, 'अन्धायुग' के कुछ प्रसंगों का भी स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। जिस प्रकार अन्धायुग में दो प्रहरियों का समावेश किया गया है, उसी प्रकार सूखा सरोवर में भी चार सैनिक प्रहरियों का समावेश किया गया है। यह ही नहीं, उनके संवादों पर भी अन्धायुग के प्रहरियों के संवादों की छाया है।[5] नगर के व्यक्तियों के संवादों पर भी अन्धायुग के प्रहरियों के वार्तालाप का प्रभाव है। अन्धायुग के प्रहरी कहते हैं :—

"केवल वहन करते थे आज्ञाएँ हम अन्धे राजा की
नहीं था हमारा कोई अपना खुद का मत
कोई अपना निर्णय"[6]

यही बात 'सूखा सरोवर' का चौथा व्यक्ति कहता है :—

हम तो परम्परा हैं
आज्ञाओं पर चलते हम
दण्ड संकेत है हमारा।
अपनी गति हमने
राजा को सौंप दी है"[7]

---

१. दे०, वही, पृ० १२४
२. वही, पृ० ४३
३. वही, पृ० ४४
४. वही, पृ० १११
५. दे०, वही, पृ० ४७-४८ तथा धर्मवीर भारती, अन्धायुग, पृ० १२
६. धर्मवीर भारती, अन्धायुग, पृ० २७
७. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, सूखा सरोवर, पृ० २७

वृद्ध द्वारा गला दबोचकर पुरोहित की हत्या करना[1] अश्वत्थामा द्वारा गला घोंटकर वृद्ध याचक की हत्या करने के प्रसंग[2] की छाया मात्र है। जिस प्रकार अन्धायुग का अश्वत्थामा कहता है :—

"मैंने नहीं मारा उसे
मैं तो चाहता था वध करना भविष्य का
पता नहीं कैसे वह
बूढ़ा मरा पाया गया।"[3]

उसी प्रकार 'सूखा सरोवर' का वृद्ध कहता है :—

मैंने पुरोहित की हत्या नहीं की
केवल कण्ठ घोटा मैंने[4]

जिस प्रकार अन्धायुग में कौरव-पाण्डव युद्ध में पाण्डवों के विजयी होने पर भी युधिष्ठिर सब कुछ छोड़कर वन को चले जाते हैं, उसी प्रकार सूखा सरोवर में असली राजा सत्ता-संघर्ष में छोटे राजा को पराजित करके भी संन्यास ग्रहण कर लेता है। अन्धायुग की भाँति ही सूखा सरोवर में भी युद्ध, प्रतिहिंसा, आत्महत्या, मर्यादाहीनता और विघटन आदि की समस्याओं को कथानक में गुम्फित किया गया है।[5] किन्तु कथानक का कल्पनारंजित या रोमानी वातावरण इन समस्याओं को उनकी पूर्ण तीक्ष्णता के साथ उभारने में बाधक रहा है।

(२) **चरित्र-चित्रण**—सूखा सरोवर के प्रमुख पात्र हैं संन्यासी (अन्तराल दृश्य का असली राजा) वृद्ध, नगरी का राजा (अन्तराल दृश्य का छोटा राजा) पुरोहित, पागल, राजमाता, राजकुमारी, सरोवर का देवता तथा सैनिक आदि। **संन्यासी** अपने मूल रूप में नगरी का राजा था, जनता का चुना हुआ प्रतिनिधि होने के कारण उसे जनता का विश्वास प्राप्त था। वह राजा होते हुए भी स्वयं को प्रजा-तुल्य समझता है और इसीलिए विनम्रतावश सिंहासन पर भी नहीं बैठता है।[6] वह सिंहासन की परिकल्पना करने वाले व्यक्ति को मानवता का घोर शत्रु मानता है।[7] विनम्र होते हुए भी वह शक्तिहीन नहीं है। छोटे राजा के साथ द्वन्द्व-युद्ध में वह अद्भुत साहस और वीरता का परिचय देता है। वह "जा मैंने अभिषिक्त किया तुझ को" कहकर छोटे राजा को राजसिंहासन सौंप कर संन्यास ग्रहण कर लेता है, किन्तु उसकी इस त्याग-भावना की तह में एक जन-सेवी शासक के दायित्वों से पलायन की प्रवृत्ति

---

१. दे०, **वही**, पृ० ८७-८८
२. दे०, धर्मवीर भारती, **अंधायुग**, पृ० ४३-४५
३. **वही**, पृ० ४५
४. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, **सूखा सरोवर**, पृ० ८८
५. दे०, **वही**, पृ० ३६, ३८, ४२, ४३, ५७, ५९-६२, ६६, ११०, ११३, ११५
६. दे०, **वही**, पृ० ५२
७. दे०, **वही**, पृ० ५४

निहित है। इसीलिए वह सब दायित्वों को 'बोझ' मानता है।[1] संन्यासी के रूप में वह 'धर्मराज' का ढोंग रचने वाले पुरोहित की पोल खोलता है।[2] नगरी के राजा को प्रजा के साथ मिलकर सरोवर के देवता की अर्चना करने का निर्देश देता है।[3] तीसरे अंक के प्रारम्भ में वह आत्म-ग्लानि की आग में जलता हुआ दिखलायी पड़ता है। जब 'वृद्ध' उसे स्वार्थी, निर्बल और पलायनवादी कहता है, तो वह चुप रहकर अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। वह नगरी के जीवन में पुनः नयी मर्यादा और मूल्यों की स्थापना करने के लिए आत्म-बलि तक देने को प्रस्तुत हो जाता है। **राजमाता** के चरित्र में ममता, उदारता, स्पष्टवादिता आदि गुण प्रमुख हैं। वह राजकुमारी की माता न होते हुए भी उसके प्रति ममतामयी है, और उसे उसके पिता के दुराग्रह का शिकार होने से बचाने के लिए गोपनीय ढंग से उसके प्रेमी पुरुष के साथ उसके मंगल-विवाह का आयोजन करती है।[4] **छोटा राजा** दम्भी, महत्त्वाकांक्षी, सत्ता-लोलुप, अनुत्तरदायी, निर्मम और पतित है। बड़े भाई की हत्या का षड्यन्त्र, मैनातुरी के राजा के साथ हुई सैन्य-सन्धि के बदले में उसके साथ राजकुमारी का बलपूर्वक विवाह करने की कुचेष्टा, प्रजा के प्रति दायित्वों के निर्वाह से विमुखता, राजमाता के प्रति दुर्व्यवहार आदि ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो उसकी धूर्तता और विकृति के प्रमाण हैं। **पुरोहित** पाखण्डी स्वार्थी और धूर्त है। '**वृद्ध**' सत्प्रवृत्तियों का समर्थक, स्पष्टवादी और निडर है। राजकुमारी पवित्र प्रेम और सतीत्व की प्रतीक है। उसमें प्रेम की अनन्यता की सात्त्विक ज्योति सर्वत्र दीप्तिमान है। जहाँ उसमें अपने प्रेमी के प्रति एकान्त समर्पण का भाव है, वहाँ साथ ही अन्याय का प्रतिरोध करने की भी दृढ़ता है। उसकी आत्महत्या में प्रेम की एकनिष्ठता के साथ अन्याय के विरुद्ध तीव्र आक्रोश की भी अभिव्यक्ति हुई है।

कवि ने अपने पात्रों को प्रतीकात्मक रूप देने की चेष्टा की है। उन्होंने सम्भवतः इसीलिए अपने किसी भी पात्र को कोई नाम नहीं दिया है। राजकुमारी, राजमाता, छोटा राजा, बड़ा राजा, वृद्ध, पुरुष, सैनिक, पुरोहित आदि सभी पात्र पद, आयु, व्यवसाय तथा लिंग के आधार पर ही जाने जा सकते हैं। किसी पात्र को केवल 'वृद्ध' या 'पुरुष' कहना कितना अपर्याप्त है, इसकी ओर कवि ने ध्यान नहीं दिया। 'छोटा राजा', 'बड़ा राजा' के स्थान पर जहाँ केवल 'राजा' का प्रयोग हुआ है, वहाँ यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि कवि का अभिप्राय कौन से राजा से है। दूसरे अंक में कवि ने 'राजा' शब्द दोनों के लिए ही प्रयुक्त किया है।[5]

---

१. दे०, वही, पृ० ६३

२. दे०, वही, पृ० २२

३. दे०, वही, पृ० ३३

४. दे०, वही, ८०-८२

५. दे०, वही, पृ० ५९-६२, ७१-७७

वृद्ध, राजमाता, पुरुष, पुरोहित आदि पात्रों के व्यक्तित्व 'बड़ा राजा' और 'छोटा राजा' से अधिक जीवन्त और अन्वितियुक्त हैं। जिस प्रकार बड़े राजा के संन्यासी बनने से उसके व्यक्तित्व में एक स्पष्ट दरार आ गयी है, उसी प्रकार छोटे राजा के व्यक्तित्व में भी अन्विति का अभाव है। वह धूर्त और दम्भी होते हुए भी संन्यासी और जनता के आह्वान पर एक बार सरोवर के देवता के समक्ष उपस्थित होता है और प्रजा के साथ मिलकर अर्चना करता है तथा दूसरी बार बलि के निमित्त बुलाये जाने पर भी सौजन्यपूर्वक उपस्थित होता है, किन्तु दोनों ही बार भाग खड़ा होता है। जघन्य उपायों से अर्जित जिस राज्य के लिए उसके मन में इतनी लिप्सा थी, उसे इतनी सरलता से छोड़कर मैनापुरी के राजा की शरण में भाग जाना कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है। इससे तो यह कहीं अधिक स्वाभाविक होता कि वह संन्यासी, सरोवर के देवता और जनता की माँगों की पूर्ण उपेक्षा करता, वरन् इससे भी बढ़कर उन्हे दण्ड देने की व्यवस्था करता और इस प्रकार जनता के मन में विक्षोभ जगाकर स्वयं उसी जन-विक्षोभ का शिकार होता। **राजकुमारी** का व्यक्तित्व केवल दूसरे अंक मे सजीव और सशक्त दिखलायी पड़ता है; तीसरे अंक में तो वह आत्मा के रूप में प्रस्तुत होती है। राजकुमारी के व्यक्तित्व में रहस्यात्मक स्पर्श के अतिरिक्त असम्बद्धता और बिखराव भी है। जो आत्मा पृष्ठ संख्या ९५ पर कहती है "क्या है जो छुओगे मुझे ? मैं कुछ नहीं हूँ", वही पृ० ९७ पर कहती है "लँगड़ी हो गई मैं ? नगर वालो ने, राजा ने तोड़ दिया बाँया हाथ, दाईं टाँग", किन्तु आगे चलकर पृष्ठ ९९ पर उसी आत्मा के विषय में उसका प्रेमी पुरुष कहता है "मुझमें भी मुख तुम्हारा अदृश्य है।" आत्मा भी सब कुछ देखती है किन्तु केवल पुरुष को ही नहीं देख पाती। अब तनिक विचार किया जाय कि इस प्रकार की आत्मा सगुण है या निर्गुण ?

(३) **संवाद**—'सूखा सरोवर' के अधिकतर संवाद संक्षिप्त और मार्मिक हैं। उनसे पात्रों के चरित्र पर तो प्रकाश पड़ा ही है, साथ ही कार्य-व्यापार को भी गति मिली है। अधिकतर संवादों की भाषा बोलचाल की भाषा के निकट होने के कारण सजीव है "सारी जवानी कारागार में पिस गई"[१] अथवा "इसी तरह हाथ पर हाथ रखे चुप खड़े देखते रहोगे"[२] में बोलचाल की भाषा की सजीवता का उदाहरण मिलता है। कवि ने संवादों में वाक्यों या वाक्यांशों को दुहराने की पद्धति का भी प्रश्रय लिया है।[३] कहीं-कहीं वाक्यों को अधूरा छोड़कर अकथनीय भाव को मौन के द्वारा मुखर किया गया है।[४] भावों को तीव्र रूप में व्यक्त करने के लिए संवादों में विस्मयादि-बोधक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है यथा—

---

१. दे०, वही, पृ० १५
२. दे०, वही, पृ० २९
३. दे०, वही, पृ० ५२, ८२, ८३
४. दे०, वही, पृ० ७६, ७५, ७१, ७०, ६३, ५४ आदि।

(१) आह !
लँगड़ी हो गई मैं ।[१]
(२) यह संन्यासी क्या वही है ?
ओह ![२]

अनुभूतियों को तीव्रता प्रदान करने तथा कुतूहल-वृत्ति को उभारने के लिए अनेक स्थानों पर प्रश्नवाचक चिह्नों का भी प्रयोग किया गया है। यथा—

क्या है ?
कौन है यह संन्यासी ?[३]

संवादों में शब्दों की आवृत्ति के द्वारा भी भावों को सघनता प्रदान की गयी है। यथा—

(१) रानी गा-गाकर जगाती
रो-रो पुकारती[४]
(२) छोड़ो-छोड़ो अब
उसे क्या पकड़ना[५]
(३) हम प्यासे बोलते रहेंगे-बोलते रहेंगे ।[६]

उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही सूखा सरोवर के संवादों में कुछ न्यूनताएँ भी हैं। उनकी सबसे बड़ी कमी है उनकी गद्यात्मकता, जिस पर लय और तुक के अन्तर्गत विचार किया जायेगा। उनकी दूसरी न्यूनता है भाषागत प्रयोगों की अनियमितता, जिस पर 'अभिव्यंजना' के अन्तर्गत विचार किया जायेगा।

(४) **अभिव्यंजना**—'सूखा सरोवर' की भाषा सामान्यतः परिमार्जित और व्याकरण-सम्मत है, किन्तु कई स्थानों पर भाषा के चिन्त्य प्रयोग भी मिलते हैं। कुछ प्रयोगों पर अंग्रेजी के वाक्यों की छाया स्पष्ट है। "फिर मुझको सुनेगा कौन ?"[७] में अंग्रेजी के "हू विल लिसिन टु मी" का अनुवाद है। "दीवारें सुनेंगी तुझे"[८] में भी यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। "धिक्कार है तुम पर"[९] में 'शेम ऑन यु' का

---

१. वही, पृ० ९६-९७
२. वही, पृ० १०८
३. वही, पृ० १०८
४. वही, पृ० ९१
५. वही, पृ० २२
६. वही, पृ० २५
७. वही, पृ० १४
८. वही, पृ० १६
९. वही, पृ० ३०

शाब्दिक अनुवाद कर दिया गया है। "पहले सुनो तो मुझे, मैं सत्य दूंगा"[१] में अंग्रेजी की छाया स्पष्ट है। कई स्थलों पर विभक्तियों और लिंग-वचन के दूषित प्रयोगों को देखकर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सम्बद्ध पंक्तियों का लेखक कोई विदेशी व्यक्ति है। "मैंने पहचान ली थी उसकी बोल",[२] "बस प्रगति हूँ किसी गति का",[३] "मैं संन्यासी बहुत दिनों पर घर आया था",[४] "यह कोलाहल क्रान्ति की नहीं केवल प्यास की है",[५] "नगरी के प्रजा के बीच",[६] "नया सूरज नयी चन्दा",[७] "शरण हैं तुम्हारे हम"[८] आदि ऐसे अनेक प्रयोग है, जो उक्त धारणा की पुष्टि करते हैं। इसी प्रकार क्रियाओं के चिन्त्य प्रयोग मिलते हैं। कवि ने 'जागना' के स्थान 'जगना' और 'भागना' के स्थान 'भगना' क्रिया-रूपों का प्रयोग किया है। "जो अभी छूट कर भगे हैं",[९] 'निश्चय जगेगा'[१०] जैसे ग्रामीण प्रयोग अनेक स्थानों पर मिलते है। कई स्थानों पर अल्प-पदत्व के कारण वाक्य-रचना दूषित हो गयी है। "अर्ध रात को डूब मर गई"[११] में 'डूब कर मर गयी' होना चाहिए था। 'अर्ध' के साथ 'रात्रि' और 'रात' के साथ 'आधी' प्रयोग युक्तियुक्त है। "खड़ा तीर मैं देख रहा था"[१२] में कवि का आशय यह है कि "मैं तीर पर खड़ा हुआ देख रहा था", किन्तु शब्दों से यह आशय व्यक्त हुआ है कि "मैं खड़ा हुआ तीर देख रहा था।" इसी प्रकार "राजा मैनापुरी संग मेरा पिता ब्याह रच रहा है मेरा"[१३] में कवि का आशय है कि "मेरा पिता मैनापुरी के राजा के संग मेरा ब्याह रच रहा है।" 'मैनापुरी के राजा' के स्थान पर 'राजा मैनापुरी' प्रयोग उर्दू के 'शहंशाहे-आलम', 'शबे हिज्र' जैसे प्रयोगों की अनुकृति मालूम पड़ता है।

'सूखा सरोवर' में भाषागत प्रयोगों के और भी कई प्रकार के स्खलन मिलते हैं "इस नगरी की वही मुट्ठी भर प्रजा ने·····"[१४] में 'वही' के स्थान 'उसी' होना चाहिए। "मेरी आँखों में गहो, मैं मात्र एक व्यक्ति हूँ"[१५] मे 'गहो' का प्रयोग अस्पष्ट

१. वही, पृ० २०
२. वही, पृ० २३
३. वही, पृ० २४
४. वही, पृ० ३१
५. वही, पृ० ३७
६. वही, पृ० ५२
७. वही, पृ० १२२
८. वही, पृ० ३३
९. वही, पृ० १८
१०. वही, पृ० २५
११. वही, पृ० ४०
१२. वही, पृ० ३१
१३. वही, पृ० ७८
१४. वही, पृ० ७५
१५. वही, पृ० १०९

है। "तुम सबों ने"[1] में 'सब' पहले ही बहुवचन है, उसका और आगे बहुवचन बनाने की क्या आवश्यकता थी ? कवि ने 'जय' के स्थान-स्थान पर 'जै', 'शाप' के स्थान पर 'श्राप', 'श्रवण' के पर 'श्रवन' शब्दों का प्रयोग किया है,[2] जिन्हें बोली के प्रयोग मानकर यदि किसी प्रकार उचित मान भी लिया जाए तो भी ऐसे प्रयोगों को कैसे उचित माना जा सकता है जहाँ एक ही पंक्ति में एक ही शब्द के तत्सम और तद्भव रूपों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, "प्राणों में प्रान भर दूंगी"[3] प्रयोग दर्शनीय है। कहीं-कहीं कवि ने बोली के प्रयोगों को भी तत्सम या अर्द्धतत्सम रूप में रखा है, जो कृत्रिम और असंगत है, उदाहरणार्थ, 'पंछी उड़े अकाश'[4] में बोली का प्रयोग होने के कारण 'अकाश' के स्थान पर 'अकास' होना स्वाभाविक है। कवि ने उक्त पंक्ति के बाद की एक पंक्ति छोड़कर ही जो पंक्ति—"तीर लगाये आस" लिखी है उसमें 'आस' प्रयोग सर्वथा स्वाभाविक है। किन्तु इसी प्रसंग में कवि ने आगे चलकर लिखा है "मैं जाऊँ केहि देश चन्दा रोया सुरुज से ?" इस पंक्ति में 'देश' के स्थान पर 'देस' अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता। इस प्रकार कवि ने बोली में लिखी गयी पंक्तियों में अनेक स्थानों पर तत्सम शब्दों का तथा परिनिष्ठित भाषा के बीच में तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है। इस भाषागत अराजकता के कारण संस्कारी पाठकों को घोर मानसिक आघात पहुँचता है।

सूखा-सरोवर की भाषा के विषय में व्याकरण-सम्बन्धी दृष्टि से संक्षेप में विचार करने के उपरान्त यहाँ काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से भी उसके विषय में पर्यालोचन वांछनीय है।

(क) **बिम्ब-विधान**—'सूखा सरोवर' के कथानक के विषय में पहले कहा जा चुका है कि इसमें कल्पना-रंजित और अयथार्थ घटनाओं की प्रचुरता है। कथानक की बुनावट में भावोद्दीपक कल्पना की अपेक्षा वायव्य कल्पना का अधिक प्रयोग किया गया है। कल्पना द्वारा मनश्चक्षुओं के सामने प्रस्तुत विभावन-व्यापार ही बिम्ब-विधान का रूप ग्रहण करता है। सूखा सरोवर का बिम्ब-विधान इसीलिए बहुत अंशों तक भावोष्मा से रहित है। अधिकतर स्थलों पर तो बिम्बहीन रूखी गद्यात्मक पंक्तियों की ही भरमार है। यथा—

(१) राजा कुछ नहीं बोलता
प्रश्न पर आता ही नहीं
हमें किस्से सुनाता है
भाषण देता है हमारे गौरव का।[5]

---

१. वही, पृ० ११२
२. दे०, वही, पृ० ७०, ७३, ९३, ९९
३. दे०, वही, पृ० ८०
४. दे०, वही, पृ० ११
५. वही, पृ० २८

कहीं-कहीं तो पंक्तियाँ पूर्णतः यान्त्रिक और नीरस हैं यथा—

"माथे पर अपना बोझ
प्राणों पर सबका बोझ
आँखों में उनके बोझ
जिन्होंने चुना था मुझे।"[१]

कई स्थलों पर रहस्यात्मकता के मुलम्मे के कारण बिम्ब धूमिल पड़ गये हैं। "अचिर-अनादि था सरोवर"[२] में सरोवर को रहस्यमय रूप दिया गया है। संन्यासी के शब्दों में "जड़ नहीं था यह सरोवर चेतन था अतिचेतन कोई।"[३] कवि ने 'आधुनिकता' के युग में रहते हुए भी अपनी कथावस्तु और बिम्बावली की सृष्टि में पौराणिक ढंग की कल्पना का प्रश्रय लिया है। इसी के परिणामस्वरूप बिम्ब भी अति काल्पनिक और रहस्यमय हो गये हैं। एक उदाहरण दर्शनीय है—

"देखो, सरोवर के अंक में,
कमल की सेजा लगी है—
पुरुष की रानी—
प्रिया बैठी है
अब भी बैठी है बिरहिनी
और पुरुष की आत्मा
पहरा दे रही है
सरोवर के चारों ओर"[४]

सरोवर के चारों ओर पहरा देती हुई पुरुष की आत्मा की कल्पना किसी सिद्ध रहस्यवादी कवि की कल्पना से कम नहीं है। कहीं-कहीं कवि ने ऐसे बिम्बों की भी सृष्टि कर डाली है, जो युक्तिसंगत आधार पर प्रतिष्ठित नहीं है। उदाहरणार्थ :—

"कोई देवता था सरोवर
यह अतल गहराई,
लगता है देवता की छाती का घाव है यह"[५]

वास्तविकता यह है कि सरोवर सूखा हो, तो उसमें तल और सीमा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता है। उसकी गहाई चाहे जितनी हो 'अतल' नहीं हो सकती। दूसरे, यदि सारे सरोवर की गहराई की व्याप्ति को ही घाव मान लिया जाये तो फिर उससे पृथक् सरोवर-देवता की सत्ता कहाँ है, जिस पर वह घाव है ? फिर क्या

---

१. वही, पृ० ६३
२. वही, पृ० १६
३. वही, पृ० २६
४. वही, पृ० १२२-१२३
५. वही, पृ० २६

सरोवर-देवता और उसके घाव को एक मान लिया जाए ? फिर, ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने सरोवर की सत्ता से पृथक् सरोवर देवता या 'नीर देवता' की भी कल्पना की है। संन्यासी कहता है :—

"जिस क्षण सरवर सूख रहा था—
... ...
माथ झुकाये धँसा जा रहा,
धँसा जा रहा, नीर देवता मैंने देखा"[1]

फिर यदि 'नीर देवता' के अन्तर्धान होते ही सरोवर सूख गया है, तो जब "सहसा सरोवर के तीव्र आलोक से एक अत्यन्त तेजवान मानव शरीरधारी सत्ता निकलती है, जिसके दायें हाथ में खाली घट है और बाँयें हाथ में एक दण्ड है,"[2] और आत्म-परिचय के रूप में जिसके मुख से स्फुरित होता है "मैं सरोवर का देवता",[3] तब उसके साथ सरोवर में पानी नहीं आता, सरोवर सूखा ही कैसे रह जाता है ? प्रश्न यह है कि कवि ने सारे सरोवर को देवता माना है या केवल पानी को या इन दोनों से पृथक् मानव शरीरधारी सत्ता को ? चिन्तन और कल्पना की इसी असम्बद्धता के कारण 'सरोवर' से सम्बन्धित लगभग सभी बिम्बों में बिखराव है।

फिर भी, बीच में कुछ बिम्ब ऐसे भी मिल जाते है, जिनमें कल्पना रूप-व्यापारों को ऐसे ढंग से प्रस्तुत करती है कि सम्बद्ध अनुभूति अपनी सहज ऊष्मा के साथ व्यक्त हो सके। उदाहरणार्थ, "मरोड़ दो इसके स्वर, खींच लो जिह्वा"[4] में कवि ने अत्यन्त संक्षेप में मार्मिक बिम्ब अंकित किया है। 'स्वर' सूक्ष्म है, किन्तु 'मरोड़ना', क्रिया से सम्बद्ध होते ही उसमें रूप और गति का संचार हो गया है। इसी प्रकार निम्नलिखित बिम्ब भी सफल बन पड़ा है—

"मेरी मुट्ठी भिचकर रह गई थी
स्वर जिह्वा में तड़पे थे"[5]

इन पंक्तियों में विवशतापूर्ण विक्षोभ का अनूठा बिम्ब अंकित हुआ है। पहली पंक्ति में बाह्य अनुभावों के चित्रण से मूल भाव को उभारा गया है और दूसरी पंक्ति में दृश्य अनुभावों के माध्यम से मूल भाव को मूर्तरूप दिया गया है। जिह्वा में स्वरों के तड़पने की कल्पना बड़ी सहज और मार्मिक है। यहाँ 'तड़पना' क्रिया ने स्वरों की सूक्ष्मता में रूप और गति का संचार किया है। शब्दकोश में 'स्वर' भी है और 'तड़पना' भी, किन्तु दोनों की सम्बद्धरूप में उद्भावना ही कवि की प्रतिभा की परिचायक है। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने भारतीय संस्कृति के परिवेश में

---

१. वही, पृ० ३२
२. वही, पृ० ३४-३५
३. वही, पृ० ३५
४. वही, पृ० १५
५. वही, पृ० ५३

प्रिय-मिलन की प्रतीक्षा में आतुर विरहिणी का सुन्दर बिम्ब उकेरा है :—

"सरोवर पर्य्यंक पर
हर रात
चितवन की सेजा बिछाती हूँ
सोलहों शृंगार
आँचल में दीवा सँजोये
पथ जोहती हूँ।"[1]

रूप-बिम्बों के साथ ही कवि ने गंध,[2] ध्वनि,[3] स्पर्श[4] और आस्वाद[5] की अनुभूतियों को भी रूपायित किया है।

संक्षेप में, कथानक के कल्पना-रंजित और रहस्यावेष्ठित होने के कारण 'सूखा-सरोवर' के अधिकतर बिम्ब धूमिल और खण्डित है, किन्तु कवि में भावोद्दीप्त बिम्बों के सृजन की क्षमता बिल्कुल नहीं है—ऐसा कहना न्यायसंगत न होगा। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'सूखा सरोवर' में स्थान-स्थान पर सफल बिम्ब भी उपलब्ध हैं।

(ख) **प्रतीक-योजना**—'सूखा सरोवर' के कथानक का केन्द्र सूखा सरोवर ही है, जिसके इर्दगिर्द सभी पात्र और प्रसंग चक्कर काटते हैं। कवि ने 'सूखा सरोवर' का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप में किया है, जिसका अभिप्रेत अर्थ है जीवन या जीवन-रस का समाप्त होना। कहीं-कहीं कवि ने 'नियन्ता/सत्य' के रूप में जीवन की मर्यादाओं तक भी सरोवर केप्रतीकार्थ की व्याप्ति स्वीकार की है।[6] कहीं 'सरोवर' मर्यादाओं के टूटने से विघटित

---

१. **वही**, पृ० १००
२. "अणु-अणु से कमल की
गन्ध आ रही थी।
हाथों में मेंहदी रची थी
उँगली में चन्दन की वास थी।" **वही**, पृ० १०१
३. 'पगध्वनि आ रही है प्राणों में।' **वही**, पृ० ६६
४. "ओह वे आँसू थे मेरे प्रियतम के
आज मैं भी उन्हें चूमूंगी
भर लूंगी नयन में
कस लूंगी बाहुओं में।" **वही**, पृ० १०२
५. प्यासे हैं
घोंटकर अब वे
मानव रक्त पीने लगे हैं। **वही**, पृ० १०३
६. "और हम सबके ऊपर है यह सरोवर
रसदाता, जीवनदाता, नियन्ता
सत्य सबका।" **वही**, पृ० १४

जीवन के अभावों से उत्पन्न पीड़ा या जीवन-रस की प्यास का प्रतीक है।[1] कहीं कवि ने उसे देवत्व प्रदान करके पूजा और अर्चना का आलम्बन बनाया है।[2] अनेक स्थानों पर सरोवर अपने स्थूल अभिधार्थ में ही प्रस्तुत हुआ है, यथा :—

'सखियों सँग, सरोवर के उस पार
देवता को दीप दान करने गई थी[3]

कवि ने कुछ पात्रों का भी प्रतीकात्मक रूप में प्रयोग किया है। राजकुमारी को प्रेम-विह्वल आत्मा के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया गया है। 'पुरुष' सच्चे प्रेमी का प्रतीक है। पुरोहित पाखण्ड और स्वार्थ का प्रतीक है। छोटा राजा विवेकहीनता और सत्ता-लोलुपता का तथा बड़ा राजा निष्क्रिय आदर्शों का प्रतीक है, यद्यपि कुछ स्थलों पर वह आदर्शों का क्रियात्मक रूप भी प्रस्तुत करता दिखलाई पड़ता है।

एक स्थान पर कवि ने प्रतीकात्मक प्रसंग की भी उद्भावना की है। जिस समय छोटा राजा अपना खड्ग लेकर बड़े राजा की हत्या करने को चल पड़ता है तभी दोनों सैनिक प्रहरी परस्पर वार्तालाप करते हैं :—

प० सैनिक : (डर से चीखकर) चूहा, चूहा।
दू० सैनिक : नहीं-नहीं, कीड़ा कोई
छिपकली के मुंह में
प० सैनिक : छिपकली छोटी
कीड़ा बहुत बड़ा।"[4]

इस प्रसंग का प्रतीकार्थ यह है कि छोटे राजा द्वारा बड़े राजा का वध करने का प्रयत्न इसी प्रकार हास्यास्पद और निरर्थक है जिस प्रकार छोटी छिपकली का अपने से बड़े कीड़े को निगलने का प्रयत्न करना। किन्तु जिस ढंग से इस प्रसंग को मूल कथानक में जोड़ा गया है, वह स्वयं में हास्यास्पद मालूम पड़ता है।

सूखा सरोवर में शब्द-प्रतीकों का भी अभाव नहीं है। "पर सरोवर है कहाँ, हाय, कमल कैसे उगेगा"[5] में सरोवर जीवन का और कमल 'सत्य' का प्रतीक है। "मेरे सूर्य लो, मैं स्वयं अर्घ्य[6] हूँ" में 'सूर्य' जीवन को ज्योति प्रदान करने वाले प्रेम-पात्र का प्रतीक है और 'अर्घ्य' समर्पण तथा पूजा-भाव का प्रतीक है। "ओ मेरे

---

१. "सरोवर पानी ही पानी नहीं
प्यास भी है—
अपनी ही नहीं
सारी नगरी की। वही, पृ० १३
२. "देवता था सरोवर।" वही, पृ० २६
३. वही, पृ० ७४
४. वही, पृ० ५८
५. वही, पृ० २३
६. वही, पृ० ८०

सपन" में 'सपन'[१] प्रेम-पात्र, का प्रतीक है।

(ग) **अलंकार योजना**—मूलतः डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल गद्यकार हैं। इस लिए सूखा सरोवर में भी उनका गद्यकार अनेक स्थलों पर कविता पर हावी हो गया है। प्रस्तुत कृति में अधिकांश कविता की रचना तो गद्य के अन्वय को किंचित् इधर-उधर हिला देने से और वाक्यों को छोटी-बडी पंक्तियों में तोड़ देने से हुई है। यदि पंक्तियों को सीधे रूप में जोड़ दिया जाये, तो अनेक स्थानों पर गद्य का बिल्कुल शुद्ध रूप सामने आ जाता है। यथा "संस्कृति कहेगी, वह सरोवर का देवता था, जिसने नगरी को आत्महत्या की संज्ञा दिखाई थी।"[२] इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—"नीति के पीछे जब ऐसी सैन्य शक्ति होगी तब इस सन्धि से वह दर्शन उगेगा जो शेष सब दर्शन को निगल लेगा।"[३] ऐसे ही अनेक गद्यात्मक वाक्य ज्यों-के-त्यों 'सूखा सरोवर' में भरे पड़े हैं। इससे स्पष्ट है कि कवि की मनःस्थिति अधिकतर स्थलों पर उस उदात्त भावात्मक स्तर तक नहीं उठ पाई है, जिसकी अभिव्यक्ति की भाषा स्वभावतः ही आलंकारिक होती है।

फिर भी, जहां कहीं कवि की अनुभूति अर्थ-बोध की सीमा से ऊपर उठ सकी है, वहाँ स्वभावतः अलंकारों की योजना मिलती है। सूखा सरोवर में सर्वाधिक प्रयोग 'रूपक' का हुआ है। 'जीवन-सरवर'[४], "राजा सरोवर है हमारा",[५] 'अहं की खोह'[६] 'जीवन यह सरोवर है"[७], देवता था सरोवर[८] में रूपक का प्रयोग मिलता है। रूपक के ऊपर दिये गये उदाहरणों में, एक को छोड़कर शेष सभी में, सरोवर का किसी अन्य वस्तु के ऊपर या किसी अन्य वस्तु का सरोवर के ऊपर आरोप है। यह आरोपण सादृश्य (आकार-साम्य या गुण-साम्य या प्रभाव-साम्य) पर उतना आधारित नहीं, जितना कवि की अपनी इच्छा पर। "देवता था सरोवर" या "राजा सरोवर है हमारा", में आरोपण सादृश्यमूलक न होकर आविष्कृत है। यही कारण है कि 'सूखा सरोवर' के रूपक यथार्थ अनुभूतियों के वाहक न होकर कल्पित अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के माध्यम बने हैं। कहीं-कहीं कवि ने सांग रूपकों का भी प्रयोग किया है।[९] इनमें से नीचे एक उदाहरण दिया जाता है :—

(१) सरोवर पर्य्यंक पर
हर रात

---

१. वही, पृ० ९८
२. वही, पृ० ३९
३. वही, पृ० ७३-७४
४. वही, पृ० १२
५. वही, पृ० १७
६. वही, पृ० २१
७. वही, पृ० २४
८. वही, पृ० २६
९. वही, पृ० १००, १२२

चितवन की सेजा बिछाती हूँ।
सोलहों शृंगार
आँचल में दीवा सँजोये
पथ जोहती हूँ।"[1]

रूपक के ऊपर दिये गये उदाहरण में सारा विधान अति काल्पनिक है। पहली तीन पंक्तियों में सरोवर को पर्यंक कहा गया है तथा उस पर चितवन की सेजा बिछाने की बात कही गई है। बाद की पंक्तियों में लोक-संस्कृति के उपकरणों को सँजोने की स्वाभाविकता तो है किन्तु उन्हें आत्मा से सम्बद्ध कर दिया गया है। क्या राजकुमारी की आत्मा स्थूल है जो स्थूल साधनों का उपयोग कर सकती है? ऐसी आत्मा सहस्रों वर्षों के दार्शनिक चिन्तन के समक्ष सचमुच एक चुनौती है।[2] फिर यदि वह स्थूल है तो सरोवर-पर्यंक पर प्रिय से कैसे मिलेगी? क्या दोनों तैरते रहेंगे?

सूखा सरोवर में उपमा अलंकार का भी प्रयोग मिलता है। 'दर्द है मरन-सा'[3] में दर्द की मरण से उपमा दी गई है। "समझो वह भयानक है भूखा अजगर जैसा"[4] में उपमा सुन्दर है, किन्तु 'भूखा' के स्थान पर 'भूखे' शब्द का प्रयोग होना चाहिए। कवि ने राजकुमारी के वियोग में व्याकुल होकर इधर-उधर भागते हुए पागल प्रेमी की उपमा भागते हुए उस उन्मत्त घायल हरिण से दी है, जिसकी हरिणी उस समय मारी गई हो जब वह उसके स्वप्न में लीन होकर सो रहा हो।[5] उपर्युक्त उपमा में भाव और अनुभाव के सादृश्य से प्रभाव-साम्य का विधान किया गया है, जो मार्मिक बन पड़ा है। उपमा और रूपक के अतिरिक्त 'सूखा सरोवर' में अन्य अलंकार भी प्रयुक्त हुए हैं। "पुरोहित नहीं राजा का वाहन है तू"[6] में अपह्नुति अलंकार है। "बेहोश तुम हो, सारी नगरी है, राज्य के सैनिक हैं"[7] में तुम (प्रस्तुत) और 'नगरी' तथा सैनिक (अप्रस्तुत) को एक ही धर्म 'बेहोश' से सम्बद्ध किया गया है। इसलिए

---

१. **वही**, पृ० १००

२. कवि ने आत्मा को स्थूल रूप में प्रस्तुत किया है और उसके शारीरिक अवयवों तक का उल्लेख किया है :—

लँगड़ी हो गई मैं !
नगर वालों ने,
राजा ने तोड़ दिया
बाँयाँ हाथ
दाईं टाँग।" **वही**, पृ० ९७

३. **वही**, पृ० ७०
४. **वही**, पृ० २१
५. **वही**, पृ० ४१
६. **वही**, पृ० १६
७. **वही**, पृ० १७

यहाँ दीपक अलंकार है। "पानी का घट है सरोवर"[१] तथा "और मैं संन्यासी हूँ राजा, तुम्हारी इस भूमि में, जहाँ पानी नहीं है"[२] में श्लेष अलंकार है, क्योंकि यहाँ पानी का अर्थ मर्यादा और प्रतिष्ठा भी है। "चुप-चुप कोई जा रहा है कहीं।"[३] तथा "सुनो सुनो, मत बोलो"[४] में वीप्सा अलंकार है। वीप्सा के अन्य अनेक उदाहरण सूखा सरोवर में सुलभ हैं।

प्रस्तुत कृति में मानवीकरण का प्रयोग भी अनेक स्थानों पर मिलता है। भविष्य क्या कहेगा,[५] "यह नगरी गत दिवस की प्यासी"[६] तथा "रोता है चन्दा,"[७] में मानवीकरण का प्रयोग हुआ है। मानवीकरण में अचेतन वस्तु अपनी अचेतनता को त्यागकर चेतन या मानवीय स्वरूप ग्रहण करती है, अतः इस अलंकार में वस्तु पर व्यक्ति की स्थूल पर सूक्ष्म की और जड़ पर चेतन की प्रधानता होती है। यही कारण है कि भावपूर्ण स्थलों पर मानवीकरण का प्रयोग अभिव्यक्ति की अनिवार्य आवश्यकता बन जाता है। इस दृष्टि से निम्नस्थ उद्धरण दर्शनीय है :—

जिस क्षण सरवर सूख रहा था—
सुना और देखा था मैंने
बन्द कमल रोये थे कैसे
तड़पी थीं कलियाँ पत्तों पर
कुमुदनी कुँहकी थी कमलों से,
हंसिनी रोई थी हंसा से।[८]

'कुरूप सत्य'[९] तथा 'दुधमुँही चितवन'[१०] में विशेषण विपर्यय अलंकार है।

संक्षेप में, 'सूखा-सरोवर' में अलंकारों का प्रयोग बहुत कम संख्या में हुआ है। जो आलंकारिक प्रयोग मिलते भी हैं, उनमें से अधिकतर में सादृश्य-विधान स्वाभाविक न होकर कवि-कल्पित है, जिससे सच्ची अनुभूतियों के स्थान पर काल्पनिक अनुभूतियों का उदय हुआ है। फिर भी कुछ प्रयोग पर्याप्त सफल बन पड़े हैं।

(घ) **लय और तुक**—'सूखा सरोवर' में लय अनुभूति के उद्रेक से अनुप्राणित नहीं है। समूचे नाट्य-काव्य के काल्पनिक परिवेश में सच्ची अनुभूतियों के उदय की

---

१. वही, पृ० १३
२. वही, पृ० ३२
३. वही, पृ० ५५
४. वही, पृ० २०
५. वही, पृ० २५
६. वही, पृ० ९४
७. वही, पृ० १००
८. वही, पृ० ३१
९. वही, पृ० ३९
१०. वही, पृ० ११८

सम्भावना ही कहाँ थी ? ठण्डी कल्पित अनुभूतियाँ निस्पन्द, गद्यात्मक लय में व्यक्त हुई हैं। नीचे के उद्धरण में लय और तुकों का अनुभूतिशून्य गद्यात्मक रूप स्पष्टतः दिखलायी पड़ता है—

"माथे पर अपना बोझ
प्राणों पर सबका बोझ
आँखों में उनके बोझ
जिन्होंने चुना था मुझे
जिन्होंने बनाया मुझे
जिन्होंने जन्म दिया,
जिन्होंने कर्म दिया।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण में शब्दों की आवृत्ति अनुभूति के घनीभूत आवेग को प्रकट न करके, अनुभूति की शून्यता को प्रकट करती है। अनुभूति की रिक्तता को भरने के लिए ही यहाँ शब्दों की आवृत्ति हुई है। तुकों की स्थिति तो और भी शोचनीय है। तुकों के रूप में उन्हीं शब्दों की आवृत्ति ऊब पैदा करती है। लय और तुक की दृष्टि से निम्न-लिखित पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

"जो व्यथा मन में है, मन में रहेगी
कथा क्यों बनाऊँ में····· ।"[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'व्यथा' के साथ 'कथा' का प्रयोग करने के आग्रह के कारण बाद की पंक्ति को यों ही अनावश्यक रूप में जोड़ दिया गया है। इसी प्रकार पहली पंक्ति के उत्तरार्द्ध से भावना के उत्कर्ष में कोई सहायता नहीं मिली है। इस प्रकार असम्बद्ध पंक्तियों के एकत्र रखने से अनुभूति में बिखराव आने के कारण उसकी तीव्रता समाप्त हो गयी है। ऐसी स्थिति में लय का प्रश्न ही नहीं उठता। निम्नलिखित पंक्तियों में शब्दों और तुकों का प्रयोग अनुभूति की तीव्रता द्वारा समर्थित न होकर आरोपित मात्र है—

"ओ सरोवर के देवता।
भाव से निकलो, अंध-गह्वर को चीर आवो
नीर के देवता हमें अपनी पीर लाओ।"[3]

'भाव से निकलो' का क्या प्रयोजन है ? फिर पहली पंक्ति में सरोवर के देवता को सम्बोधित करने के उपरान्त 'नीर के देवता' कहकर सम्बोधित करने में 'नीर' और 'पीर' की तुक भिड़ाने के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं प्रतीत होता है। तीनों पंक्तियों का कुल मिलाकर भी कोई एकान्वित प्रभाव नहीं पड़ता है। 'चीर आवो' की तुक पर 'पीर लाओ' प्रयोग चिन्त्य है।

---

१. वही, पृ० ६३
२. वही, पृ० ५३
३. वही, पृ० ३४

"क्यों दिया तूने आवाहन मुझे",[1] "नाहक क्यों दी दया तूने मुझे"[2] जैसी सामान्य पाठ में ही गले में अटकने वाली पंक्तियों की 'सूखा सरोवर' में कोई कमी नहीं है।

'सूखा सरोवर' में जिस प्रकार लय का सही अर्थों में उदय बहुत ही कम स्थलों पर हो सका है उसी प्रकार तुक की स्थिति भी निराशाजनक रही है। अनुभूति को सघनता और वेग प्रदान करने वाली तुकों का सूखा सरोवर में प्रायः अभाव है। अधिकतर तुकें एक ही शब्द की आवृत्ति के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकी हैं।[3]

(५) **अभिनेयता**—'सूखा सरोवर' की अभिनेयता के विषय में कवि ने आवरण-पृष्ठ पर लिखा है, "रंगमंच का सर्वथा एक अभिनव स्वरूप और आधुनिक रंगमंच-अन्वेषण का एक नया उदाहरण।" उक्त कथन में नवीनता के प्रति एक आग्रह का भाव परिलक्षित होता है। कथानक के निर्माण और गठन में भी यह नवीनता का आग्रह चरितार्थ हुआ है। कथानक का रोमेण्टिक और अलौकिक स्वरूप युद्ध, द्वेष, सत्ता-लोलुपता और विघटन के बोध के प्रतिकूल पड़ता है। सरोवर का देवता-रूप में प्रस्तुत होना, राजकुमारी का आत्महत्या के उपरान्त आत्मा-रूप में पुनः उपस्थित होना, आत्मा का परिधान धारण करना किन्तु पुरुष और आत्मा का एक-दूसरे का मुख न देख पाना और अन्त में "सरोवर की कमल-शय्या पर रम्य ज्योति में राजकुमारी की आत्मा से पुरुष की आत्मा का मिलन होना" आदि ऐसे प्रसंग हैं जो अभिनय की यथार्थता और सहज सजीवता में बाधक हैं। कथानक के क्रम में पौर्वापर्य का सही निर्वाह न होने के कारण अभिनय में असंगति उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। पहले अंक का संन्यासी दूसरे अंक में (बड़ा) राजा बनेगा और फिर तीसरे अंक में पुनः संन्यासी के रूप में दिखलायी पड़ेगा। इसी प्रकार पहले अंक में जिस राजकुमारी की आत्महत्या के कारण सरोवर सूख गया है, उसी को दूसरे अंक में जीवित रूप में अपने सत्पक्ष के समर्थन में संघर्ष करते दिखलाया गया है और वही तीसरे अंक में ऐसी विचित्र और रहस्यमयी आत्मा के रूप में उपस्थित होती है जो न पूर्णतः सगुण है न निर्गुण ही। इस क्रम-विपर्यय से अभिनय का प्रभाव भी बिखर जायेगा। समूचे नाट्य-काव्य में दूसरा अंक अन्य दो अंकों की अपेक्षा यथार्थ के निकट होने के कारण अभिनय की दृष्टि से भी अधिक सफल हो सकता है, किन्तु उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव की संगति शेष दो अंकों के प्रति काल्पनिक वातावरण और प्रभाव के साथ नहीं बैठ पाती है। पहले अंक का पुरोहित-सम्बन्धी प्रसंग अभिनय की दृष्टि से कुछ सफल

---

१. **वही**, पृ० ४५
२. **वही**, पृ० ४५
३. (क) भर लो आत्मा का हर छोर पानी से
भिगो लो मन के सब द्वार पानी से। **वही**, पृ० १२२
(ख) चढ़ा लो मन मोतियों पर नया पानी
भर लो नयन सीपियों में नया पानी। **वही**, पृ० १२२

कहा जा सकता है। पुरोहित का ठूँठ के पीछे छिप कर परोक्ष सत्ता (धर्मराज) के छद्म स्वर में घोषणा करना और बाद में संन्यासी के द्वारा सारे प्रपंच का अनावृत किया जाना नाटकीय दृष्टि से कुतूहलवर्धक और वैदग्ध्यपूर्ण है।[1] तीसरे अंक में वृद्ध द्वारा पुरोहित तथा राजा द्वारा वृद्ध के वध का प्रसंग नाटकीय दृष्टि से कुछ प्रभावोत्पादक बन पड़ा है।[2]

यद्यपि कवि ने अपनी कृति को अभिनेय बनाने के उद्देश्य से स्थान-स्थान पर विशद रंग-संकेत दिये हैं, तथापि कथानक के क्रम-विपर्यय और रहस्यात्मक स्वरूप के कारण, पात्रों के यथार्थता और प्रतीकात्मकता के मध्य भटकाव के कारण, नीर देवता तथा आत्मा जैसे रहस्यमय पात्रों की योजना के कारण, संवादों की गद्यात्मकता और अनुभूतिशून्यता के कारण तथा कथ्य और कथानक में पारस्परिक संगति न होने के कारण सूखा-सरोवर की अभिनेयता संदिग्ध है। स्वयं कई रंग-संकेत अभिनय-सम्बन्धी समस्या उत्पन्न करते प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित रंग-संकेतों को प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) "सहसा सरोवर के तीव्र आलोक से एक अत्यन्त तेजवान मानव शरीरधारी सत्ता निकलती है·····"[3]

(२) "सरोवर के सूखे से राजकुमारी की आत्मा का प्रवेश-नीले झिलमिले वस्त्र ढँकी, एक अनुपम सुन्दर आकृति, जिस पर मानो स्वप्न के तारे सम्मोहन की रुपहली किरणें बरस रही हैं।"[4] (यहाँ वाक्य-रचना भी चिन्त्य है)

(३) "सरोवर में बहुत तेजी से पानी भरता आ रहा है।"[5]

(४) "धीरे-धीरे सरोवर की कमल-शय्या पर नीला-नीला प्रकाश फैलता है और उस रम्य ज्योति में राजकुमारी की आत्मा से पुरुष की आत्मा का मिलन होता है·····।"[6]

कवि को जहाँ जिस पात्र की आवश्यकता हुई है उसे उसी क्षण मंच पर ला खड़ा किया है। 'सहसा' राजमाता का प्रवेश, "उसी क्षण एकाएक पुरुष का प्रवेश", "एकाएक प्रविष्ट हो," जैसे रंग-संकेतों[7] की सारे नाट्य-काव्य में प्रचुरता है। कवि ने ध्वनि और प्रकाश की व्यवस्था के विषय में भी रंग-संकेत दिये हैं, किन्तु वे वातावरण को अधिकाधिक रोमांचक और रहस्यमय बनाने की दिशा में ही अधिक

---

१. दे०, **वही**, पृ० १९-२३
२. दे०, **वही**, पृ० ८७-८९
३. **वही**, पृ० ३४-३५
४. **वही**, पृ० ९४
५. **वही**, पृ० ११९
६. **वही**, पृ० १२४
७. **वही**, पृ० ७७, ७८, ९२

प्रवृत्त हैं, अनुभूतियों को यथार्थ की ऊष्मा से अनुप्राणित करके प्रभावपूर्ण बनाने में उनका कोई योग नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि अभिनय की दृष्टि से सूखा सरोवर को एक सफल कृति नहीं कहा जा सकता।

(६) **उद्देश्य**—'सूखा सरोवर' की रचना में कवि का यह उद्देश्य रहा है कि जब शासक लोग जनता के सच्चे प्रतिनिधित्व के दायित्व का निर्वाह न करके या तो निष्क्रिय आदर्शों की झोंक में पलायनवादी बन जायें अथवा सत्ता-लोलुप होकर कर्त्तव्यहीन और निरंकुश हो जायें तो जीवन का सरोवर सूख जाता है। बड़ा राजा शासन-कार्य को 'बोझ' मानकर त्याग का पाखण्ड रचता है और संन्यास ग्रहण कर लेता है। छोटा राजा सत्ता को हथियाने और फिर सुरक्षित रखने में इतना अन्धा हो जाता है कि उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भान ही नहीं रहता। यहाँ तक कि वह राजकुमारी को भी उसकी इच्छा के विपरीत सैन्य-सन्धि के बदले में मैनापुरी के राजा को विवाह में दे देना चाहता है। राजा के इस अमर्यादित आचरण से विक्षुब्ध होकर ही राजकुमारी को सरोवर में डूबकर आत्महत्या करनी पडती है। इसी से सरोवर सूख जाता है। अमर्यादित और विघटित समाज में राजकुमारी का सच्चा प्रेमी पुरुष प्रताड़ित और अपमानित होकर पागल हो जाता है। इसी अतिचार से क्षुब्ध वृद्ध प्रतिहिंसा से उन्मत्त होकर निरंकुश शासक का पाखण्डपूर्ण उद्घोषणाओं द्वारा समर्थन करने वाले प्रपंची पुरोहित का वध कर देता है और बदले में शासक द्वारा स्वयं भी मारा जाता है। कवि इस विघटित अमर्यादित सामाजिक स्थिति को, मर्यादाओं की पुनर्स्थापना द्वारा, स्वस्थ एवं सरस जीवन के अनुरूप बनाने के पक्ष में है। वह चाहता है कि समाज-सरोवर ऐसा हो, "जिसकी मर्यादा अबाध हो, अक्षुण्ण हो।"[1] मर्यादा के टूटने से राजमाता, राजकुमारी, वृद्ध और पागल को सत्य की वेदी पर आत्म-बलि देनी पड़ती है, जिसके परिणामस्वरूप संन्यासी को सच्चे जन-प्रतिनिधित्व के दर्शन की उपलब्धि होती है और वह स्वार्थ और अहंकार की क्षुद्र सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए आत्म-बलिदान के लिए उद्यत हो जाता है।[2] उससे पूर्व ही पागल आत्मोत्सर्ग कर देता है, जिससे जीवन-सरोवर में पुनः पानी भर जाता है। कवि का अभिप्राय यह है कि स्वार्थ का बलिदान करके समष्टि-हित के उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित होने से जीवन मर्यादित और सरस हो उठता है। संन्यासी सरोवर से कहता है "हमें मर्यादा दो, हम उसे निश्चय निभायेंगे।"[3] निजत्व को समष्टि की बलि-वेदी पर उत्सर्ग कर देने से उस मर्यादा का उदय होता है, जो जीवन-सरोवर को कभी सूखने नहीं देती। संन्यासी की प्रतिज्ञा में कवि के अभिप्रेत अर्थ को वाणी मिली है—

"हम हर क्षण करेंगे
रक्षा सरोवर की।

---

१. वही, पृ० ४६
२. वही, पृ० ११८
३. वही, पृ० ११०

कभी सूखने नहीं देंगे
जो जीवन मिला है।"[1]

अभिधार्थों और प्रतीकार्थों के अन्तर्विरोध के कारण कवि का उपर्युक्त उद्देश्य कृति के समग्र कृतित्व से सम्पृक्त नहीं हो सका है। उदाहरणार्थ जो सरोवर का देवता अभिलाषा करता है कि "भविष्य में कभी कोई मुझे साधन बनाकर आत्महत्या न करे," वही सरोवर के चारों ओर पहरा लगाने के लिए किसी आत्मा की नियुक्ति के उद्देश्य की पूर्ति-हेतु सरोवर की घाटी में किसी प्रतिनिधि की बलि चाहता है। जो सरोवर राजकुमारी की आत्म-हत्या से सूखा था वही पागल की आत्म-बलि से नव जीवन से आप्लावित हो उठता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाट्य-काव्य के सभी तत्त्वों की दृष्टि से सूखा सरोवर एक सफल कला-कृति नहीं है। कवि ने सामाजिक विघटन की जिस समस्या को अपना कथ्य चुना है वह उसके अनुरूप कथानक, पात्रों और संवादों की सृष्टि नहीं कर सका है। छोटे राजा और बड़े राजा से सम्बन्धित कथानक और राजकुमारी तथा प्रेमी पुरुष से सम्बन्धित कथानक के मध्य कोई घनिष्ठ अन्विति नहीं है। रोमांचक और अलौकिक वातावरण के मध्य सामाजिक विघटन की स्थिति से सम्बन्धित यथार्थ-बोध प्रायः धूमिल होकर रह गया है।

---

१. वही, पृ० १२४

अध्याय ७

संशय की एक रात : रूप तथा अभिव्यंजना

(क) **सामान्य विवेचन**—'संशय की एक रात' नरेश मेहता द्वारा रचित नाट्य-काव्य है। नरेश मेहता के 'बन पाखी सुनो' और 'बोलने दो चीड़ को' नामक कविता-संग्रहों के उपरान्त 'संशय की एक रात' का सन् १९६२ में प्रकाशन हुआ। विचारों को बिम्बों में ढालकर व्यक्त करने की जो प्रवृत्ति उक्त काव्य में दिखलायी पड़ती है उसके प्रारम्भिक लक्षण 'दूसरा सप्तक' में संकलित 'समय-देवता' में परिलक्षित होते हैं।[1] 'मेरा समर्पित एकान्त' काव्य-संग्रह में उनकी 'समय-देवता' के अतिरिक्त सन् १९६१-६२ की रचनाएँ हैं।

'संशय की एक रात' का कथानक राम-कथा के उस अंश से सम्बन्धित है जिसमें राम लंका-युद्ध की तैयारी में सेतु-बन्ध बनवा चुके हैं और इसका कथ्य है युद्ध की समस्या और उससे सम्बन्धित प्रश्नों पर चिन्तन। स्वयं नरेश मेहता ने प्रस्तुत कृति को एक 'काव्य' अथवा 'खण्डकाव्य' की संज्ञा दी है।[2] डॉ० रामदरथ मिश्र ने 'संशय की एक रात' को राम के जीवन के एक संदर्भ को लेकर लिखा गया 'प्रबन्ध काव्य' कहा है।[3] प्रत्येक व्यवस्थित कथा-काव्य प्रबन्ध-काव्य तो होता ही है, कथा-नायक के जीवन की समग्रता अथवा आंशिकता के चित्रण के आधार पर प्रबन्ध-काव्य के दो प्रकार माने जाते हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य। इस दृष्टि से 'संशय की एक रात' को खण्डकाव्य कहना प्रबन्ध-काव्य जैसे सामान्य नाम की अपेक्षा अधिक निश्चयात्मक है। खण्ड-काव्य या महाकाव्य वर्णनात्मक शैली में भी हो सकता है और नाटकीय शैली में भी। अतः जिस खण्ड-काव्य या महाकाव्य में नाटकीय शैली का प्रयोग किया गया हो उसे 'नाट्य-काव्य' कहना खण्डकाव्य और महाकाव्य कहने की अपेक्षा भी कहीं अधिक निश्चयात्मक और व्यंजक है। 'नाट्य-काव्य' कथा-काव्य होने के नाते प्रबन्ध-काव्य तो होता ही है, साथ ही वह नाटकीय भी होता है। नाटकीयता का सम्बन्ध रंगमंच और प्रेक्षकों से होने के कारण नाट्य-काव्य को प्रस्तुतीकरण की सीमाओं से निर्धारित होकर संक्षिप्त और गठित होना पड़ता है। यही कारण है कि 'नाट्य-काव्य' अधिकतर खण्ड-काव्य ही होते हैं, महाकाव्य प्रायः बहुत कम। 'संशय की एक रात' नाटकीय खण्ड-काव्य है, अतः उसे 'नाट्य-काव्य' कहना ही अधिक व्यंजक

---

१. सम्पा० अज्ञेय, **दूसरा सप्तक**, पृ० १३२-१४५

२. दे०, नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, मुख-पृ० तथा आवरण पृ०

३. डॉ० रामदरश मिश्र, **हिन्दी कविता : तीन दशक**, पृ० १५

और निश्चयात्मक है, क्योंकि इस नाम से एक साथ ही उसकी नाटकीय शैली, संक्षिप्त (खण्ड-काव्यात्मक) स्वरूप और कवित्व का बोध होता है।

'संशय की एक रात' दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' निराला के 'राम की शक्ति पूजा', दुष्यन्त कुमार के 'एक कण्ठ विषपायी' और भारती के 'अन्धायुग' नामक युद्ध-काव्यों की परम्परा में रचित कृति है।

(ख) **रूप और अभिव्यंजना की दृष्टि से पर्यालोचन**—'नाट्य-काव्य' के रूप और उसकी अभिव्यक्ति के कथानक, चरित्र-चित्रण, संवाद और अभिव्यंजना, अभिनेयता तथा उद्देश्य नामक तत्त्वों के आधार पर यहाँ 'संशय की एक रात' का विशद विश्लेषण करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे कि यह किस कोटि का नाट्य-काव्य है।

(१) **कथानक**—'संशय की एक रात' के कथानक के तीन प्रेरणा-स्रोत माने जा सकते हैं—(१) वाल्मीकि और तुलसी आदि कवियों द्वारा प्रस्तुत राम-कथा का सेतुबन्ध-सम्बन्धी प्रसंग, (२) निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' और (३) सुमित्रानन्दन पन्त कृत 'स्वर्ण-किरण' में संकलित 'अशोकवन' नामक रचना। 'संशय की एक रात' के कथानायक राम की संशयग्रस्त मनःस्थिति पर 'राम की शक्ति-पूजा' के राम का प्रभाव है। राम की संशयालु प्रवृत्ति और मानवोचित दुर्बलताओं के दर्शन पहली बार 'राम की शक्ति-पूजा' में ही होते हैं। पन्त जी की 'अशोक वन' नामक रचना का 'संशय की एक रात' के कथानक पर उतना प्रभाव नहीं है जितना कृति में व्यक्त सीता-विषयक दृष्टिकोण पर है। 'संशय की एक रात' में सीता को जन-स्वतन्त्रता की प्रतीक मानने के मूल में पन्त जी की यह धारणा प्रेरणा-स्रोत के रूप में सक्रिय प्रतीत होती है—

"देवि, तुम्हीं वह मुक्ति रूप, यह
मुक्त प्रतीति बने नव बन्धन।"[१]

'युद्ध केवल फेन ही नहीं निर्णय है'[२] की जो बात नरेश मेहता ने कही है, उससे कुछ-मिलती-जुलती बात पन्त जी ने कही है—

"देवि, युद्ध से होगा निर्णय।"[३]

नरेश मेहता ने अपनी कृति को पन्त जी को समर्पित करके सम्भवतः उक्त प्रेरणा के लिए कृतज्ञता व्यक्त की है। 'संशय की एक रात' के कथानक के विषय में नरेश मेहता का कथन है, "अपने विशेष प्रयोजन के लिए ही रामकथा का मैंने वह स्थल चुना जो घटनाहीन था, किन्तु मेरी रचना-संभावना के लिए उर्वर। राम जिस द्विविधात्व को प्रस्तुत करते हैं उसके लिए यही उपयुक्त स्थल था।"[४]

---

१. सुमित्रानन्दन पन्त, **स्वर्ण किरण**, पृ० १७४
२. नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, पृ० ८३
३. सुमित्रानन्दन पन्त, **स्वर्ण किरण**, पृ० १६३
४. नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, (शीर्षबन्ध),

इस कृति का कथानक चार सर्गों में विभक्त है—

(१) साँझ का विस्तार और बालू तट, (२) वर्षा-भीगे अन्धकार का आगमन, (३) मध्य रात्रि की मन्त्रणा और निर्णय, (४) सन्दिग्ध मन का संकल्प और सवेरा। राम रावण से युद्ध करने की तयारी करने के उपरान्त रामेश्वरम् के सिन्धु-तट पर पहुँच गये हैं; सेतु-बन्ध अन्तिम रूप से तैयार हो चुका है। दूसरे दिन प्रातः सेनाएँ लंका पर अभियान के लिए प्रस्थान को उद्यत हैं। प्रज्ञा-पुरुष राम का मन युद्ध, युद्ध के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों और युद्ध के परिणामों के विषय में अनेक संकल्पों-विकल्पों के बीच दोलायमान होने लगता है। सन्धि के सभी प्रयत्न पहले ही विफल हो चुके हैं, क्योंकि प्रतिबार रावण-द्वार से शान्ति के सब दूत लौटे हार।[1] वे अपनी पुरानी भूलों और उनके प्रति दूसरों की प्रतिक्रियाओं के विषय में सोचकर व्याकुल हो उठते हैं। वे पछताते हैं कि जानते हुए भी उन्होंने स्वर्णमृग का पीछा क्यों किया? जनक जी, बन्धु-बान्धव, पुरवासी और स्वयं सीता भी उनके विषय में क्या सोचती होगी।[2] इसी बीच लक्ष्मण जी उन्हें पम्पा के राजा के साथ हुई सन्धि तथा राजा द्वारा दिये गये सैन्य-सहायता-सम्बन्धी आश्वासन के विषय में अवगत कराते हैं।[3] राम परिस्थितियों की विषमता से आक्रान्त होने के कारण अपने अस्तित्व को ही निरर्थक मानने लगते हैं।[4] लक्ष्मण सन्धि या युद्ध को टूटे सन्दर्भ की विवशता मात्र नहीं मानते और न ही स्वयं को किसी अदृश्य सत्ता के अन्धे हाथों द्वारा परिचालित यन्त्र मात्र मानते हैं।[5] वे अपनी लघुता के बावजूद भी स्वयं को सार्थक मानते हैं और कर्म को अपना स्वत्व स्वीकार करते हैं।[6] लक्ष्मण अपनी संकल्पित प्रज्ञा, वर्चस्वी निष्ठा और उत्सर्गित इच्छा पर विश्वास रखते हुए आगे बढ़ते चलने में आस्था व्यक्त करते हैं, फिर भले ही यश मिले या अपयश, जय मिले या पराजय।[7] वे शपथपूर्वक घोषणा करते हैं कि यदि राम आज्ञा दें तो वे राम को चिन्तित करने वाले ब्रह्म-लेख को भी बाणों की चुनौती देकर अकेले ही लंका पर आक्रमण कर सकते हैं और अपने पुरुषार्थ से सीता जी को भी ला सकते हैं।[8] लक्ष्मण के मौन होने पर राम उन्हें सम्बोधित करते हुए

---

१. वही, पृ० ८
२. वही, पृ० ८-९
३. वही, पृ० १०
४. वही, पृ० १३
५. वही, पृ० १८
६. "कितने ही लघु हों
इससे क्या?
सार्थक हैं।
स्वत्व है हमारा
कर्म—" वही, पृ० १८-१९
७. वही, पृ० १९-२०
८. वही, पृ० २१-२३

कहते हैं कि मानव में निहित श्रेष्ठता को जगाना और 'युद्ध का बचाना' उनकी कामना रही है। वे अपने स्वभाव पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं, "मैं नहीं हूँ लोपुरुष, युद्ध मेरी नहीं है कुण्ठा, पर युद्धप्रिय भी नहीं।"[1] राम स्वयं को अपने वंश के दुःख का कारण मानकर अनुताप की आग में तपने लगते हैं। पत्नी-हरण, पिता-मरण, जटायु-वध तथा अंगद, हनुमान, लक्ष्मण, भरत और पुरजनों की अकारण पीड़ा का कारण वे स्वयं को ही घोषित करते हैं।[2] वे नहीं चाहते कि उनकी व्यक्तिगत समस्याएँ ऐतिहासिक कारणों को जन्म दें।[3] राम की दृष्टि से यदि यज्ञ, देवोपासना, मानव-एकता युद्धों के बिना सत्य नहीं है तो प्रज्ञावान् व्यक्ति के सामने गम्भीर प्रश्न और संकट उपस्थित हो जाता है। ऐसा युद्ध और उसमें प्राप्त विजय मिथ्या है।[4] राम का मन नर-संहार के प्रति वितृष्णा से भर उठता है।[5]

दूसरे सर्ग में, लक्ष्मण राम को सिन्धुतट पर अकेला छोड़कर हनुमान जी के साथ विभीषण के शिविर-द्वीप की ओर चले जाते हैं। राम घूमते हुए सेतुबन्धु की ओर जाकर उसकी एक बुर्जी पर विचार-मग्न खड़े हो जाते हैं। वर्षा होने लगती है। राम चाहते हैं कि वर्षा में भीग कर उनकी संशय-खण्डित आत्मा शान्त हो जाए। वे सोचते हैं कि क्या युद्ध से ही सत्य सम्भव है, मानव का मानव से सत्य सम्भव नहीं?[6] यदि मानवीय प्रश्नों का उत्तर एकमात्र युद्ध ही है तो राम को ऐसे युद्ध में प्राप्त जय और साम्राज्य भी काम्य नहीं। उन्हें मानव के रक्त पर पग रख कर आती हुई सीता भी नहीं चाहिए।[7] राम नहीं चाहते कि अब तक कुल के विनाश का निमित्त बने रहने के उपरान्त अब वे जन-विनाश के निमित्त बनें।[8] इसी समय ऋक्षपति जामवन्त द्वारा भेजा गया नील सेतुबुर्ज के चारों ओर चक्कर काटती हुई एक ममतामयी छाया के विषय में राम को सूचना देता है।[9] सेतुबन्ध पर जाने के उपरान्त राम का माया-मयी छाया के रूप में अपने पिता तथा जटायु की आत्माओं से साक्षात्कार होता है।[10] दशरथ की आत्मा अनुतप्त और संशय-ग्रस्त राम को संदेश देती है कि बिना युद्ध के सत्य तथा अधिकार की प्राप्ति और रक्षा असम्भव है। आज तक कीर्ति, नारी, धरा, जय, लक्ष्मी आदि भिक्षा से नहीं, वर्चस्व से अर्जित हुए हैं। यहाँ धर्म-अधर्म, जय-

---

१. वही, पृ० २७
२. वही, पृ० २८-२९
३. वही, पृ० २९
४. वही, पृ० ३२
५. वही, पृ० ३३
६. वही, पृ० ३९
७. वही, पृ० ४०
८. वही, पृ० ४१
९. वही, पृ० ४२-४३
१०. वही, पृ० ५२

पराजय कुछ नहीं; यहाँ सब कर्त्तव्य है और कर्म के प्रति अनासक्ति कापुरुषता है।[१] आत्मा राम को आदेश देती है कि वे परिस्थिति रूपी धेनु को अँगुलियों से दुहें।[२] दाशरथी आत्मा के अनुसार स्वयं दशरथ की मृत्यु का कारण कैकेयी के प्रति मिथ्या मोह ही था। मोह किसी का भी हो, असत्य है। आत्मा राम को आदेश देती है कि वे असत्य से युद्ध करें।[३] राम के यह प्रश्न करने पर कि सत्यासत्य का निर्णायक कौन है? आत्मा उत्तर देती है कि इस सृष्टि में नियम का एक विराट् चक्र चलता रहता है और कर्म ही इस विराट् अग्निचक्र की गति है। इस महानियम और महाकाल को जन्म, मृत्यु, जय, पराजय के लौकिक सम्बन्धों से विभक्त नहीं किया जा सकता। हम उस महानियम के निकट केवल कर्म के क्षण हैं।[४] किन्तु राम इन अपरीक्षित आप्त-सत्यों को, जिनके विषय में कभी किसी ने प्रश्न या संशय नहीं किया, आँखें मूँदकर स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं, वे संशय को ऋत की भी कसौटी मानते हैं।[५] दाशरथी आत्मा के अनुसार संशय स्वयं ऋत या सत्य नहीं है, सत्य तो कर्म है, आस्था है, सृष्टि है और ऋतम्भरा प्रज्ञा है।[६] फिर राम में तो परिताप और प्रायश्चित्त ही है, संशय भी नहीं है। राम पिता की आत्मा को समझाते हैं कि पुत्र, भाई, पति आदि अनेक सम्बन्धों के सन्दर्भ में उन्हें परिताप और पश्चात्ताप है, किन्तु व्यक्ति के नाते केवल संशय है। उन्हें परिणाम के विषय में संशय नहीं, मानव-नियति के विषय में संशय है। यदि मानव के सारे शुभाशुभ युद्ध से ही प्रतिपादित होते हैं, तो उन्हें न सत्य माना जा सकता है और न ही अन्तिम। राम स्वयं को केवल कर्म, क्षण या घटना मात्र मानने के पक्ष में नहीं है। जटायु का कहना है कि राम को अपने पिता और परिजनों के लिए परितप्त होने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि यहाँ प्रत्येक कर्म, क्षण या व्यक्ति घटित होकर कालातीत हो जाता है। यह सम्बन्धहीन घटना ही अग्नि है, नियम है।[७] इस विराट् महानियम में केवल स्थितियाँ हैं, सम्बन्ध नहीं। प्रत्येक क्षण में एक नयी सृष्टि का उद्‌भव और अन्त हो रहा है। यदि क्षणों की पृथकता को समझ लिया जाय, तो दुःख और परिताप का कोई कारण ही नहीं है।[८] काल अविनश्वर है और निरपेक्ष है, हम किसी क्षण जन्म लेने और किसी क्षण मरने के कारण काल-सापेक्ष हैं। काल के अन्तराल में ध्वनियाँ, प्रकाश,

---

१. वही, पृ० ५६-५७
२. वही, पृ० ५७
३. वही, पृ० ५८
४. वही, पृ० ५९
५. वही, पृ० ६०
६. वही, पृ० ६१
७. वही, पृ० ६४
८. वही, पृ० ६५

रंग, रूप, गन्ध, बोधहीन आत्माएँ, असंख्य ग्रह-उपग्रह, यात्रा कर रहे हैं।[1] जटायु के मौन होने पर दाशरथी आत्मा पुनः बोल उठती है। वह कहती है कि इस महाकाल की अनन्त चित्रपटी पर कितनी ही विरोधी गुण-धर्म वाली सृष्टियाँ आकाश, समुद्र और पृथ्वी में फैली पड़ी हैं। ये सृष्टियाँ गुण-धर्म हैं, किसी के प्रश्न का उत्तर नहीं है।[2] राम को असत्य से युद्ध करने का संदेश पुनः देकर छायात्मा विलीन हो जाती है।

'मध्य रात्रि की मन्त्रणा और निर्णय' नामक तीसरे सर्ग में युद्ध-परिषद् की बैठक होती है। राम अपने शिविर में लक्ष्मण, विभीषण, हनुमान, सुग्रीव, जामवन्त आदि सामन्तों के साथ बैठे हुए युद्ध-मन्त्रणा में रत हैं। लक्ष्मण जी वाद-विवाद का प्रवर्त्तन करते हुए हनुमान 'जी को राम के इस निर्णय से अवगत कराते हैं कि युद्ध नहीं होगा, क्योंकि सीता का हरण राम की व्यक्तिगत समस्या है।[3] हनुमान जी राम से उक्त निर्णय का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि यदि सीता का अपहरण राम की व्यक्तिगत समस्या होती तो सेतुबन्ध का निर्माण और सभी प्रकार के जातिगत और प्रान्तगत भेद-भावों को भुलाकर कोटि-कोटि साधारण जन का एकत्र संगठन कभी सम्भव न होता।[4] सीता माता भले ही राम की पत्नी हों, किन्तु साधारण जन के लिए तो वे एक पावन प्रतीक हैं। रावण के अशोक वन की सीता साधारण जन की अपहृत स्वतन्त्रता है।[5] हनुमान जी आवेशपूर्वक कहते हैं कि अब और अधिक समय तक साधारण जन राक्षसों की साम्राज्यवृत्ति के दास नहीं बने रह सकते। उन्हें यह किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं कि सुन्दर दक्षिण प्रदेश रावण या किसी अन्य का उपनिवेश हो।[6] राम हनुमान जी के तर्कों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि युद्ध के उपरान्त शान्ति हो जाय; यह भी आशंका है कि इस युद्ध से अनेक युद्धों का जन्म हो और इस दुश्चक्र का कोई अन्त ही न होने पाये।[7] तिस पर लक्ष्मण जी राम से पूछते हैं "क्या इस प्रश्न के हम ही अन्तिम निर्णायक हैं?"[8] राम उत्तर देते हुए कहते हैं कि युद्ध किसी भी पीढ़ी के लिए दायित्व है, आवेश नहीं। राम सभासदों को समझाते हैं कि वे स्वयं अयोध्या से निर्वासित हैं, सुग्रीव आदि सामन्त दक्षिण देश के लिए कटिबद्ध हैं, विभीषण रावण से न्याय प्राप्त करना चाहते हैं और हनुमान साधारण जनों के दुःख और अधिकार के प्रतिरूप हैं।[9] इस प्रकार किसी न किसी स्वत्व की प्राप्ति की भावना

---

१. वही, पृ० ६६
२. वही, पृ० ६८
३. वही, पृ० ७४
४. वही, पृ० ७५-७६
५. वही, पृ० ७८
६. वही, पृ० ७९
७. वही, पृ० ८०
८. वही, पृ० ८०
९. वही, पृ० ८१

ने इतने विषम तत्त्वों को एकत्र नियोजित किया है। राम की दृष्टि में युद्ध एक फेन है। यह आवश्यक नहीं कि युद्ध की परिणति शान्ति और सुरक्षा में ही हो। राम के कथन पर टिप्पणी करते हुए हनुमान जी कहते हैं कि भावी युद्धों की आशंका मात्र से डर कर न्याय और अधिकार का पक्ष छोड़ देना उचित नहीं। सुग्रीव के विचार से युद्ध केवल फेन ही नहीं वरन् निर्णय है, जिससे इतिहास बना करता है।[1] यद्यपि विभीषण का मन भी राम की भाँति ही विभाजित और संशयग्रस्त है, क्योंकि एक ओर वे अन्याय का प्रतिकार चाहते हैं और दूसरी ओर वे अपने देश पर होने वाले आक्रमण के भीषण और विनाशकारी परिणामों और अपनी देश-द्रोही तथा स्वार्थी के रूप में कुख्याति की आशंका मात्र से सिहर उठते हैं, तथापि वे युद्ध को स्वत्व और अधिकार के अर्जन का अन्तिम मार्ग और दर्शन घोषित करते हैं।[2] अन्त में परिषद् का निर्णय युद्ध के पक्ष में होता है। राम परिषद् के निर्णय को अंगीकार करते हैं।

'संन्दिग्ध मन का संकल्प और सवेरा' शीर्षक चतुर्थ सर्ग में युद्ध-वेश धारण किये हुए राम अपने शिविर के गवाक्ष की चौखट पर कुहनी टिकाये चिन्तित दिखलाई पड़ते हैं। अभियान की तैयारी हो रही है। राम लक्ष्मण की प्रतीक्षा में हैं, क्योंकि सूर्योदय के समय ही समुद्र को साक्षी बनाकर पार्थिव पूजन होना है। राम सोचते हैं, "मैंने अपने संशयों, शंकाओं, प्रश्नों को अपरिचित ज्वारों को सौंप दिया है और अब मैं निर्णय हूँ सबका, अपना नहीं।[3] कैसी बिडम्बना है कि मैं आज का तापसवेशी कल युद्ध करूँगा। मैंने इस मध्य रात्रि के निर्णय में, एक जन-समूह के सीने में इतिहास खंग की भाँति घोंप दिया है। अब भीषण युद्ध होगा और इस बात की साक्षी कभी नहीं मिल पायेगी कि मैंने व्यर्थ ही संशय करके फिर बहुमत के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया था। किसी के पास प्रश्नों के उत्तर नहीं हैं, सिद्धियाँ, देवलोक आदि केवल प्रलोभन हैं, जिनमें फँसकर मनुष्य अपना विवेक सौंप देता है।[4] अब प्रश्नों की बेला नहीं रही, सूर्योदय युद्ध की वास्तविकता ला रहा है, अब कर्म का समय है।" इसी बीच लक्ष्मण कुछ सामन्तों के साथ पार्थिव-पूजा के लिए राम को बुलाने के हेतु आते हुए दिखलाई पड़ते हैं। सूर्योदय के साथ ही राम के मुख पर का तनाव कम हो जाता है; अब वे व्यक्तिगत संकल्पों-विकल्पों की सीमाओं से निकलकर सूर्योदय, वैश्वानर और ऋतम्भरा को वरण करने को आतुर प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त कथानक पर विचार करने से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :—(१) संशय की एक रात का कथानक स्थूल घटनात्मक न होकर अधिकांशतः

---

१. वही, पृ० ८३
२. वही, पृ० ८४-९२
३. वही, पृ० ९९
४. वही, पृ० १०५

वैचारिक है (२) घटनात्मक आधार है सेतुबन्ध और युद्ध। इन परिस्थितियों से सम्बद्ध पात्रों—राम, लक्ष्मण, हनुमान, विभीषण आदि—की मनःस्थितियों को ऐसे ढँग से उभारा गया है कि मूल परिस्थितियों के सभी पहलू उभर कर बिम्बित होते हैं और अनेक विरोधी और अविरोधी विचारधाराएँ युद्ध-सम्बन्धी समग्र चिन्तन को आकलित कर लेती हैं (३) एक स्थिति को विभिन्न मनःस्थितियों या वैचारिक कोणों से इस प्रकार देखा गया है कि वैचारिक वैविध्य—जो भले ही अन्त में आकर एक बिन्दु पर एकाग्र होता है—नाटकीय क्रिया-व्यापार का रूप ले लेता है। (४) युद्ध जैसी भीषण और ज्वलन्त परिस्थिति ही विभिन्न चिन्तन-प्रवाहों के मूल में अवस्थित होने के कारण चिन्तन संवदेना-स्नात रहा है। बहुत कम स्थलों पर चिन्तन सन्दर्भ-निरपेक्ष और शुष्क सैद्धान्तिक रूप धारण करता है। (५) राम का अन्तर्द्वन्द्व पर्याप्त तीखा और साथ ही स्वाभाविक है। अन्तर्द्वन्द्व के सूक्ष्म चित्रण से ही इस कृति के कथानक में वह कटाव आ गया है जो किसी कृति को नाटकीय और काव्यात्मक उत्कर्ष प्रदान करता है। यदि छाया (दशरथ) और जटायु के चिन्तन में थोड़ा कसाव या सन्दर्भ-सापेक्ष अनुभूति का स्पर्श और होता तो प्रभाव में और भी सघनता और एकाग्रता आ जाती। (६) सारे कथानक में दशरथ की आत्मा को प्रस्तुत करने का ढंग ही कुछ असंगत-सा प्रतीत होता है। जिस ढंग को अपनाया गया है वह पौराणिक अधिक है और मानवीय तथा मनोवैज्ञानिक बहुत कम। सेतुबन्ध पर विभीषण आदि को छायात्मा का दिखलाई पड़ना, नल द्वारा राम को उसके विषय में सूचित किया जाना, तथा राम का उसे देखने सेतुबन्ध पर आना नाटकीय स्थिति पैदा करने के लिए किया गया ऊपरी और कृत्रिम उपक्रम है। एकाकी चिन्तन के घनीभूत क्षणों में राम अकेले ही ऐसे भावाविष्ट मानसिक स्तर पर पहुँच सकते थे, जिसमें वे पिता और जटायु की आत्माओं से संलाप कर सकते थे। नरेश मेहता ने अपने काव्य में प्रेतात्माओं के प्रयोग का औचित्य सिद्ध करने के लिए कहा है, "एक विशेष प्रभाव उत्पन्न करने के लिए तथा निवारण के लिए द्वितीय सर्ग में हेमलेट की शैली प्रस्तुत की गई है। किसी का इस पर भी मतभेद या तीव्र विरोध हो सकता है। ये सारी बातें रचनाकार के उसी संकट में समाविष्ट होती हैं।"[१] आश्चर्य की बात तो यह है कि जो नये कवि परम्पराओं के प्रति विद्रोह का नारा लगाते हैं, वे विदेशी लेखकों की कृतियों में प्रयुक्त उन मृत रूढ़ियों का अनुसरण करते हैं, जिनकी स्वयं पाश्चात्य समीक्षकों ने भी कटु आलोचना की है और जिनकी आज के बौद्धिक युग में सार्थकता सिद्ध करना असम्भव है। (७) सारे कथानक में एक तारतम्य और विकास है। चिन्तन जड़ न होकर गतिमय है। युद्ध को अस्वीकार करने से लेकर स्वीकार करने तक की राम की मानसिक यात्रा उत्तरदायी और प्रज्ञावान् व्यक्ति की विवशता से अन्तर्गुम्फित है। मानवीय सत्य की रक्षा के समर्थन में ही राम युद्ध को अस्वीकार करते हैं और बाद में चलकर उसी के लिए युद्ध को स्वीकारने

---

१. नरेश मेहता, संशय की एक रात, (शीर्षबन्ध),

को भी विवश होते हैं। जिस मनोवैज्ञानिक क्रम से उनकी विवशतामयी, आरोपित स्वीकृति सघन होकर उनकी अपनी ही शक्ति का सूर्य बनकर उनके ही अन्दर से उदित होती है, वह अत्यन्त प्रभावपूर्ण और स्वाभाविक है।

(२) **पात्र और चरित्र-चित्रण**—'संशय की एक रात' में कथा-नायक राम के अतिरिक्त लक्ष्मण, हनुमान, विभीषण, छाया (दशरथ की आत्मा), जटायु, नल और जामवन्त आदि पात्र हैं। इस कृति के केन्द्रीय पात्र **राम** हैं। राम का मानसिक संकट मूलतः उत्तरदायित्व का संकट है। वे मानव की सहज मानवता में विश्वास रखते हैं और मानव में निहित श्रेष्ठ गुणों को जगाने और उदात्त करने के पक्षपाती हैं। उनकी आस्था है कि मानव को मानव से सहज मानवीय आधार पर ही सत्य की उपलब्धि हो, युद्ध आदि हिंसात्मक साधनों से नहीं।[१] राम में संशय इसलिए नहीं है कि वे युद्ध से आतंकित या कापुरुष हैं,[२] वरन् इसलिए कि वे युद्ध और हिंसा को मानवीय सत्य, न्याय और शान्ति की समस्या का कोई आधारभूत समाधान नहीं मानते हैं।[३] व्यक्तिगत उद्देश्य की पूर्ति के लिए जन-विनाश का कारण नहीं बनना चाहते।[४] फिर यदि युद्ध किया भी जाय तो राम की दृष्टि से यह कोई आवश्यक नहीं है कि युद्ध के उपरान्त शान्ति हो ही जाय, यह भी सम्भव है कि हिंसा-बल से और हिंसा-बल भड़क उठे और युद्धों का दुश्चक्र ही प्रारम्भ हो जाय। राम की संशय-ग्रस्त मनःस्थिति उनकी दुर्बलता की परिचायक नहीं है, वरन् वह मानवीय सत्यों और मूल्यों के स्थापन और संरक्षण, शान्तिमय और अहिंसक उपायों की खोज और उनके समर्थन की बौखलाहट है। उनके संशय के मूल में व्यक्तिगत हानि सहकर भी नरसंहार-कारी युद्ध से बचने की लोक-संग्रही संवेदना सन्निहित है। यह संशय किसी असमर्थ और अविवेकी का नहीं, व्यापक जन-हित और जन-रक्षा के उदात्त लक्ष्य के प्रति समर्पित समर्थ और विवेकी व्यक्ति का संशय है। इसीलिए राम संशय को सत्य ही नहीं परम सत्य और ऋत का भी निकष मानते हैं।[५] वे उन आप्त-वाक्यों और अन्ध-

---

१. "मैं सत्य चाहता हूँ
युद्ध से नहीं,
खड्ग से भी नहीं
मानव का मानव से सत्य चाहता हूँ।" **वही**, पृ० ३६

२. मैं नहीं हूँ कापुरुष
युद्ध मेरी नहीं है कुण्ठा
पर युद्धप्रिय भी नहीं।" **वही**, पृ० २७

३. **वही**, पृ० ८२

४. **वही**, पृ० ४०-४१

५. "ओ पिता !
संशय, निकष है
ऋत का भी।" **वही**, पृ० ६०

विश्वासों को कभी सत्य के रूप में स्वीकार करने के पक्ष में नहीं, जिन्हें कभी संशयजन्य बौद्धिकता की कसौटी पर परखा ही नहीं गया हो।[1] 'संशय की एक रात' के राम बौद्धिक और विवेकी हैं, इसलिए वे पिता की आत्मा के तर्कों को भी आँखें मूंदकर स्वीकार नहीं कर लेते, वरन् उनका प्रतिवाद करते हैं। राम का दृष्टिकोण जनतान्त्रिक और संसदीय है। सीता-अपहरण की समस्या पर जब वे व्यक्तिगत परिप्रेक्ष्य में विचार करते हैं तो युद्ध के प्रति वे नकारात्मक दृष्टिकोण विकसित कर पाते हैं, किन्तु परिषद् के निर्णय के माध्यम से जब वे उक्त समस्या पर व्यापक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में सोचते हैं तो युद्ध के प्रति स्वीकारात्मक दृष्टिकोण अपनाने को विवश होते हैं। युद्ध की अस्वीकृति और स्वीकृति दोनों में ही राम का मानव-मूल्यों के स्थापन और संरक्षण का भाव निहित है और वही, दृष्टिकोण के परिवर्तन के बावजूद भी, उनके व्यक्तित्व की मूल संवेदनात्मक अन्विति को बनाये रखता है। युद्ध की अस्वीकृति में मानव की मानवता पर इतना अधिक विश्वास करने की उनकी प्रवृत्ति निहित है कि युद्ध की आवश्यकता को जन्म देने वाली अमानवीय अथवा दानवीय वृत्तियों के अस्तित्व की परिकल्पना के लिए ही अवकाश नहीं रहता, किन्तु इस प्रकार का दृष्टिकोण अति-आदर्शवादी और अव्यावहारिक है। मानवीय प्रवृत्तियों के साथ ही यथार्थ जगत् में वर्तमान दानवीय प्रवृत्तियों और उनके घातक परिणामों पर विचार करते ही उनके सक्रिय प्रतिरोध की आवश्यकता अनुभव होती है, जिससे सत् प्रवृत्तियों—मानवीय मूल्यों और सत्यों—का मार्ग प्रशस्त हो सके। साम्राज्यवादी शोषक, पीड़क दुष्प्रवृत्तियों के दमन या सक्रिय प्रतिरोध की आवश्यकता का अनुभव ही युद्ध की आवश्यकता का अनुभव कराता है। इस प्रकार युद्ध के स्वीकार में भी मानवता और मानवीय मूल्यों के संरक्षण की भावना विद्यमान है, जो उपर्युक्त अति-आदर्शवादी अव्यावहारिक दृष्टिकोण की अपेक्षा कहीं अधिक वास्तविक और व्यावहारिक है। संशय से संकल्प और युद्ध की अस्वीकृति से स्वीकृति तक की मानसिक यात्रा में राम का मानवतावादी लोक-संग्रही दृष्टिकोण सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। युद्ध के आरोपित निर्णय को जैसे ही वे संकल्प के स्तर पर आत्मसात् करते हैं, उनका व्यक्तिगत विकल्प सामाजिक संकल्प के साथ ऐक्य स्थापित कर लेता है और उनके भीतर से स्वयं ही विवेक और शक्ति का सूर्योदय होता है। यहाँ राम न तो ईश्वर हैं, न सन्दर्भ-निरपेक्ष कल्पित आदर्शों या सिद्धान्तों के पुंज, उनकी विवेकमयी प्रबुद्धता, संवेदनशीलता, प्रश्नाकुल संशय-वृत्ति, मानवतावादी जीवन-दृष्टि प्रजातान्त्रिक संसदीय कार्य-पद्धति उन्हें आधुनिक युग-बोध से जोड़ देती हैं। पिता के आदेशमात्र से चौदह वर्ष के लिए कठोर वनवास वरण करने वाले राम यहाँ पिता के तर्कों को अपनी तर्क-बुद्धि से परास्त करते दिखाये गये हैं। सेतुबन्ध और युद्ध का प्राचीन सन्दर्भ आधुनिक युग के नये जीवन-सन्दर्भों से जुड़कर नई अर्थवत्ता ग्रहण करता है और उसी के परिप्रेक्ष्य में पुरातन पुरुष राम का व्यक्तित्व नये संशयों, विचारों और

---

१. वही, पृ० ६०

संस्कारों से संयुक्त होकर नई मूल्यवत्ता ग्रहण करता है। "राम की मनःस्थिति का मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से काव्यात्मक विश्लेषण करते हुए कवि कहीं भी पराजित नहीं है।"[1]

लक्ष्मण में संशय और विकल्प के स्थान पर निश्चय और संकल्प है। उनके चिन्तन की दिशा स्पष्ट है। वे राम, सीता और उनके माध्यम से सम्पूर्ण जन-जीवन के प्रति समर्पित हैं, किन्तु उनका यह समर्पण अन्ध-श्रद्धा से अनुप्रेरित न होकर विवेकाश्रित निष्ठा से अनुप्राणित है। वे मेधावी और प्रज्ञ होने के कारण कहीं भी राम के तर्कों से सहमत नहीं हो पाते हैं, किन्तु उनका यह विरोध तर्क के स्तर तक ही सीमित है, भावना के स्तर पर वे प्रभु राम के आज्ञाकारी अनुज, सेवा-रत अनुचर और प्रजा हैं। भावना के इसी स्तर पर वे राम को चिन्तामग्न देखकर स्वयं भी चिन्तित हो उठते हैं, किन्तु उनकी चिन्ता वह आत्म-पीड़क चिन्ता नहीं है, जो व्यक्ति को भीतर-ही-भीतर घुलते रहने को विवश करती है। लक्ष्मण पौरुष और कर्म के प्रतिरूप हैं; इसलिए उनकी चिन्ता कर्म और पौरुष में अपना समाधान खोजती है।[2] वे अकेले ही लंका पर अभियान करने और अपने पौरुष से सीता को रावण से मुक्त करके लाने की घोषणा करते हैं।[3] लक्ष्मण लघुता के बावजूद भी स्वयं को सार्थक मानते हैं और कर्म को अपना स्वत्व मानते हैं। वे किसी अदृश्य सत्ता अथवा नियति में विश्वास नहीं करते।[4] उनकी शक्ति का स्रोत है संकल्पित प्रज्ञा, वर्चस्वी निष्ठा और उत्सर्गित इच्छा।[5] लक्ष्मण कर्म को ही अपना लक्ष्य मानते हैं, उसके परिणाम के स्वरूप की उन्हें चिन्ता नहीं। युद्ध का परिणाम शुभ भी हो सकता है, अशुभ भी, किन्तु लक्ष्मण को इससे कोई सरोकार नहीं।[6] जब राम यह आशंका करते है कि "यह युद्ध सम्भव है अनागत युद्ध का कारण बने, सम्भव है हमारे लौटने के बाद ही आक्रमण-कारी नयी सैनिक उपनिवेशी योजनाएँ ले इसी सेतुबन्ध से लौटें"[7] तो लक्ष्मण उनसे प्रश्न करते हैं—

---

१. डॉ० कृष्णनन्दन 'पीयूष', **चिन्तन-अनुचिन्तन**, पृ० ६१

२. "ब्रह्मलेख को भी मैं
बाणों की चुनौती ही देता
यदि वह
राम के माथे पर बनता
चिन्ता की रेखा।" नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, पृ० २२

३. **वही**, पृ० २३

४. **वही**, पृ० १८

५. **वही**, पृ० १९

६. **वही**, पृ० १९-२०

७. **वही**, पृ० ८०

क्या इस प्रश्न के
हम ही अन्तिम निर्णायक हैं ?
क्या हम ही अन्तिम मानवता हैं ?[१]

उनके प्रश्न में ही उनका उत्तर निहित है। गीता का निष्काम कर्मयोग उनके व्यक्तित्व में अनायास उतर आया है।

हनुमान जी साधारण जनों के दुःख और अधिकार के प्रतिरूप हैं।[२] वे राम के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि सीता का हरण राम की व्यक्तिगत समस्या है। यदि ऐसा होता तो न सेतुबन्ध का निर्माण होता और न सब प्रकार के भेद-भावों को भुलाकर कोटि-कोटि साधारणजन रावण से युद्ध के लिए एकत्र होते। हनुमान जी उन राम को ही रावण के अत्याचारों और साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध उठ खड़े हुए जन-आन्दोलन का नेता होने का श्रेय देते हैं[३] जिन्होंने रावण-पीड़ित दक्षिण प्रदेश के असंख्य साधारण-जन का मन स्वातन्त्र्य भाव-वर्चस्व-बोध से भर दिया है।[४] हनुमान जी की दृष्टि में सीता कोटि-कोटि जन की स्वतन्त्रता की प्रतीक है। संक्षेप में, हनुमान साम्राज्यवादी प्रवृत्ति, दासता और अत्याचार के विरुद्ध न्याय, अधिकार और स्वतन्त्रता के पक्ष में उठ खड़ी हुई विद्रोही जन-शक्ति के प्रतीक हैं। वे अनागत युद्धों की आशंका मात्र से वर्तमान के न्याय और अधिकार को छोड़ने के पक्ष में नहीं हैं।

'संशय की एक रात' में **विभीषण** के अन्तर्द्वन्द्व को बहुत ही सुन्दर ढंग से उभारा गया है। विभीषण रावण को दो स्तरों पर अन्यायी मानता है—(१) व्यक्तिगत स्तर पर (२) समष्टिगत स्तर पर। जब बिभीषण ने व्यक्तिगत स्तर पर रावण से सीता को लौटाने की बात कही, तो रावण ने उनको अपमानित करके बहिष्कृत किया।[५] समष्टिगत स्तर पर रावण ने न्याय की माँग करने वाले राम के द्वारा भेजे गए दूतों को अपमानित किया तथा स्वयं अपनी पत्नी मन्दोदरी के प्रस्ताव की भी उपेक्षा की।[६] विभीषण इस अन्याय और अत्याचार के सक्रिय प्रतिरोध और प्रतिशोध के पक्ष में हैं। वे युद्ध को इसलिए स्वत्व और अधिकार के अर्जन का अन्तिम मार्ग और दर्शन मानते हैं।[७] विभीषण व्यक्तिगत स्तर पर रावण के अन्याय का प्रतिरोध नहीं कर सकते। उनके सामने एक ही मार्ग शेष है कि वे रावण के अन्याय के विरुद्ध

---

१. **वही**, पृ० ८०
२. ये हनुमान
साधारण जनों के दुःख और अधिकार के प्रतिरूप।" **वही**, पृ० ८१
३. **वही**, पृ० ७७
४. **वही**, पृ० ७७
५. "जब मैंने कहा
मुझे निष्कासित किया।" **वही**, पृ० ८८
६. **वही**, पृ० ८७-८८
७. **वही**, पृ० ९२

युद्ध छेड़ने वाले राम के साथ मिल जाएँ। किन्तु इस युद्ध की अनिवार्यता को मानते हुए भी[1] उनके मन में द्वन्द्वात्मक स्थिति बनी रहती है। उनके मन में पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या अपने राष्ट्र के प्रति उनका यही कर्त्तव्य है कि उस पर हो रहे विध्वंसकारी आक्रमण में भाग लें।[2] दूसरा प्रश्न उनके मन में यह है कि क्या राष्ट्र का इतिहास उनके कृत्य के औचित्य को सही रूप में समझकर उन्हें क्षमा कर देगा? उन्हें विश्वास है कि इतिहास उन्हें कभी सही ढंग से नहीं समझ पायेगा।[3] इतिहास की वृद्ध ठण्डी शिला पर बैठा हुआ बहुमत उन्हें देशद्रोही और राष्ट्रघाती घोषित करेगा और वही सत्य भी समझा जायेगा।[4] तीसरा प्रश्न विभीषण के मन में यह उठता है कि इसका भी क्या भरोसा है कि राम के सामन्तगण युद्ध में विजय प्राप्त करने के उपरान्त रावण की ही भाँति अन्याय और अत्याचार नहीं करेंगे।[5] इन सब प्रश्नों, संशयों के होते हुए भी स्वत्व और अधिकार के लिए अन्याय के विरुद्ध युद्ध के पक्ष में उनका निर्णय अटल है। विभीषण में चिन्तन की स्पष्टता पर्याप्त है, फिर भी कहीं-कहीं उनके कथनों में अस्पष्टता और अन्तर्विरोध मिलता है। एक ओर वे मानते हैं कि इस संसार में जब अपने जन्म और अवसान पर ही हमारा नियन्त्रण नहीं है तो स्वत्व और व्यक्तित्व के प्रश्न तो हास्यास्पद ही हैं,[6] जीवन-मरण की भाँति युद्ध भी अनिवार्य है।[7] दूसरी ओर वे कहते हैं कि युद्ध अन्तिम मार्ग है "स्वत्व और अधिकार अर्जन का।"[8] इसी प्रकार उनकी यह उक्ति "या तो हम काम किया करते हैं, लेकिन जब काम नहीं होता तो संशय किया करते हैं,[9] एक अति-व्याप्तिपूर्ण सामान्यीकरण (जनरेलाइजेशन) है। इसी प्रकार यह उक्ति भी कि "काम, सामूहिक अन्धता है और संशय वैयक्तिक अन्धता है" तर्कसंगत नहीं मानी जा सकती। इन छिट-पुट असंगतियों के बावजूद भी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह मानना न्याय-संगत है कि कवि को विभीषण के चरित्र-चित्रण में पर्याप्त सफलता मिली है।

छाया के रूप में **दाशरथी आत्मा** और **जटायु** के समावेश द्वारा इस नाट्य-काव्य में कुछ वैचित्र्य की सृष्टि की गयी है, जो आधुनिक बौद्धिक युग के अनुरूप नहीं

---

१. "मैं भी युद्ध की अनिवार्यता को मानता हूँ" **वही**, पृ० ८५
२. **वही**, पृ० ८५
३. **वही**, पृ० ८६
४. **वही**, पृ० ९०
५. **वही**, पृ० ८६
६. **वही**, पृ० ९१
७. "यहाँ सब अनिवार्यता है।
युद्ध भी।" **वही**, पृ० ९१
८. **वही**, पृ० ८४
९. **वही**, पृ० ९२
१०. **वही**, पृ० ९२

है। जटायु छायात्मा दशरथ और अपने विषय में कहता है, "हम आत्माएँ हैं, सम्बन्ध-हीन, बोधहीन आत्माएँ, जिन्हें मोही बन पुनः मृत्यु नहीं मरनी है[1]।" प्रश्न यह है कि सम्बन्धहीन, बोधहीन और मोहहीन आत्माओं को राम को इतना लम्बा-चौड़ा उपदेश देने के लिए आने की चिन्ता क्यों हुई? बिना सम्बन्ध-बोध और मोह के उपदेश का क्या प्रयोजन? क्या बोधहीन आत्माएँ गूढ़ दार्शनिक व्याख्यान दे सकती हैं? फिर यदि दशरथ की आत्मा सम्बन्धहीन है तो वह राम से यह क्यों कहती है, "डरो नहीं राघव! मैं तुम्हारी पितात्मा हूँ?"[2] फिर दाशरथी आत्मा ने राम को युद्ध के प्रति प्रेरित करने के निमित्त ऋत और महाकाल के सन्दर्भ में व्यक्ति को केवल कर्म का क्षण बतलाकर जो गूढ़ दार्शनिक पुट दिया है, उसे किसी सीमा तक उपयुक्त भी मान लें, तो भी जटायु नामक गृद्धराज के द्वारा कर्म, क्षण और व्यक्ति के घटित होकर कालातीत होने और क्षणों की पृथकता को देखने की जो गूढ़ दार्शनिक व्याख्या की गयी है, वह नितान्त शुष्क और अस्वाभाविक लगती है।

नील, जामवन्त आदि पात्रों का केवल कथा-सूत्र को जोड़ने और आगे बढ़ाने के लिए उपयोग किया गया है।

(३) **संवाद**—'कथानक' और 'चरित्र-चित्रण' के सन्दर्भ में ऊपर जो विवेचन किया गया है, उसमें संवादों का स्वरूप भी उभर कर प्रकट हुआ है। यहाँ विभिन्न पात्रों के संवादों और उनमें निहित अनुभूतियों और तर्कों को प्रस्तुत करना पिष्टपेषण मात्र होगा अतः संवादों के स्वरूप के विषय में कुछ सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत करना ही यहाँ पर्याप्त है—

(१) राम, लक्ष्मण, विभीषण और हनुमान के संवादों में नाटकीय क्रिया-व्यापार को निरन्तर गति मिली है। साथ ही इनमें बौद्धिकता अनुभूति के स्तर पर ही उतर कर व्यक्त हुई है, जिससे सरसता बराबर बनी रही है।

(२) जटायु और छाया (दशरथ की आत्मा) के कथनों में सैद्धान्तिक शुष्कता और तर्काभास की अधिकता है। इसलिए उसमें न तो नाटकीय क्रिया-व्यापार गति पकड़ता है और न काव्यात्मक सरसता ही कहीं प्रतीत होती है।

(३) राम, विभीषण और हनुमान के भावपूर्ण कथोपकथन पर्याप्त लम्बे हो गए हैं, फिर भी उनकी दीर्घता नाटकीय और काव्यात्मक प्रभाव में बाधक नहीं है। जटायु और छाया के लम्बे-लम्बे कथन बोझिल, दुरूह और नीरस हैं।

(४) कहीं-कहीं संवादों में बौद्धिक असंगतियाँ भी मिलती हैं, जैसा कि चरित्र-चित्रण के प्रसंग में दर्शाया जा चुका है। यहाँ एक संक्षिप्त

---

१. वही, पृ० ६६
२. वही, पृ० ५२

उदाहरण और लिया जा सकता है। निम्नलिखित उदाहरण में यह द्रष्टव्य है कि छाया जिस बात के लिए इंकार करती है, राम वही पूछते हैं और छाया उत्तर भी देती है—

"राम·····
पितात्मा ?
यहाँ कैसे ?
छाया—मृतकों से प्रश्न नहीं करते
पुत्र !
राम—औ यह पाखी ?
छाया—यह मेरे मित्र जटायु की आत्मा है।"[१]

(५) कुछ संवादों की भाषा जटिल और बिम्बहीन है तथा अनेक शब्दों के प्रयोग आपत्तिजनक हैं। इस विषय में आगे के पृष्ठों में विचार किया जाएगा।

(४) **अभिव्यंजना**—अभिव्यंजना के विविध तत्त्वों की दृष्टि से 'संशय की एक रात' का पर्यालोचन करने से पूर्व यहाँ भाषागत आपत्तिजनक प्रयोगों पर विचार करना उपयोगी होगा। इस काव्य की सामान्यतया उत्तम कविता के प्रवाह में ये व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग बहुत ही निराशाजनक प्रतीत होते हैं। "इस सिन्धुवेला तट बितायी[२]" में 'बेला' के साथ 'तट' की क्या आवश्यकता थी ? बेला का अर्थ ही 'तट' या 'समुद्र-तट' है।[3] इसी प्रकार "यह वालुवेला और सागर तीर"[४] में भी यही बात है। "अँगुलियों से रेत बरसा की"[५] और "सोचा किये सोचा किये"[६] में क्रिया का रूप अशुद्ध है। "वहाँ उस साँझ तारे को विलोको"[७] में न्यूनपदत्व दोष है। "हवा विनयी नारियल के गाछ"[८] में 'हवा विनयी' का प्रयोग 'हवा द्वारा झुकाये गये' के अर्थ में किया गया है, जो चिन्त्य है। "इस नील असम्पृक्ती के हृदय में, एक भी पद चिह्न तो दिखता नहीं है"[९] में 'नील' और 'असम्पृक्ती' इससे पूर्व की पंक्ति में प्रयुक्त 'आकाश' के विशेषण के रूप में रखे गये हैं। 'असम्पृक्त' पहले ही विशेषण है, उससे न तो 'असम्पृक्ती' बनाने की आवश्यकता ही है और न किसी प्रकार बनता ही है। 'चिह्न' के

---

१. वही, प० ५२
२. वही, पृ० ३
३. चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, **संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ**, पृ० १०६४
४. नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, पृ० २५
५. वही, पृ० ५
६. वही, पृ० ६
७. वही, पृ० ९
८. वही, पृ० ११
९. वही, पृ० १२

स्थान पर 'चिन्ह' का प्रयोग तो सारे काव्य में अनेक बार किया गया है। "ओ देव-प्रियी नीलाम्बर"[१] में 'देवप्रिय' पहले ही विशेषण है, उससे 'देवप्रियी' विशेषण बनाना अनावश्यक भी है और अशुद्ध भी। "मैं अपात्री लग रहा हूँ"[२] में 'अपात्र' पहले ही विशेषण है, उससे 'अपात्री' बनाना असंगत है। "श्रेष्ठ हाथों की प्रतीती के लिए"[३] में 'प्रतीति' के स्थान पर 'प्रतीती' प्रयोग नितान्त अशुद्ध है। "सब शिखर की नींव में सोया अँधेरा है"[४] में 'सब' के साथ 'शिखरों' होना चाहिए। इसी प्रकार "नहीं हैं हम केवल परिचालित यन्त्र मात्र किसी अदृश्य अन्धे हाथों के"[५] में 'किसी' के स्थान पर 'किन्हीं' होना चाहिए। "आज्ञा करें राम"[६] में 'आज्ञा दें' होना अपेक्षित था। "जाएगा लक्ष्मण ले अभीयान"[७] में 'अभियान' शब्द के स्थान पर 'अभी यान' अशुद्ध है। यही अशुद्धि अन्यत्र भी दिखलायी पड़ती है।[८] "भाद्रपद की अनिर्णय साँझों घिरे सागर तीर हम बैठे रहे"[९] में न्यूनपदत्व दोष है। "पूरब के सेतुबुर्ज पीछे"[१०] में भी यही प्रवृत्ति मिलती है। "बन्धु अग्रज हैं, परिजन औ पुरजन प्रियभाजन हैं"[११] में कवि राम के प्रति लक्ष्मण से यह कहलाना चाहता है "हे राम ! आप बड़े भाई हैं और परिजन तथा पुरजन के प्रेम-पात्र हैं," किन्तु प्रिय भाजन (प्यारा बर्तन) का अर्थ प्रेम-भाजन न होने के कारण तथा परिजन और पुरजन के बाद 'के' के लोप के कारण अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती। "नख से शिख तक उज्ज्वल में मंडित"[१२] में अंग्रेजी के 'रोब्ड इन ह्वाइट' की छाया प्रतीत होती है। "मैं केवल युद्ध को बचाना चाहता रहा हूँ बन्धु।"[१३] में 'युद्ध को बचाना' के मूल में अंग्रेजी के 'टु एवाइड वार' प्रयोग की छाया स्पष्ट है। "ओ छलना ! कौन से प्रयोजन के लिए घूम रहे बुर्जों पर"[१४] में 'प्रयोजन के लिए' के स्थान पर 'प्रयोजन से' होना चाहिए और स्त्रीलिंग 'छलना' के अनुरूप क्रिया 'रही' होनी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने 'छलना' शब्द का प्रयोग

---

१. वही, पृ० २१
२. वही, पृ० २६
३. वही, पृ० १३
४. वही, पृ० १४
५. वही, पृ० १८
६. वही, पृ० २२
७. वही, पृ० २३
८. वही, पृ० ६२-६३
९. वही, पृ० २७
१०. वही, पृ० ४२
११. वही, पृ० १५
१२. वही, पृ० ४७
१३. वही, पृ० २४
१४. वही, पृ० ४६

भ्रान्तिवश पुल्लिग में किया है। तभी वह 'छलने' ! प्रभु को उत्तर दे"[१] कहने के तुरन्त उपरान्त कहता है, "उत्तर दे वरना मंत्रपूत वाणों से स्वाहा हो जाएगा।"[२] "साक्षी रहे इतीहास"[३] में इतिहास की वर्तनी को बिगाड़ा गया है। "ओ अनाकृती"[४] में 'अनाकृती' के स्थान पर 'अनाकृति' (अन्+आकृति) प्रयोग सही है। ठीक इसी प्रकार की अशुद्धि 'अनासक्ति' के स्थान पर 'अनासक्ती' के प्रयोग में दिखलायी पड़ती है।[५] 'अग्निचक्र' के स्थान पर 'अग्नीचक्र' का प्रयोग किया गया है।[६] 'नितान्त' के स्थान पर 'नितान्ती' शब्द का प्रयोग हुआ है,[७] जो भ्रष्ट है। "उत्साहित नदियों नालों वत"[८] में सही शब्द 'वत्' होना चाहिए। फिर 'वत्' का प्रयोग सादृश्य के अर्थ में संज्ञा शब्द के एकवचन के साथ होता है, जैसे कमलवत् 'कमलोंवत्' नहीं होगा। "मैंने संकल्पजलों वत"[९] में इसी भूल की आवृत्ति है। "हाँ किसने ?···अवधूत भाव से चेता है ?"[१०] में क्रिया का रूप 'चेताया' होना चाहिए। 'सेतुबन्ध' के स्थान पर 'सेतूबन्ध' का प्रयोग चिन्त्य है।[११] "सम्भव है हम भी ऐसे ही दुर्भाग्यपूर्ण सौभाग्यी युग के चिन्तक हों"[१२] में 'दुर्भाग्यपूर्ण सौभाग्यी युग' में व्यर्थ का फूहड़ विरोधाभास पैदा करने की चेष्टा के अतिरिक्त 'सौभाग्यी' प्रयोग भी समीचीन नहीं है। "इतने संशय परान्त"[१३] तथा "पार्थिव पूजन परान्त"[१४] 'उपरान्त' के स्थान पर मनमाने ढंग से 'परान्त' ही रख दिया गया है। 'अपरिमित' के स्थान पर प्रमादवश 'अपारमित' शब्द का प्रयोग किया गया है।[१५] "जाने कितने अनागतों दिवसों की"[१६] में 'दिवसों' के साथ 'अनागतों' का प्रयोग ऐसा ही है जैसे 'सुन्दरों लड़कों की।' "अनेकों सम्बन्ध से परिताप भी"[१७] में

---

१. वही, पृ० ४९
२. वही, पृ० ४९
३. वही, पृ० २२
४. वही, पृ० ५१
५. वही, पृ० ५६
६. वही, पृ० ५९
७. वही, पृ० ९०
८. वही, पृ० ७७
९. वही, पृ० ७७
१०. वही, पृ० ८०
११. वही, पृ० ८४
१२. वही, पृ० ९२
१३. वही, पृ० ९२
१४. वही, पृ० ९८
१५. वही, पृ० १०१
१६. वही, पृ० ६१

अनेक पहले ही बहुवचन है, उससे 'अनेकों' बनाना अनावश्यक भी है और अशुद्ध भी। अनेक के साथ 'सम्बन्धों' होना अपेक्षित था, किन्तु वहाँ पर 'सम्बन्ध' ही रखा गया है।

उपर्युक्त विविध प्रकार के भ्रष्ट प्रयोगों के अतिरिक्त ऐसे शब्दों की भी एक लम्बी सूची प्रस्तुत की जा सकती है जो संस्कृत के प्रत्यय लगने से निर्मित शब्दों के अन्दाज़ पर ज़बरदस्ती गढ़ लिये गये हैं, फिर चाहे उनसे अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति हो सकी हो अथवा नहीं। यहाँ उदाहरण के लिए ऐसे कुछ शब्दों की ओर ध्यान आकृष्ट करना पर्याप्त होगा। अंग्रेज़ी के 'अन-क्वैश्चण्ड' के लिए कवि ने 'अनप्रश्नित'[1] शब्द गढ़ा है, जो चिन्त्य है। इसी प्रकार 'कृतज्ञित',[2] 'प्रज्ञित',[3] 'अनास्थित',[4] 'निष्कषित',[5] 'कवचित',[6] 'अवैतरित',[7] 'संज्ञित',[8] 'एकत्र' अव्यय के स्थान पर 'एकत्रित',[9] 'कशाघातित',[10] 'पाशित'[11] आदि अनेक शब्दों को गढ़ा गया है। "उर्मिला की पति-प्रतीक्षित दीठि"[12] में कवि का अभिप्रेत अर्थ है 'उर्मिला की पति के द्वारा प्रतीक्षा की गयी दृष्टि।'

क्रियाओं के प्रयोग में कवि ने पूरी अराजकता से काम लिया है। 'चुनौता',[13] 'निर्माते रहे'[14] 'विलोमे'[15] 'विश्वासें'[16] आदि प्रयोगों के अतिरिक्त कवि ने प्रदत्त (प्रदानक्रिया हुआ) से 'प्रदान करो' के अर्थ में 'प्रदत्तो, क्रिया बना ली है।[17] यह ऐसे ही है जैसे कोई उत्तीर्ण से 'उत्तीर्णो' गुप्त से 'गुप्तो' और भ्रष्ट से 'भ्रष्टो' क्रिया-रूप बना ले। इस प्रकार के प्रयोगों के अतिरिक्त कवि ने "बेलनों से रोलते अन्तर स्वयं का"[18]

---

१. वही, पृ० ६०
२. वही, पृ० २६
३. वही, पृ० ३२
४. वही, पृ० ३३
५. वही, पृ० ८१
६. वही, पृ० १०६, १०८
७. वही, पृ० ५५
८. वही, पृ० ६५
९. वही, पृ० १०१
१०. वही, पृ० ६१
११. वही, पृ० ४६
१२. वही, पृ० ५३
१३. वही, पृ० ६०
१४. वही, पृ० ३
१५. वही, पृ० ४
१६. वही, पृ० २३
१७. वही, पृ० २३
१८. वही, पृ० २६

में अंग्रेजी की बेलने या लपेटने के अर्थ में प्रयुक्त 'रौल' क्रिया से, जिससे 'रौलर' (बेलन) बनता है, 'रोलते' बना लिया है।

कवि ने इनके अतिरिक्त और भी अनेक स्थानों पर शब्दों और वाक्य-रचना को बिगाड़ा है, जो कवि की भाषा-साधना को सन्दिग्ध बना देता है। ऐसा भी नहीं है कि कवि ने कविता के प्रभाव या प्रवाह की वृद्धि के उद्देश्य से ही भाषा को विकृत किया हो, यदि वैसा भी होता तो भी कुछ सीमा तक ही क्षम्य ठहराया जा सकता था।

(क) **बिम्ब-विधान**—यद्यपि 'संशय की एक रात' में क्रिया-व्यापार की अपेक्षा बौद्धिकता की ही प्रधानता है, तथापि कवि ने तीखे तर्कों के घात-प्रतिघात से संवादों में नाटकीयता लाने का प्रयत्न किया है। जिन पात्रों के संवादों में बौद्धिकता मूल सन्दर्भ से जुड़ी है उनमें स्वतः ही ऐन्द्रिय अनुभूति का हल्का संस्पर्श समाहित हो गया है। उदाहरणार्थ राम अपने अस्तित्व की सार्थकता पर विचार करते हुए जैसे ही भावुक हो उठते हैं तो उनकी भावुकता तुरन्त ऐन्द्रिय रूपात्मक आधार खोज लेती है और वे कहते हैं—

> "लक्ष्मण !
> शव चुभे बाण के टूटे फलक से
> अधिक अपनी सार्थकता
> क्या है ?"[1]

यहाँ राम का मूल प्रश्न है "अपनी सार्थकता क्या है ?" किन्तु विचार-जगत् का यह सैद्धान्तिक प्रश्न उसी क्षण अनुभूति से जुड़ जाता है जिस क्षण राम की सार्थकता की तुलना शव-चुभे बाण के टूटे फलक की निरर्थकता के सन्दर्भ से की जाती है। शव चुभे बाण के टूटे फलक का बिम्ब राम के अस्तित्व की निस्सारता को मूर्त रूप में व्यक्त करता है।

'संशय की एक रात' में स्थिर रूप-बिम्बों की सफल योजना मिलती है। मौन आकाश का बिम्ब अंकित करते हुए कवि कहता है—

> "नारिकेलों पर टिका आकाश
> शव की पुतलियों सा
> मौन
> नीला मौन।"[2]

यहाँ विराट् रूप-बिम्ब आकार और रंग के सामंजस्य से उभरा है, उसमें स्थिरता और मौन के सम्पर्क से और भी भयावहता आ गयी है। कवि ने रंगीन रूपों के बिम्ब उभारने में कौशल से काम लिया है। रंग-बिम्ब का यह नमूना दर्शनीय है—

> "ओ सूर्यास्त !
> सिन्धु जल को

---

१. वही, पृ० १३
२. वही, पृ० ५

नींव तक
उसके अतल तक
रंग रहे हो
वैसे ही
हमें आलोक दो।"[1]

कवि ने स्पर्श-बोध को भी बिम्बित करने की चेष्टाएँ की हैं। "भीगते बैठे रहे खारी हवाओं में"[2] में समुद्र की आर्द्र और खारी हवाओं में भीगने के चित्रण में स्पर्श के साथ ही स्वाद की अनुभूति को भी उभारा गया है। एक अन्य स्थल पर कवि ने सम्भावित युद्ध के वर्णन में सेना की पगध्वनियों, भेरियों और युद्ध-घोष के चित्रण द्वारा ध्वनि-बिम्बों की योजना की है।[3] निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने स्पर्श के साथ ही क्रिया-व्यापार को भी बिम्बित किया है—

"सम्भव है
साँकल से बँधे हुए
जेता के रथ में हम
जुतने को बाधित हों।"[4]

नरेश मेहता ने क्रिया-व्यापारों के संश्लिष्ट एवं गत्यात्मक बिम्बों की सफल योजना की है। राम सोचते हैं कि युद्ध के ऐतिहासिक निर्णय को स्वीकार करके उन्होंने एकत्र जन-समूह के जीवन को संकट में डाल दिया है। राम अपने इसी बोध को अनुरूप सन्दर्भ-सृष्टि के माध्यम से निरूपित करते हुए कहते हैं—

एकत्रित इस जनसमूह के सीने में
इतिहास
खंग सा घोंप दिया मैंने[5]

राम के निर्णय का परिणाम जनता को भुगतना होगा। यह ऐतिहासिक निर्णय जनता के लिए उतना ही घातक सिद्ध होगा जितना किसी के द्वारा किया गया तलवार का प्रहार। कवि ने इतिहास की घातक परिणति और तलवार के वार—इन दोनों सदृश सन्दर्भों को एकत्र संश्लिष्ट करके उपर्युक्त सशक्त बिम्ब की सृष्टि की है। इसी प्रकार का सशक्त बिम्ब निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है—

"उस वंचक के पदों में
सर्प बन सौमित्र रेखा

---

१. वही, पृ० ७
२. वही, पृ० ८
३. वही, पृ० १०६-१०७
४. वही, पृ० २०
५. वही, पृ० १०१

क्यों नहीं लिपटी।"[1]

साँप मनुष्य के पैरों के चारों ओर रस्सी की भाँति लिपटकर उन्हें अपनी जकड़ से गतिरुद्ध कर देता है। कवि ने अपने इसी लोकानुभव को लक्ष्मण-रेखा के साथ संयुक्त कर उसे और भी प्रभावी बनाने की चेष्टा की है। लक्ष्मण-रेखा और सर्प में पहले ही क्रिया-सादृश्य विद्यमान था—दोनों में अवरोधकता है—किन्तु लक्ष्मण-रेखा में सर्प की सम्भावनाएँ खोजकर कवि ने लक्ष्मण-रेखा की अवरोधकता को और सक्रिय और प्रभावी बनाया है। "अपनी चोंच से कोंचती जल, टिटहरी, खो गयी विस्तार में"[2] में टिटहरी के जल कोंचने से लेकर विस्तार में विलीन होने तक के मुक्त क्रिया-व्यापार के चित्रण में बिम्ब की रेखाएँ स्थूल से सूक्ष्म की ओर व्याप्त हो गयी हैं। कहीं-कहीं कवि ने अत्यल्प रूपात्मक आधार को कल्पना द्वारा विराट् और असीम से जोड़कर बिम्ब को ऐसी व्यावृति प्रदान की है कि पाठक की कल्पना को उन्मुक्त संचार का आनन्द प्राप्त होता है। इस दृष्टि से निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"ओ हमारे पंखों की दिशाओ !
ओ हमारी दृष्टियों के आकाश
हमें यात्राओं पर ले चलो।"[3]

भावावेष्टित बिम्ब का सबसे सुन्दर उदाहरण विभीषण के उन उद्गारों में मिलता है, जिनमें वह भावी युद्ध की ज्वालाओं में जलते हुए अपने राष्ट्र की दुर्दशा की परिकल्पना मात्र से शोकविह्वल हो उठता है—

मेरे राष्ट्र की टूटी हुई
अपमानित पताकाएँ
भग्न अंगों की शोभा यात्रा सी जा रही हैं।
जले औ खण्डित भवन
जिह्वाहीन भिखमंगे सरीखे
हाथ फैलाये खड़े हैं।
राजपथ
बेहोश, ऐंठी देह से नंगे पड़े हैं।"[4]

यहाँ कवि ने उपमा का आश्रय लेकर अपने देश की दुर्दशा का भाव-गर्भित बिम्ब अंकित किया है। बिम्ब की सशक्तता के साथ ही कविता में लय, तुक अलंकरण आदि तत्त्वों का यहाँ सहज समावेश भी ध्यान देने योग्य है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा अनुचित होगा कि संशय की एक रात में सर्वत्र इसी प्रकार के अछूते और संवेदना-स्नात बिम्बों की प्रचुरता है।

---

१. वही, पृ० ८
२. वही, पृ० ४
३. वही, पृ० ६६
४. वही, पृ० ८६

द्वितीय सर्ग में नील और जामवन्त का प्रकरण नितान्त गद्यात्मक और सूचनापरक है। इसी सर्ग में जटायु और दशरथ की प्रेतात्माओं के दार्शनिक भाषण नीरस, दुरूह होने के साथ ही असम्बद्ध धूमिल बिम्बों से युक्त हैं।

(ख) **प्रतीक योजना**—'संशय की एक रात' का कथानक मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टि से प्रतीकात्मक अर्थों से युक्त है। कथानक में घटना-तत्त्व कम और अभिप्रेत अर्थ-तत्त्व अधिक है। घटना-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व का यही अनुपात कथानक की प्रतीकात्मकता का आधार है। यहाँ स्थूल घटनात्मक आधार गौण होते हुए भी अपने से कहीं बड़े (गूढ़ और व्यापक) अर्थ को व्यंजित करता है। प्रस्तुत नाट्य-काव्य की घटना व्यष्टि-मानस और समष्टि-मानस में घटित होने वाली घटना है। समष्टि-मानस व्यष्टि-मानस की अपेक्षा अन्याय और अत्याचार के प्रति अधिक दृढ़ता और तीव्रता से प्रतिक्रिया करता है। चीन के आक्रमण के समय, जबकि इस नाट्य-काव्य की रचना हुई, पं० जवाहरलाल नेहरू (व्यष्टि-मन) अपने पंचशील, शान्ति और सह-अस्तित्व के आदर्शों को लिए अपनी सेनाओं को आदेश देने या न देने की अनिर्णयात्मक स्थिति में पड़े थे। उस समय सारे देश का जन-मानस अन्याय के विरुद्ध जूझने के लिए भीतर ही भीतर खौल रहा था। सेनाओं के संचालक निर्णय में किये जा रहे विलम्ब से खीज रहे थे। 'संशय की एक रात' का 'सेतुबन्ध' इसी व्यष्टि-मन और समष्टि-मन के मध्य सेतु-बन्ध का अर्थात् समन्वित समग्र चेतना का प्रतीक है। इसी समन्वित समग्र चेतना के माध्यम से अन्याय पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

संशय की एक रात के कतिपय पात्र भी प्रतीकात्मक हैं। राम काल्पित आदर्शों और अपने परिवेश के प्रति सहज मानवीय मोह से पूर्ण व्यष्टि-मन के प्रतीक हैं, लक्ष्मण उस संकल्पनिष्ठ जन-आस्था के प्रतीक हैं, जो सेतुबन्ध बाँधने तथा असत्य और अन्याय को पराजित करने के लिए कटिबद्ध है। रावण साम्राज्यवाद, उत्पीड़न और अन्याय आदि दानवी प्रवृत्तियों का प्रतीक है और हनुमान उक्त दानवी प्रवृत्तियों के विरुद्ध न्याय, अधिकार और स्वतन्त्रता के पक्ष में उठ खड़ी हुई विद्रोही जन-शक्ति के प्रतीक हैं। सीता कोटि-कोटि जन की स्वतन्त्रता की प्रतीक है। दशरथ और जटायु की आत्माएँ पितर् जनों की साक्षी के रूप में उपस्थित हैं।

संशय की एक रात में पात्र प्रतीकों के अतिरिक्त शब्द-प्रतीकों की योजना भी मिलती है। "और हम प्रतिसाँझ सँझाता आकाश, नैनों में लिए, भीगते बैठे रहे खारी हवाओं में"[1] 'सँझाता आकाश' उदासी भरे सूनेपन का प्रतीक है। नयनों में व्याप्त उदासी-भरे सूनेपन को 'सँझाता आकाश नैनों में लिए' के बिम्बात्मक माध्यम से व्यंजित किया गया है। यहाँ प्रतीकात्मक और बिम्बात्मक माध्यम एकान्वित हो गये हैं। राम की निम्नलिखित उक्ति में प्रतीक-योजना दर्शनीय है :—

'इतिहास के हाथों
बाण बनने से अधिक अच्छा है

---

१. वही, पृ० ८

स्वयं हम
अंधेरों में यात्रा करते हुए
खो जाएँ।[1]

यहाँ 'बाण' उपकरण, यन्त्र या साधन का प्रतीक है। 'अन्धेरे में यात्रा करते हुए खो जाएँ' में सारी पंक्ति ही प्रतीकात्मक है। 'अँधेरा' जीवन की अनजान बीहड़ राहों का प्रतीक है, 'यात्रा' जीवन की गति का प्रतीक है और 'खो जाना' का अभिप्राय भटकना मात्र नहीं वरन् विलीन हो जाना या मर जाना है। "सब शिखर की नींव में सोया अँधेरा है"[2] में 'शिखर' उत्थान का और 'अँधेरा' पतन का प्रतीक है। (यदि 'सब शिखर' के स्थान पर 'हर शिखर' होता तो पंक्ति रचना की दृष्टि से भी सही हो जाती)। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रतीक रूढ उपमान नहीं होते, वरन् कोई भी शब्द सादृश्य की अतिशयता के आधार पर विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न अर्थों का प्रतीक बन सकता है, जैसे उपर्युक्त उदाहरणों में 'अँधेरा' विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। "नहीं हैं हम केवल परिचालित यन्त्र मात्र"[3] में 'यन्त्र' निर्जीव साधन का प्रतीक है। निम्नांकित पंक्तियों में दुहरे सन्दर्भों में प्रयुक्त प्रतीकों के अर्थ भी दुहरे हैं :—

हम केवल चलते हैं
अपने में
अपने से बाहर
धूप और अन्धकार चीरे
हम चलते हैं।"[4]

यहाँ जिस चलने का उल्लेख है, वह साधारण चलने के अतिरिक्त जीवन-प्रक्रिया में मानसिक दृष्टि से गतिशील होना भी है। 'अपने से बाहर' चलने में 'धूप' और 'अन्धकार' क्रमशः दिन और रात के द्योतक हैं और अपने में गतिशील होने पर 'धूप और अन्धकार' क्रमशः आशा-निराशा अथवा सुख-दुःख के प्रतीक हैं। "दूसरी बार होगा सागर का मन्थन अब"[5] में सागर का मन्थन पौराणिक प्रतीक है जिसका अभिप्राय महान् पराक्रम अथवा प्रयत्न है। पौराणिक प्रतीक का उदाहरण निम्न-लिखित पंक्तियों में भी मिलता है :—

"आद्यन्त भीग उठने दो
उस आत्मा तक
जो वासुदेव थी—

---

१. वही, पृ० १३
२. वही, पृ० १४
३. वही, पृ० १८
४. वही, पृ० १६
५. वही, पृ० २२

पर अब सर्पवृक्ष है
संशय-खण्डित ।"[१]

'वासु' लोक-पालक श्री विष्णु भगवान् का नाम है ।[२] वसुदेव के पुत्र को भी वासुदेव (श्रीकृष्ण) कहा जाता है । वासुदेव यहाँ मंगलमयी आनन्दमयी सत्ता का प्रतीक है और इसके विपरीत सर्पवृक्ष (विषवृक्ष) ग्लानि और संशय के विष से क्लान्त सत्ता का प्रतीक है । "समाहित व्यक्तित्व की, यह ज्वाल, अनुखन दाहती है बन्धु'[३] में 'ज्वाल' मानसिक पीड़ा की प्रतीक है । 'ज्वाल' में और मानसिक पीड़ा में साधर्म्य है—जिस प्रकार ज्वाल किसी वस्तु को जलाती है उसी प्रकार मानसिक पीड़ा व्यक्ति को भीतर ही भीतर जलाती रहती है । दोनों में ही जलन है । यह उभयनिष्ठ जलन ही 'ज्वाल' को 'मानसिक पीड़ा' का प्रतीक होने की क्षमता प्रदान करती है । कहीं-कहीं कवि ने बहुत ही भावाभिव्यंजक प्रतीकों का प्रयोग किया है । राम अपनी निस्सार और उपेक्षणीय स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं :—

"मुझे ही जैसे
उत्सव का
अन्तिम गायन होना था ।"[४]

उत्सव के अन्तिम गायन का अवसर आने तक अनेक श्रोता उठकर चले जाते हैं और कुछ अन्तिम गायन के बीच में ही उठकर चल देते हैं । इस प्रकार अन्तिम गायन की स्थिति के प्रकाश में राम की उपेक्षणीय स्थिति और भी निखर कर उभर आती है । एक स्थान पर राम छायात्मा दशरथ के द्वारा प्रस्तुत अपरीक्षित आस्थाओं के विषय में कहते हैं :—

"ये अपरीक्षित आस्थाएँ
किसी तेजस मस्तक पर त्रिपुण्ड नहीं हो सकतीं"[५]

त्रिपुण्ड (त्रिपुण्ड्र) मस्तक पर लगाया जाने वाला तीन आड़ी लकीरों वाला टीका होता है ।[६] राम का अभिप्रेत अर्थ यह है कि जिस प्रकार त्रिपुण्ड्र वरणीय होता है, उसी प्रकार अपरीक्षित आस्थाएँ किसी मेधावी व्यक्ति के लिए सादर स्वीकार्य नहीं होती । यहाँ 'त्रिपुण्ड' वरणीयता का प्रतीक है ।

नरेश मेहता ने सूर्य का प्रतीक-रूप में अनेक अर्थों में सफल प्रयोग किया

---

१. वही, पृ० ३६
२. सम्पा० चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृ० १००७-१००८
३. नरेश मेहता, संशय की एक रात, पृ० ३०
४. वही, पृ० ५४
५. वही, पृ० ६०
६. सम्पा० चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृ० ४६६

है। 'अन्तिम सूर्य' का प्रयोग कवि ने सृष्टि के अन्तिम दिन के लिए किया है।[1] जीवन और चेतना के अर्थ में भी सूर्य का प्रयोग किया गया है।[2] 'सूर्योदय' का प्रयोग भी प्रतीकात्मक ढंग से किया गया है, जिसका अर्थ है विवेक और शक्ति से युक्त प्रखर चेतना का स्फुरण।[3] राम ने अपने सन्दिग्ध जड़ता-ग्रस्त मन को प्रतीक रूप में 'सूर्यतपी शिला' कहा है। सूर्यतपी शिला का ताप (तेज) अपना नहीं बाहरी सूर्य (चेतना) का होता है, उसका तो शिलात्व ही अपना होता है।[4] किन्तु जब बाह्य चेतना अन्तस् में उतर कर बुनियादी रूप में अंकुरित होती है, तो फिर शिला अपने 'शिलात्व को त्यागकर सूर्यत्व ग्रहण कर लेती है।[5] संक्षेप में, प्रतीक-विधान की दृष्टि से संशय की एक रात के कवि को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

(ग) **अलंकार-विधान**—कवि भले ही अलंकारों के प्रयोग के प्रति सचेष्ट हो अथवा न हो, अनुभूति की भंगिमा कथन की भंगिमा में स्वतः ही परिणत हो जाया करती है। अलंकार कथन की भंगिमाओं का ही नाम है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक अलंकारों के बिना अनुभूतियों का बिम्बन प्रायः असम्भव है। ये सभी अलंकार अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तर्वर्ती अनिवार्य तत्त्व हैं।

'संशय की एक रात' में जहाँ-जहाँ अनुभूति में भंगिमा है, वहाँ अनायास ही किसी न किसी अलंकार का प्रयोग हो गया है। उपमा तो नरेश मेहता की अनुभूति और अभिव्यक्ति का मानो एक नैसर्गिक तत्त्व ही है। ऐसे बहुत कम पृष्ठ हैं, जिनमें उपमा का प्रयोग नहीं हुआ है। यहाँ कतिपय उदाहरणों पर विचार करना ही पर्याप्त होगा। मिथिला के आम्रकुंजों पर झुके हुए फाल्गुनी आकाश की उपमा एक नीले हंस से दी गई है।[6] कवि ने अशोक वृक्षों की उपमा भूमुकटों से दी है।[7] संशयों से घिरे राम की उपमा ज्वारों से घिरे विवश छोटे द्वीप से दी गई है,[8] जो बहुत ही सटीक बन पड़ी है। "मेरी यात्रा, छोटे शंख-सी यहीं बालू में कहीं गिर खो गई

---

१. "राष्ट्रघाती रूप में
केवल लांछना की ठठरियाँ
विभीषण को वहन करना
अन्तिम सूर्य तक।" नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, पृ० ८६
२. **वही**, पृ० १०१
३. युद्ध की वास्तविकता
सूर्योदय ला रहा।" **वही**, पृ० १०६
४. "ओ सूर्यतपी शिला ! शान्त हो
तुम स्वयं सूर्य नहीं।" **वही**, पृ० ११०
५. **वही**, पृ० ११२
६. **वही**, पृ० ६
७. **वही**, पृ० ७
८. **वही**, पृ० ८

है।"[१] में 'संशयग्रस्त मनःस्थिति के कारण बाधित राम की यात्रा की उपमा बालू में गिर कर खोये हुए छोटे शंख से दी गई है, जो पर्याप्त भावाभिव्यंजक बन पड़ी है। कवि ने "पैरों के चिह्नों से अंकित बालू तट" की उपमा "विकल्पों से खुंदे मन" से दी है,[२] जो मनोवैज्ञानिक के साथ ही स्थूल की सूक्ष्म से उपमा का भी सुन्दर निदर्शन है। "यदि यह बाधा है सिन्धु अगस्त्य के आचमन-सा, सोखेंगे"[३] में पौराणिक उपमा देने की चेष्टा की गई है, किन्तु सोखने की क्रिया की उपमा आचमन (संज्ञा) से देने में वाक्य-रचना उलझ गई है, जिसका कारण है उपमेय (क्रिया) और उपमान (संज्ञा) के स्वरूप की भिन्नता। कवि ने राम के विनयी स्वभाव की उपमा केले के फल से दी है,[४] जो नवीन होते हुए भी अटपटी मालूम पड़ती है। कवि ने प्रकृति के क्षेत्र से अनेक नवीन उपमान जुटाये हैं। सन्दर्भ-खण्डित राम (उपमेय) के लिए टूटा हुआ पाखी पंख,[५] संशय के लहराते सर्पवृक्ष के लिए पीपल,[६] 'विवश साम्राज्य' के लिए 'वाणविद्ध पाखी',[७] एक अदृश्य छाया के लिए दीपक की लौ[८] जैसे उपमानों की योजना की गई है।

कवि ने राम के मन को घेरने वाले परिताप-पश्चात्ताप की उपमा वात्याचक्र के घेराव से देकर सूक्ष्म की स्थूल से उपमा का उदाहरण भी प्रस्तुत कर दिया है।[९] लंका के जले और खण्डित भवनों की उपमा हाथ फैलाये खड़े हुए जिह्वाहीन भिखमंगों से दी गई है,[१०] जो बहुत ही मार्मिक बन पड़ी है। इतिहास की उपमा वृद्ध ठण्डी शिला से देकर कवि ने इतिहास की निर्ममता को साकार कर दिया है।[११] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'संशय की एकरात' में कुछ अटपटी उपमाओं के साथ ही सुन्दर उपमाओं का भी अभाव नहीं है।

'संशय की एक रात' में प्रयोगों की संख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान रूपक का है। "तुम्हीं मेरी इन्द्रियाँ हो"[१२] में राम ने लक्ष्मण को अपनी इन्द्रियाँ कहा है।

---

१. वही, पृ० ६
२. वही, पृ० १७
३. वही, पृ० २२
४. वही, पृ० ३१
५. वही, पृ० ३२
६. वही, पृ० ३८
७. वही, पृ० ४०
८. वही, पृ० ४२
९. तुम्हें परिताप-पश्चाताप
वात्याचक्र से घेरे हुए हैं। वही, पृ० ५३
१०. वही, पृ० ८६
११. वही, पृ० ८६
१२. वही, पृ० ११

जिस प्रकार इन्द्रियाँ साधन मात्र हैं उसी प्रकार लक्ष्मण भी राम के साधन मात्र हैं। एक स्थान पर राम ने स्वयं को भटके हुए सार्थ (काफिले) का टूटा हुआ सन्दर्भ बतलाया है।[1] जिस प्रकार काफिला भटककर अपने मूल गन्तव्य से दूर जा पड़ता है और इस प्रकार उसका वास्तविक सन्दर्भ उससे कट जाता है, इसी प्रकार राम भी अपने मूल लक्ष्य से हटकर काफिले के विच्छिन्न सन्दर्भ की भाँति निस्सार हो गये हैं। अन्यत्र राम ने दिन को पंख कहा है,[2] जिसके मूल में उस काल-विहग की विराट् कल्पना है, जो (रात के) अँधेरे और (दिन के) उजाले के पंखों से उड़ा जा रहा है। "अनुत्तरित संशय का सर्पवृक्ष"[3] में संशय की कल्पना सर्पवृक्ष के रूप में की गई है। "युद्ध ऐतिहासिक फेन हैं"[4] में युद्ध को इतिहास का फेन कहा गया है, जो अर्थ-गर्भित है। यहाँ इतिहास की कल्पना एक प्रवाह के रूप में की गई है। जिस प्रकार प्रवाह में उस समय फेन उठने लगते हैं जब उसके मार्ग में अचानक चढ़ाव-उतार आने से विषमता या असन्तुलन की स्थिति आ जाती है, उसी प्रकार शक्ति-सन्तुलन बिगड़ने पर इतिहास में युद्ध घटित होते हैं। "फेर दो सीता अग्नि है"[5] में सीता को 'अग्नि' कहने से परिणाम की भीषणता भी व्यंजित हो गई है। कुछ स्थानों पर कवि ने सांग रूपकों का भी सफल प्रयोग किया है। दशरथ की आत्मा राम को आदेश देती है कि वे परिस्थिति-रूपी धेनुओं को निष्ठुर अँगुलियों से दुहें।[6] आत्मा का मूल अभिप्रेत अर्थ राम को परिस्थितियों की सम्पूर्ण सम्भावनाओं का कठोरता से दोहन करने का आदेश देना है। इसी अर्थ-बोध को गो-दोहन के सदृश प्रसंग द्वारा मूर्तरूप में व्यक्त किया गया है। एक स्थल पर राम शंका करते हैं कि क्या भविष्य में मेरे समानधर्मा संशयालु लोग यह जान पायेंगे कि मुझ पिनाकजयी राम ने संशय की प्रत्यंचा को असफल साधा था और अपना व्यक्ति-धनुष यह कहकर उठाकर रख दिया था कि अब मैं अपना नहीं सबका निर्णय हूँ।[7] यहाँ कवि ने राम के व्यक्तित्व के विघटत को बहुत ही कौशल के साथ रूपक के माध्यम से व्यक्त किया है। पिनाकजयी होकर भी संशय की प्रत्यंचा को असफल रूप में साधना और फिर अपने व्यक्तित्व रूपी धनुष को अलग रखकर सबके निर्णय के प्रति समर्पित हो जाना राम के व्यक्तित्व के द्विधात्व का परिचायक है। निम्नलिखित पंक्तियों में भी सांगरूपक

---

१. "हम अपनी समस्याएँ लिए
भटके सार्थ के
टूटे हुए सन्दर्भ हैं। वही, पृ० ११
२. वही, पृ० १२
३. वही, पृ० ३८
४. वही पृ० ८२
५. वही, पृ० ८८
६. वही, पृ० ५७
७. वही, पृ० १०२-१०३

का निर्वाह करने की चेष्टा की गई है :—

अन्धे सैन्धवों वाला
संशय
स्वर्ण का रथ है
पाशित विवश हम
आरूढ़
कशा घातित अश्व
अनामी यात्रा"[1]

सम्भवत: कवि 'अन्धे सैन्धवों वाला' विशेषण को 'स्वर्ण का रथ' से संयुक्त करना चाहता हो, किन्तु जिस रूप में वह प्रयुक्त है, उससे 'अन्धे सैन्धवों वाला' संशय का ही विशेषण ठहरता है। किन्तु इस रूप में इसे स्वीकार करने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है। यदि इन पंक्तियों को "संशय, अन्धे सैन्धवों वाला स्वर्ण का रथ है"—इस प्रकार रखा जाये तो रूपक भी सांगोपांग सही बैठ जाता है।

उपमा और रूपक के अतिरिक्त अन्य अनेक अलंकारों का प्रयोग भी संशय की एक रात में हुआ है। निम्नलिखित पंक्तियों में रूपकातिशयोक्ति और व्यक्तिरेक अलंकार का एकत्र प्रयोग मिलता है :—

"दे न पाये छाँह
हम जिस हंसिनी को
हम से श्रेष्ठ तो वे गाछ हैं।[2]

यहाँ कवि ने उपमेय (सीता) का निगरण करके केवल उपमान (हंसिनी) के द्वारा उसका बोध कराया है, इसलिए यहाँ रूपकातिशयोक्ति है; इसके साथ ही इन पंक्तियों में छाया देने वाले गाछों (उपमान) को राम (उपमेय) की अपेक्षा उत्कृष्ट बतलाये जाने के कारण यहाँ व्यतिरेक अलंकार भी है। "शंख-सीपी उगलते, ये क्रुद्धफन, वृहदाकार"[3] में 'क्रुद्धफन वृहदाकार' (उपमान) के द्वारा उपमेय (लहरों) का बोध कराये जाने के कारण रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। जहाँ ज्ञातृ-भेद या विषय-भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन किया जाता है, वहाँ उल्लेख अलंकार होता है। संशय की एक रात में उल्लेख अलंकार के भी उदाहरण मिल जाते हैं।[4] कारण के

---

१. वही, पृ० ६१
२. वही, पृ० ७
३. वही, पृ० २६
४. (क) बन्धु आज हैं
... ...
हम सबके
नैनों के उत्सव हैं
अवधि है अयोध्या की
सीता की प्रतीक्षा है।" वही, पृ० १५
(ख) वही, पृ० ६४

अभाव में कार्य की उत्पत्ति का वर्णन विभावना अलंकार है।[१] 'संशय की एक रात' में विभावना का प्रयोग भी मिलता है।[२] विभावना के विपरीत, जहाँ कारण के रहते हुए भी कार्य का न होना पाया जाय, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है।[३] आलोच्य कृति में विशेषोक्ति का उदाहरण भी प्राप्त होता है।[४] जहाँ साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग हो, वहाँ परिकर अलंकार होता है।[५] प्रस्तुत रचना में परिकर अलंकार के अनेक उदाहरण सुलभ हैं।[६] जहाँ उपमेय का निषेध कर उपमान की स्थापना की जाती है, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है।[७] उपमेयोपमान-सम्बन्ध के अभाव में भी अपह्नुति देखी जाती है।[८] 'संशय की एक रात' में शुद्ध अपह्नुति के उदाहरण नहीं मिलते, किन्तु ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते हैं जिनमें उपमेयोपमान-सम्बन्ध के अभाव में एक कथन का निषेध करके दूसरे कथन की स्थापना की गयी है।[९] वीप्सा अलंकार, जिसमें आदर, घबराहट, आश्चर्य आदि भावों के प्रदर्शन के लिए किसी शब्द को दुहराया जाता है, के उदाहरण तो आलोच्य कृति में अनेक स्थानों पर उपलब्ध हैं।[१०] "यद्यपि,

---

१. देवेन्द्रनाथ शर्मा, **अलंकार-मुक्तावली**, पृ० ११४

२. "राज्य पाने की नहीं की कामना
फिर भी गृहकलह।" नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, पृ० ५४

३. देवेन्द्रनाथ शर्मा, **अलंकार मुक्तावली**, पृ० ११७

४. "इतनी वृष्टि में भी
वस्त्र नहीं गीले
निश्चय ही माया है।" नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, पृ० ४८

५. देवेन्द्रनाथ शर्मा, **अलंकार मुक्तावली**, पृ० १०४

६. "बँधी हुई मुट्ठी में
भिंचे हुए ओठों में
इन उद्धत पैरों में
संकलित प्रज्ञा है।" नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, पृ० १६
(ख) तापसवेशी मुझ में
कल का युद्ध
आज ही सम्भावित हो चुका। **वही**, पृ० १०१

७. देवेन्द्रनाथ शर्मा, **अलंकार मुक्तावली**, पृ० ५७

८. **वही**, पृ० ५७

९. (क) क्षमा करें महाराज !
हम केवल घटना हैं
इतिहास नहीं।" नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, पृ० ८२
(ख) "सूर्य कोई शिला नहीं
तपस्या है
अग्नि की।" **वही**, पृ० १११

१०. **वही**, पृ० ७, ८, ३६, ८६

हम कहीं नहीं हैं, फिर भी स्थित हैं ब्रह्माण्ड में आकाशवत"[१] में विरोधाभास अलंकार है। "यहाँ कुछ नहीं समाप्त हुआ, क्योंकि कभी भी कुछ नहीं आरंभ हुआ"[२] में पहले वाक्य का दूसरे वाक्य में कारण बताये जाने से यहाँ काव्यलिंग अलंकार है। इनके अतिरिक्त आलोच्य कृति में मानवीकरण के अनेक उदाहरण मिलते हैं। पृष्ठ २१ पर 'सूर्यास्त' और 'बालुओं के वंश' का मानवीकरण हुआ है। पृष्ठ ८९ पर 'जब हमारे तर्क तक मर जाएँगे' में सूक्ष्म मानवीकरण का उदाहरण मिलता है।

(४) **लय और तुक**—'संशय की एक रात' की कविता को लय की दृष्टि से दो भागों में देखा जा सकता है—(१) लयहीन स्थल, (२) लयात्मक स्थल। लयहीन स्थल भी दो भागों में देखे जा सकते हैं—(१) गद्यात्मक स्थल, (२) गद्य-भ्रष्ट स्थल। इसी प्रकार लयात्मक स्थलों पर भी दो भागों में विचार किया जा सकता है—(१) गद्य और कविता की मध्यवर्ती लय वाले स्थल। (२) पूर्ण लयात्मक स्थल।

यहाँ लयहीन स्थलों से तात्पर्य उन स्थलों से है जिनमें रूखा-सूखा गद्य लिखा गया है या गद्य भी लचर और भ्रष्ट है। गद्यात्मक स्थलों की संख्या प्रस्तुत कृति में पर्याप्त है। यहाँ दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) "पम्पा ने कर ली है सन्धि देव !
स्वीकृत है
सेना सहयोग भी
आज ही रात
राजा भी आएँगे
सेवा में।"[३]

(२) "यदि मैं मात्र कर्म हूँ
तो यह कर्म का संशय है।
यदि मैं मात्र क्षण हूँ
तो यह क्षण का संशय है।"[४]

इनमें पहला उदाहरण सूचनात्मक गद्य का है और दूसरा वैचारिक गद्य का। दूसरे सर्ग के प्रारम्भिक भाग में सूचनात्मक गद्य की भरमार है तो उत्तरार्द्ध में जटायु और छाया (दशरथ) के कथनों में वैचारिक गद्य की प्रचुरता है। संशय की एक रात में ऐसे स्थल भी पर्याप्त हैं जहाँ गद्य भी भ्रष्ट हो गया है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) "जैसे
एक असफल साँझ रक्तिम

---

१. वही, पृ० ६४
२. वही, पृ० ६५
३. वही, पृ० १०
४. वही, पृ० ६२

ग्रीष्मावकाश में
असमाप्त होने के लिए होती रहे
आधी रात तक"[१]

(२) "मेरी अस्वीकृता स्वीकृति का क्या होगा ?"[२]

(३) "मैं तुम्हें मन्त्रों से पाशित कर
इन्हीं आकाशों में थिर कर दूंगा।"[३]

(४) "जहाँ ध्वनियाँ, प्रकाश, रंग, रूप, गंध, यात्रित हैं
बोध हीन आत्माएँ यात्रित हैं।"[४]

(५) "इन इतिहासी पक्षाघाती वायुओं को
यह कह कर स्वीकारा।"[५]

लयात्मक स्थलों में उन स्थलों की प्रचुरता है, जिनमें गद्य और कविता के मध्य की लय का प्रयोग हुआ है। निम्नलिखित उदाहरणों मे गद्य की अपेक्षा अधिक कसाव है और काव्यात्मकता की ओर उन्मुख बिम्ब-विधान और लय का सन्निवेश हो गया है—

(१) "शान्त हो।
ओ सूर्यतपी मेरी शिला ! शान्त हो।
सूर्य कोई शिला नहीं
तपस्या है
अग्नि की।"[६]

(२) "सम्भव है
साँकल से बँधे हुए
जेता के रथ में हम
जुतने को
बाधित हों।"[७]

सुन्दर काव्यात्मक लय का उदाहरण विभीषण के भावपूर्ण बिम्बात्मक उद्गारों में उपलब्ध होता है,[८] जिसकी ओर बिम्ब-विधान के अन्तर्गत संकेत किया जा चुका है।

---

१. वही, पृ० ५३
२. वही, पृ० ६७
३. वही, पृ० ४६
४. वही, पृ० ६६
५. वही, पृ० १००
६. वही, पृ० १११
७. वही, पृ० २०
८. वही, पृ० ८६-८७

यहाँ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना प्रांसगिक होगा—

(१) "राजपथ
बेहोश, ऐंठी देह-से नंगे पड़े हैं।"[१]

(२) "वृद्ध, ठण्डी शिला-सा
इतिहास होगा
जब हमारे तर्क तक मर जाएँगे।"[२]

इनके अतिरिक्त राम, लक्ष्मण और हनुमान के कथनों में भी कही-कहीं उत्तम लय के निदर्शन मिलते हैं। यथा—

(१) "कौन से वे हिम शिखर हैं
द्रोणियाँ हैं
जहाँ आदिम अग्नियाँ सोयी पड़ी हैं?"[3]

तुकों के प्रयोग के विषय में भी यहाँ विचार कर लेना उचित होगा। 'संशय की एक रात' में बहुत कम ऐसे स्थल हैं, जिनमें बिना तुकों की योजना के ही लयात्मक प्रवाह का निर्वाह हुआ हो। आलोच्य कृति में तुकों के विविध प्रयोग मिलते हैं। दो-दो पंक्तियों तक चलने वाली तुकान्त रचना के उदाहरण तो 'संशय की एक रात' में प्रचुर हैं ही,[४] तीन-तीन पंक्तियों तक भी अनेक स्थलों पर तुकान्त रचना मिलती है। कहीं-कहीं तो तुक के फेर में पड़कर कवि ने भाषा को विकृत और अर्थ को व्यर्थ तक हो जाने दिया है। जैसे—

"**राघव** !
ये **लाघव**
अब न होंगे **पराभव**।"[५]

---

१. नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, पृ० ८६

२. **वही**, पृ० ८६ ३. **वही**, पृ० ३०

४. (१) "पत्नी का **हरण**
पिता के मित्र जटायू का **मरण**।" **वही**, पृ० २८

(२) "**सन्दर्भ-खण्डित**
निष्प्रयोजित।" **वही**, पृ० ३२

(३) (क) "अपारमित ज्वारों को **सौंप दिया**
यह शंका तट **सौंप दिया**
सौंप दिया।" **वही**, पृ० ६८

(ख) तीर्थ मिले
कीर्ति मिले
चामर की छाँह मिले।" **वही**, पृ० १६

(ग) "संकल्पित **प्रजा है**
वर्चस्वी **निष्ठा है**
उत्सर्गित **इच्छा है**।" **वही**, पृ० १६

५. **वही**, पृ० ७८

यहाँ तुक के मोह में 'लाघव' शब्द का प्रयोग लघु मानवों (साधारण जन) के लिए किया गया है, जो त्रुटिपूर्ण है। इसी प्रकार पराभूत के स्थान पर बिना सोचे-समझे 'पराभव' रख दिया गया है। कहीं-कहीं तुकों में केवल स्वर का ही ध्यान रखा गया है, जैसे "केलफल सा सदा विनयी ही रहा।"[1] कहीं-कहीं एक पंक्ति की तुक तीसरी पंक्ति से या चौथी से या पाँचवीं से जाकर मिलती है। अधिकतर तुकों में पूरे-पूरे वाक्यांशों की आवृत्ति मात्र कर दी गयी है, जिससे तुकों में यांत्रिकता आ गयी है। यहाँ एक-दो उदाहरण दर्शनीय हैं—

(१) "मैं केवल युद्ध को बचाना चाहता रहा हूँ बन्धु !
मानव में श्रेष्ठ जो विराजा है
उसको ही
हाँ उसको ही जगाना चाहता रहा हूँ बन्धु।"[2]

(२) "तुम्हारा अभिषेक
मेरी आत्मा का था
तुम्हारा वनवास
मेरी आत्मा का था।"[3]

पंक्तियों के अन्त में मिलने वाली बहुत कम तुकें ही अभिव्यक्ति और प्रवाह की दृष्टि से सफल बन पड़ी हैं। कहीं-कहीं तो लय और तुक का बहुत ही घटिया रूप सामने आया है। यथा—

"निष्ठुर अँगुलियों की बात
अमानव नहीं है **क्या** ?
अभिषेक और वनवास दोनों से
सम्बन्धित नहीं हूँ **क्या** ?"[4]

वस्तुतः यहाँ कवि काव्यात्मक भाव-भूमि के स्तर तक उठ ही नहीं सका है। ये पंक्तियाँ ज़बरदस्ती ही कविता के नाम पर ठोंस दी गयी हैं। आलोच्य कृति में कटाव-दार तुकों की भी प्रचुरता है, जिनमें एक पंक्ति के अन्त की तुक दूसरी के मध्य से जाकर मिलती है,[5] किन्तु लय का निर्माण करने वाली पंक्तियों की लघुता के कारण वे भी बहुत सफल नहीं बन पड़ी हैं।

---

१. वही, पृ० ३१ २. वही, पृ० २८
३. वही, पृ० २४ ४. वही, पृ० ५७
५. (क) राघव।
ये लाघव समस्त
किसके विरुद्ध ?" वही, पृ० ७५
(ख) "क्यों हैं परिताप
और अनुताप किसलिए ?" वही, पृ० १६
(ग) "डाक दी
प्रतिडाक दी पर व्यर्थ ! वही, पृ० २७

(५) **अभिनेयता**—यद्यपि अभिनेयता की दृष्टि से 'संशय की एक रात' में अपेक्षित क्रिया-व्यापार का अभाव है, तथापि पात्रों की मानसिक हलचल और क्रिया-शीलता के द्योतक तर्कों से युक्त संवादों से उस अभाव की बहुत सीमा तक पूर्ति हो गयी है। यदि अपेक्षित कलात्मक संयम से काम लिया जाता, तो संवादों में संक्षिप्तता तथा मार्मिकता का गुण भी उत्पन्न किया जा सकता था। राम सारे काव्य में अपनी शंकाकुल मनःस्थिति को ही व्यक्त करते रहते हैं, किन्तु अभिव्यक्ति के इस फैलाव में काव्यात्मक प्रभाव जैसे बिखर गया है। इस सम्बन्ध में डॉ० रामदरश मिश्र का यह कथन महत्त्वपूर्ण है, "'संशय की एक रात' में चिन्तन और अनुभूति का बहुत घनत्व भले ही न हो, किन्तु उसका प्रवाह तो है और प्रवाह यदि इतना न फैलता तो घनत्व का अभाव न होता।"[1] फिर भी संवादों को यदि स्वर के अपेक्षित उतार-चढ़ाव के साथ बोला जाए, तो उनमें नाटकीय प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। पात्रों की विविधता प्रस्तुत नाट्य-काव्य की अभिनेयता के लिए अनुकूल तत्त्व है। समुद्र और सेतुबन्ध के दृश्य को रंगमंच के पिछले पर्दे पर अंकित किया जा सकता है। छाया और जटायु वाले दृश्य को भी पात्रों पर बिजली के रंगीन छायामय प्रकाश की सहायता से दर्शाया जा सकता है। किन्तु इन पात्रों के उलझन-भरे संवादों में से कुछ को कतई निकाल देना उपयोगी होगा।

'संशय की एक रात' के रचयिता का ध्यान इस नाट्य-काव्य की नाटकीयता की ओर निरन्तर लगा रहा है, इस धारणा की पुष्टि दो तथ्यों से होती है—(१) कवि ने प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में तथा बीच-बीच में क्रिया-व्यापार और दृश्य-योजना सम्बन्धी निर्देश दिये हैं (२) कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि दूसरे सर्ग में शेक्स-पियर के नाटक हेमलेट की शैली प्रयुक्त की गयी है। यदि संवादों में अपेक्षित काट-छाँट के साथ 'संशय की एक रात' का अभिनय किया जाए, तो पर्याप्त सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसके अभिनय के लिए ऐसे स्वर-साधक अभिनेताओं की अपेक्षा है, जो तर्क और भावना के अनुरूप स्वर को कहीं तीखा और कहीं तरल बना सकें। साथ ही, प्रबुद्ध दर्शक ही इसकी तर्काश्रित नाटकीयता का रसास्वादन कर सकते हैं।

(६) **उद्देश्य**—कथानक, चरित्र-चित्रण और प्रतीक-योजना के अन्तर्गत आनुषंगिक रूप में 'संशय की एक रात' के उद्देश्य पर भी प्रकाश पड़ा है। कवि के अनुसार "जिस प्रकार कुछ प्रश्न सनातन है, उसी प्रकार कुछ प्रज्ञा-पुरुष भी सनातन प्रतीक होते हैं। ···इसके अतिरिक्त विभिन्न मूल्यों, बोधों वाले समाज से कोई चरित्र लेकर एक दम विपरीत मूल्यों, बोधों, मान्यताओं में विभिन्न उद्देश्य के लिए प्रस्तुत करना काफी संकटपूर्ण होता है।"[2] वस्तुतः राम के व्यक्तित्व की प्रतीकात्मकता ही उनके व्यक्तित्व को वह लचीलापन प्रदान करती है कि वे प्राचीन और अर्वाचीन

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र, **हिन्दी कविता : तीन दशक**, पृ० १७२

२. नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, (शीर्षबन्ध)

दोनों ही सन्दर्भों में सार्थक प्रतीत होते हैं। प्राचीन युग राजतंत्रात्मक युग था। उस समय युद्ध राजा की व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति और स्वत्व की रक्षा के लिए होते थे। अन्ध-श्रद्धालु वीर-पूजक जनता राजा की व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति के लिए स्वयं को श्रद्धापूर्वक युद्ध की ज्वालाओं में झोंक देती थी। किन्तु 'संशय की एक रात' के राम जनतांत्रिक युग या नेहरू-युग के राम हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व और व्यक्तित्व सार्थक हो उठा है तथा जिनमें व्यक्ति या अल्पमत के स्वत्व के लिए बहुमत की बलि नहीं दी जा सकती। राम का संशय आज के प्रबुद्ध उत्तरदायी जनतांत्रिक शासक (जन) का संशय है, जो अपने से अधिक प्रजाजन के हितों की चिन्ता करता है।

युद्ध प्रत्येक युग की समस्या है, किन्तु युद्ध के प्रति दृष्टिकोण में प्रत्येक युग के अनुरूप परिवर्तन आता रहता है। प्राचीन काल में युद्ध राजा के व्यक्ति-सन्दर्भ से संयुक्त होकर ही प्रजाजन के लिये धर्म या जीवन-मूल्य बन जाता था, प्राचीन काल के कितने ही युद्ध केवल किसी एक व्यक्ति के अहंकार की तृप्ति या अधिकार-लिप्सा की पूर्ति के लिए किये गये। कितने ही व्यक्ति राजा की व्यक्तिगत सनक के शिकार होते थे। प्राचीन युद्धों की सार्थकता पर जब आज के नवीन परिप्रेक्ष्य में विचार करते हैं तो प्राचीन शासकों की बुद्धिहीनता और इससे भी बढ़कर जनता की अन्धता पर भारी खेद होता है। आज के जनवादी युग में युद्ध शासक की व्यक्तिगत समस्या से नहीं सामाजिक या राष्ट्रीय समस्या और उसके समाधान की चेष्टा से सम्बद्ध हो गया है। जब आज के जनवादी राम युद्ध के स्वरूप और सार्थकता पर स्वयं को प्राचीन राजतंत्रीय व्यष्टि-सन्दर्भ में रखकर विचार करते हैं, तो व्यक्तिगत समस्या के लिए भारी जन-समूह को बलि देने की परिकल्पना मात्र से प्रकम्पित हो उठते हैं। वे सीता के अपहरण की समस्या को निजी या व्यक्तिगत समस्या समझते है। किन्तु जनता के प्रतिनिधियों की दृष्टि में सीता केवल किसी की पत्नी, पुत्री या माता ही नहीं, वह जन-स्वातन्त्र्य की पुनीत प्रतीक भी है। अतः जन-स्वतन्त्रता (सीता) के अपहरण का प्रश्न राष्ट्रीय स्वाभिमान और प्रतिष्ठा का प्रश्न है, जिसके लिए युद्ध में जूझना और प्राणोत्सर्ग करना राष्ट्र-धर्म और जन-धर्म है। इस विशिष्ट जन-सन्दर्भ में युद्ध धार्मिक पावित्र्य और मूल्यवत्ता ग्रहण करता है। राम जब परिषद् के बहुमत के निर्णय के परिप्रेक्ष्य में युद्ध के स्वरूप पर नवीन दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो उनके अन्दर भी नवीन शक्ति और विवेक का सूर्योदय होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'संशय की एक रात' कथानक के अधिकतर अंशों की भाव-संवलित वैचारिकता, चरित्र-चित्रण की नवीनता, संवादों की बौद्धिक प्रखरता और वाग्वैदग्ध्य के बावजूद भी, अपेक्षित कलात्मक संयम और भाषा-साधना के अभाव में एक उत्कृष्ट कोटि का नाट्य-काव्य बनने से रह गया है।

(५) **अभिनेयता**—यद्यपि अभिनेयता की दृष्टि से 'संशय की एक रात' में अपेक्षित क्रिया-व्यापार का अभाव है, तथापि पात्रों की मानसिक हलचल और क्रिया-शीलता के द्योतक तर्कों से युक्त संवादों से उस अभाव की बहुत सीमा तक पूर्ति हो गयी है। यदि अपेक्षित कलात्मक संयम से काम लिया जाता, तो संवादों में संक्षिप्तता तथा मार्मिकता का गुण भी उत्पन्न किया जा सकता था। राम सारे काव्य में अपनी शंकाकुल मनःस्थिति को ही व्यक्त करते रहते हैं, किन्तु अभिव्यक्ति के इस फैलाव में काव्यात्मक प्रभाव जैसे बिखर गया है। इस सम्बन्ध में डॉ० रामदरश मिश्र का यह कथन महत्त्वपूर्ण है, "'संशय की एक रात' में चिन्तन और अनुभूति का बहुत घनत्व भले ही न हो, किन्तु उसका प्रवाह तो है और प्रवाह यदि इतना न फैलता तो घनत्व का अभाव न होता।"[1] फिर भी संवादों को यदि स्वर के अपेक्षित उतार-चढ़ाव के साथ बोला जाए, तो उनमें नाटकीय प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। पात्रों की विविधता प्रस्तुत नाट्य-काव्य की अभिनेयता के लिए अनुकूल तत्त्व है। समुद्र और सेतुबन्ध के दृश्य को रंगमंच के पिछले पर्दे पर अंकित किया जा सकता है। छाया और जटायु वाले दृश्य को भी पात्रों पर बिजली के रंगीन छायामय प्रकाश की सहायता से दर्शाया जा सकता है। किन्तु इन पात्रों के उलझन-भरे संवादों में से कुछ को कतई निकाल देना उपयोगी होगा।

'संशय की एक रात' के रचयिता का ध्यान इस नाट्य-काव्य की नाटकीयता की ओर निरन्तर लगा रहा है, इस धारणा की पुष्टि दो तथ्यों से होती है—(१) कवि ने प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में तथा बीच-बीच में क्रिया-व्यापार और दृश्य-योजना सम्बन्धी निर्देश दिये हैं (२) कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि दूसरे सर्ग में शेक्सपियर के नाटक हेमलेट की शैली प्रयुक्त की गयी है। यदि संवादों में अपेक्षित काट-छाँट के साथ 'संशय की एक रात' का अभिनय किया जाए, तो पर्याप्त सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसके अभिनय के लिए ऐसे स्वर-साधक अभिनेताओं की अपेक्षा है, जो तर्क और भावना के अनुरूप स्वर को कहीं तीखा और कहीं तरल बना सकें। साथ ही, प्रबुद्ध दर्शक ही इसकी तर्काश्रित नाटकीयता का रसास्वादन कर सकते हैं।

(६) **उद्देश्य**—कथानक, चरित्र-चित्रण और प्रतीक-योजना के अन्तर्गत आनुषंगिक रूप में 'संशय की एक रात' के उद्देश्य पर भी प्रकाश पड़ा है। कवि के अनुसार "जिस प्रकार कुछ प्रश्न सनातन है, उसी प्रकार कुछ प्रज्ञा-पुरुष भी सनातन प्रतीक होते हैं। ···इसके अतिरिक्त विभिन्न मूल्यों, बोधों वाले समाज से कोई चरित्र लेकर एक दम विपरीत मूल्यों, बोधों, मान्यताओं में विभिन्न उद्देश्य के लिए प्रस्तुत करना काफी संकटपूर्ण होता है।"[2] वस्तुतः राम के व्यक्तित्व की प्रतीकात्मकता ही उनके व्यक्तित्व को वह लचीलापन प्रदान करती है कि वे प्राचीन और अर्वाचीन

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र, **हिन्दी कविता : तीन दशक**, पृ० १७२

२. नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, (शीर्षबन्ध)

दोनों ही सन्दर्भों में सार्थक प्रतीत होते हैं। प्राचीन युग राजतंत्रात्मक युग था। उस समय युद्ध राजा की व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति और स्वत्व की रक्षा के लिए होते थे। अन्ध-श्रद्धालु वीर-पूजक जनता राजा की व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति के लिए स्वयं को श्रद्धापूर्वक युद्ध की ज्वालाओं में झोंक देती थी। किन्तु 'संशय की एक रात' के राम जनतांत्रिक युग या नेहरू-युग के राम हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व और व्यक्तित्व सार्थक हो उठा है तथा जिनमें व्यक्ति या अल्पमत के स्वत्व के लिए बहुमत की बलि नहीं दी जा सकती। राम का संशय आज के प्रबुद्ध उत्तरदायी जनतांत्रिक शासक (जन) का संशय है, जो अपने से अधिक प्रजाजन के हितों की चिन्ता करता है।

युद्ध प्रत्येक युग की समस्या है, किन्तु युद्ध के प्रति दृष्टिकोण में प्रत्येक युग के अनुरूप परिवर्तन आता रहता है। प्राचीन काल में युद्ध राजा के व्यक्ति-सन्दर्भ से संयुक्त होकर ही प्रजाजन के लिये धर्म या जीवन-मूल्य बन जाता था, प्राचीन काल के कितने ही युद्ध केवल किसी एक व्यक्ति के अहंकार की तृप्ति या अधिकार-लिप्सा की पूर्ति के लिए किये गये। कितने ही व्यक्ति राजा की व्यक्तिगत सनक के शिकार होते थे। प्राचीन युद्धों की सार्थकता पर जब आज के नवीन परिप्रेक्ष्य में विचार करते हैं तो प्राचीन शासकों की बुद्धिहीनता और इससे भी बढ़कर जनता की अन्धता पर भारी खेद होता है। आज के जनवादी युग में युद्ध शासक की व्यक्तिगत समस्या से नहीं सामाजिक या राष्ट्रीय समस्या और उसके समाधान की चेष्टा से सम्बद्ध हो गया है। जब आज के जनवादी राम युद्ध के स्वरूप और सार्थकता पर स्वयं को प्राचीन राज-तंत्रीय व्यष्टि-सन्दर्भ में रखकर विचार करते हैं, तो व्यक्तिगत समस्या के लिए भारी जन-समूह को बलि देने की परिकल्पना मात्र से प्रकम्पित हो उठते हैं। वे सीता के अपहरण की समस्या को निजी या व्यक्तिगत समस्या समझते हैं। किन्तु जनता के प्रतिनिधियों की दृष्टि में सीता केवल किसी की पत्नी, पुत्री या माता ही नहीं, वह जन-स्वातन्त्र्य की पुनीत प्रतीक भी है। अतः जन-स्वतन्त्रता (सीता) के अपहरण का प्रश्न राष्ट्रीय स्वाभिमान और प्रतिष्ठा का प्रश्न है, जिसके लिए युद्ध में जूझना और प्राणोत्सर्ग करना राष्ट्र-धर्म और जन-धर्म है। इस विशिष्ट जन-सन्दर्भ में युद्ध धार्मिक पावित्र्य और मूल्यवत्ता ग्रहण करता है। राम जब परिषद् के बहुमत के निर्णय के परिप्रेक्ष्य में युद्ध के स्वरूप पर नवीन दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो उनके अन्दर भी नवीन शक्ति और विवेक का सूर्योदय होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'संशय की एक रात' कथानक के अधिकतर अंशों की भाव-संवलित वैचारिकता, चरित्र-चित्रण की नवीनता, संवादों की बौद्धिक प्रखरता और वाग्वैदग्ध्य के बावजूद भी, अपेक्षित कलात्मक संयम और भाषा-साधना के अभाव में एक उत्कृष्ट कोटि का नाट्य-काव्य बनने से रह गया है।

अध्याय ८

एक कंठ विषपायी : रूप और अभिव्यंजना

(क) **सामान्य विवेचन**—'एक कण्ठ विषपायी' श्री दुष्यन्तकुमार द्वारा विरचित एक पौराणिक नाट्य-काव्य है। 'सूर्य का स्वागत' तथा 'आवाजों के घेरे' नामक कविता संग्रहों के उपरान्त यह उनकी तीसरी काव्य-कृति है, जिसका प्रकाशन सन् १९६३ में हुआ।

एक कण्ठ विषपायी के काव्य-रूप के विषय में भी वही भ्रान्ति दिखलाई पड़ती है, जो अन्य नाट्य-काव्यों के विषय में रही है। स्वयं दुष्यन्तकुमार ने इसे 'काव्य-नाटक', 'खण्डकाव्य', 'नाटक', नामों से अभिहित किया है।[1] 'कल्पना' के सम्पादक, बद्री विशाल पित्ती ने इसे "अन्धा युग के बाद हिन्दी की सशक्त 'काव्य-कृति' कहने के साथ ही 'नाटक' नाम से भी अभिहित किया है।[2] दूसरे अध्याय में नाट्य-काव्य के रूप पर विचार करते हुए कहा जा चुका है कि नाट्य-काव्य न तो केवल ऐसा काव्य है, जिसकी शिल्प-विधि नाटक की है और न केवल ऐसा नाटक ही है जिसका माध्यम काव्य है, वरन् वह एक साथ ही ऐसा नाट्य और काव्य है जिसमें नाटकीयता कवित्व की और कवित्व नाटकीयता की आन्तरिक अनिवार्यता है। साथ ही यह भी स्थापित किया जा चुका है कि ऐसी कृति की, जिसमें नाटकीयता और कवित्व का जटिल सामंजस्य हो, काव्य-नाटक न कहकर 'नाट्य-काव्य' कहना ही अधिक युक्तियुक्त है, क्योंकि ऐसी कृतियाँ गद्य नाटककारों द्वारा कभी नहीं लिखी जा सकतीं, वे कवियों द्वारा ही रची जाती हैं। स्वयं टी०एस० इलियट ने ऐसी विशिष्ट काव्य-कृतियों को 'नाट्-काव्य' कहना अधिक समीचीन माना है। आश्चर्य तो तब होता है, जब कोई आलोचक ऐसी कृतियों को सिद्धान्ततः काव्य मानते हुए भी, अन्ततः उन्हें काव्य-नाटक कहकर उनमें नाटकीयता की प्रमुखता स्थापित करता है। एक कण्ठ विषपायी के सन्दर्भ में धनंजय वर्मा की यह उक्ति कुछ इसी प्रकार की है, "काव्य-नाटक की एक बड़ी विशेषता सामान्य नाटक और काव्य की तुलना में उसकी महाकाव्योचित गरिमा या 'एपिक ग्रेंजर' है।"[3] यहाँ अन्तर्विरोध स्पष्ट है। किसी कृति को पहले काव्य-नाटक कहना और फिर उसकी विशेषता 'महाकाव्योचित

---

१. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, (आभार-कथा), पृ० ५

२. **वही**, पृ० ६

३. धनंजय वर्मा, **काव्य-नाटक की अवधारणा और एक कण्ठ विषपायी का आस्वाद**, सम्पा० बालकृष्णराव, **माध्यम** फरवरी, १९६५, पृ० १००

गरिमा' घोषित करना कहाँ तक युक्तिसंगत है ? जिस प्रकार दुष्यन्तकुमार के विषय में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वे पहले कवि हैं पीछे नाटककार या कुछ और; उसी प्रकार 'एक कण्ठ विषपायी' के विषय में भी असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि वह पहले काव्य है पीछे नाटक। वस्तुतः इस सन्दर्भ में पहले-पीछे के क्रम की बात स्थूल रूप में ही कही गई है। सच तो यह है कि यह क्रम पौर्वापर्य का द्योतक न होकर सापेक्षता या अनुपात का द्योतक है। 'नाट्य-काव्य' शब्द उक्त सापेक्षता को, जिसमें नाटकीयता काव्य का ही आनुषंगिक अन्तर्वर्ती तत्त्व है, भली प्रकार व्यंजित करता है। अतः एक कण्ठ विषपायी को 'नाट्य-काव्य' कहना सर्वथा युक्तियुक्त है।

(ख) **रूप और अभिव्यंजना की दृष्टि से 'एक कण्ठ विषपायी' का पर्यालोचन**—यहाँ हम नाट्य-काव्य के विविध तत्त्वों कथानक, पात्र और चरित्र-चित्रण, संवाद आदि की दृष्टि से एक कण्ठ विषपायी का पर्यालोचन करके देखेंगे कि वह किस कोटि का नाट्य-काव्य है।

(१) **कथानक**—'एक कण्ठ विषपायी' की कथावस्तु का आधार पौराणिक है। यह नाट्य-काव्य विविध पुराणों में उपलब्ध 'दक्ष-यज्ञ-विध्वंस' के प्रसंग पर आधारित है। उक्त प्रसंग के अनेक परिवर्तित-परिवर्द्धित संस्करण पुराणों में प्राप्त होते हैं। इस विषय में प्राथमिक संकेत ऋग्वेद मे मिलता है। ऋग्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति भू, वृक्ष, आशा, अदिति, दक्ष, अदिति के क्रम से बतलाई है।[1] अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ और दक्ष से अदिति उत्पन्न हुई—यह परस्पर विरोधी निर्देश ऋग्वेद में मिलता है। इस विरोध का परिहार "यह सारी देवों की कथा है" कहकर निरुक्त में किया गया है।[2]

पुराणों में उपलब्ध 'दक्ष-कथा' का विकास उपरिनिर्दिष्ट ऋग्वेदीय प्रसंग से हुआ है। यह कथा महाभारत के अतिरिक्त भागवत् पुराण, विष्णु पुराण, कूर्म पुराण, स्कन्दपुराण, ब्रह्मपुराण, वायुपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, हरिवंश पुराण, मत्स्यपुराण, शिवपुराण, पद्मपुराण आदि अनेक ग्रन्थों में मिलती है। दक्ष प्रजापति का जन्म स्वायंभुव मन्वन्तर में ब्रह्मा जी के दक्षिण अँगूठे से हुआ था और ब्रह्मा जी के बायें अँगूठे से उनकी पत्नी उत्पन्न हुई थीं।[3] स्वायंभुव मनु की कन्या प्रसूति भी इनकी पत्नी थी, जिससे दक्ष के सोलह कन्याएँ हुईं। दक्ष ने सोलह कन्याओं में से तेरह कन्याएँ प्रजापति को भार्यारूप में दी। स्वाहा नामक कन्या अग्नि को, स्वधा अग्निष्वात्तों को तथा सती नामक सोलहवीं कन्या शंकर को दी गई।[4] पूर्व काल में एक बार मरीच आदि प्रजापतियों के यज्ञ में सभी देवता तथा ऋषि सम्मिलित हुए।[5]

---

१. दे०, **ऋग्वेद**, १०,७२, ४-५
२. दे, **निरुक्त**, ११,२३
३. **श्री हरिवंश पुराण**, हरिवंश पर्व, अ० १, श्लो० ५२
४. दे०, **श्रीमद्भागवत् पुराण**, स्कन्ध ४, अ० १
५. दे०, **वही**, स्कन्ध ४, अ० २, श्लो० ४

दक्ष प्रजापति के यज्ञ-मण्डप में पधारने पर ब्रह्मा और महादेव जी के अतिरिक्त सब ऋषि और देवता अपने आसनों से उठकर खड़े हो गये। दक्ष को अपने जामाता के अपमानजनक व्यवहार पर रोष हुआ और उसने महादेव को शाप दिया कि यह इन्द्र उपेन्द्र आदि देवताओं के साथ यज्ञ का भाग न प्राप्त करे।[1] इसके बाद दक्ष ने वाजपेय यज्ञ के उपरान्त बृहस्पतिसव यज्ञ प्रारम्भ कर दिया।[2] उसने इस यज्ञ में सभी देवताओं तथा अपनी अन्य सभी पुत्रियों और उनके पतियों को निमन्त्रित किया, किन्तु सती तथा महादेव को नहीं बुलाया। महादेव के मना करने पर भी सती ने दक्ष-यज्ञ में सम्मिलित होने का आग्रह किया।[3] सती के पितृ-गृह पहुँचने पर उसकी माता और बहिनों के अतिरिक्त और किसी ने उसका स्वागत-सत्कार नहीं किया।[4] यज्ञ को शंकर के भाग से रहित देखकर सती को भारी अपमान अनुभव हुआ और उसने दक्ष के शरीर से उत्पन्न अपने शरीर को त्यागने का निश्चय किया।[5] सती ने योगासन में स्थित होकर प्राण और अपान वायु को समान किया, फिर दोनों को ऊर्ध्वमुखी करके नाभिचक्र के ऊपर हृदय-देश में स्थित किया।[6] उसका शरीर योगाग्नि से धधक उठा। सती का प्राण-त्याग देखकर सती के साथ आये हुए शिव जी के गण दक्ष को मारने के लिए अस्त्र-शस्त्र लेकर दौड़ पड़े।[7] शिवगणों के आक्रमण को देखकर भृगु ने मन्त्र पढ़कर दक्षिणाग्नि में आहुति दी, जिसके प्रभाव से सहस्रों 'ऋभु' नामक देवता यज्ञ-कुण्ड से प्रकट हुए और उन्होंने शिव के गणों को भगा दिया। जब शंकर ने नारद के मुख से यह सारा वृत्तान्त सुना, तो उन्हें बड़ा क्रोध आया और उन्होंने अपनी जटा से एक बाल उखाड़कर पृथ्वी पर पटक दिया, जिससे अत्यन्त भीषण आकृति वाला 'वीर भद्र' उत्पन्न हुआ। शिवजी के आदेश से वीरभद्र ने दक्ष-यज्ञ को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। वीरभद्र ने गला घोटकर मारने के यन्त्र से दक्ष का सिर धड़ से अलग कर दिया।[8]

इसके बाद सभी देवता ब्रह्मा जी के पास गये और उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाया। ब्रह्मा जी देवताओं के साथ कैलास पर गये और शिव जी से दक्ष को पुनर्जीवित करने तथा अधूरा यज्ञ पूरा करने के लिए प्रार्थना की। शिव जी ने दक्ष के सिर के स्थान पर बकरे का सिर लगा दिया और यज्ञ सम्पन्न करने की अनुमति दी। तब सभी देवताओं ने शिव को यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित किया। शिव

---

१. दे०, वही, स्कन्ध ४, अ० २, श्लो० १८
२. दे०, वही, स्कन्ध ४, अ० ३, श्लोक ३
३. दे०, वही, स्कन्ध ४, अ० ४, श्लो० ८-२५
४. दे०, वही, स्कन्ध ४, अ० ४, श्लो० ७
५. दे०, वही, स्कन्ध ४, अ० ४, श्लो० ९-२३
६. दे०, वही, स्कन्ध ४, अ० ४, श्लो० २५
७. दे०, वही, स्कन्ध ४, अ० ४, श्लो० ३१
८. दे०, वही, स्कन्ध ४, अ० ५, श्लो० ३-२४

और ब्रह्मा यज्ञ में सम्मिलित हुए। दक्ष ने शिव की निष्कपट भाव से स्तुति की।[1]

वस्तुतः भागवत् पुराण में दी गई उक्त कथा महाभारत में दिये गये आख्यान का ही विकसित रूप है।[2] महाभारत में इस आख्यान के अन्त में दक्ष को शिव के समक्ष घुटने टेककर प्रणामपूर्वक शिव के १००८ नामों के स्तोत्र द्वारा स्तवन करता दिखलाया गया है।[3] उक्त आख्यान का उद्देश्य शिव को यज्ञ-विध्वंसक देवता के रूप में प्रतिष्ठित करना कदापि नहीं है, वरन् शिव-द्रोहियों को आतंकित करके उनमें शिव के प्रति अधिकाधिक पूजा-बुद्धि और समर्पण-भाव जगाना है।

कुछ पुराणों में संकेत मिलता है कि दक्ष के यज्ञ का विध्वंस दो बार हुआ। ब्रह्माण्ड पुराण २,१३,४५ तथा ६५-७२ के अनुसार दक्ष का प्रथम यज्ञ-ध्वंस स्वायम्भुव मन्वन्तर में तथा दूसरा चाक्षुष मन्वन्तर में हुआ। स्वायंभुव मन्वन्तर के दक्ष प्रजापति ही चाक्षुष मन्वन्तर में प्राचीनबर्हि के पुत्र प्रचेतागण के द्वारा वृक्ष-कन्या मारिषा के गर्भ से पुनः उत्पन्न हुए।[4] इस कथन की पुष्टि हरिवंश पुराण[5] और वायुपुराण[6] में भी मिलती है। शिवपुराण के अनुसार जैसे ही देवी सती शरीर त्यागकर हिमगिरि पर गयीं, तब शिव जी ने दक्ष को शाप देते हुए कहा, "तुम चाक्षुष के वंश में प्राचीनबर्हि के पौत्र तथा प्रचेताओं के पुत्र होओगे। मैं वहाँ भी तुम्हारे धर्म, अर्थ, काम से युक्त कार्यों में विघ्न डालूंगा।"[7] तेजस्वी शिव द्वारा ऐसा कहे जाने पर दक्ष ने स्वायंभुव शरीर को त्याग दिया और पुनर्जन्म ग्रहण किया, तब महेश ने उसके यज्ञ में विघ्न उपस्थित किया।[8] चाक्षुष मन्वन्तर के दक्ष प्राचेतस प्रजापति ने प्रजा की वृद्धि के लिए वीरण प्रजापति की अति तपस्विनी पुत्री असिक्नी (वीरिणी) से विवाह किया,[9] किन्तु अन्यत्र यह उल्लेख मिलता है कि वह ब्रह्मा के बाँये पैर के अँगूठे से उत्पन्न हुई थी।[10] ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि स्वायंभुव मन्वन्तर के दक्ष प्रजापति की एक पत्नी का जन्म ब्रह्मा के बाँये पैर के अँगूठे से हुआ था। इस प्रकार वीरिणी का सम्बन्ध दोनों मन्वन्तरों के दक्ष से जुड़ जाता है, किन्तु कहीं यह उल्लेख नहीं मिलता है कि वह दक्ष-सुता सती की माता थी। सती की माता का नाम प्रसूति ही दिया गया है।[11]

---

१. दे०, **वही**, स्कन्ध ४, अ० ६, श्लो० १-१५
२. दे०, **महाभारत**, शान्तिपर्व, अ० २८३-२८४
३. दे०, **वही**, शान्तिपर्व, अ० २८४
४. दशम्यस्तु प्रचेताभ्यो मारिषायां प्रजापतिः।
जज्ञे दक्षो महाभागो यः पूर्वं ब्रह्मणोऽभवत्॥ **विष्णु पुराण**, प्रथम अंश, अ० १५, श्लोक ७४
५. दे०, **हरिवंश पुराण**, हरिवंश पर्व, अ० १-२
६. दे०, **वायु पुराण**, अ० ३०
७. **शिवपुराण**, वायवीयसंहिता, अ० १८, श्लो० ५७-५८
८. **वही**, वायवीयसंहिता, अ० १८, श्लो० ५९-६२
९. दे० **विष्णु पुराण**, प्रथम अंश, अ० १५, श्लो० ९०
१०. दे० **महाभारत**, आदिपर्व अ० ७०, श्लोक ५
११. इसके विपरीत दुष्यन्तकुमार ने सती की माता का नाम वीरिणी दिया है।

हरिवंश पुराण में उल्लेख मिलता है कि पिनाकधारी शिव ने स्वयं यज्ञ का ध्वंस किया। उधर शृंग से निर्मित विशाल शार्ंग धनुष और चक्र हाथ में लेकर विष्णु युद्ध के लिए प्रस्तुत हुए। पहले रुद्र ने प्रहार किया, किन्तु विष्णु विचलित न हुए। इसके बाद विष्णु ने शिव के गले की हँसली पर बाण से प्रहार किया, किन्तु शिव विचलित न हुए। इस पर विष्णु भगवान् उछलकर शिव के गले से जा लगे और क्षमा-याचना करते हुए उनका स्तवन करने लगे। विष्णु ने दक्ष का यज्ञ सम्पन्न किया और उसमें रुद्र शिव के लिए भाग की व्यवस्था की।[1] वस्तुतः जिस कल्पना के आधार पर शक्ति-पूजा के पीठों की निर्मिति भारतवर्ष में हुई उस रुद्रशिव एवं सती की कथा का निर्देश उपर्युक्त पुराणों में नहीं मिलता है। कथा का यह सम्वर्द्धित रूप देवी भागवत और कालिकापुराण में प्राप्त होता है। इस कथा के अनुसार दक्ष-यज्ञ में अपमानित होकर सती ने कुण्ड में अपना शरीर झोंक दिया। तत्पश्चात् क्रोध से पागल हुए रुद्र शिव सती के निष्प्राण शरीर को कन्धे पर लेकर चारों दिशाओं में घूमने लगे। यह देखकर विष्णु ने अपना धनुष उठाकर बाणों से सती के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये, जो विभिन्न स्थानों पर जा गिरे। सती के शरीर के विभिन्न अवयव तथा आभूषण जिन-जिन स्थानों पर गिरे वहाँ एक-एक शक्ति और एक-एक भैरव का विभिन्न रूपों में अवतरण हुआ।[2] देवी भागवत में इन शक्ति-पीठों की संख्या १०८ दी गई है।[3] मत्स्य पुराण में भी इन तीर्थों की संख्या १०८ ही दी गई है।[4] शाक्त उपासना के 'शिव विजय' और 'दाक्षायणी तन्त्र' नामक ग्रन्थों में शक्तिपीठों की संख्या ५१ बतलायी गई है। 'तन्त्रचूड़ामणि' में यह संख्या ५२ दी गई है।

'एक कंठ विषपायी' में उक्त कथानक के किन-किन प्रसंगों को किस रूप में ग्रहण किया गया है, इस पर विचार करने से पूर्व यहाँ इस नाट्य-काव्य की कथावस्तु को संक्षेप में प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। प्रस्तुत नाट्य-काव्य चार दृश्यों में विभक्त है। प्रथम दृश्य दक्ष और उसकी पत्नी वीरिणी के पारस्परिक विचार-विमर्श से प्रारम्भ होता है। वीरिणी यज्ञ के विराट् आयोजन में अपनी पुत्री सती और उसके पति शंकर को निमन्त्रित करने के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत करती है, जबकि दक्ष शंकर को आग्रही, मर्यादा-भंजक और सती का अपहरणकर्त्ता घोषित करते हुए वीरिणी के विचारों का खण्डन करता है।[5] इसी बीच सर्वहत नामक भृत्य आकर राजकुमार सुलभ द्वारा एक चिड़िया को निजी कक्ष में निर्ममतापूर्वक बन्दी बना लेने की घटना के विषय में सूचित करता है। दक्ष पुत्र के व्यवहार की पुष्टि करते हुए अपनी निर्दय प्रकृति का परिचय देता है, जबकि ममतामयी वीरिणी सर्वहत को आदेश देती है कि यदि सुलभ स्वेच्छा

---

१. **हरिवंशपुराण**, भविष्य पर्व, अ० ३२, श्लो० ३०-५९
२. दे०, **देवीभागवत पुराण**, सप्तम स्कन्ध, अ० ३०, श्लो० ४४-५०
३. दे०, वही, सप्तम स्कन्ध, अ० ३०, श्लो० ५३-८५
४. **मत्स्यपुराण**, अ० १३, श्लो० २६-५६
५. **दुष्यन्तकुमार, एक कंठ विषपायी**, पृ० ११-१५

से पक्षी को मुक्त न करे, तो उसे बलपूर्वक मुक्त करा दिया जाए।[1] उक्त प्रसंग के परिप्रेक्ष्य में दक्ष वीरिणी को 'कोमल हृदय वाली' कहता है और वीरिणी अपने जामाता को ही शत्रु बनाने के लिए उद्यत दक्ष को 'वज्रहृदय' कहती है। दोनों का विवाद चलता रहता है। दक्ष तर्क देता है कि यदि शंकर को सती की कामना थी, तो उसे स्पष्ट कहना था, व्यर्थ का प्रणय-प्रपंच रचकर परम्परा का खण्डन करने और देवलोक में लोकापवाद फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। वीरिणी को यज्ञ के मंगलमय अवसर पर सती और शंकर को निमन्त्रित न करने के निश्चय में कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता। इसी समय सर्वहत आ कर सूचना देता है कि जब से उसने बलपूर्वक द्वार खोलकर पक्षी को मुक्त कराया है, तब से राजकुमार सुलभ स्वयं को अपमानित अनुभव करते हैं और अनुचरों को अपशब्द कह रहे हैं। दक्ष सुलभ को प्रसन्न रखने में अक्षम अनुचरों को दण्डनीय मानते हैं और सुलभ के अपमान को अन्तःपुर की शिथिल व्यवस्था का फल बतलाते हैं। इसके विपरीत वीरिणी सुलभ की मनोव्यथा को उसी प्रकार स्वाभाविक मानती है जिस प्रकार 'अपने घर की सोनचिरैया (सती) उड़ जाने पर' दक्ष की मनोव्यथा स्वाभाविक है।[2] इसी वाद-विवाद के दौरान महामात्य का अनुचर आकर सूचना देता है कि राजसुता सती महादेव शंकर के गणों और नंदी के साथ यज्ञ-मण्डल में पहुंच गई है। दक्ष इस सूचना से विक्षुब्ध हो उठता है और वीरिणी का मुख सहज उल्लास की आभा से दीप्त हो जाता है। अनुचर से ज्ञात होता है कि सती को अन्तःपुर में आना स्वीकार्य नहीं है और अपने पति के अपमान से क्षुब्ध होकर अतिथियों को अपशब्द कह रही हैं। दक्ष इसे सती की अनधिकार चेष्टा मानता है कि अनाहूत होने पर भी वह धर्म की मर्यादाएँ तोड़कर यज्ञ-व्यवस्था की आलोचना करे। उसे लगता है कि शंकर सती को गोट बनाकर कोई कपटपूर्ण चाल चल रहा है। वह सती को वापस कैलास-लोक भेजकर पहले से ही अपमानित शिव को और भी अपमानित करने का निश्चय करता है।[3] वीरिणी दक्ष के इस निश्चय के प्रति घोर आपत्ति प्रकट करती है और ऐसे अविवेकपूर्ण कार्य के विरोध में आत्मघात करने की प्रतिज्ञा करती है। दक्ष के हृदय में वीरिणी की प्रतिज्ञा कोमलता का संचार करती है और वह वचन देता है कि वह शिव के प्रति अपने आक्रोश को सती पर नहीं उतारेगा और उसे राजकीय गौरव के साथ यज्ञ में भाग-भोग प्राप्त कराने की व्यवस्था की जायेगी। किन्तु दक्ष और वीरिणी दोनों को ही अनुचर के मुख से यह सुनकर खेद होता है कि पति के अपमान से पीड़ित सती इस प्रकार की व्यवस्था को पहले ही अस्वीकार कर चुकी है। वीरिणी दक्ष से अपने निर्णय पर पुनर्विचार करने और शंकर को यज्ञ में सर्वोपरि आसन के निकट स्थान देने के सती के आग्रह को स्वीकार करने की प्रार्थना करती है। दक्ष वीरिणी के मुख से बार-बार शंकर का यशोगान सुनकर

---

१. वही, पृ० १६-१७
२. वही, पृ० २०-२१
३. वही, पृ० २४-२८

क्षुब्ध हो उठता है और सती को वापस भेजने के लिए यज्ञ-मण्डप की ओर चला जाता है। वीरिणी किसी अनिष्ट की आशंका से व्याकुल हो जाती है, तभी द्वारपाल आकर उसे सती के अकस्मात् भस्म होने और क्रुद्ध नन्दी के इस दुर्घटना के विषय में शिव को सूचित करने के लिए वेगपूर्वक दौड़ने का समाचार देता है। वीरिणी मूर्च्छित हो गिर पड़ती है।[1]

दूसरे दृश्य में विष्णु और ब्रह्मा सती के योगाग्नि में भस्म होने और दक्ष-यज्ञ के विध्वंस में संलग्न महादेव के प्रचण्ड रौद्र रूप की स्मृति से सिहर उठते हैं; तभी इन्द्र और वरुण प्रवेश करते हैं। दोनों वीरभद्र और नन्दी के घातक प्रहारों और अन्य गणों के द्वारा किए गये भीषण रक्तपात और विध्वंस का स्मरण करते हैं। इसी समय क्षत-विक्षत दशा में दक्ष का भृत्य लड़खड़ाता हुआ प्रवेश करता है और व्यंग्यपूर्ण भाषा में ध्वस्त नगर की स्थिति का मार्मिक चित्रण करता है। उसे अपनी दास-वृत्ति और निरर्थकता का तीक्ष्ण बोध होता है। दक्ष की प्रजा होने के नाते उसे दुःख है कि शासक की भूलों का उत्तरदायित्व प्रजा को वहन करना पड़ता है।[2] वह इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णु के समक्ष अपने घाव दिखलाता हुआ उनसे रोटी की माँग करता है और वह न मिलने पर मदिरा माँगता है। जब उसे वह भी नहीं मिली तो वह विक्षिप्त-सा होकर इन्द्र आदि देवों को डाँटते हुए भाग जाने को कहता है। वरुण और इन्द्र उसकी बातों से कुपित होकर उस पर झपटते हैं, किन्तु ब्रह्मा और विष्णु संकेत से उन्हें रोक देते हैं। सर्वहत प्रलाप करता हुआ चला जाता है। वरुण को सर्वहत महादेव शंकर की हिंसा का जीवित प्रतिरूप प्रतीत होता है। विष्णु उसे युद्धोपरान्त उग आई संस्कृति के ह्रासमान मूल्यों का भग्न स्तूप मानते हैं। उनकी दृष्टि में वह एक मरणासन्न लौकिक परम्परा की विकृति का फल है। विष्णु के विचार से दक्ष ने यज्ञ के बहाने से युद्ध का ही आयोजन किया था। ब्रह्मा को ऐसा प्रतीत होता है मानो दक्ष ने परम्परा-भंजक शिव को यज्ञ में निमन्त्रण न देकर वास्तव में अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध के लिए निमन्त्रण दिया था। इसके विपरीत इन्द्र को सूझ पड़ता है कि शंकर ने दक्ष को माध्यम बनाकर देवताओं को अपमानित किया है और उन्हें युद्ध के लिए निमन्त्रित किया है। उक्त सभी देवताओं को खेदमिश्रित आश्चर्य है कि परम्पराभंजक तत्त्व-ज्ञानी शिव कैसे अपना सन्तुलन खोकर सती के शव को लादे साधारण पाशों में कसे विमूढ़ व्यक्ति सा आचरण कर रहे हैं। इसी समय कुबेर प्रवेश करता है। देवताओं के वार्त्तालाप से प्रकट होता है कि अपनी प्रिया के आत्मघात की परिस्थिति का प्रतिकार लेने के लिए शिव ने अपने वीरभद्र आदि भृत्यों को स्वयं ही उस यज्ञ का विनाश करने के लिए भेजा था, जिसमें विष्णु और ब्रह्मा जैसे देवता विद्यमान थे।[3] इन्द्र शिव के मर्यादाहीन और अपमानजनक आचरण से खिन्न होकर उन्हें उचित दण्ड

१. वही, पृ० २६-३७
२. वही, पृ० ४१-४६
३. वही, पृ० ५०-५७

दिये जाने का प्रस्ताव रखते हैं। कुबेर भी स्वयं को अरक्षित अनुभव करते हुए उक्त प्रस्ताव का समर्थन करते हैं। वरुण भी इसी पक्ष में अपना अभिमत प्रकट करते हैं। किन्तु ब्रह्मा शंकर की क्षोभजनित मनोव्यथा को ही उनके लिए पर्याप्त दण्ड मानते हैं। वे स्वयं भी शंकर की सहज मानवीय पीड़ा से उदास हो जाते हैं। विष्णु भी स्वयं को इस मानवीय आसक्ति और भूल-चूक का अपवाद नहीं मानते हैं। विष्णु, कुबेर, इन्द्र, और वरुण को इन प्रश्नों पर तटस्थ रूप से विचार करने के लिए कहकर विदा करते हैं कि तत्त्व-वेत्ता शंकर की आत्मा रुदन क्यों करती है, क्यों वे मृत्यु की वास्तविकता को भूल गये हैं तथा किस प्रकार उनको इस पीड़ा से निष्कृति मिल सकती है।[1] उन तीनों के चले जाने पर सर्वहुत प्रवेश करता है। उसके लम्बे प्रलाप में यह संकेत निहित है कि ब्रह्मा और विष्णु में तो मानवीय संवेदना के सहज संचार के कारण जीवन की सच्ची भूख है, किन्तु इन्द्र, वरुण और कुबेर अधिकार, प्रतिष्ठा और धन के भूखे हैं। ब्रह्मा और विष्णु उसकी दयनीय दशा पर कातर भाव से एक-दूसरे को देखते हैं।[2]

तीसरे दृश्य के प्रारम्भ में कैलास पर्वत के एक शिखर पर शोक-मग्न शंकर दिखलायी पड़ते हैं। वे अपने कंधे पर सती का शव लादे हुए हैं। उनके लम्बे स्वगत-कथन में उनके अन्तर्द्वन्द्व, आन्तरिक अन्तर्विरोध और आत्मग्लानि का तीखा बोध उभरा है। वही आत्मग्लानि अन्त में उग्र होकर प्रतिहिंसा की भावना में बदल जाती है और वे देव, ऋषि, दानव सबसे प्रतिकार लेने के लिए व्यग्र हो उठते हैं। तभी नेपथ्य से इन्द्र द्वारा भेजे गये वरुण और कुबेर के मुख से उच्चरित शंकर-स्तुति के स्तोत्र सुनायी पड़ते हैं, जिन्हें सुनकर शंकर की उद्विग्नता कम होकर कौतूहल में बदल जाती है। वे विस्मयपूर्वक सोचने लगते हैं कि कौन व्यक्ति स्तुति द्वारा उन्हें सम्मोहित करने का प्रपंच रच रहा है। तभी वरुण और उनके पीछे कुबेर प्रकट होते हैं और शिव की स्तुति करते हैं। शंकर को उनके स्तुति-वचन व्यंग्य सरीखे प्रतीत होते हैं। वे कुबेर और वरुण के स्तुति-वचनों को कोरा पाखण्ड समझते हैं, क्योंकि यदि उनके मन में शिव के प्रति तनिक भी मैत्री भाव होता तो दक्ष-यज्ञ में उनकी अवज्ञा न होती और उन्हें प्रिया-वियोग न सहना पड़ता।[3] वरुण और कुबेर द्वारा अपनी संवेदना की सचाई का बार-बार दावा किये जाने पर शंकर को क्रोध आ जाता है और वे उत्तेजित होकर उनकी भर्त्सना करते हुए सती के शव को निहारने में लीन हो जाते हैं। वे देवताओं द्वारा अपने विरुद्ध रची गयी दुरभिसन्धि का ध्यान करके युद्ध करने के निश्चय पर पहुँचते हैं और अपने वीरभद्र, पर्पट, ईशानी आदि गणों का स्मरण करते हैं। वे सती के शव को उठाकर अलकनन्दा की ओर चल पड़ते हैं। वरुण और कुबेर शिव की मोह-ग्रस्त मनःस्थिति को देखकर चकित रह जाते हैं। उन्हें इस पर आश्चर्य होता है कि

---

१. वही, पृ० ५८-६३
२. वही, पृ० ६४-६७
३. वही, पृ० ६८-८०

मोह ज्ञान पर इतना हावी हो जाता है कि व्यक्ति मृत्यु को भी सत्य नहीं मान पाता और परिवर्तन को स्वीकार करने के स्थान पर परम्परा के दुर्गन्धियुक्त शव से चिपटा रहता है।[1] तभी शिव सामने खुली हुई बाहों पर पुष्पों से सज्जित सती का शव लिये हुए प्रवेश करते हैं। वरुण और कुबेर सती के विकृत रूप के अपकर्षण को सहन नहीं कर पाते हैं। शंकर सती के जीवन की पूर्वकालिक सुधियों को दोहराते हुए क्रोध में भरकर हाथ में त्रिशूल उठा लेते हैं और निश्चय करते हैं कि यदि संध्या तक सती के शव में चेतनता न आयी, तो फिर महाकाल का ताण्डव होगा। यह सुनकर कुबेर घबरा उठता है और उनसे शोक त्यागने की प्रार्थना करता हुआ निवेदन करता है कि उनकी मनःस्थिति से सारा देवलोक चिन्तित है। प्रेयसी के हन्ता देवलोक का नाम सुनते ही शंकर क्रोध में उन्मत्त होकर कुबेर और वरुण को तुरन्त कैलास-भूमि त्यागने को कहते हैं और युद्ध की चुनौती देते हैं। अन्त में ताण्डव और युद्ध के अपने निश्चय को सूचित करते हुए वे डमरू बजाने लगते हैं।

चौथे दृश्य का प्रारम्भ ब्रह्मा और इन्द्र के मध्य युद्ध-विषयक वाद-विवाद से होता है। इन्द्र देवलोक की सीमाओं पर चढ़ाई करने वाले शंकर को आततायी और आक्रमणकारी घोषित करते हुए आत्म-रक्षा के लिए युद्ध करने के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं। किन्तु ब्रह्मा के अनुसार इन्द्र का दृष्टिकोण चिन्तनप्रसूत और सत्याश्रित न होकर प्रतिहिंसावादी है। तभी एक सैनिक सूचना देता है कि महादेव की सेनाएँ तुमुल कोलाहल करती हुई वेगपूर्वक आगे बढ़ रही हैं। सेनापति इन्द्र आत्म-संरक्षण के लिए ब्रह्मा से सेनाओं को युद्ध का आदेश देने का आग्रह करते हैं, किन्तु ब्रह्मा युद्ध को न्यायसंगत और सत्य-समर्थक नहीं मानते। इधर युद्ध के सत्यासत्य पर विचार चलता रहता है, उधर दो सैनिक आकर शिव-सेना के सीमा में मीलों भीतर घुस आने और भारी रक्तपात करने का समाचार देते हैं। इन्द्र की दृष्टि में उक्त परिस्थिति में युद्ध ही समस्या का अन्तिम समाधान है, जबकि ब्रह्मा जी युद्ध को किसी समस्या का समाधान मानना एक भ्रान्तिमात्र समझते हैं। इसी समय "प्रजातन्त्र में यह मनमानी नही चलेगी", "हम ब्रह्मा को नहीं चाहते", "सेना को आज्ञा दो या अपना सिंहासन छोड़ो" आदि नारे लगाती हुई जनता की उत्तेजित भीड़ का कोलाहल सुनाई पड़ता है।[2] जनता के प्रतिनिधियों के रूप में 'कुबेर', 'वरुण' और 'शेष' ब्रह्मा के कक्ष में बुलाये जाते हैं। ब्रह्मा उन्हें लक्ष्य करके कहते हैं, "अगर युद्ध ही एकमात्र है समाधान तो··· सेना लेकर सबसे आगे मैं जाऊँगा।"[3] वरुण और कुबेर उससे पूछते हैं, "जब रक्षा के लिए न कुछ भी बच पाएगा, तब जाओगे ?"[4] ब्रह्मा उन्हें 'क्रोधान्ध' कहते हैं तो शेष

---

१. वही, पृ० ८१-८४

२. वही, पृ० ८५-१०१

३. वही, पृ० १०२

४. वही, पृ० १०२

ब्रह्मा को 'शंकर की ममता से अंधा' कहता है।[1] इन्द्र पुनः युद्ध को ही एकमात्र उपाय घोषित करते हैं, उधर जनता की भीड़ नारे लगाती है, "ब्रह्मा यह सिंहासन छोड़ो।" ब्रह्मा शासन-दण्ड इन्द्र को सौंपने को उद्यत हो जाते हैं, किन्तु अपने मुँह से सेना को आदेश देने के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि युद्ध सामूहिक आत्मघात है जिसके पीछे कोई दृष्टि नहीं होती। उनका मत है कि रक्तपात से शिव में और विकार बढ़ेंगे।[2] इसी वाद-विवाद के मध्य विष्णु भगवान् प्रवेश करते हैं। इन्द्र और ब्रह्मा उनका स्वागत करते हैं। इन्द्र और वरुण पुनः आत्म-रक्षार्थ युद्ध की अनिवार्यता पर बल देते हैं। इसी बीच युद्ध में लुटे हुए और बेघरबार नागरिक कराहते हुए तथा शासन को कोसते हुए प्रवेश करते हैं, तभी शरणार्थी के वेश में सर्वहत प्रवेश करता है। वह नये शासकों को प्रजा की उपेक्षा करने वाला और नयी प्रजा को उच्छृंखल और आन्दोलनकारी घोषित करता है। उसका निष्कर्ष है कि चाहे दक्ष-लोक हो या देवलोक, साधारण लोगों को कहीं न्याय नहीं मिलता।[3] सर्वहत प्रलाप करता हुआ मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। इन्द्र को सर्वहत की तीखी बातों में निहित सत्य का अनुभव होने लगता है। सर्वहत की बातों के सन्दर्भ में उन्हें महादेव का कृत्य हिंसामात्र प्रतीत होता है। इन्द्र और ब्रह्मा में युद्ध के सत्यासत्य के विषय में फिर बहस छिड़ जाती है। नागरिक नीरस बहस से ऊबकर निर्णय की माँग करते हैं। इसी समय विष्णु भगवान् सेनापतित्व का दायित्व अपने कंधों पर लेते हुए सेना को सीमा पर जाने और रण-भेरी बजाने का आदेश देते हैं। वे इन्द्र से धनुषबाण लेकर शंकर के चरणों में एक प्रणाम-बाण छोड़ते हैं। विष्णु का यह स्पष्ट अभिमत है कि परम्परा के मरने पर उसके प्रति समर्पित व्यक्ति या तो सहसा त्रस्त हो उठता है या आक्रामक और हिंसक। उनके अनुसार सर्वहत त्रस्त व्यक्ति का उदाहरण है और शंकर आक्रामक और हिंसक का उदाहरण है। इन्द्र के अनुसार अधिकतर लोग—चाहे वे साधारण जन हों या महादेव शंकर हों, मरी हुई मान्यताओं की लाशें ढोते रहते हैं। विष्णु के अनुसार, "लाशें ढोने वाले अक्सर खुद भी तो लाशें होते हैं।"[4] विष्णु के मतानुसार ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि सत्य का ताप बड़े संयम और श्रम से झिलता है; सत्य सृजनात्मक होता है, इसलिए उसके समर्थक को सृजन-पीड़ा सहनी पड़ती है। जो लोग इस पीड़ा से बचते हैं, वे नये सत्य से कतराकर झूठ-मूठ की व्यस्तताओं की रचना करते हैं। सर्वहत के अनुसार इन्द्र भी इसके अपवाद नहीं हैं। बाद में विष्णु द्वारा पूछे जाने पर इन्द्र स्वयं स्वीकार करते हैं कि युद्ध का निर्णय लेते समय वे प्रतिहिंसा में पागल थे और कुछ भी नहीं सोच सके थे। इन्द्र को ऐसा लगता है जैसे विष्णु ने उनकी आँखें खोल दी हों और सत्य का सृजनात्मक स्तर पर साक्षात्कार कराया हो। इन्द्र शंका करते हैं कि

१. वही, पृ० १०३
२. वही, पृ० १०४-१०५
३. वही, पृ० १०६-११५
४. वही, पृ० ११६-१२१

विष्णु ने शिव को आत्म-साक्षात्कार का अवसर दिये बिना ही उन पर बाण क्यों चला दिया। तभी विष्णु उन्हें समझाते हैं कि महादेव में संक्रमण काल का विष पीने की असीम शक्ति है, उनका एक कण्ठ केवल विषपायी है। वे आगे स्पष्ट करते हैं कि उन्होंने केवल प्रणाम-बाण छोड़ा है, जिसके अनेक फलकों से सती के शव के खण्ड-खण्ड होकर पत्येक दिशा में छितरा जायेंगे, जहाँ-जहाँ वे खण्ड गिरेंगे वहाँ-वहाँ सत्य के नये अंकुर उपजेंगे और धर्म के तीर्थ स्थापित होंगे। अन्त में उद्घोषक की घोषणा से ज्ञात होता है कि शिव ने प्रणाम और युद्ध की चुनौती में से प्रणाम को स्वीकार किया और अपनी सेनाएँ सीमा से लौटा लीं।[1]

उपर्युक्त कथावस्तु के विश्लेषण में कई निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—(१) दुष्यन्त कुमार ने अपनी कथावस्तु मुख्यतः भागवतपुराण और देवीभागवत पुराण से ली है, साथ ही अन्य स्रोत-ग्रंथों का भी यत्किंचित् आश्रय लिया है। (२) कथानक को नवीन अर्थ देने के लिए सुलभ और सर्वहत जैसे पात्रों और उनसे सम्बद्ध प्रसंगों की योजना की गई है। इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णु की युद्ध-सम्बन्धी विचार-गोष्ठी के आयोजन का प्रसंग आधुनिक प्रजातान्त्रिक संसदीय पद्धति से अनुप्रेरित है, जिसमें जनता के प्रतिनिधियों को भी भाग लेने के लिए अवसर दिया गया है। इस प्रकार कथा प्रख्यात होने के साथ ही उत्पाद्य भी है। (३) पौराणिक कथानक के निर्वाह में भी कवि ने स्वेच्छापूर्वक उलटफेर कर लिया है—(क) पुराणों में सती की माता का नाम वीरिणी न होकर प्रसूति दिया गया है। (ख) भागवत पुराण के अनुसार ब्रह्मा और विष्णु अपनी दूरदर्शिता द्वारा पहले से ही परिणाम से अवगत होने के कारण दक्ष-यज्ञ में सम्मिलित नहीं हुए थे, किन्तु दुष्यन्तकुमार ने उन्हें भी अन्य देवताओं के साथ शिव द्वारा अपमानित दिखलाया है। (ग) प्रायः सभी पुराणों में यज्ञ-ध्वंस के उपरान्त दक्ष क्षमा-याचनापूर्वक शिव की स्तुति करता दिखलाया गया है और बाद में शिव तथा ब्रह्मा और विष्णु की अनुकम्पा से ध्वस्त यज्ञ पुनः सम्पन्न हुआ दिखाया गया है, किन्तु 'एक कण्ठ विषपायी' में दक्ष का प्रसंग पहले दृश्य के साथ ही समाप्त हो जाता है। (४) ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होगा कि कवि ने कथानक को इस रूप में ढालने का प्रयत्न किया है, जिससे उसमें अन्धायुग से मिलते-जुलते प्रसंग समाविष्ट हो जायें। शंकर की प्रतिहिंसा अश्वत्थामा की प्रतिहिंसा से मेल खाती है। जिस प्रकार युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य ने अश्वत्थामा के भीतर की सभी सतोगुणी प्रवृत्तियों को विनष्ट करके उसे अंधबर्बर पशु बना दिया था, उसी प्रकार दक्ष की जड़ परम्परा के प्रति मोहान्धता शिव के शिवत्व को नष्ट करके उन्हें विकराल और हिंसक रूप प्रदान करती है। जिस प्रकार कृष्ण अपने अवसान के समय अश्वत्थामा की सारी पीड़ा को भी स्वयं वहन कर उसे आस्थावादी बना देते हैं, उसी प्रकार 'एक कण्ठ विषपायी' में विष्णु प्रणामबाण छोड़कर महादेव के रौद्र रूप को पुनः शिवमय बना देते हैं। 'अंधायुग' का संजय जिस प्रकार निरपराध होते हुए भी पीड़ा भोगने को अभिशप्त है, उसी प्रकार 'एक कण्ठ

---

१. वही, पृ० १२२-१२५

विषपायी का सर्वहत निरपराध होकर भी पीड़ा भोगता है। जिस प्रकार दो पहियों के मध्य लगे निरर्थक शोभा-चक्र के रूपक द्वारा[1] संजय अपने अस्तित्व की निस्सारता को उद्घाटित करता है, उसी प्रकार सर्वहत पगडण्डी के निम्नांकित रूपक द्वारा अपनी निरर्थकता प्रकट करता है :—

"पर अब मैं
एक पगडण्डी के सिवा और क्या हूँ ?
—धूल भरी विस्मृत-सी पगडण्डी एक :
जिस पर थके और जख्मी पदचिह्न हैं अनेक
और जो परम्परा की तरह
एक दायरे में,
चक्कर लगाती हुई चलती है।"[2]

इस 'पगडण्डी' का संकेत भी सम्भवतः कवि को अंधायुग के 'समापन' के प्रारम्भ में पृष्ठ ११६ पर दी गई निम्नलिखित पंक्तियों से प्राप्त हुआ है :—

है जरा अलग यह छोटी-सी
मेरी आस्था की पगडण्डी"

सर्वहत की स्थिति संजय से भी कहीं अधिक अंधायुग के प्रहरियों से मेल खाती है। प्रहरियों की और सर्वहत की निम्नलिखित उक्तियों में स्पष्ट साम्य दिखलायी पड़ता है :—

(१) (क) हमको तो अन्न मिले
निश्चित आदेश मिले
एक सुदृढ़ नायक मिले
अन्धे आदेश मिलें[3]

(ख) मुझको तो आदेश चाहिए
मैं तो शासक नहीं
प्रजा हूँ
मात्र भृत्य हूँ[4]

(२) (क) सत्रह दिनों के लोमहर्षक संग्राम में
भाले हमारे ये,
ढालें हमारी ये

---

१. मैं दो पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभाचक्र हूँ।
धर्मवीर भारती, **अंधायुग**, पृ० ७४

२. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० १११

३. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० १०८

४. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० १०६

निरर्थक पड़ी रहीं[1]

(ख) मुझसे
या हमसे
कब आशा की जाती है
कि हम नाटक देखें
उसमें भाग लें।[2]

सर्वहत प्राचीन शासन के विकृत साँचे में ढली हुई प्रजा का प्रतीक है—प्रजा के उन लोगों का "जो शासन के गलत-सलत झोंकों के आगे भी फसलों से विनयी—बिछे रहे निर्विवाद।"[3] ऐसी प्रजा को लक्ष्य करके ब्रह्मा जी कहते हैं :—

"तुम अपने
स्थिति-सन्दर्भों से कटे हुए
श्राप हो समय के,
और भार हो हमारे वर्तमान पर"[4]

प्रकारान्तर से यही बात अंधायुग के युधिष्ठिर द्वारा कही गई है :—

जो हैं प्रजा में
यह पाना कि वे पिछले शासन के
विकृत साँचे में हैं ढली हुई"[5]

वर्तमान शासकों के विषय में सर्वहत का असन्तोष इस प्रकार व्यक्त हुआ है :—"पर तुम जाने कैसे शासक हो।"[6]

आश्चर्य की बात तो यह है कि नये-पुराने शासकों की तुलना के मोह में कवि यह भी भूल गया है कि दक्ष-राज्य और देवलोक दो भिन्न स्तर के भिन्न लोक हैं। स्वयं 'एक कंठ विषपायी' के ब्रह्मा जी कहते हैं—"दक्ष का नगर ये नहीं है देवलोक है",[7] फिर प्रश्न यह है कि एक ही सर्वहत दो भिन्न लोकों की प्रजा कैसे बन गया? या दक्ष-शासन के उपरान्त उसी राज्य में ब्रह्मा और विष्णु का शासन कब और कैसे स्थापित हो गया? यदि नहीं हुआ तो दक्ष सर्वहत का पुराना राजा कैसे हुआ और ब्रह्मा-विष्णु नये शासक कैसे हो गये?

एक कंठ विषपायी के ब्रह्मा युद्ध को 'सामूहिक आत्मघात' मानते हैं,[8]

---

१. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० १२
२. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० ४८
३. **वही**, पृ० ११०
४. **वही**, पृ० ११४
५. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० १०४
६. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० ११०
७. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० ११३
८. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० ९८

जिसकी प्रेरणा भी अन्धायुग की निम्नलिखित पंक्तियों से मिली प्रतीत होती है, जिनमें आत्मघात की प्रवृत्ति को युद्ध की नैसर्गिक परिणति माना गया है—

(क) यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित
इस पूरी संस्कृति में
× × × ×
आत्मघात होगा बस अन्तिम लक्ष्य मानव का[1]

(ख) लेकिन अब यह जो
आत्मघाती नपुंसक ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति उभर आई है
× × × ×
आत्मघात उड़कर लगता है
घातक रोगों सा[2]

(ग) राज्य में युधिष्ठिर के
होंगे आत्मघात[3]

(५) एक कण्ठ विषपायी का कथानक दो भागों में विभक्त-सा प्रतीत होता है—(१) यज्ञ-विध्वंस से पूर्व का कथांश और (२) यज्ञ-विध्वंस से बाद का कथांश। यज्ञ-विध्वंस से पूर्व के कथांश को पहले दृश्य में और यज्ञ-विध्वंस से बाद के कथांश को शेष तीन दृश्यों में अंकित किया गया है। यज्ञ-ध्वंस के साथ पहले अंक के सभी पात्रों से भी अनायास मुक्ति मिल गयी है, केवल एक पात्र—सर्वहत—जैसे-तैसे बचा लिया गया है, ताकि अगले अंकों में अवसर पड़ने पर काम आए। अच्छा होता कि कवि यज्ञ-ध्वंस के उपरान्त ही कथा को प्रारम्भ करता और पूर्ववर्ती पीठिका भाग को कथा-गायन आदि के माध्यम से व्यक्त करता। इससे कथानक में अधिक सघनता और अन्विति आ जाती। दुष्यन्तकुमार ने जहाँ 'अन्धायुग' से कुछ वैचारिक और भावगत प्रभाव ग्रहण किये हैं, वहाँ उसकी पद्धति का उपयोग नहीं किया। भारती ने अपने कथानक को महाभारत के युद्ध के उपरान्त से प्रारम्भ किया है, किन्तु अपेक्षित पूर्व-पीठिका कथा-गायनों और पात्रों के संवादों के माध्यम से संक्षेप में ध्वनित कर दी है। यदि 'एक कण्ठ विषपायी' की कथा यज्ञ-ध्वंस के बाद से प्रारम्भ होती, तो सारी कथा-वस्तु का घटना-केन्द्र देवलोक ही रहता, जैसा कि बाद के तीन दृश्यों की कथावस्तु का है। दक्षलोक और देवलोक में कथावस्तु विन्यस्त होने के कारण कथानक में बिखराव के अतिरिक्त और भी असंगतियाँ आ गयी हैं, जिनकी ओर 'चरित्र-चित्रण' के अन्तर्गत संकेत किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'एक कण्ठ विषपायी' का कथानक उतना गठित नहीं है जितना अन्धायुग का। यद्यपि कथानक के चयन में कवि ने विशेष

---

१. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ११०
२. **वही**, पृ० १११
३. **वही**, पृ० १११

कौशल का परिचय दिया है, तथापि इस कथानक की सम्भावनाओं का मन्थन यह स्वतन्त्र रूप से रचनात्मक स्तर पर नहीं कर सका है। यदि अन्धायुग की चिन्तन-पद्धति और कथायोजना कवि पर हावी न रहती, तो सम्भवतः एक कण्ठ विषपायी के कथानक में अधिक प्रभावान्विति और कलात्मक गठन आ जाता।

(२) **पात्र और चरित्र-चित्रण**—एक कण्ठ विषपायी में दिव्य-अदिव्य दोनों प्रकार के पात्रों की सृष्टि हुई है। शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, शेष आदि दिव्य पात्र हैं और दक्ष, वीरिणी, सुलभ और सर्वहत, अदिव्य पात्र हैं। दिव्य पात्रों में भी वस्तुतः मानवीय पक्ष ही अधिक सशक्त रूप में उभरा है।

इस नाट्य-काव्य का पहला दृश्य और उसके दक्ष, वीरिणी, सुलभ आदि पात्र केवल पृष्ठभूमि के रूप में खप गये हैं, उन्हें अगले दृश्यों में पूर्णतः छोड़ दिया गया है। अगले तीन दृश्यों के पात्रों में सातत्य बना रहता है। सर्वहत ही एक ऐसा पात्र है, जो नाट्य-काव्य के प्रारम्भ से अन्त तक चलता है। यदि कवि चाहता तो सर्वहत के साथ वीरिणी और सुलभ को भी आगे विकसित कर सकता था। सुलभ की सृष्टि तो केवल एक समानान्तर प्रतीकात्मक प्रसंग प्रस्तुत करने के उद्देश्य से की गयी है, जिसके द्वारा कवि ने यह दिखलाया है कि जिस प्रकार सुलभ अपने पक्षी से वंचित किये जाने पर अपमानित और क्षुब्ध अनुभव कर रहा है, उसी प्रकार दक्ष अपनी 'सोनचिरैया' (सती) के शंकर द्वारा वरण अथवा अपहरण से अपमानित और क्षुब्ध अनुभव कर रहा था। बस, इस प्रसंग के समाप्त होते ही सुलभ की सार्थकता भी चुक जाती है। इसी प्रकार कवि ने चौथे दृश्य में 'शेष' नामक पात्र की अनावश्यक रूप से अवतारणा की है। 'शेष' जिस विचारधारा का समर्थन करता है, उसके समर्थक पहले से ही तीन पात्र विद्यमान हैं—इन्द्र, वरुण और कुबेर। फिर चौथे पात्र की क्या आवश्यकता पड़ गयी? चौथे दृश्य के भी केवल ५-६ पृष्ठों के मध्य की अपनी उपस्थिति के दौरान वह केवल तीन बार स्वतन्त्र रूप से तथा चौथी बार वरुण और कुबेर के साथ साझेदारी में बोलता है।[1]

"चाहे वह दक्षलोक हो अथवा देवलोक, साधारण लोगों को कहीं न्याय मिलता नहीं"[2] से स्पष्ट है कि दक्षलोक और देवलोक पृथक्-पृथक् हैं। इस आधार पर इन लोकों की दृष्टि से इस नाट्य-काव्य के पात्रों को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) दक्ष, वीरिणी, सुलभ, सर्वहत आदि दक्ष लोक के पात्र तथा (२) शंकर, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, वरुण, कुबेर, शेष आदि देवलोक के पात्र। केवल सती का सम्बन्ध दक्ष-लोक और देवलोक दोनों से था, किन्तु उसके आत्म-दाह से उक्त वर्गीकरण में और भी स्पष्टता आ गयी है। अब प्रश्न यह है कि यदि यज्ञ-ध्वंस के समय दक्ष-लोक निर्जन हो गया था तो फिर अकेला सर्वहत क्षत-विक्षत अवस्था में ही सही—कैसे बच गया? और यदि वह बच भी गया तो उसे देवलोक में घुसपैठ का अवसर

---

१. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ १०३-१०८
२. वही, पृ० ११४-११५

कब और कैसे मिल गया ? जिस दक्ष-लोक की वह पहले प्रजा था, उसमें राजतन्त्र था, राजा की मनमानी चलती थी,[1] किन्तु जिस देवलोक में वह बाद में जैसे-तैसे पहुंच जाता है, उसमें प्रजातन्त्र है। वह प्रजातन्त्र भी दो प्रकार का है—लौकिक और अलौकिक। देवलोक के निश्चित विधान के अनुसार सती का आत्मदाह अवश्यम्भावी था, अतः जब इन्द्र, ब्रह्मा से युद्ध का संकट टालने के लिए सती को जीवन-दान देने का परामर्श देते हैं तब ब्रह्मा जी कहते हैं—

देवराज,
क्या यह भी लौकिक नेताओं का प्रजातन्त्र है,
जो जब चाहे,
इच्छाओं से परिवर्तन कर
नियमों को अनुकूल बना लें।[2]

किन्तु इस अलौकिक प्रजातन्त्र के विपरीत वहाँ लौकिक प्रजातन्त्र का घिनौना रूप भी उपलब्ध है।[3] आश्चर्य यह है कि जो ब्रह्मा जी देवलोक के विधान के अनुसार सती को जीवन-दान न देने के अपने निर्णय पर अडिग रहते हैं, वे ही भीड़ के "ब्रह्मा यह सिंहासन छोड़ो', के नारे से व्याकुल होकर इन्द्र से कहते हैं—"यह लो शासन-दण्ड सम्भालो।"[4] यह ही नहीं, वे आगे कहते हैं—"असली शासक तुम हो मैं तो यों भी परामर्शदाता था।"[5] इस प्रकार स्पष्ट है कि परिस्थितियों के अन्तर्विरोध के कारण पात्रों के चरित्र में भी अनेक स्थानों पर अन्तर्विरोध आ गया है। इसी अन्तर्विरोध का

---

१. "अरे·····प्रजा हम थे
हमने उफ तलक नहीं की
शासन के गलत सलत झोंकों के आगे भी
फसलों-से विनयी हम बिछे रहे निर्विवाद
हमारे व्यक्तित्व के लहलहाते हुए
खेतों से होकर—
दक्ष ने बहुत सी पगडंडियाँ बनाईं
कर दीं सब फसलें बरबाद।" वही, पृ० ११०

२. वही, पृ० १००

३. "पर तुम जाने कैसे शासक हो।
और·····जाने कैसी है तुम्हारी यह प्रजा,
जरा-जरा बातों पर चीखती-चिल्लाती है
शासन के दरवाजे पीटती है
नारे लगाती है
और शत्रु सेना की तरह घिरी आती है। वही, पृ० ११०

४. वही, पृ० १०५

५. वही, पृ० १०५

फल है कि दक्ष के अन्तःपुर का भृत्य (सर्वहत), जो कभी राजा के समक्ष 'उफ' तक नहीं कह सकता था, देवलोक के शासकों को बुरी तरह फटकारता है। ऐसी स्थिति में सर्वहत को प्रजा का प्रतीक भी नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा माना गया तो फिर जनता के भी दो वर्ग या स्तर स्वीकार करने होंगे, क्योंकि उसी समय युद्ध की विभीषिका का परिणाम सर्वहत भी प्रस्तुत है और युद्ध की माँग के नारे लगाती हुई जनता भी बाहर विद्यमान है। अतः सर्वहत में जो व्यंग्य-विद्रूप उभरा है वह युद्धकालीन विभीषिका की प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं प्रतीत होता, आरोपित लगता है। उसके माध्यम से कवि ने जानबूझ कर कुछ तीखी और जुगुप्सामूलक अनुभूतियाँ जगाने की आग्रहपूर्ण चेष्टा की है। उसका असम्बद्ध प्रलाप किसी प्रभाव की सिद्धि से सम्बद्ध न होकर वास्तव में ही अनर्गल प्रतीत होता है—

हाँ
देखो,
पहले मेरा दिल निकाल कर खाना
फिर दोनों हाथ···
.....
फिर थोड़ा सा
अपनी उँगलियों का मांस
मुझको भी दे देना।[1]

कवि ने रक्त, मदिरा, मांस आदि का उल्लेख बार-बार करके प्रभाव में वृद्धि की चेष्टा की है। वास्तव में, इसकी प्रेरणा भी कवि को अन्धायुग से ही मिली है, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि अन्धायुग में जुगुप्सामूलक चित्रण प्रांसगिक और संयत है। वहाँ कोई भी पात्र सर्वहत की भाँति बार-बार रक्त, मदिरा आदि की इतनी लम्बी 'रट' नहीं लगाता, कि सारा वर्णन 'फूहड़पन' में बदल जाए।

पात्रों और उनके चरित्र के विषय में उपर्युक्त सामान्य पर्यालोचन के उपरान्त यहाँ संक्षेप में प्रमुख पात्रों के चरित्र की मौलिक विशेषताओं पर विचार करना भी प्रासंगिक होगा। दक्ष परम्परा-प्रेमी है। देवत्व का जाल बिछाकर और अनेक प्रलोभन देकर शंकर ने दक्ष की अनुमति के बिना ही उसकी कन्या सती को वरण करके एक लोक-प्रचलित परम्परा का खण्डन किया, जिससे भारी लोकापवाद फैला।[2] दक्ष की शंकर के प्रति घृणा और वैमनस्य का यही कारण है। परम्परा के खण्डन से ही वह अत्यन्त उग्र और प्रतिक्रियावादी हो जाता है और सती तथा शिव को यज्ञ में निमंत्रित न करके अपने अपमान का बदला लेता है। दक्ष का दृष्टिकोण कुलीनतन्त्रीय है, इसलिए वह अपराधी और आग्रही पुत्र का पक्ष लेता है और निरपराध परिचारकों को दण्डनीय घोषित करता है।[3] यद्यपि वह निर्मम और वज्रहृदय है, तथापि उसकी

१. वही, पृ० ११३
२. वही, पृ० १८
३. वही, पृ० २१

निर्ममता की तह में ममत्व की अन्तर्धारा भी प्रवाहित होती है। "देवि ! तुम्हारा हृदय बहुत कोमल है"[1] कहकर वह वीरिणी के औदार्य की प्रशंसा करता है और जब वीरिणी शिव-पत्नी सती का अपमान न करने के औचित्य की पुष्टि में स्वयं अपना सन्दर्भ प्रस्तुत करते हुए कहती है "तो क्या तुम·····मेरा अपमान सहन कर लोगे। बोलो·····"[2] तो उसके मन में सहज मानवीय संवेदना उभर आती है और सती के प्रति उसका आक्रोश स्नेह और सम्मान में बदल जाता है।[3] वीरिणी में माता की ममता का सहज संचार है। उसके मन में पुत्री और उसके पति शिव के प्रति गहन आत्मीयता है। वह अपने पति से बार-बार आग्रह करती है कि सती और शिव को यज्ञ में निमंत्रित करके यज्ञ को मांगलिक रूप में सम्पन्न किया जाए। वह स्पष्टवादिनी, न्यायप्रिय, उदार व धर्मपरायण और मर्यादित है। सुलभ पिता के अतिरिक्त लाड़-चाव और अनावश्यक समर्थन से बिगड़ा हुआ आग्रही बालक है। सर्वहुत जैसा कि कहा जा चुका है, असम्बद्ध परिस्थितियों मे उलझा हुआ पात्र है। इसलिए उसका व्यक्तित्व अपने आचरण के माध्यम से कम और दूसरों के आचरण की भर्त्सना और आलोचना के माध्यम से अधिक उभरा है।

इन्द्र, वरुण और कुबेर नामक दिव्य पात्र शंकर के आक्रामक और हिंसक रूप के प्रति क्षुब्ध हैं। इनका दृष्टिकोण मानवतावादी और सृजनात्मक न होकर प्रति-हिंसावादी है। ये सभी शंकर को दण्डनीय मानते हैं[4] तथा अनेक तर्क देकर ब्रह्मा से आक्रान्ता शंकर के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने और सेना को आदेश देने के लिए आग्रह करते हैं। ये सभी शासन की मर्यादा, नियम-व्यवस्था, आत्म-सुरक्षा आदि आदर्शों की आड़ में शंकर को दण्डित और अपमानित करके प्रतिशोध लेने की घात लगाये हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वरुण और कुबेर, शेष को साथ लेकर जनता की भीड़ को भी अपने पीछे लगा लेते हैं और जनता से नारे लगवाकर तथा स्वयं जनता की ओर से प्रतिनिधि-मण्डल बनाकर ब्रह्मा से मिलते हैं और युद्ध के पक्ष में दबाव डालते हैं। इनका उद्देश्य जनता को युद्ध की व्यस्तता में उलझाकर उसकी दृष्टि में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखना है। जब अव्यावहारिक, सन्दर्भ-निरपेक्ष और वायव्य सत्य का समर्थक ब्रह्मा उनके तर्कों को निर्मूल सिद्ध करने की चेष्टा में चुनौती देता हुआ कहता है "अगर युद्ध ही एकमात्र है समाधान तो·····युद्ध स्थल में सेना लेकर मैं जाऊँगा",[5] तब कुबेर और वरुण यह अत्यन्त व्यावहारिक प्रश्न पूछते हैं कि क्या वे तब युद्ध भूमि में जायेंगे, जब रक्षा करने के लिए कुछ शेष न होगा और देवलोक का नाम-निशान भी मिट जायेगा। इन तीनों ही पात्रों का चरित्र यथार्थ

---

१. वही, पृ० १७
२. वही, पृ० २६
३. वही, पृ० ३०
४. दे०, वही, पृ० ५८, ५६
५. दे०, वही, पृ० १०२

की भूमि पर सजीव रूप में अंकित हुआ है। इन्द्र का व्यक्तित्व इनमें सबसे अधिक प्रखर और ओजस्वी है। युद्ध के पक्ष में उसके तर्क व्यावहारिक और अकाट्य हैं, यह भिन्न बात है कि वह भी युद्ध की व्यस्तता का नाटक रचकर जनता में प्रतिष्ठा अर्जित किये रहना चाहता है और उसका दृष्टिकोण भी प्रतिहिंसावादी और अविवेक-पूर्ण है। वह विष्णु के समक्ष खुले हृदय से स्वीकार करता है :—

मैं प्रतिहिंसा से पागल था शायद !
शायद कुछ भी सोच नहीं पाया था उस क्षण ![1]

इस आत्म-स्वीकृति में इन्द्र का चरित्र और भी गरिमा-मण्डित हो उठता है। यही नहीं, दृष्टि के अवरोधों को खोलकर नई विवेकपूर्ण और रचनात्मक दृष्टि प्रदान करके नया जीवन देने वाले विष्णु के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करके वह उदारहृदयता का परिचय देता है।

जहाँ वरुण, कुबेर और इन्द्र का चरित्र पूर्णतः मानवीय संवेदना और व्यवहार के स्तर पर अंकित हुआ है, वहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शंकर के चरित्र-चित्रण में कतिपय अति-मानवीय तत्त्वों का भी समावेश हो गया है। तीनों में सबसे अधिक आदर्शवादी, किन्तु सबसे अधिक खोखला चरित्र ब्रह्मा का है। वे शिव के विध्वंसक रूप के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हैं और यह मानते हैं कि शिव ने सभी देवताओं का अपमान किया[2] और अपनी प्रिया के आत्मघात की परिस्थिति से प्रतिकार लेने तथा यज्ञ-ध्वंस करने के लिए स्वयं शिव ने ही अपने कुकर्मी और आततायी गणों को भेजा था।[3] वे शिव द्वारा किये गये अपने अपमान को भी भूले नहीं हैं,[4] किन्तु आश्चर्य यह है कि वे इन्द्र, वरुण और कुबेर के शिव को दण्डित किये जाने के प्रस्ताव से चौंक उठते हैं और कहते हैं "दण्ड, और महादेव शंकर को !"[5] वे शंकर की विक्षोभजनित पीड़ा को ही उनके लिए पर्याप्त दण्ड मानते हैं[6] और स्वयं भी उसी मानवीय पीड़ा की अनुभूति से उदास हो जाते हैं। यही नहीं, शंकर की पीड़ा का ध्यान करके उनका मन भर आता है और वे स्वयं उसी पीड़ा के ताप में दग्ध होकर पागलों की भाँति प्रलाप कर उठते हैं—

क्या इससे त्राण नहीं पाऊँगा ?
यों ही घुट घुट अकुलाऊँगा
क्या मैं यों ही मर जाऊँगा ?[7]

---

१. दे०, वही, पृ० १२३
२. वही, पृ० ४४
३. वही, पृ० ५६
४. वही, पृ० ५७
५. वही, पृ० ५९
६. वही, पृ० ६०
७. वही, पृ० ६४

ब्रह्मा आक्रान्ता शिव के विरुद्ध युद्ध के पक्ष में नहीं हैं। वे युद्ध को कोई उपलब्ध सत्य नहीं मानते। उनके मतानुसार प्राणों का उत्सर्ग युद्ध के लिए नहीं सत्य के लिए किया जाता है। इसी आधार पर वे मानते हैं कि "देवलोक के नहीं, सत्य के संरक्षक को जय मिलती है।"[1] किन्तु वह सत्य क्या है, कैसा है, किसका है इस पर उन्होंने कहीं विचार नहीं किया है। स्पष्ट है कि उनका यह सत्य मानवीय सन्दर्भों से विच्छिन्न कोई वायव्य और निराधार धारणा है। इसीलिए इस सत्य के पक्ष में की गई उनकी सारी बहस भी जनता को और जनता के प्रतिनिधियों को निरर्थक प्रलाप मात्र प्रतीत होती है। ब्रह्मा के चरित्र की असंगति इससे भी स्पष्ट है कि "जनता के प्रतिनिधियों के रूप में कुबेर और वरुण को देखकर पहले तो भगवान ब्रह्मा विस्मित होते हैं फिर प्रसन्न और क्षुब्ध।"[2] प्रश्न यह है कि वे एक साथ ही प्रसन्न और क्षुब्ध कैसे हो सकते हैं? क्या वे भगवान हैं इसलिए? एक ओर उनकी यह गर्वोक्ति ध्यान देने योग्य है "मैं प्रसन्न हूँ देवपुत्र मेरे विरोधियों के प्रतिनिधि होकर आए हैं। उनमें इतना नैतिक साहस है जो मुझ से बात कर सकें।"[3] दूसरी ओर वे अपनी परम अनासक्ति का परिचय देते हुए कहते हैं—"असली शासक तुम हो, मैं तो यों भी परामर्शदाता था, मुझको इस शासन का कोई मोह नहीं है।"[4] अन्त में विष्णु के व्यावहारिक जीवन-दर्शन और चिन्तन-प्रसूत आचरण के समक्ष तो ब्रह्मा का व्यक्तित्व बहुत ही हल्का-सा लगता है। उनकी उदारता और मानवीय संवेदनशीलता भी एक दुर्बल व्यक्ति की उस दुर्बल मनःस्थिति की उपज मालूम पड़ती है, जिसके द्वारा वह अपने व्यक्तित्व की दुर्बलताओं को आवृत करके अपने को आदर्श व्यक्ति सिद्ध करना चाहता है। इसके विपरीत **विष्णु** का व्यक्तित्व अधिक ठोस धरातल पर प्रतिष्ठित है। वे शंकर के अमर्यादित आचरण से चिन्तित है, साथ ही वे दक्ष को भी दोषी मानते हैं, जिसने यज्ञ के रूप में वस्तुतः युद्ध का ही आयोजन किया था।[5] विष्णु में शंकर की विक्षोभजनित पीड़ा के प्रति सहानुभूति है। मानवीय दुर्बलताओं के प्रति उनका दृष्टिकोण संवेदनापूर्ण और उदार है; वे स्वयं को भी दुर्बलताओं से पूर्णतः मुक्त नहीं मानते हैं।[6] तत्त्ववेत्ता शंकर की आत्मा क्यों रोती है, उनको इस पीड़ा से निष्कृति किस प्रकार मिल सकती है? इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए वे इन्द्र, वरुण और कुबेर की समिति नियुक्त करते हैं,[7] और उनसे इस विषय में वैमनस्य और पूर्वाग्रह से मुक्त रहकर सहयोग देने का अनुरोध करते हैं। उनकी

---

१. वही, पृ० ९८
२. वही, पृ० १०२
३. वही, पृ० १०२
४. वही, पृ० १०५
५. वही, पृ० ५३
६. वही, पृ० ६१
७. वही, पृ० ६२-६३

विवेक-प्रसूत सत्यपरायणता और कर्त्तव्यनिष्ठा से प्रेरित होकर ही ब्रह्मा उनको समस्याओं का 'समाधान' मानते हैं।[1] वे शंकर और ब्रह्मा के प्रति अपनी अभिन्नता की चिन्ता किये बिना, निस्संग भाव से सत्य का आश्रय लेते हुए, सेना को युद्ध के लिए सन्नद्ध रहने का आदेश देते हैं और स्वयं सेना-नायकत्व का दायित्व ग्रहण करके शंकर पर वाण छोड़कर उनका मोह भंग करते हैं। प्रणाम-बाण से शिव की चेतना को सही दिशा में प्रेरित करने की घटना तथ्यात्मक न होते हुए भी भावसत्य से शून्य नहीं है। इसी प्रकार वे इन्द्र की प्रतिहिंसा का अनावरण करके उसे सत्याश्रित रचनात्मक दृष्टि प्रदान करते हैं। 'एक कण्ठ विषपायी' में विष्णु का महत्त्व एक समाज-सापेक्ष सत्प्रेरणा या जीवन-चेतना के रूप में है।

इस नाट्य-काव्य में सबसे सशक्त व्यक्तित्व शंकर का है। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, दक्ष और शंकर के वैमनस्य का कारण पुराणों में यह बतलाया गया है कि एक बार शंकर ने जामाता होकर भी यज्ञ-मण्डप में दक्ष के पधारने पर उसे खड़े होकर प्रणाम नहीं किया था। इसी अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए दक्ष ने यज्ञ का आयोजन किया और उसमें सती और शिव को निमन्त्रित नहीं किया। दुष्यन्तकुमार ने दोनों के पारस्परिक द्रोह का कारण यह दिया है कि शंकर ने दक्ष की अनुमति प्राप्त किये बिना ही देवत्व के आकर्षणों में फँसकर सती का वरण अथवा अपहरण कर लिया था। विवाह-सूत्र के संयोजन में कन्या के पिता की अनुमति की प्रतिष्ठित परम्परा के खण्डन के कारण दक्ष ने यज्ञ के विराट् आयोजन में सती और शिव को आमन्त्रित नही किया। पति की अवज्ञा से पीड़ित सती के देह-त्याग ने दर्प-स्फीत दक्ष की अहंमन्यता के प्रति शंकर की प्रतिहिंसा को प्रज्वलित कर दिया। यह प्रतिहिंसा ही शंकर के अन्तर्विरोधी अथवा दुहरे जीवन की धुरी है।[2] उनकी यह प्रतिहिंसा उन्हें देवताओं के प्रति भी हिंस्र और आक्रामक बना देती है, जिन्होंने स्वयं तो यज्ञ में भाग लिया, किन्तु ईर्ष्यावश शिव को निमन्त्रित करने के लिए दक्ष को विवश नहीं किया। उन्हें कुबेर, वरुण आदि देवताओं से यही आपत्ति है कि यदि वे मित्रता का व्यवहार करते, तो दक्ष-यज्ञ में न तो उनका अपमान होता और न ही सती को देह-त्याग करना पड़ता।[3] प्रतिक्रिया में जीवन के व्यापक सत्य को सहेजने की शक्ति नहीं होती; वह मनुष्य को जीवन के सहज सृजनात्मक प्रवाह से पृथक् करके एकांगी एवं संकीर्ण बना देती है। प्रायः प्रतिक्रिया एक प्रकार की संकीर्णता का विरोध करके दूसरी उसी प्रकार की संकीर्णता को जन्म देती है। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी आन्दोलन विशिष्ट प्रकार की संकीर्णताओं और रूढ़ियों की प्रतिक्रियाओं के रूप में

---

१. वही, पृ० १०७

२. (क) महादेव की प्रतिहिंसा भी
देखे देव-समाज शोक में। वही, पृ० ६१
(ख) "चिल्लाकर अपनी प्रतिहिंसा उद्घोषित करते फिरते हैं।" वही, पृ० १०३

३. वही, पृ० ७६-८०

उठे थे, किन्तु अपने को व्यापक जीवन-सत्य के सृजनात्मक स्तर से न जोड़ पाने के कारण कालान्तर में उन्होंने स्वयं अपनी संकीर्णताओं और रूढ़ियों को जन्म दिया। यही बात 'एक कण्ठ विषपायी' के शंकर पर घटित होती है। इसलिए शंकर के चरित्र में प्राप्त अन्तर्विरोध को अस्वाभाविक कहकर टाला नहीं जा सकता। जो परम्परा-भंजक था वही परम्परा का अन्ध-भक्त कैसे बन गया ? इस प्रश्न का उत्तर उनके प्रतिहिंसावादी स्वभाव में निहित है। शिव जिस परम्परा से चिपटे हैं, वह दक्ष की परम्परा से भिन्न होते हुए भी स्वरूपतः अभिन्न है। प्रत्येक यज्ञ में भाग-भोग पाने के अधिकार की परम्परा ही वह परम्परा है, जिसके खण्डित होने से तत्त्वज्ञानी शिव अपना सन्तुलन खो बैठे। इस सन्दर्भ में सती अथवा उसके शव को परम्परा अथवा मृत परम्परा का प्रतीक समझना भ्रान्ति होगी।

वस्तुतः सती दक्ष की पुत्री और शिव की पत्नी से बढ़कर और कुछ नहीं है। हाँ सती का विवशतापूर्ण देह-त्याग शिव के प्रति उस सामूहिक अत्याचार का प्रतीक है जो उन्हें परम्परा से हटकर चलने के परिणामस्वरूप भोगना पड़ा। सती ने अपना देह-त्याग अपने अपमान के प्रतिकार के रूप में नहीं, अपने पति शंकर के अपमान के रूप में किया। अतः उस देह के प्रति, जिसने भस्म होने के रूप में शिव के अपमान पर क्षोभ प्रकट किया है, उनकी अन्ध आसक्ति स्वाभाविक ही है। अपने प्रचण्डतम रूप में भी शंकर के मन में दो विरोधी किन्तु मूलतः अभिन्न भाव-धाराएँ प्रवाहित हैं—एक सती के प्रति वियोग और शोक की और दूसरी देवलोक के प्रति क्रोध की। विष्णु का प्रणाम-बाण शिव के आहत अहं को अपेक्षित सम्मान देकर सन्तुलन की स्थिति में लाता है और उनकी मोहान्धता को दूर करके सृजनात्मकता की ओर उन्मुख करता है। मोहान्धता का प्रतीक वह शव सृजनात्मक चेतना के सन्निध्य से विविध तीर्थों का रूप ग्रहण करता है। शंकर ही इस नाट्यकाव्य के नायक है, क्योंकि सारे नाटक का कथानक और कथ्य उन्हीं पर केन्द्रित है तथा प्रतिहिंसाजन्य विकृत परिणतियों में भटकने के उपरान्त पुनः आत्मस्वरूप—शिवत्व—की उपलब्धि के रूप में उनको ही नाट्यकाव्य के फल की प्राप्ति होती है।

(३) **संवाद**—'एक कण्ठ विषपायी' के संवादों में प्रायः वे सभी विशेषताएँ उपलब्ध हो जाती हैं, जो अन्धायुग के संवादों में प्राप्त होती हैं, किन्तु दोनों में स्तर का अन्तर है। अन्धायुग में कलात्मक कसाव अधिक है, अतः संवादों की विलम्बित गति में नाट्यकाव्य के अन्य सभी तत्त्वों का गुम्फन सहज रूप में हो गया है। 'एक कण्ठ विषपायी' के अधिकतर संवादों में कलात्मक अन्तर्गठन की अपेक्षा काव्यात्मक प्रवाह की अधिकता है। दुष्यन्तकुमार ने संवादों की योजना में भी कुछ सीमा तक अन्धायुग का अनुसरण करने की चेष्टा की है। जिस प्रकार अन्धायुग के चौथे अङ्क के प्रारम्भ में अश्वत्थामा ने संस्कृत श्लोकों का आश्रय लेकर शिव की स्तुति की है, उसी प्रकार 'एक कण्ठ विषपायी' के तीसरे दृश्य के प्रारम्भ में वरुण और कुबेर संस्कृत-श्लोकों में शिव की स्तुति करते हैं। संवादों में वाक्यों और वाक्यांशों की आवृत्ति की जो प्रवृत्ति अन्धायुग में प्रचुर रूप में पायी जाती है, वह 'एक कण्ठ विषपायी' में भी

प्रचुरता से प्राप्त होती है।[1] यह आवृत्ति की प्रवृत्ति अन्धायुग के समान ही लम्बे अन्तरालों के उपरान्त भी पायी जाती है। उदाहरणार्थ पृष्ठ ८२ पर 'चलो अलकनन्दा की ओर चलें अब प्रेयसि' की आवृत्ति १४ पंक्तियों के उपरान्त मिलती है। इसी प्रकार पृष्ठ ८६ पर "बोलो क्या ये वही रूप है" की आवृत्ति ६ पंक्तियों के अन्तराल के उपरान्त हुई है। यदि थोड़ा ध्यान से देखा जाए तो ज्ञात होता है कि 'अन्धायुग' की विशिष्ट शब्दावली के कुछ शब्दों का भी दुष्यन्तकुमार ने प्रयोग किया है। मर्यादा तोड़ना, पागल, सूना, अस्तित्व, शायद, माथा, नियति, आत्मघात, कायर, प्रतिहिंसा, निर्णय आदि शब्दों का प्रयोग तो दोनों नाट्यकाव्यों में प्रचुरता से मिलता ही है, किन्तु 'ताजा जमा हुआ रक्त', 'गिद्धों के झुण्ड', 'युद्धोपरान्त' जैसे प्रयोग[2] तो निश्चय ही अन्धायुग से प्रभावित हैं।[3] अन्धायुग के 'अन्धा' शब्द का प्रयोग भी 'एक कण्ठ विषपायी' के कुछ संवादों में मिलता है।[4] 'ममता से अन्धे हो[5] वस्तुतः 'ममता का अन्धापन'[6] से बहुत भिन्न नहीं है। इन दोनों नाट्य-काव्यों के संवादों में बहुत से समानान्तर प्रयोग मिलते हैं यथा:—

(१) (क) भगवती सती का अधझुलसा शव लटकाए[7]
(ख) तट पर तज जाती विकृत शव अधखाया[8]

(२) (क) और इसका अर्थ···
केवल युद्ध···

---

१. (क) "वह भी नहीं !
वह भी नहीं !!
फिर तुम क्यों आये हो ?
बोलो, क्यों आए हो ?" **वही**, पृ० ५०

(ख) "तुम भी बुभुक्षित हो···
मैं भी बुभुक्षित हूँ···
हम सब बुभुक्षित हैं
ये सारी दुनियाँ बुभुक्षित है।" **वही**, पृ० ५१

(ग) "और इसका अर्थ···
केवल युद्ध···
केवल युद्ध। **वही**, पृ० ८०

२. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० ४५, ५२, ५२
३. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ८३, १४, १०
४. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० ८३, १०३
५. **वही**, पृ० १०३
६. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ११
७. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० ५४
८. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ४६

केवल युद्ध···[1]

(ख) "वध, केवल वध, केवल वध
अन्तिम अर्थ बने
मेरे अस्तित्व का।"[2]

(३) (क) अब क्या रह गया शेष[3]

(ख) कौन कहता है—
यहाँ कुछ भी नहीं है शेष[4]

(ग) फिर भी रहूँगा शेष
फिर भी रहूँगा शेष[5]

(४) (क) हाँ, आत्मघात
वह भी सामूहिक!
मेरे अपने ज्ञानकोश में
युद्ध शब्द का अर्थ यही है।[6]

(ख) मैं पहले ही बता चुका हूँ
यह सामूहिक आत्मघात है।[7]

(ग) और विजय क्या है?
एक लम्बा और धीमा
और तिल-तिल कर फलीभूत
होने वाला आत्मघात।[8]

उपर्युक्त समानान्तर स्थलों के अतिरिक्त कुछ समानान्तर स्थल और भी पाये जाते हैं, जिनकी ओर 'कथानक' के अन्तर्गत संकेत किया जा चुका है।

शब्दों के दुहरे प्रयोग की जो प्रवृत्ति अन्धायुग में प्रचुर रूप में पायी जाती है, वह एक कण्ठ विषपायी में भी प्रायः उसी अनुपात में उपलब्ध है। यहाँ केवल एक पृष्ठ पर ही आये हुए ऐसे प्रयोगों को उद्धृत करना पर्याप्त होगा :—

"शव को खण्ड-खण्ड कर पल में
दिशा-दिशा में छितरा देंगे।

---

१. दुष्यन्त कुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० ८०
२. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ३६
३. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० ८७
४. **वही**, पृ० ४५
५. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ३६
६. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० ९८
७. **वही**, पृ० १०५
८. धर्मवीर भारती, **अन्धायुग**, पृ० ११७

जहाँ-जहाँ वे खण्ड गिरेंगे
वहाँ सत्य के नये-नये अंकुर उपजेंगे।"[1]

दुहरे प्रयोगों के साथ ही भोली-भाली, भाग-भोग, अस्त-व्यस्त, पिटी-पिटाई छिन्न-भिन्न, क्षत-विक्षत, भूल-चूक, झूठ-मूठ, भीड़-भाड़ जैसे अनेक प्रयोग भी 'एक कण्ठ विषपायी' में सहज सुलभ हैं।[2]

एक पात्र के कथन की अन्तिम पंक्ति या किसी उक्ति या शब्द को पकड़ कर दूसरे पात्र का कथन प्रारम्भ करने की जो प्रवृत्ति अन्धायुग में मिलती है, उसका चरम रूप 'एक कण्ठ विषपायी' के संवादों में मिलता है। यहाँ उक्त प्रवृत्ति की प्रचुरता को केवल एक ही पृष्ठ पर प्रयुक्त संवादों के आधार पर उदाहृत किया जा रहा है :—

ब्रह्मा— मैं आज्ञा दूं
लेकिन मैं तो आत्मघात को
आत्मसुरक्षा नहीं समझता।
इन्द्र— आत्मघात ?
ब्रह्मा— हाँ आत्मघात
वह भी सामूहिक !
... ...
इन्द्र— और न आक्रामक
मैं तो संरक्षक हूँ
ब्रह्मा— लेकिन किसके संरक्षक हो ?
इन्द्र— देवलोक का।
ब्रह्मा— देवलोक के नहीं
सत्य के संरक्षक को जय मिलती है
इन्द्र— और सत्य के संरक्षक वे शिवशंकर हैं ![3]

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की संवाद-शैली से संवादों में एक सातत्य के साथ ही वाग्वैदग्ध्य के कारण चुटीलापन और क्षिप्रता भी आ जाती है, जो वाचिक अभिनय के चारुत्व में अभिवृद्धि करती है।

'एक कण्ठ विषपायी' के संवादों की भाषा भी अन्धायुग की भाषा के समान साहित्यिक और बोलचाल की भाषा के मिश्रण से बनी है। इस प्रकार की भाषा के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(१) मेरी दाईं आँख फरकने लगी अचानक।[4]

---

१. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० १२५
२. **वही**, पृ० १७, १८, २०, २२, ४१, ६१, १२४
३. **वही**, पृ० ९८
४. **वही**, पृ० २२

(२) मेरे चिन्तन के सोए जल को खँगालकर[1]
(३) तुम मुझको चुल्लू-भर रक्त पिला सकते हो ?[2]
(४) अधबर में साथ छोड़
चली गई···[3]

संवादों में मुहावरों के प्रयोग द्वारा भी ताजगी और सजीवता उत्पन्न की गयी है। आँखों के सामने अँधेरा-सा घिर आया, "मेरे उत्तरवासी सब सम्बन्धी बेघरबार हो गए",[3] "जिसने मेरे यश पर कालिख पोती है", "तुम सत्य से आँख मत भींचो" जैसे मुहावरों के अनेक सफल प्रयोग 'एक कण्ठ विषपायी' में मिलते हैं।[4]

'एक कण्ठ विषपायी' में बोल-चाल की टोन का भी सुन्दर उपयोग किया गया है।[5] बोलचाल की टोन से संवादों में वास्तविक जीवन की सजीवता उभर आयी है और वाचिक अभिनय की सफलता की सम्भावनाओं में वृद्धि हुई है। विस्मयादिबोधक शब्दों के प्रयोग द्वारा तीखी अनुभूतियों को उनकी पूर्ण भावोष्मा के साथ व्यक्त करने के प्रयत्न में टोन या स्वर के प्रभाव में भी वृद्धि हुई है।[6] अनुभूति-प्रवण स्वरों की योजना प्रश्नवाचक वाक्यों के द्वारा भी की गयी है। प्रश्नों का माध्यम अनुभूतियों में एक चुभन—एक नुकीलापन—ला देता है। प्रश्न में सारी संवेदना सिमटकर धारदार हो जाती है। 'एक कण्ठ विषपायी' के संवादों में अनेक स्थलों पर प्रश्नों की झड़ी लगा दी गयी है। जिसके कारण अनुभूतियों को अपेक्षित तीखेपन के साथ अंकित करने में तो सहायता मिली ही है, साथ ही स्वर में भंगिमा और प्रवाह में तीव्रता आने के कारण नाटकीयता और काव्यात्मक गुणावस्था में भी वृद्धि हुई है :—

---

१. **वही**, पृ० १२२
२. **वही**, पृ० ११२
३. **वही**, पृ० ८७
४. **वही**, पृ० २२, १०८, ११, ११७
५. (क) **बरना**···
भूखे रह जाओगे
हाSSS। **वही**, पृ० ५२
(ख) जीवन की भूख
बहुत कम लोगों में होती है।
बहोSSत कम में···। **वही**, पृ० ६५
६. (क) ···बेचारे—
भूख के मारे !
च: च: च: ! **वही**, प्र० ६७
(ख) आह !
नहीं देखा जाता है यह परिवर्तन !
वही, पृ० ८६

(१) मुझे क्या हक़ है···?
क्या हक़ है जो मैं प्रलाप करूँ ?
अब आपका अमूल्य समय नष्ट करूँ ?[१]

(२) ओ मेरी रोशनी कहाँ है तू ?
ओ मेरी ज़िन्दगी कहाँ है तू ?[२]

'एक कण्ठ विषपयी' में क्रिया-व्यापार की पूर्ति बहुत कुछ तर्क-वितर्क से पूर्ण संवादों के माध्यम से की गई है। जिस प्रकार वस्तुजगत् के व्यापार 'घटना' कहलाते हैं, उसी प्रकार मानसिक क्रिया-व्यापार 'तर्क' कहलाते हैं। इस प्रकार तर्क भी मानसिक घटनाएँ ही हैं। 'एक कण्ठ विषपायी' के विशेषतः पहले और चौथे दृश्यों में तर्क-बहुल संवादों की प्रचुरता से नाटकीय क्रिया-व्यापार को अपेक्षित गति प्रदान की गई है।

'एक कण्ठ विषपायी' के चौथे दृश्य में तो 'नारों' का प्रयोग भी संवादों के रूप में किया गया है।[३] 'नारों' की यह विशेषता होती है कि उनके अत्यन्त संक्षिप्त कलेवर में अधिक से अधिक अर्थ भरा होता है तथा उनके आन्दोलनकारी आवेगपूर्ण स्वर (टोन) में अद्‌भुत प्रभाव निहित रहता है। 'नारा' अपने निगूढ़ अर्थ और सशक्त उच्चारण के द्वारा ही भारी जन-समूह को अपने प्रभाव में जकड़ लेता है। कुछ संवादों में दुष्यन्तकुमार ने सूक्तियों का सुन्दर प्रयोग किया है।[४] सूक्तियाँ चिन्तन से प्रसूत वे सामान्य कथन हैं, जिनमें मानव-जीवन के सनातन सत्य उद्‌घाटित होते हैं।

'एक कण्ठ विषपायी' के संवादों की एक प्रमुख विशेषता, जो अन्धायुग के संवादों में प्रायः कम है, यह है कि उनमें लय और तुकों का सफल निर्वाह है। अन्धायुग के कवि ने लय और तुकों का अत्यन्त सफल प्रयोग कथा-गायनों में किया है, संवादों में तुकों से प्रायः बचा गया है और अधिकांशतः गद्य के निकट की विलम्बित और गम्भीर वेग वाली लय का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार वहाँ, कथागायन और संवाद एक-दूसरे के पूरक होकर आये हैं। 'एक कण्ठ विषपायी' में कथागायनों का प्रयोग नहीं है, इसलिए कवि को अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रकाशन संवादों के माध्यम से ही करना पड़ा है। संवादों में लय और तुकों के निर्वाह के सम्बन्ध में यथास्थान आगे विचार किया जायेगा।

---

१. **वही**, पृ० ११६
२. **वही**, पृ० १०८
३. **वही**, पृ० १०१, १०४, १०५
४. (क) परिणय नारी की परिणिति है। **वही**, पृ० १७
(ख) नारी का शंकालु स्वभाव सदैव
इष्ट में भी अनिष्ट की
आशंका रचता आया है। **वही**, पृ० २३
(ग) सिर्फ़ मृत्यु सत्य होती है। **वही**, ६३
(घ) लाशें ढोने वाले अक्सर
खुद भी तो लाशें होते हैं। **वही**, १२१

प्रस्तुत नाट्य-काव्य में स्वगत कथनों का भी प्रयोग हुआ है। वीरिणी, ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि पात्र स्वगत कथनों के माध्यम से अपनी मनःस्थितियों को व्यक्त करते दिखलाये गये हैं।[1] यद्यपि इन स्वगत कथनों से नाटकीय व्यापार को कोई गति नहीं मिली है, तथापि पात्रों के असली रूप को उजागर करने में स्वगत कथनों का विशेष योग रहा है।

उपर्युक्त विशेषताओं के बावजूद 'एक कण्ठ विषपायी' के कुछ संवाद दुर्बल हैं। तीसरे दृश्य में संस्कृत के दो १०-१० पंक्तियों के स्तोत्र दिए गये हैं और उनके साथ क्रमशः १७-१२ पंक्तियों में उनका 'नीरस गद्यात्मक संस्कृतनिष्ठ हिन्दी-अनुवाद भी दिया गया है, जो पाठकों और श्रोताओं के लिए काफी उबाने वाला है। सर्वहत के संवाद, जैसा कि संकेत किया जा चुका है, निरर्थक प्रलाप मात्र हैं; न तो वे कथावस्तु को ही गति देते हैं और न सर्वहत के चरित्र का ही सुसम्बद्ध रूप में कोई निश्चित विकास-क्रम लक्षित करते हैं। सर्वहत का पृष्ठ ६४ से पृष्ठ ६८ तक का लम्बा कथन बीभत्स, अरुचिकर अकाव्यात्मक मनःस्थिति का अभद्र और असंयत प्रकाशन है। फिर भी कुल मिलाकर 'एक कण्ठ विषपायी' के 'संवाद पर्याप्त सफल हैं। संवादों में जहाँ-तहाँ पाई जाने वाली शिथिलता का कारण मूलतः उन स्थलों का कथानक-सम्बन्धी शैथिल्य ही है।

(४) **अभिव्यंजना**—'संवाद' के अन्तर्गत आनुषंगिक रूप में भाषा के स्वरूप पर भी विचार किया जा चुका है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि संवादों में तत्सम साहित्यिक शब्दावली के साथ ही बोलचाल की शब्दावली का भी प्रयोग किया गया है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कवि ने उर्दू की शब्दावली का भी स्वच्छन्दतापूर्वक उपयोग किया है यथा—आवाज़ें, ज़्यादा, शायद, ताज़ा, नज़र, हक़, तेज़ आदि।

'एक कण्ठ विषपायी' में कुछ भाषागत स्खलन भी पाये जाते हैं, जिनकी ओर संकेत करना असंगत न होगा। 'यह राजनैयिकों [की भाषा है'[2] में शुद्ध शब्द 'राजनयिक' होना चाहिए। 'मुझ पर श्राप क्यों पड़ा तेरा' में[3] 'श्राप' के स्थान पर'शाप' शब्द होना चाहिए था, किन्तु सम्भवतः कवि ने बोलचाल के प्रयोग को प्रश्रय देने की दृष्टि से सर्वत्र 'श्राप' शब्द का प्रयोग किया है।[4] "ये महादेव देवाधिदेव की अनुकम्पा"[5] में 'ये' के स्थान पर 'यह' प्रयोग व्याकरणसम्मत है। 'बोले क्या ये वही रूप है'[6]

---

१. वही, पृ० ३३-३४, ५६, ८२, ८७, ६०, ११६, १२२
२. वही, पृ० १६
३. वही, पृ० ३३
४. वही, पृ० ७६,१०४,११४
५. वही, पृ० ७६
६. वही, पृ० ८६

में भी यह त्रुटि है। 'ये कहना बिल्कुल आधारहीन सी है एक बात'[1] तथा और 'वो विशिष्ट देवता 'शिवशंकर[2] है' में क्रमशः 'ये' के स्थान पर यह और 'वो' के स्थान पर वह प्रयोग वांछनीय है। कुछ अन्वय-सम्बन्धी गड़बड़ियाँ भी जहाँ-तहाँ रह गयी हैं। अन्वय-सम्बन्धी गड़बड़ी का एक रोचक उदाहरण द्रष्टव्य है—

···जिसमें सती ने
उस प्रजापति पिता के कुटिल
पति के प्रति मानहानिपूर्ण
अशुभ वाक्यों के पाप से निवृत्ति हेतु
··· ··· ···
तन का लौकिक प्रसार भस्म कर दिया था।[3]

उपर्युक्त उद्धरण के "जिसमें सती ने उस प्रजापति पिता के कुटिल पति के प्रति मानहानिपूर्ण अशुभ वाक्यों" के अंश पर विचार करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि वाक्य-योजना की असंगति के कारण अर्थ का अनर्थ हो गया है। पति का सम्बन्ध अनजाने में ही प्रजापति पिता के 'वाक्यों' के विशेषण 'कुटिल' से जुड़ गया है। मालूम नहीं 'सती' ने उस प्रजापति पिता के कुटिल पति के प्रति मानहानिपूर्ण अशुभ वाक्यों के पाप से निवृत्ति हेतु तन का लौकिक प्रसार क्यों भस्म कर दिया था? वस्तुतः कवि के अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिए वाक्य-विन्यास इस प्रकार होना चाहिए—

···जिसमें सती ने
पति के प्रति उस प्रजापति पिता के
कुटिल, मानहानिपूर्ण
अशुभ वाक्यों के पाप से निवृत्ति हेतु
··· ··· ···
तन का लौकिक प्रसार भस्म कर दिया था।

इसी प्रकार निम्नलिखित उद्धरण में भी वाक्य-रचना अशुद्ध है—

"अपने आदेश-विहित भृत्यों से
देव और ऋषि-मुनि-गण
सभी का अनादर
और दक्ष का शिरोच्छेदन करके भी तुष्ट नहीं?[4]

इसमें 'करके' के स्थान 'कराके' या 'करवाके' होना चाहिए। "सती ने इसीलिए··· अपनी अनाशक्ति को तज कर दुर्वह नन्दा-व्रत ठाना था"[5] में 'अनाशक्ति' का क्या

---

१. वही, पृ० ११५
२. वही, पृ० ११५
३. वही, पृ० ४२-४३
४. वही, पृ० ५८
५. वही, पृ० १३

अभिप्राय है, यह समझ में नहीं आता है। निम्नलिखित पंक्तियों में भी वाक्य-रचना उलझी हुई है—

> ···किन्तु द्वार पर
> महामात्य का अनुचर
> कोई गुप्त और आत्यन्तिक
> उनका सन्देशा लेकर आया है···।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'उनका' का प्रयोग 'कोई' से पहले होने से वाक्य-रचना सुबोध और सार्थक हो सकती है।

> "देखा ना !
> सूखे पड़े हैं मेरे होंठ है
> जिन पर पपड़ियाँ उभर आईं।"[2]

उक्त पंक्तियों में से मध्य की पंक्ति के अन्त में प्रयुक्त 'है' के स्थान पर 'हैं' होना चाहिए और उसे वहाँ से हटाकर तीसरी पंक्ति के प्रारम्भ में जोड़ा जाना चाहिए। इसी प्रकार की और भी अशुद्धियाँ खोजी जा सकती हैं। कुछ मुद्रण की अशुद्धियाँ भी रह गई हैं जैसे—

> "अपनी सुरक्षा को
> शंकर लिए दण्ड माँगते हैं
> अलका-वासी कुबेर।"[3]

स्पष्ट है कि मुद्रक की भूल से दूसरी पंक्ति में शंकर के बाद का 'के' छूट गया है।

(क) **बिम्ब-विधान**—'एक कण्ठ विषपायी' में ऐन्द्रिय संवेदना से अनुप्राणित स्थलों की प्रचुरता होने के कारण रूप, गन्ध, स्पर्श, ध्वनि, रस, क्रिया आदि के बिम्बों की भी प्रचुरता है। यों तो समूचा काव्य ही विविध बिम्बों की दीर्घ शृंखला से लिपटी बहुरंगी अनुभूतियों का भण्डार है, तथापि जहाँ पात्र भावात्मक अर्थों से हटकर वैचारिक अर्थों या तर्कों का प्रश्रय लेते हैं अथवा नाम-परिगणन शैली का प्रश्रय लेते हैं, वहाँ बिम्बों के स्थान पर अमूर्त अर्थ-बोध ही अधिक उभरा है। यद्यपि 'एक कण्ठ विषपायी' के चौथे दृश्य में वैचारिक अर्थों की प्रधानता है, तथापि नाट्य-काव्य होने के कारण वैचारिक अर्थ सपाट रूप में प्रस्तुत न होकर विविध पात्रों के पारस्परिक वाद-विवाद के रूप में उपस्थित हुए हैं; जिससे उनमें गति और टकराव के कारण नाटकीयता आ गई है। वकीलों की बहस तर्कमूलक होते हुए भी नाटकीयता से युक्त होने के कारण श्रोताओं को आकर्षित करती है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि अमूर्त वैचारिक अर्थों में टकराव उत्पन्न कर दिया जाय, तो उनमें भी एक सूक्ष्म क्रिया-व्यापार का उदय होता है, जो मन को आकृष्ट कर लेता है। 'एक कण्ठ विषपायी' की विशेषता यही है कि

---

१. वही, पृ० २२
२. वही, पृ० ११३
३. वही, पृ० ५९

उसमें अधिकतर बौद्धिक अर्थ भी गत्यात्मक, द्वन्द्वात्मक और भाव-संवलित होकर ही अवतरित हुए हैं। जहाँ-जहाँ तर्क भाव-हीन सपाट अर्थ-बोध मात्र में बदल कर गति और टकराव से वंचित रह गया है, वहाँ उबाने वाली नीरस पंक्तियों की ही ढेरी लग गई है, यथा—

"किन्तु पराजय के कारण मैं नहीं देखता।
मेरे पास शस्त्र की कोई कमी नहीं है,
मेरे पास अन्न की कोई कमी नहीं है।
मेरे पास वस्त्र की कोई कमी नहीं है।[1]

यहाँ तर्क सपाट है, गत्यात्मक और कटावदार नहीं, इसलिए वह नीरस पुनरावृत्ति का गद्यात्मक चोला धारण करके प्रस्तुत हुआ है। इसी प्रकार कुछ संवादों में ऋषियों और शिव के गणों की लम्बी सूची दी गई है, जो नाम-परिगणन-शैली में है।[2]

रूप-बिम्बों के अनेक सुन्दर उदाहरण 'एक कण्ठ विषपायी' में सुलभ हैं। उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से निर्मित निम्नलिखित बिम्ब विशेष सुन्दर बन पड़ा है :

"महादेव शंकर आते हैं।
मेरुमाल-सी
सन्मुख खुली भुजाओं पर
सज्जित शव धारे,
जिससे
मेघों-जैसे केश लटकते नीचे
हिम पर ऐसे फिसल रहे हैं
जैसे मध्याह्न में धारा पर
तार-तार हो कँपती-कँपती
निशा गिर पड़े।"[3]

यह बिम्ब रूप और क्रिया की संश्लिष्ट योजना से निर्मित है। शंकर की मेरुमाल-सी भुजाओं पर रखी हुई मृत सती के मेघ-जैसे बिखरे हुए केश लटक कर बर्फ पर फिसल रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है जैसे काँपती हुई निशा तार-तार होकर मध्याह्न में धरा पर गिर पड़े। यहाँ बिम्ब के उत्तरार्द्ध के ब्यौरों को सादृश्य के सहारे बिल्कुल नवीन एवं सजीव ढंग से उभारा गया है। कारण और कार्य के रूप में उपस्थित गतिमय स्थितियों के शृंखलाबद्ध बिम्ब का सुन्दर उदाहरण नीचे उद्धृत है—

जैसे ही महाराज
क्रोधातुर

---

१. वही, पृ० ६८
२. वही, पृ० ५७,८१
३. वही, पृ० ८५

महादेव शंकर पर रोष व्यक्त करते
यज्ञ-मण्डप में घुसे,
तैसे ही अनायास
भगवती सती के पास
विद्युत सी कौंध गई।
भस्म हो गया उसमें
सुन्दर सर्वांग चन्द्र-गौर वर्ण
और दूसरे ही पल
भगवती सती का अधझुलसा शव
सामने पड़ा था।[1]

जिस प्रकार विविध स्थितियों के नैरन्तर्य से निर्मित दृश्य को कैमरे के द्वारा लिए गये अनेक चित्रों की रील के माध्यम से स्वाभाविक रूप में अंकित किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ अनेक आनुषंगिक बिम्बों की समष्टि से गतिमय व्यापार को बिम्बित किया गया है। बिम्ब-सृष्टि में कवि का मन बाह्य दृश्यों के प्रति संवेदनशील तो होता ही है, किन्तु इससे बढ़कर वह स्मृत या पूर्वानुभूत व्यापारों की नवीन संयोजना द्वारा अप्रत्यक्ष वस्तु-व्यापारों को भी बिम्बित करने की सृजनात्मक क्षमता से युक्त होता है। इसी प्रकार के कल्पित बिम्ब का उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं—

"एक अशुभ आकृति
चक्षु-पटल पर उतरती है
शून्य में उभरती है।"

यहाँ 'आकृति' के ब्यौरे नहीं दिए गये हैं, केवल 'अशुभ' कहकर उसके स्वरूप की भीषणता को अंकित किया गया है। ब्यौरों के द्वारा सम्भवतः आकृति के स्वरूप की रहस्यमयता भी छँट जाती। इसके विपरीत अनेक ब्यौरों से युक्त स्थूल बिम्ब का निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य है—

"सारे नगर में ताजा
जमा हुआ रक्त है
और सड़ी हुई लाशें हैं
मुड़ी हुई हड्डियाँ हैं
क्षत-विक्षत तन हैं
और उन पर भिन्नाते हुए
चीलों और गिद्धों के झुण्ड
और मक्खियाँ हैं।[2]

दुष्यन्तकुमार ने ध्वनि-बिम्बों की भी सफल योजना की है। "डमर-डमर बजने दो

---

१. वही, पृ० ३५
२. वही, पृ० ४५

डमरू"[1] में डमरू के बजने की ध्वनि को निरूपित किया गया है। 'डमरू' शब्द स्वयं डमरू की ध्वनि का बोधक है, फिर उसके साथ 'डमर-डमर' जोड़ने से तो सारी पंक्ति में ही डमरू की ध्वनि गुंजायमान हो उठी है। महादेव के नन्दी का निम्नांकित बिम्ब भी अच्छा बन पड़ा है—

सहस्रों झंझाओं की तरह फड़फड़ाते हुए
उसके वे नथुने।"[2]

'फड़फड़ाते' शब्द स्वतः नथुनों की 'फूत्कार' का बोधक है, किन्तु कवि ने 'झंझाओं' के भी साथ 'सहस्रों' जोड़कर ध्वनि को और भी अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के पास ध्वनि के बिम्बन के लिए पर्याप्त शब्दों का अभाव है यथा—

"उस चिड़िया की चीं: चीं: से
उसकी कातर ध्वनि से
सारा वातावरण त्रस्त है
नन्हें-नन्हें पंखों की कातर आवाजें
अन्तःपुर में गूंज रही हैं।"[3]

उपर्युक्त बिम्ब कवि के निरीक्षण की सहजता और सादगी का परिचायक है। 'चीं: चीं:' से तो चिड़िया की ध्वनि रूपायित होती ही है, किन्तु स्वयं 'चिड़िया' शब्द भी बिम्ब को ध्वनिमय बनाने में समर्थ है। इसी प्रकार 'कातर' शब्द भी अपनी तीखी और क्षिप्र ध्वनि के कारण ध्वनि-बिम्ब को उभारने में सहायक है, क्योंकि 'कातर' से चिड़िया की तीखी और दर्दीली ध्वनि के साथ उसके मन की बेबसी और विकलता भी ध्वनित होती है, किन्तु इस शब्द की आवृत्ति निश्चय ही खटकती है। कहीं-कहीं कवि ने ध्वनि के भी गत्यात्मक चित्र अंकित किये हैं—"वह देखें, नारों की आवाजें बढ़ती ही आती हैं।"[4] प्रायः ध्वनि-बिम्ब रूप-बिम्ब का ही आनुषंगिक होकर उपस्थित होता है, किन्तु उपर्युक्त उद्धरण में नारे लगाने वाली भीड़ का रूप-बिम्ब पृष्ठभूमि में निहित होने पर भी, ध्वनि-बिम्ब बहुत-कुछ उससे स्वतन्त्र होकर ही उभर सका है। नारों की आवाजों के बढ़ने की क्रिया स्वरूपतः श्रव्य है दृश्य नहीं, किन्तु कवि ने 'वह देखें' कह कर उसकी ओर केवल ध्यान आकृष्ट किया है।

'एक कण्ठ विषपायी' में गन्ध-बिम्बों की भी योजना हुई है। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने दुर्गन्ध में आकार की कल्पना के साथ ही स्वाद की भी कल्पना की है—

"यह दुर्गन्ध
जिसे शंकर ने ओढ़ रखा है

---

१. वही, पृ० ६१
२. वही, पृ० ३७
३. वही, पृ० १६
४. वही, पृ० ६६

जिसको हमने पल भर भोगा
कितनी कटु है !
कितनी विषमय !!
सारे युग पर फैल गई यदि,
तो क्या होगा ?"[१]

यहाँ 'ओढ़ना' क्रिया के माध्यम से गन्ध में आकार की कल्पना की गई है, क्योंकि चादर आदि किसी साकार वस्तु को ही ओढा जाता है, साथ ही उसे 'कटु' और 'विषमय' बतला कर उसके स्वाद या रस और प्रभाव को निरूपित किया गया है। युग पर फैलने की आशंका में गन्ध की गत्यात्मकता को भी बिम्बित किया गया है। कहीं-कहीं कवि ने रूप, गन्ध, क्रिया, ध्वनि, स्पर्श के संश्लिष्ट बिम्ब अंकित किये हैं यथा—

"स्नान कराऊँगा उस जल में,
फिर चन्दन से माँग भरूँगा।
वन्य प्रसूनों से मैं अपनी
प्रेयसि का शृंगार करूँगा।
फूट फूट कर रोऊँगा कुछ देर वहाँ पर।
फिर बाहों में तुझे उठाकर
हृदय लगा कर
सुधियों का आह्वान करूँगा।"[२]

कहीं-कहीं कवि ने सूक्ष्म मनःस्थितियों के भी सफल बिम्ब अंकित किये हैं। 'उनकी आवाज़ों में भूख लिखी हुई थी'[३] में आवाज और 'भूख को मूर्त' रूप दिया गया है। यहाँ 'लिखी हुई थी' क्रिया के माध्यम से अदृश्य को दृश्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में, जिस पर लिखा जाता है और जो लिखा जाता है, दोनों ही दृश्य होते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में एक ही सूक्ष्म मनःस्थिति के दो समानान्तर सहयोगी बिम्बों की सृष्टि की गई है—

चला गया वह···
मुझमें जलते हुए प्रश्न की आग ढालकर
मेरे चिन्तन के सोए जल को खँगाल कर।[४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दुष्यन्तकुमार को बिम्ब-योजना की दृष्टि से पर्याप्त सफलता मिली है। कहीं-कहीं पाई जाने वाली अर्थ-बोध की प्रधानता, वस्तु-परिगणन पद्धति और असंयत कलाहीन बिम्ब-सृष्टि के लिए वस्तुतः कथावस्तु

---

१. वही, पृ० ८४
२. वही, पृ० ८२
३. वही, ६५
४. वही, पृ० १२२

की शिथिलता उत्तरदायी है। सर्वहत की असंयत भावुकता के सूचक अनर्गल प्रलाप में फूहड़ बिम्बों की योजना हुई है, जो कृति के कसाव को आघात पहुँचाती है।[1] फिर भी कुल मिलाकर 'एक कण्ठ विषपायी, में बिम्ब-योजना पर्याप्त सफल रही है।

(ख) **प्रतीक योजना**—'एक कण्ठ विषपायी' में प्रतीकों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। प्रतीकात्मक प्रसंगों में केवल एक-दो प्रसंगों की गणना की जा सकती है। अपनी बन्धन-ग्रस्त चिड़िया से वंचित सुलभ की पीड़ा प्रतीकात्मक रूप में शिव द्वारा अपहृत सोनचिरैया (सती) से वंचित दक्ष की मनोव्यथा को व्यंजित करती है। विष्णु द्वारा शिव के चरणों में प्रणाम-बाण छोड़ना, उसके कई फलकों द्वारा शिव के कन्धों पर लदे हुए सती के शव के खण्ड-खण्ड होकर सभी दिशाओं में बिखरना और उनसे सत्य के नये अंकुरों और तीर्थों का निर्माण होना भी प्रतीकात्मक सन्दर्भ हैं। किन्तु इन सब प्रसंगों के पीछे वह संयत, सुसम्बद्ध बौद्धिक चेतना नहीं है, जो प्रतीकात्मक प्रसंगों के मूल में हुआ करती है। इसीलिए ये प्रसंग चेतना में गहरे पैठकर किन्हीं परस्पर सम्बद्ध गूढ़ अर्थों को ध्वनित नहीं कर पाते, हाँ, बुद्धि के सामने एक अजूबा-सा पैदा करके एक चकपकाहट-सी अवश्य उत्पन्न करते हैं। पहले कहा जा चुका है कि बौद्धिक रूप में सती का देह-त्याग शिव के प्रति समाज के उस सामूहिक अत्याचार का प्रतीक हो सकता है, जिसे हर विद्रोही अथवा परम्परा-भंजक को सहना पड़ता है। साथ ही यह भी कहा जा चुका है कि शिव स्वभावतः परम्परा-भंजक होते हुए भी प्रतिक्रियावश स्वयं भी परम्परा में लिप्त हो जाते हैं, यज्ञों में भाग प्राप्त होने के अधिकार की लिप्सा ही उनकी परम्परा-लिप्सा है, जो उनमें सती के देह-त्याग की घटना से उत्पन्न प्रतिहिंसा के कारण उग्र रूप में भड़क उठी है। अतः सती के शव को परम्परा का प्रतीक मानना, विष्णु के प्रणाम-बाण से दिशाओं में बिखरे हुए उसके खण्डों से तीर्थों का निर्माण होना दूरारूढ़ प्रतीक-योजना है, जिसकी समग्र कथावस्तु से ठीक-ठीक संगति नहीं बैठ पाती है। वस्तुतः पुराणों में इस प्रसंग का उद्देश्य भिन्न है। यज्ञ में आमन्त्रित न किये जाने पर शिव को रौद्र रूप धारण करके यज्ञ को ही ध्वस्त करते हुए दिखलाने और फिर बाद में दक्ष को उनकी स्तुति करते हुए दिखलाने के माध्यम से पुराणकारों ने जनता को आतंकित करके शिव-पूजा की ओर प्रेरित किया है। पुराणों में देवताओं या दिव्य-व्यक्तियों का मरना-जीना एक लीलामात्र है। सती के देह-त्याग से मूलतः सती पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, वह पुनः उमा के रूप में जन्म लेकर शिव की पत्नी बन जाती है, किन्तु उसके शव के खण्डों से जिन तीर्थों का उदय दिखलाया गया है, वे निश्चय ही महत्ता अर्जित करते हैं और शक्ति-पीठों के रूप में सहज ही मान्यता प्राप्त कर लेते हैं। इससे सारे देश के कोने-कोने में शक्ति-पूजा का प्रचार करने में पूरी सहायता मिली है।

शब्द-प्रतीकों का प्रयोग 'एक कण्ठ विषपायी' में विरल है। 'अपने जीवन पर तम का विस्तार और मैं देख रहा हूँ'[2] में 'तम' निराशा और विषाद के

---

१. दे०, वही, ६४-६८, १०६, ११२, ११३
२. वही, पृ० ७१

प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'ओ मेरी रोशनी कहाँ तू' में 'रोशनी'[1] शब्द का प्रयोग आशा और चेतना के अर्थ में हुआ है। कवि ने एक स्थान पर 'विहान' शब्द का प्रयोग 'नवीन-विकास' के अर्थों में किया है।[2] 'क्या शिव में संक्रमण काल का विष पीने की शक्ति नहीं है ?'[3] में 'विष पीने' का प्रतीकार्थ 'संकट-जनित पीड़ा के तीखेपन को झेलना' है। "क्यों इनमें अधिकांश लोग लाशें ढोते हैं"[4] में 'लाशें' निर्जीव परम्पराओं या रूढ़ियों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

(ग) **अलंकार-योजना**—अलंकार काव्यात्मक अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति का बुनियादी तत्त्व है। अतः कवि यदि विशुद्ध वैज्ञानिक और दार्शनिक अर्थों से हटकर—जो वस्तुतः उसका क्षेत्र नहीं है—भावात्मक अर्थों की अभिव्यक्ति करता है, तो वह निश्चय ही जाने-अनजाने अलंकारों का प्रयोग करता है। 'एक कण्ठ विषपायी' में अलंकारों का प्रयोग चमत्कार-प्रदर्शन के उद्देश्य से जान-बूझकर नहीं किया गया है, वरन् भावना और भाषा के संयुक्त प्रवाह में पड़कर अनेक अलंकार स्वतः ही आ गये हैं।

'एक कण्ठ विषपायी' में 'यमक' और 'श्लेष' जैसे चमत्कारमूलक अलंकारों का कहीं प्रयोग नहीं मिलता है। 'डमर-डमर बजने दो डमरू'[5] तथा "परिणय नारी की परिणति है"[6] जैसी अनुप्रास अलंकार से युक्त अनेक पंक्तियाँ 'एक कण्ठ विषपायी' में सुलभ हैं, किन्तु कवि का ध्यान कहीं भी अनुप्रास की सायह योजना के प्रति उन्मुख नहीं रहा है। 'वीप्सा' अलंकार के कई उदाहरण 'एक कण्ठ विषपायी' में प्राप्त होते हैं।[7] वस्तुतः कवि का ध्यान शब्दाडम्बर से हटकर अर्थ की अभिव्यक्ति पर केन्द्रित रहा है। अलंकार-शास्त्रियों ने 'वीप्सा' की व्यर्थ ही शब्दालंकारों के मध्य गणना की है, मूलतः उसका बल शब्द की अपेक्षा अर्थ पर ही अधिक है। इस बात की पुष्टि स्वयं उसकी परिभाषा से भी होती है—"आदर, घबराहट, आश्चर्य, घृणा, रोचकता आदि प्रदर्शित करने के लिए किसी शब्द को दुहराना वीप्सा अलंकार है।"[8] आलोच्य कृति में कतिपय स्थानों पर वक्रोक्ति अलंकार का भी प्रयोग मिलता है। "महादेव शंकर

---

१. **वही**, पृ० १०८
२. "तुम अब भी उस क्षण में जीते हो
जो कि एक काला धब्बा है
जीवन के
उजले विहान पर।" **वही**, पृ० ११४
३. **वही**, पृ० १२४
४. **वही**, पृ० १२१
५. **वही**, पृ० ९०
६. **वही**, पृ० १७
७. **वही**, पृ० ११, २४, २६, ४६, ५०, ५१ आदि
८. देवेन्द्रनाथ शर्मा, **अलंकार-मुक्तावली**, पृ० १७

का पूजन अब युद्धस्थल में ही होगा"[१] में 'पूजन' शब्द का अर्थ सरल न होकर वक्रतापूर्ण है।

प्रस्तुत कृति में, अर्थालंकारों में सबसे अधिक प्रयोग रूपक अलंकार का मिलता है। रूपक दुष्यन्तकुमार की अनुभूति का प्रकृत साँचा है। 'तो शंकर की संयम-शिला कदापि न हिलती'[२] में रूपक का प्रयोग सुन्दर है। संयम को शिला कहने से संयम की कठोरता और अडिगता सहज ही व्यंजित हो जाती है। 'बन्धु आप तो समाधान हैं'[३] में विष्णु को 'समाधान' कहकर उनकी समस्याओं को सुलझाने की क्षमता पर प्रकाश डाला गया है। दुष्यन्तकुमार ने अनेक स्थलों पर सांग रूपकों का भी सफल प्रयोग किया है। दक्ष के यज्ञ-ध्वंस की घटना को सांग रूपक के माध्यम से 'एक दुखान्त नाटक' के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[४] सर्वहत के द्वारा कही गई निम्नलिखित पंक्तियों में सांग रूपक का सफल प्रयोग मिलता है :—

"अरे···प्रजा हम थे
हमने उफ तलक नहीं की
शासन के ग़लत-सलत झोंकों के आगे भी
फसलों-से विनयी हम बिछे रहे निर्विवाद
हमारे व्यक्तित्व के लहलहाते हुये
खेतों से होकर—
दक्ष ने बहुत-सी पगडंडियाँ बनाईं
कर दीं सब फसलें बरबाद"[५]

उपर्युक्त सांग रूपक से स्पष्ट है कि दक्ष ने प्रजा के व्यक्तित्व के खेतों को अपने अहं के आग्रहों की पगडंडियों से कुचलकर नष्ट किया। यह सांग रूपक स्वयं में पर्याप्त सफल है, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु इससे आगे के ही पृष्ठ पर प्रजा का प्रतिनिधि सर्वहत कहता है, "पर अब मैं एक पगडंडी के सिवा और क्या हूँ।"[६] पगडंडी को लेकर भी लम्बे सांग रूपक की सृष्टि की गई है, जो पर्याप्त सफल है। किन्तु प्रश्न यह है कि जो सर्वहत प्रजा के रूप में पहले खेत था, जिसमें से दक्ष ने अपने आग्रहों की पगडंडियाँ निकाली थीं, वही सर्वहत पगडंडी कैसे बन गया ? यद्यपि यह ठीक है कि दक्ष की पगडंडी का स्वरूप उस पगडंडी से भिन्न है, जिसका रूप आगे चलकर सर्वहत ने ग्रहण किया है, तथापि दोनों सांग रूपक पृथक्-पृथक् सफल प्रतीत होते हुए भी एक साथ प्रयुक्त होने से एक अन्तर्विरोध-सा पैदा करते दिखलाई पड़ते हैं।

---

१. दुष्यन्तकुमार, **एक कण्ठ विषपायी**, पृ० ९५
२. **वही**, पृ० १४
३. **वही**, पृ० १०७
४. **वही**, पृ० ४८
५. **वही**, पृ० ११०
६. **वही**, पृ० १११

उपमा का प्रयोग भी प्रस्तुत कृति में पर्याप्त हुआ है। "तो क्या तुम आत्मा पर पर्वत-सा भार वहन कर लोगे"[1] में भार की उपमा पर्वत से दी गई है। भार एक सामान्य अर्थ का द्योतक है, जिसका कोई स्पष्ट बिम्ब नहीं बनता है, किन्तु पर्वत से उपमा देते ही वह सामान्य विशिष्ट के रूप में मूर्त हो उठा है। कहीं-कहीं बिल्कुल नवीन उपमाओं का भी प्रयोग हुआ है यथा—"चिड़ियों के नुचे हुए पंखों से सारे घर।"[2] "आह! कैसे पी सका यह फूल-सा तन ज्वाल"[3] में यद्यपि परम्परागत उपमान का प्रयोग किया गया है, तथापि 'ज्वाल पीने' के प्रसंग से उसमें भी नवीनता आ गई है।

खोजने पर 'एक कण्ठ विषपायी' में और भी अनेक अलंकारों के उदाहरण मिल सकते हैं। अन्योक्ति अलंकार का उदाहरण देखिए :—

ज्वाला में झुलसेगा अगर फूल
तो क्या धुआँ
डाल और वृक्ष तक न जायेगा ?"[4]

यहाँ मूल सम्प्रेष्य अर्थ यह है कि यदि सती को किसी प्रकार का मानसिक आघात पहुँचाया गया, तो स्वयं दक्ष भी उस आघात के दंश से बचे नहीं रह सकेंगे। उपमान में उपमेय के साथ सादृश्य की अयोग्यता के कारण निम्नलिखित पंक्तियों में चतुर्थ प्रतीप अलंकार है :—

"क्या यह वही रूप है,
जिसे देखकर पूर्ण चन्द्र की
सभी कलाएँ छिप जाती थीं ?[5]

'वैसे ही आप भी दुखी हैं, अपने घर की सोनचिरैया उड़ जाने पर'[6] में 'सोनचिरैया' (उपमान) के द्वारा सती (उपमेय) का बोध कराया गया है। अतः यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। क्रमशः साभिप्राय विशेषणों और विशेष्यों से युक्त परिकर[7] और परिकरांकुर[8] अलंकारों के उदाहरण भी 'एक कण्ठ विषपायी' में सुलभ हैं।

---

१. वही, पृ० २६
२. वही, पृ० ४१
३. वही, पृ० ८०
४. वही, पृ० २८
५. वही, पृ० ८६
६. वही, पृ० २१
७. यदि कैलासनाथ रह गये उपेक्षित
तो अपनी सब प्रजा क्या कहेगी ? वही, पृ० १६
८. उनका आक्रोश वहन करने की
क्षमता त्रिलोक में नहीं है नाथ !
वे हैं साक्षात् ब्रह्म महादेव। वही, पृ० ३२

मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय आदि पाश्चात्य अलंकारों के उदाहरण भी विवेच्य कृति में कहीं-कहीं मिलते हैं। 'किसी विवश-क्षण से जुड़ जाते हैं हम यों ही'[1] में विशेषण-विपर्यय है। "अपनी अवहेलना देखकर शंकर का देवत्व स्वयं ही झुलस उठेगा"[2] में 'देवत्व' जैसे सूक्ष्म भाव का मानवीकरण किया गया है।" सहस्रों झंझाओं की तरह फड़फड़ाते हुए···"[3] में ध्वननशीलता (ऑनोमेटोपोइया) है।

यहाँ हमारा उद्देश्य 'एक कण्ठ विषपायी' की प्रत्येक पंक्ति में कोई न कोई अलंकार ढूँढ़ निकालना नहीं है। उपर्युक्त विवेचन का उद्देश्य यह दर्शाना मात्र है कि प्रस्तुत कृति में कथन की आलंकारिक पद्धतियों के अनेक प्रकार सहज ही समाविष्ट हो गये हैं, जो कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति की विविधता और रमणीयता के द्योतक हैं।

(घ) **लय तथा तुक**—'एक कण्ठ विषपायी' में लय और तुकों का सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। वस्तुतः मुक्त छन्द कविता के मुक्त प्रवाह में तुकों का ऐसा निर्वाह विरल है, जैसा उक्त कृति में पाया जाता है। तीसरे दृश्य के प्रारम्भ में शिव के स्वगत कथन में कवि ने छन्दबद्ध तुकान्त कविता के नमूने प्रस्तुत किये हैं[4] जिनमें पहला अंश १६ और १४ पर यति से युक्त ३० मात्राओं का है, दूसरे अंश में टेक १३ मात्राओं की है और अन्तरा १९ मात्राओं का है, जिसमें १० और ९ पर यतियाँ हैं। शेष तीन अंशों में २४ मात्राओं के छन्द का निर्वाह किया गया है, जिनमें यतियों की योजना भिन्न क्रम से है। तीसरे दृश्य के अन्त में ३२ मात्राओं के छन्द का प्रयोग किया गया है, जिसमें १६ और १६ पर यतियाँ हैं।[5]

'एक कण्ठ विषपायी' के संवादों में यद्यपि प्रायः सर्वत्र ही मुक्त छन्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु उसमें किसी-न-किसी छन्द की गन्ध अवश्य है। कहीं-कहीं तो एक ही छन्द की पंक्तियाँ भाव की गति के क्रम से छोटी-बड़ी पंक्तियों में विभक्त हुई मिलती हैं और कहीं-कहीं बीच-बीच में सम-मात्रिक पंक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। यहाँ कुछ इस प्रकार के नमूने द्रष्टव्य हैं :—

(क)	१. चला गया वह— —	८ मात्राएँ
	२. मुझ में जलते हुए प्रश्न की आग ढालकर	२४ मात्राएँ
	३. मेरे चिन्तन के सोए जल को खँगालकर	२४ मात्राएँ
	४. पागलपन का दर्प सँजोए	१६ मात्राएँ
	५. चला गया वह मूर्ख कहीं का ![6]	१६ मात्राएँ
(ख)	१. इतना रक्तपात होने पर	१६ मात्राएँ
	२. इतनी भूमि निकल जाने पर	१६ मात्राएँ

---

१. वही, पृ० १२
२. वही, पृ० १५
३. वही, पृ० ३६
४. वही, पृ० ७१-७२
५. दे० वही, पृ० ९०-९१ ६. वही, पृ० १२२

	३.	आप अभी तक मेरा प्रश्न विचार रहे हैं	२४ मात्राएँ
	४.	इससे अच्छा हो कि आप	१४ मात्राएँ
	५.	भगवती सती को जीवन दे दें[1]	१८ मात्राएँ
(ग)	१.	चलो	३ मात्राएँ
	२.	अलकनन्दा की ओर चलें अब प्रेयसि	२१ मात्राएँ
	३.	वहाँ तुझे मैं	८ मात्राएँ
	४.	स्नान कराऊँगा उस जल में	१६ मात्राएँ
	५.	फिर चन्दन से माँग भरूँगा	१६ मात्राएँ
	६.	वन्य प्रसूनों से मैं अपनी	१६ मात्राएँ
	७.	प्रेयसि का शृंगार करूँगा	१६ मात्राएँ
	८.	फूट-फूटकर रोऊँगा कुछ देर वहाँ पर	२४ मात्राएँ
	९.	फिर बाहों में तुझे उठाकर	१६ मात्राएँ
	१०.	हृदय लगाकर	८ मात्राएँ
	११.	सुधियों का आह्वान करूँगा	१६ मात्राएँ
	१२.	फिर तुझको लेकर	१० मात्राएँ
	१३.	मैं बन के हर उस कोने में विचरूँगा	२२ मात्राएँ
	१४.	तेरे साथ जहाँ	१० मात्राएँ
	१५.	जीवन के	६ मात्राएँ
	१६.	सर्वोत्तम क्षण मैंने भोगे	१६ मात्राएँ
	१७.	चलो—अलकनन्दा की ओर चलें अब प्रेयसि[2]	२४ मात्राएँ

उपर्युक्त उद्धरणों में, प्रथम में तो स्पष्ट ही दो युग्मों की पंक्तियाँ सम-मात्रिक हैं। दूसरे उद्धरण में मध्यवर्ती २४ मात्राओं वाली पंक्ति को छोड़कर ऊपर और नीचे की दो-दो पंक्तियों की मात्राएँ ३२ हैं—पहली दो पंक्तियों में १६-१६ मात्राएँ हैं, तो दूसरी दो पंक्तियों में १४-१८ मात्राएँ हैं। बाद की दो पंक्तियों में मात्राओं का विभाजन १६-१६ आसानी से हो सकता था, यदि 'भगवती' के पूर्वार्द्ध को पहली पंक्ति में रख दिया जाता, किन्तु मुक्त छन्द की मुक्तता ने कवि को ऐसा करने के लिए विवश नहीं किया। तीसरे उद्धरण में भी १६, १६ पर यति वाले ३२ मात्राओं के छन्द का प्राधान्य है। जिन पंक्तियों में व्यतिक्रम दिखलाई पड़ता है, उनमें भी एक-आध अपवाद छोड़कर उक्त छन्द का निर्वाह हुआ है। उदाहरणार्थ बारहवीं और तेरहवीं पंक्तियों की मात्राओं का योग ३२ है, इसी प्रकार चौदहवीं और पन्द्रहवीं पंक्तियों की मात्राओं का योग १६ है। अभिप्राय यह है कि इन पक्तियों में भी छन्द वही है, केवल पंक्तियों को तोड़ने के ढंग से व्यतिक्रम दिखाई पड़ता है। यदि सारे नाट्य-काव्य का मात्राओं की गणना की

---

१. वही, पृ० १००

२. वही, पृ० ८२

दृष्टि से अनुशीलन किया जाए, तो अधिकतर पंक्तियाँ १६-१६ मात्राओं की मिलेंगी, जो कहीं-कहीं आठ-आठ मात्राओं की दो-दो पंक्तियों में भी विभक्त मिलेंगी। कहीं आठ मात्राओं की इकाई के रूप में ही पूर्ण पंक्तियाँ मिलती हैं, तो कहीं ऐसी ही तीन पंक्तियों के मेल से २४ मात्राओं की पंक्तियाँ बनाई गयी हैं। उदाहरणार्थ नीचे की पंक्तियाँ देखिए—

१.	अब तुम सोचो	८ मात्राएँ
२.	यह दुर्गन्ध	७ मात्राएँ
३.	जिसे शंकर ने ओढ़ रखा है	१६ मात्राएँ
४.	जिसको हमने पल भर भोगा	१६ मात्राएँ
५.	कितनी कटु है !	८ मात्राएँ
६.	कितनी विषमय ! !	८ मात्राएँ
७.	सारे युग में फैल गई यदि	१६ मात्राएँ
८.	तो क्या होगा ?[1]	८ मात्राएँ

यदि उपर्युक्त उद्धरण की तीसरी और चौथी पंक्तियों को यति दे-देकर दो-दो साँसों में पढ़ना चाहें, तो उन्हें आठ-आठ मात्राओं की दो-दो पंक्तियों में सुविधापूर्वक विभक्त किया जा सकता है यथा—

"जिसे शंकर ने
ओढ़ रखा है।"

इसी प्रकार सातवीं और आठवीं पंक्तियों को मिलाकर एक साँस में पढ़ना चाहें तो आठ-आठ मात्राओं के तीन खण्डों से मिलकर २४ मात्राओं की एक पंक्ति बनेगी यथा—"सारे युग में/फैल गई यदि/तो क्या होगा ?" ऐसे ही ऊपर दिए गये उद्धरण (ख) की २४ मात्राओं की तीसरी पंक्ति को ८ और १६ मात्राओं की दो पंक्तियों में बाँटा जा सकता है यथा—

"आप अभी तक
मेरा प्रश्न विचार रहे हैं।"

मुक्त छन्द का प्रवाह छोटी-छोटी पंक्तियों के साथ ही लम्बी साँस से पढ़ी जाने वाली लम्बी पंक्तियों की भी माँग करता है। फिर मुक्त छन्द में यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि मात्राओं के किसी निश्चित क्रम का निर्वाह किया जाए, उसकी गति तो भावावेग और साँस की समन्वित गति से नियन्त्रित होती है। किन्तु एक 'कण्ठ विषयायी' की कविता से यह पुष्ट होता है कि मुक्त छन्द में रचना करने वाले कवि के भावावेग और साँस की समन्वित गति भी विशिष्ट लय या लयों का अनुसरण करती है। यह बात अनेक मुक्त छन्द कवियों की रचनाओं की लयों के तुलनात्मक अध्ययन से और भी स्पष्ट की जा सकती है।

---

१. वही, पृ० ८४

'एक कंठ विषपायी' में ऐसी भी अनेक पंक्तियाँ मिलती हैं, जो भाव और साँस की गति का समर्थन न करके उलटे गत्यवरोध पैदा करती हैं यथा—

(१) कहते हैं—
कार्य के लिए हैं हमें शान्ति की आवश्यकता[1]
(२) "क्या किसी अतिथि के
आवास की व्यवस्था में त्रुटि निकली ?[2]
(३) जिसका पा स्पर्श
मुखर हो जाती जड़ताएँ थीं।"[3]

ऊपर उद्धृत की गई पंक्तियों में नीरस गद्यात्मक अर्थ-बोध मात्र कराया गया है, इनमें न कविता की अनुभूति है और न कविता की भाषा। इसलिए पंक्तियों में वह प्रवाह भी नहीं है जो उक्त दोनों तत्त्वों की उस अन्विति से उत्पन्न होता है, जो बिम्बात्मक होता है।

"एक कंठ विषपायी" में, जैसा कि कहा जा चुका है, तुकों का प्रयोग पर्याप्त सफल है। तुकान्त पंक्तियों की प्रायः सभी पृष्ठों पर बहुलता है। कहीं-कहीं तुकें लम्बे अन्तराल के बाद मिलती हैं। कुछ तुकें समान अक्षरों से न मिलकर मिलती-जुलती ध्वनियों वाले अक्षरों से भी मिलती हैं यथा—त की थ से न की ण से और ष की श से।[4] कहीं-कहीं एक पात्र के कथन की अन्तिम पंक्ति की तुक दूसरे पात्र के कथन की एक या अनेक पंक्तियों से मिलती है। उदाहरणार्थ इन्द्र के कथन की अन्तिम पंक्ति के 'फँस गये' की तुक ब्रह्मा के कथन की पाँचवीं और सातवीं पंक्तियों के क्रमशः 'डस गये' और 'फँस गये' से जाकर मिलती है।[5] कहीं-कहीं मुक्त छन्द के बीच ही तुकान्त पंक्तियों में छन्द की भी एकता आ गयी है यथा—

हे कालकूट विषपायी स्रष्टा
अष्टनाम। २४ मात्राएँ
मैं करुण आपके चरणों में
करता प्रणाम।[6] २४ मात्राएँ

कहीं-कहीं तुकों का निर्वाह तीन-तीन शब्दों तक मिलता है और साथ ही मुक्त छन्द एक निश्चित छन्द में बँधता पाया जाता है—

"तुमने भी न्याय के नाम पर
यह नाटक रचना चाहा था

---

१. वही, पृ० १६
२. वही, पृ० २३
३. वही, पृ० ८६
४. वही, पृ० ११५, ८६, ८७, ८३,
५. वही, पृ० ५५
६. वही, पृ० ७५

नये सत्य की सृजन-व्यथा से
कतराना बचना चाहा था ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'एक कंठ विषपायी' में लय और तुकों की समन्वित संयोजना के कारण मुक्त छन्द कविता में भी छन्दबद्ध कविता की गन्ध सर्वत्र मिलती चलती है । 'एक कंठ विषपायी' की कविता से सिद्ध होता है कि मुक्त छन्द कविता का अर्थ छन्दों से नितान्त मुक्ति न होकर, भावावेग की क्षिप्रता या मन्थरता के अनुसार एक साथ कितने ही छन्दों की लयों को ग्रहण कर लेने की स्वतन्त्रता है । यदि एक कथन में ही वक्ता की मनःस्थिति अनेक उतार-चढ़ावों से गुज़रती है तो अनेक लयों का सामञ्जस्य स्वाभाविक है, साथ ही यह भी स्वाभाविक है कि कुछ दूर तक मनःस्थिति की एकतानता बनी रहे, ऐसी स्थिति में मुक्त छन्द निश्चित छन्द की लय पकड़कर कुछ दूर तक चलकर भी मुक्त छन्द ही बना रह सकता है ।

(५) **अभिनेयता**—अभिनय-कला एक आनुषंगिक कला है, जो अभिनेय नाट्य-कृति के कृतित्व को पूर्ण तादात्म्य और आत्मीयता के साथ उजागर करने में ही अपनी सार्थकता सिद्ध करती है । यदि कृति के कृतित्व में ही किसी प्रकार की असंगति या दरार है, तो अभिनेताओं का अतिरिक्त अभिनय-कौशल भी उसकी क्षति-पूर्ति में बहुत दूर तक सहायक नहीं हो सकता ।

पहले कहा जा चुका है कि 'एक कंठ विषपायी' का पहला दृश्य शेष तीन दृश्यों से अलग-थलग रह गया है । पहले दृश्य में कथावस्तु का घटनास्थल दक्ष का कक्ष है; दूसरे दृश्य में, यद्यपि स्थान तो वही रहता है, किन्तु सर्वहत को छोड़कर शेष सभी पात्र—इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा आदि नये हैं; तीसरे दृश्य में घटना का स्थल कैलास पर्वत का एक शिखर है और दूसरे दृश्य के पात्रों में शंकर और सम्मिलित हो गये हैं; चौथे दृश्य में घटना का स्थल ब्रह्मा के भवन का एक कक्ष है और 'शेष', नागरिकों और जनता की भीड़ के अतिरिक्त तीसरे दृश्य के ही पात्र चौथे दृश्य में भी आ गये हैं । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रस्तुत नाट्य-काव्य में कथावस्तु की अन्विति नहीं है । जिस प्रकार कथावस्तु दक्ष-लोक और देव-लोक में बिखरी है, उसी प्रकार कुछ पात्र दक्ष लोक के हैं; कुछ देवलोक के, किन्तु सर्वहत को छोड़कर दक्ष-लोक के सभी पात्र पहले दृश्य के अन्त के साथ समाप्त हो जाते हैं—यह पहले दर्शाया जा चुका है । कथानक और पात्रों के उक्त बिखराव के कारण नाट्य-काव्य के प्रभाव में भी विघटन आ गया है । एक ओर दक्ष-यज्ञ के विध्वंसक शंकर के कोपानल से दग्ध सर्वहत, जो कि जनता का प्रतीक कहा गया है, युद्ध की आशंका से त्रस्त है, तो दूसरी ओर जनता की भीड़ और उसके इन्द्र, वरुण आदि प्रतिनिधि ब्रह्मा से युद्ध का आदेश देने का आग्रह करते हैं । वस्तुगत, पात्रगत और प्रभावगत उक्त अन्तर्विरोधों के कारण 'एक कंठ विषपायी' का मंचीय प्रभाव भी बहुत सशक्त नहीं हो सकता है । यद्यपि कथानक में संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के स्थलों का अभाव नहीं है तथा शंकर और इन्द्र के अतिरिक्त दक्ष और वीरिणी भी पर्याप्त प्रभावशाली पात्र हैं, तथापि कथा-वस्तु के गठन के अभाव ने अभिनयात्मक प्रभाव को संदिग्ध बना दिया है ।

जैसा कि नाट्य-काव्य के प्रारम्भ में 'आभार-कथा' के अन्तर्गत दिए गये वक्तव्य से स्पष्ट है, दुष्यन्तकुमार ने अपनी ओर से अभिनेयता का पूरा ध्यान रखा है। रंगमंचीय प्रभाव की दृष्टि से ही उन्होंने तीसरे अंक को छोड़कर शेष सभी दृश्यों को दुबारा लिखा है।[1] अभिनय की सफलता को दृष्टि में रखकर ही उन्होंने कायिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय-सम्बन्धी उपयुक्त रंग-निर्देश दिये हैं, तथा ध्वनि और प्रकाश की व्यवस्था के सम्बन्ध में भी निर्देश दिये है। संवादों की भाषा भी बिम्बात्मक है तथा संवादों में विस्मयादि बोधक शब्दों, प्रश्नवाचक पंक्तियों, मार्मिक व्यंग्योक्तियों, बोलचाल के लहजे (टोनों), सूक्तियों, स्वगतोक्तियों, और लय तथा तुकों का भी यथोचित प्रयोग किया गया है। यदि कवि कथा-गायनों की पद्धति का भी प्रयोग करता, तो जैसा कि कहा जा चुका है, पहले दृश्य को हटाया जा सकता था और नाट्य-काव्य की पृष्ठभूमि को कथा-गायन के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता था। ऐसा करने से वस्तु, पात्र और प्रभाव से सम्बन्धित सभी अन्तर्विरोधों का परिहार हो सकता था तथा कृति में रंगमंचीय प्रभाव की सृष्टि के लिए अपेक्षित कलात्मक संयम भी आ सकता था।

मंचीय अभिनय में दृश्य-परिवर्तन के साथ स्थान-परिवर्तन और उसके अनुरूप रंग-सज्जा की जो कठिनाई उपस्थित हो सकती है, रेडियो के माध्यम से उसका सहज ही निराकरण हो जाता है। इस दृष्टि से 'एक कंठ विषपायी' रेडियो के माध्यम के लिए अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल पड़ता है।

(६) **उद्देश्य**—प्रत्येक कृति अपने सामयिक परिवेश से सम्बद्ध होती है। कृति का उद्देश्य चाहे जितना आदर्शात्मक या सार्वभौम हो, उसके मूल में सामयिक परिवेश और उससे सम्बन्धित समस्याएँ किसी-न-किसी रूप में निहित रहती हैं। 'एक कंठ विषपायी' की रचना चीन के भारत पर आक्रमण के उपरान्त हुई है। चीनी आक्रमण की आकस्मिकता ने हमारे शीर्षस्थ नेताओं को इतना उद्भ्रान्त कर दिया था कि वे युद्ध की चुनौती स्वीकारने में और सेनाओं को आक्रमण के लिए आदेश देने में भारी संकोच और संत्रास का अनुभव कर रहे थे। जिन नेताओं ने अपने मस्तिष्क के चारों ओर पंचशील, शान्ति और अहिंसा के वायव्य आदर्शों का मकड़जाल बुनकर उसे अपने देश की वास्तविक समस्याओं के व्यावहारिक समाधानों की दिशा में अग्रसर होने के अयोग्य बना दिया था, उनके लिए युद्ध की चुनौती को स्वीकार करने के पक्ष में निर्णय लेना दुष्कर था। 'एक कंठ विषपायी' का ब्रह्मा ऐसे ही कल्पित और वायव्य आदर्शों की दुहाई देने वाले राष्ट्र-नायक का प्रतीक है। वह जिस सत्य को अपनी मातृभूमि (देवलोक) से भी बढ़कर मानता है, उसका स्वरूप नितान्त अस्पष्ट सन्दर्भ-निरपेक्ष और मनगढ़न्त है—

> "देवलोक के नहीं
> सत्य के संरक्षक को जय मिलती है।"[2]

---

१. वही, (आभार-कथा), पृ० ५
२. वही, पृ० ६८

वे युद्ध के पक्ष में इन्द्र द्वारा दिए गये आत्म-सुरक्षा के तर्क को भी सत्य के पक्ष में नहीं मानते। उनका तर्क है कि प्राणों का बलिदान सत्य के लिए किया जाता है, युद्ध के लिए नहीं,[1] फिर चाहे युद्ध आत्म-सुरक्षा अथवा मातृभूमि की रक्षा के लिए ही क्यों न हो। वस्तुत: तर्क की इसी विचित्रता में समस्या की चुनौती को स्वीकारने से पलायन करने की प्रवृत्ति निहित है। ऊँचे-ऊँचे आदर्श बघारकर और फिर उनकी आड़ लेकर वास्तविक संघर्ष की कटुता से बच निकलने की कायरतायुक्त पाखण्डपूर्ण प्रवृत्ति नीचे की पंक्तियों में स्पष्ट परिलक्षित होती है—

"पर यदि मुझसे करो अपेक्षा
तो मैं अपने मुंह से
सेना को आदेश नहीं दे सकता।
मैं पहले ही बता चुका हूँ
यह सामूहिक आत्मघात है।
इसके पीछे कोई जीवन-दृष्टि नहीं,
केवल आग्रह है।"[2]

ब्रह्मा की कायरता और निष्क्रिय चिन्तन का पता तो तब और भी स्पष्ट रूप में लगता है जब वे शिव-सेना के आगे बढ़ने की सूचना पाकर भी सैनिकों के प्रति यह सन्देश भिजवाते हैं।

उनसे कहदो ठहरें
और निकट आने दें महादेव की सेना।[3]

जनता ऐसे नेता के विरुद्ध नारे लगाती और प्रदर्शन करती है। 'एक कंठ विषपायी' में लम्बी नीरस बहसों में फँसकर सही निर्णयों तक शीघ्रता से पहुँच पाने में असमर्थ प्रजातन्त्रीय पद्धति पर भी व्यंग्य किया गया है।[4] कवि कुल मिलाकर यह स्थापित करना चाहता है कि शक्ति और सक्रियता के बिना देश की सुरक्षा का कार्य सम्भव नहीं है। यदि युद्ध चिन्तन-प्रसूत कर्त्तव्य कर्म के रूप में ग्रहण किया जाय अर्थात् उसका उद्देश्य व्यापक राष्ट्रीय सुरक्षा और कल्याण हो, तो वह भी उन विशिष्ट परिस्थितियों में वरणीय सत्य का रूप ग्रहण करता है। इन्द्र, वरुण आदि नेताओं की भर्त्सना इसीलिए की गयी है, क्योंकि वे राजनीतिक सत्ता और प्रतिष्ठा अर्जित करने के निहित स्वार्थ की पूर्ति के लिए युद्ध को उपकरण बनाकर जनता को उसमें उलझाये रखना

---

१. "प्राणों की आहुति
युद्ध के नहीं
सत्य के लिए होती है।" वही, पृ० १०६

२. वही, पृ० १०५

३. वही, पृ० ९७

४. दे०, वही, पृ० ११७

चाहते हैं।[1] विष्णु को एक ऐसे चिन्तक, शसक्त और कर्मठ नेता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, जो लोक-मंगल की रचनात्मक प्रेरणा से अनुप्राणित होकर राष्ट्रीय समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। वे अनेक फलकों वाले बाण के द्वारा शिव के कन्धे पर लदे सती के शव के खण्ड-खण्ड करके शिव की मोहान्धता को भंग करते हैं; वही मोहान्धता जीवन-सन्दर्भों से जुड़कर सार्थक और रचनात्मक बनकर तीर्थों का रूप ग्रहण करती है। विष्णु का बाण शिव के चरणों में प्रणाम और चुनौती का वैकल्पिक अर्थ कहता है और शिव की प्रतिहिंसा प्रणाम में निहित श्रद्धा-भावना से शान्ति एवं तृप्ति ग्रहण करती है और युद्ध टल जाता है। यहाँ कवि का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि श्रद्धा और प्रेम से भी युद्ध टाला जा सकता है, किन्तु श्रद्धा और प्रेम दर्शाने वाले में युद्ध की चुनौती देने की भी शक्ति होनी चाहिए। बिना शक्ति के कोरे सिद्धान्तवाद और अहिंसा, प्रेम, शान्ति, मैत्री आदि का कोई अर्थ नहीं है।

संक्षेप में, कवि ने विशिष्ट परिस्थितियों में युद्ध को सत्य स्वीकार किया है। सर्वहत का व्यक्तित्व इस नाट्य-काव्य के उद्देश्य में भी विसंगति उत्पन्न करता प्रतीत होता है। जिस समय जनता युद्ध के लिए आदेश के पक्ष में प्रदर्शन कर रही होती है, वह वर्तमान शासकों और प्रजा की भर्त्सना करते हुए कहता है—

"पर जाने तुम कैसे शासक हो !
और जाने कैसी है तुम्हारी यह प्रजा,
जरा-जरा बातों पर चीखती-चिल्लाती है
शासन के दरवाजे पीटती है
नारे लगाती है
और शत्रु सेना की तरह घिरी आती है।"[2]

ब्रह्मा ने उसे 'अपने स्थिति-सन्दर्भों से कटा हुआ और वर्तमान के लिए भार स्वरूप' कहा है, जो उचित ही है, किन्तु पता नहीं दुष्यन्तकुमार ने उसे "युद्ध लिप्सा तथा युद्ध मनोवृत्ति का मारा हुआ," स्वीकार करते हुए भी 'आधुनिक प्रजा का प्रतीक' कैसे मान लिया है ?[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'एक कण्ठ विषपायी' में संवादों की सुन्दर योजना है, भाषा बिम्बात्मक और व्यंजक है, किन्तु कथानक और कथ्य के सुचिन्तित गठन के अभाव में पात्रों और परिस्थितियों में एक प्रकार का बिखराव-सा आ गया है, जो प्रभावान्विति में बाधक सिद्ध हुआ है। यदि कवि सम्बद्ध पौराणिक प्रसंग का मन्थन अन्धायुग को दृष्टि में न रखकर स्वतन्त्र रूप से करता तो वह निश्चय ही रचनात्मकता के अपेक्षाकृत उच्चतर स्तर को अधिगत कर पाता। कथा-गायन की पद्धति भी उक्त नाट्य-काव्य में अपेक्षित कसाव ला सकती थी। यों इस कृति में

---

१. वही, पृ० १२२-२३
२. वही, पृ० ११०
३. दे० वही (आभार-कथा), पृ० ५

नाटकीय और काव्यात्मक तत्त्वों का अभाव नहीं है, लय और तुकों में अभिव्यंजना की सामर्थ्य उजागर हुई है, बस चिन्तन-प्रसूत रचनात्मक गठन के अभाव ने प्रस्तुत नाट्य-काव्य के प्रभाव को आघात पहुँचाया है। फिर भी इस कृति के दीर्घ कलेवर में उपलब्ध अनेक नाटकीय तत्त्वों और मार्मिक काव्यात्मक प्रसंगों के कारण यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह अन्धायुग के बाद हिन्दी की नयी कविता की सशक्त नाटकीय काव्य-कृति है।

अध्याय ६

उत्तरप्रियदर्शी : रूप तथा अभिव्यंजना

(क) **सामान्य परिचय**—'उत्तरप्रियदर्शी' सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' द्वारा रचित नाट्य-काव्य है। यद्यपि इसमें एक भी 'गीति' का कहीं प्रयोग नहीं है, तथापि कवि ने इसे गतानुगतिकता के आधार पर 'गीति-नाट्य' नाम देना ही उचित समझा है। मनुष्य अपनी दर्पस्फीत अहंता के वशीभूत होकर दूसरों को यन्त्रणा देने के लिए जिस नरक की सृष्टि करता है, उसे स्वयं भी किसी-न-किसी दिन उस स्वरचित नरक की यातना भोगने को विवश होना पड़ता है। इसी सामान्य सत्य की उपलब्धि कवि को कलिंग के प्रतापी विजेता अशोक के जीवन से सम्बद्ध उस पुराख्यान से हुई है, जिसके अनुसार यमराज के नरक से प्रेरित दर्प-स्फीत सम्राट् अशोक ने एक परम नृशंस व्यक्ति को खोजकर एक नरक बनवाया था। अज्ञेय के अनुसार पाँचवीं शताब्दी के चीनी यात्री फाह्यान और सातवीं शताब्दी के दूसरे चीनी यात्री ह्यु एन्त्साङ्ग द्वारा लिखित यात्रा-विवरणों से अशोक-विषयक उक्त प्रसंग की पुष्टि होती है।[1] कवि ने इन दोनों चीनी यात्रियों के भारत-यात्रा से सम्बन्धित विवरणों के अंश उद्धृत करके इस प्रसंग की पुष्टि की है।[2] उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में अंग्रेज सैनिक, पुरातत्त्व-प्रेमी वैडेल ने पाटलिपुत्र में जो खुदाई कराई थी, उसमें उसे ऐसे स्थलीय अवशेष मिले थे जो फाह्यान और ह्यु एन्त्साङ्ग के वर्णनों से मेल खाते थे।[3]

(ख) **रूप और अभिव्यंजना की दृष्टि से पर्यालोचन**—उत्तरप्रियदर्शी की रचना में कवि ने नाटकीय और काव्यात्मक तत्त्वों का समन्वय किया है। रूप और अभिव्यंजना की दृष्टि से कवि को इस कृति की रचना में कहाँ तक सफलता मिली है, यही प्रस्तुत अध्याय का विवेच्य है।

(१) **कथानक**—जब सम्राट् अशोक पूर्व-जन्म में बालक थे और पथ की धूल से खेल रहे थे, तब शाक्य बुद्ध उधर से भिक्षा माँगते हुए निकले।[4] बालक ने मुदित-मन एक मुट्ठी धूल उठाकर उन्हें दे दी।[5] बुद्ध ने धूल ग्रहण की और फिर उसे धरती पर ही

---

१. अज्ञेय, **उत्तरप्रियदर्शी**, (प्रेरणा), पृ० ७
२. वही, (अशोक के नरक की कथा), पृ० ११-१३
३. वही, (प्रेरणा), पृ० ७-८
४. अज्ञेय, **उत्तरप्रियदर्शी**, पृ० १६-२०
५. वही, पृ० २१

डाल दिया।[1] इसी दान का फल बालक को यह मिला कि कालान्तर में वह जम्बू द्वीप का राजा हुआ। इसी सम्राट् अशोक ने कलिंग-लक्ष्मी का घर्षण करते हुए युद्ध-भूमि में शोणित की धारा प्रवाहित की।[2] विजय-दर्प से दीप्त अशोक जिस समय चारणों और वन्दीजनों के मुख से अपना यशोगान सुनने में लीन है, तभी उसे असंख्य स्वरों का चीत्कार सुनाई पड़ता है और पराजित, ध्वस्त, किन्तु दुर्विनीत, शत्रुओं के प्रेतों का दल अपनी ओर बढ़ता हुआ दिखायी पड़ता है।[3] राजा इस प्रेत-उपद्रव को शासित करने के लिए नरक-यातना देने की प्रतिज्ञा करता है।[4] प्रेतों के यमराज राजा के नरक-लोक से प्रेरित सम्राट् अशोक ने अपने मन्त्रियों को आज्ञा दी कि ऊँची दीवारों से घिरे एक ऐसे नरक का निर्माण करें जिसमें उसके आदेशानुसार प्रेत-शत्रुओं को यन्त्रणा दी जा सके।[5] मन्त्रियों के यह उत्तर देने पर कि कोई परम दुष्ट व्यक्ति ही नरक का निर्माण कर सकता है, राजा पैशाचिक वृत्तियों वाले दीर्घकाय विकराल व्यक्ति 'घोर' को नरक के निर्माता और शास्ता के रूप में नियुक्त करता है और उसे एकान्त में आदेश देता है कि यदि वह स्वयं भी नरक की सीमा में आये तो उसे भी अन्य दुष्टों की भाँति कठोर यन्त्रणा दी जाये।[6] सत्ता के नशे में मतवाला 'घोर' इस परिकल्पना मात्र से आनन्द-विभोर हो उठता है कि यदि प्रियदर्शी अशोक भी उसके नरक की सीमा में आ जाये, तो वह उसे भी घोर यातना देने में समर्थ होगा।

एक भिक्षु बढ़कर नरक-सीमा में प्रवेश करता है। नरक के गण उसे पकड़ कर यन्त्रणा देने लगते हैं और उसे खौलते कड़ाह में फेंक देते हैं, किन्तु भिक्षु के चेहरे पर अखण्ड शान्ति का भाव बना रहता है। आग बुझ जाती है, कड़ाह ठण्डा हो जाता है और उसके बीच में कोकनद कमल खिल उठते हैं।[7] नरक के गण दौड़कर राजा को नरक में घटित इस चमत्कार की सूचना देते हैं। अशोक अपने अमोघ प्रतिभू—घोर—द्वारा शासित नरक की विफलता की सूचना से क्षुब्ध हो उठता है और गणों के आग्रह पर नरक में प्रवेश करता है। घोर के आदेश से नरक के गण राजा पर कशाघात करते हैं, जिससे वह चीत्कार कर उठता है।[8] नारकीय यन्त्रणा से पीड़ित सम्राट् घोर की सत्ता को चुनौती देता है, किन्तु घोर उसकी प्रतिश्रुति का स्मरण दिलाकर उसे अपनी स्फीत अहंता का उचित दण्ड भोगने का आह्वान करता है। घोर के प्रहार से पीड़ित राजा अन्त में भिक्षु के सामने गिर पड़ता है।[9] वह भिक्षु से नरक में अवस्थित होने पर भी

---

१. वही, पृ० २१
२. वही, पृ० २७
३. वही, पृ० ३५
४. वही, पृ० ३७
५. वही, पृ० ४१
६. वही पृ० ४६
७. वही, पृ० ५३-५४
८. वही, पृ० ५६-५७
९. वही, पृ० ५८-५९

नरक-मुक्त रहने का कारण जानना चाहता है। भिक्षु उसे समझाता है कि 'अहंकारजन्य नरक का जहाँ स्रोत है, वहीं पारमिता करुणा का भी उद्गम-थल है। अहंता के जागने से नरक की प्राचीरें उठ खड़ी होती हैं तथा करुणा के जागने से मानव बन्धन-मुक्त हो जाता है'।[1] भिक्षु के धर्मोपदेश से राजा के मन में करुणा जाग उठती है और वह बन्धन-मुक्त हो जाता है।

उत्तरप्रियदर्शी के कथानक पर विचार करने से कई निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। पहली बात तो यह है कि कथानक संक्षिप्त और गठित है, किन्तु किसी कथानक की संक्षिप्तता और गठन ही उसे नाटकीय कार्य-व्यापार और काव्यात्मक संवेदनशीलता प्रदान करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। उत्तरप्रियदर्शी का कथानक उक्त गुणों से युक्त होने के साथ ही सीधा और सपाट है : उसमें वह कटाव नहीं, जो किसी कृति को एक साथ ही उत्कृष्ट नाटकीय और काव्यात्मक रूप प्रदान करता है। कथानक में कई स्थलों पर जटिलता और मनोद्वन्द्व की स्थिति उभारने की गुंजायश थी, किन्तु कवि उन सारी सम्भावनाओं का उपयोग नहीं कर सका है। प्रियदर्शी के प्रेत-शत्रु उसके तन में एक फुरहरी जगा कर रह जाते हैं,[2] मन पर उनकी कोई गम्भीर प्रतिक्रिया नहीं होती। प्रियदर्शी के नरक-पाश में ग्रस्त होने की सम्भावना मात्र से दम्भी घोर के मन की प्रतिक्रियाओं को तो सफलतापूर्वक उभारा गया है, किन्तु घोर के द्वारा यन्त्रणा दिये जाने पर प्रियदर्शी के मन में क्षोभ, पीड़ा, विवशता, आत्मग्लानि और प्रायश्चित्त की जिस मिश्रित प्रतिक्रिया का उदय होना स्वाभाविक था, उसकी ओर कवि का ध्यान नहीं गया है। घोर के प्रहार से पीड़ित प्रियदर्शी भिक्षु के सामने गिरता है। भिक्षु के प्रताप से घोर का उठा हाथ रुक जाता है। भिक्षु की शरण में पड़े हुए प्रियदर्शी का उससे यह प्रश्न करना कि "तुम्हारे चारों ओर शान्ति यह कैसे ? वे सब क्या सच ही कहते थे स्खलित हो गया शासन ? भंग हुई मर्यादा ?"[3] कुछ अजीब-सा लगता है। फिर नरक-यन्त्रणा से गुजरने के बावजूद भी प्रियदर्शी मानसिक स्तर पर नरक की पीड़ा भोगता हुआ भोगी हुई अनुभूति के इस स्तर तक नहीं पहुँचता है कि उसे यह प्रतीति हो कि उसके भीतर का नरक ही उसके बाहर का नरक है, जो उस पर हावी हो रहा है। जो आत्मानुभूति के स्तर पर घटित होता नहीं दिखाया जा सकता, उसका बोध-मात्र प्रियदर्शी को भिक्षु द्वारा इन शब्दों में कराया जाता है—

"यम की सत्ता
स्वयं तुम्हीं ने दी उसको
तुम हुए प्रतिश्रुत
एक समान अकरुणा के बन्धन में
नरक ! तुम्हारे भीतर है वह।[4]

---

१. वही, पृ० ६१-६२
२. वही, पृ० ४१
३. वही, पृ० ५९
४. वही, पृ० ६१-६२

कथानक के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि भिक्षु का प्रसंग अति-अलौकिक होने के कारण आज के जटिल बोध के युग में अविश्वसनीय मालूम पड़ता है। यद्यपि पुस्तक के आवरण-पृष्ठ पर उत्तरप्रियदर्शी की कथा को "भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में आधुनिक युग बोध की अत्यन्त सशक्त प्रतीक कथा" कहा गया है, तथापि उपर्युक्त प्रसंग में ऐतिहासिकता की अपेक्षा पौराणिक कल्पना ही अधिक प्रमुख हो गयी है। यदि अशोक को दर्पस्फीत अहंता की विकृतियों का और भिक्षु को निर्विकार, करुणा-प्लावित स्थितप्रज्ञ मानव का प्रतीक मानते हुए इस नाट्य-काव्य की कथा की प्रतीकात्मक सार्थकता को सही मानें, तो मानव-स्वभाव सन्दर्भ-निरपेक्ष अच्छाई और बुराई के सीमित कटघरों में बन्दी होकर रूढ़ और शुष्क सैद्धान्तिक या आदर्शवादी रूप ग्रहण करता प्रतीत होता है।

तीसरी बात यह है कि कथानक के अधिकांश भाग को पात्रों के माध्यम से विकसित न करते हुए संवादों के द्वारा सूचित मात्र कराया गया है। संवादकों द्वारा सूचित कथा-भाग में न नाटकीयता का समावेश हो पाया है और न ही कवित्व का।

कथानक का चयन कवि की सूझ-बूझ का परिचय अवश्य देता है, किन्तु कवि इस कथानक की सम्पूर्ण सम्भावनाओं का सही उपयोग नहीं कर सका।

(२) **पात्र और चरित्र-चित्रण**—प्रस्तुत नाट्य-काव्य में तीन प्रमुख पात्र हैं—प्रियदर्शी (अशोक), घोर (यम) और भिक्षु। चौथा पात्र है मन्त्री, जो चार बार में केवल १५ शब्द बोल कर उलटे पैर पीछे हट जाता है।[1] इन पात्रों के अतिरिक्त चार-पाँच भिक्षुवेशी **संवादक** हैं, जो पारस्परिक वार्त्तालापों से केवल कथानक को आगे बढ़ाने का काम करते हैं। पात्रों के उपर्युक्त परिचय से स्पष्ट है कि तीन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त शेष पात्र कथानक की कड़ियों को जोड़ने वाले यन्त्र मात्र हैं। संवादक सभी संवादक मात्र ही हैं, उनका निजी व्यक्तित्व नहीं है। वे प्रियदर्शी के जीवन और चरित्र पर प्रकाश डालते हुए कथानक के क्रम को बनाये रखते हैं। साथ ही वे बीच-बीच में समवेत स्वर में "स्मरण करो, स्मरण करो" की ध्वनि गुंजरित करते हुए महात्मा बुद्ध और उनके 'पारमिता करुणा' के सन्देश का बार-बार स्मरण दिलाकर पुनरावृत्ति द्वारा समग्र नाट्य-काव्य के मध्य एक वातावरण की सृष्टि करने और उसे गहरा बनाने में सहायक हैं। ये अवान्तर पात्र व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि से नगण्य हैं, कवि ने इन्हें शिल्पगत उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया है। इससे एक निष्कर्ष यह निकलता है कि कथानक के अधिकांश भाग में उपर्युक्त पात्रों का विकास उनके वचनों और क्रियाओं के माध्यम से नहीं दिखलाया जा सका है। इससे दूसरा स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रमुख पात्रों के वचनों और क्रिया-व्यापारों को अस्वाभाविक रूप से सीमित रखा गया है। ऐसा सम्भवतः इसलिए किया गया है कि जिससे प्रत्येक पात्र को प्रतीकात्मक अर्थ दिया जा सके। इस प्रतीकात्मकता के निर्वाह के फेर में पड़कर ही प्रियदर्शी के मन का अन्तर्द्वन्द्व न तो प्रेत-शत्रुओं से

---

१. वही, पृ० ४१

आक्रान्त होने पर उभर पाता है और न ही घोर द्वारा यन्त्रणा दिये जाने पर। प्रियदर्शी के मन में अन्तर्द्वन्द्व की एक हल्की रेखा उस समय उठती प्रतीत होती है जब वह आतंकवादी आक्रान्ता के रूप में कलिंग-लक्ष्मी का निर्ममता से धर्षण कर चुकने पर भी अपने जन-जन के अनातंकित, उदार, सोल्लास वात्सल्य द्वारा अपने मन के कल्मष के परिष्कार की कामना करता है।[1] किन्तु यह क्षीण मनःस्थिति पुनः दर्पस्फीत अहंता का रूप ग्रहण कर लेती है। किसी स्थिति को भोगकर ही मानव-मन उससे उभर सकता है—सही मनोवैज्ञानिक स्थिति यही है। यदि मनुष्य निजी अनुभूति के स्तर पर ही किसी भोगी हुई स्थिति से उद्धार नहीं पा सकता, तो किसी बाहरी आदेश या उपदेश के द्वारा तो यह और भी असम्भव है। यदि वह बाहरी उपदेश से प्रेरित होकर ऐसा करने में समर्थ हो पाता है, तो भी उसे पीड़ा और प्रायश्चित्त की अनुभूति से होकर गुजरना पड़ता है। दोनों स्थितियों में अन्तर्मन्थन की पूरी प्रक्रिया घटित होती है। जो प्रियदर्शी, नरक के खौलते हुए कड़ाह में फेंके जाने पर भी, भिक्षु के उससे अप्रभावित रहने पर शासन को स्खलित और मर्यादा को भंग हुई समझता है[2] और यह कामना करता है कि "यम के शासन को अमोघ रहना ही होगा," वही भिक्षु द्वारा यह बोध कराये जाने पर कि "नरक ! तुम्हारे भीतर है वह, वहीं जहाँ से निःसृत पारमिता करुणा में उसका अघ घुलता है·····"[3] तुरन्त प्रणत होते हुए कह उठता है—"कल्मष-कलंक धुल गया आह !"[4] यह ही नहीं, उसके बन्धन खुल जाते हैं, करुणा फूटने लगती है, आलोक झरने लगता है और वह मुक्त होकर 'नमो बुद्धाय' का उद्घोष करने लगता है।[5] जिस आदर्श-भावना को उसके भीतर से सहज अनुभूति के मार्ग से उदित होना चाहिए था, उसी के प्रतीक-रूप भिक्षु के समक्ष प्रियदर्शी को प्रणत होने को विवश किया गया है। विवश इसलिए, क्योंकि प्रणत होने से पूर्व दर्पस्फीत, शत्रुजय, परमेश्वर, राज-राजेश्वर, सर्वदम प्रियदर्शी के अन्तर्मन्थन का अपेक्षित क्रम नहीं दिखलाया गया है। सम्भवतः ऐसा करके कवि ने करुणा-मूर्ति और स्थितप्रज्ञ भिक्षु के प्रतीकार्थ के निर्वाह की चेष्टा की है। भिक्षु का पारमिता करुणा और दिव्य प्रभाव से युक्त व्यक्तित्व लौकिक की अपेक्षा अलौकिक ही अधिक दिखलायी पड़ता है। उसके दिव्य चामत्कारिक प्रभाव से नरक की ज्वालाएँ शान्त हो जाती हैं और खौलते हुए कड़ाहों में कोकनद कमल खिल उठते हैं।[6] ऐसा व्यक्तित्व मानवीय दुर्बलताओं से सर्वथा परे होने के कारण कल्पित प्रतीत होता है, साथ ही उसके चरित्र में किसी प्रकार की जटिलता या द्वन्द्वात्मक स्थिति नहीं आ सकती। वह द्वन्द्वातीत

---

१. वही, पृ० ३२
२. वही, पृ० ५६
३. वही, पृ० ५५
४. वही, पृ० ६४
५. वही, पृ० ६४-६५
६. वही, पृ० ५४

और निर्विकार होने के कारण स्वभाव के एक निश्चित स्तर और क्षेत्र में सीमित होता है। आज के युग में ऐसे व्यक्तित्व के अंकन की सार्थकता सन्दिग्ध है, क्योंकि ऐसा ठण्डा, रूढ़, कल्पित व्यक्तित्व आज के मनुष्य के जटिल मानस में पैठने की क्षमता तो रखता ही नहीं, साथ ही शील-वैचित्र्य के आधार पर प्राचीन युग में जिस चामत्कारिक प्रभाव की सृष्टि किया करता था, वह भी आज नहीं कर पाता है। इस विषय में यही कहा जा सकता है कि प्रतीक-पात्रों की योजना वहीं तक उपयोगी है; जहाँ तक वे रूढ और वर्गीकृत, सीमित अर्थों के वाहक न होकर, जीवन-सापेक्ष लचीलेपन और अर्थ-व्यंजकता से युक्त हों। इस दृष्टि से **घोर** का चरित्र अपेक्षाकृत अधिक सशक्त और स्वाभाविक बन पड़ा है। इस लघुकाय नाट्य-काव्य में जो भी नाटकीय काव्यात्मक उत्कर्ष के कतिपय स्थल आ पाये हैं, उनमें से अधिकतर घोर के क्रिया-व्यापार और कथनों से सम्बन्धित हैं। अपनी सीमा में आत्यन्तिक, नियति-नियन्ता, दुर्निवार शास्ता घोर का करुणा-मूर्ति भिक्षु को भी नरक-यंत्रणा देना और उसमें असफल होने पर भी अपने निश्चित कार्य-क्रम को निभाते हुए प्रियदर्शी को भी नरक-पाश में बाँध कर यन्त्रणा देना स्वाभाविक ही है। किन्तु भिक्षु के अलौकिक प्रभाव से घोर का उठा हाथ रुक जाता है,[1] और अचकचाया-सा वह चारों ओर देखता है तथा पीछे हटता हुआ अदृश्य होता है।[2] बाद में वह भी मुक्त और गतशोक होकर कह उठता है "प्रियदर्शी अशोक! ओ, मुक्ति-स्रोत का वरण करो।"[3] घोर के हृदय-परिवर्तन में प्रियदर्शी के हृदय-परिवर्तन की अपेक्षा फिर भी कुछ-न-कुछ स्वाभाविकता मालूम पड़ती है, हालाँकि खौलते कडाह में कमल खिलने और प्रहार के लिए उठे हुए हाथ के रुक जाने की जो घटनाएँ हृदय-परिवर्तन के मूल में स्थित हैं, वे चामत्कारिक और अविश्वसनीय होने के कारण हृदय-परिवर्तन की स्वाभाविकता को भी सन्दिग्ध बना देती हैं।

वास्तव में, जब कोई कवि योजनाबद्ध रूप से अपने पात्रों को सत् और असत् के दो खानों मे बाँट देता है और चामत्कारिक घटनाओं की योजना द्वारा असत् पात्रों को सत् पात्रों के सम्मुख नत-मस्तक दिखलाकर असत् प्रवृत्तियों पर सत् प्रवृत्तियों की विजय दिखलाता है, तो उसके पात्र अति सरलीकृत, सपाट, लोक-बाह्य और अविश्वसनीय हो जाते हैं। प्रसाद जी के 'स्कन्दगुप्त' और 'अजातशत्रु' जैसे नाटकों में भी पात्रों का ऐसा ही वर्गीकरण मिलता है, किन्तु वहाँ पात्रों के हृदय-परिवर्तन का आधार लौकिक घटनाएँ ही हैं; अलौकिक या चामत्कारिक घटनाएँ नहीं। रामचरित मानस में तो सत् पक्ष के प्रतिनिधि राम भगवान् होते हुए भी अपनी अलौकिकता और चामत्कारिता के द्वारा असत् पक्ष के प्रतिनिधि रावण को अपने सम्मुख नत-मस्तक होने को बाध्य नहीं करते, वरन् अनेक बाधाओं और कष्टों को सहते हुए लम्बे जीवन-संघर्ष के बाद उसका

---

१. वही, पृ० ५९
२. वही, पृ० ६२
३. वही, पृ० ६६

विनाश करने में सफल होते हैं। राम और रावण के चरित्र की शक्ति उनके अलौकिक और मायावी होने में निहित न होकर, उनके जीवन और चरित्र के लोक-सापेक्ष होने में है। तुलसी चाहते तो रावण का राम द्वारा विनाश न दिखलाकर, उसे राम की अलौकिक शक्तियों के सम्मुख नत-मस्तक होकर राम की 'जय-जयकार' करते दिखा सकते थे, किन्तु इस प्रकार का हृदय-परिवर्तन स्वाभाविक न होता।

(३) **संवाद**—उत्तरप्रियदर्शी के प्रारम्भ में संवादकों के संवाद कथानक की सूचना देने के निमित्त नियोजित होने के कारण इतिवृत्तात्मक और गद्यात्मक हैं यथा—

(१) देवों का प्रिय प्रियदर्शी जब कभी दूसरे भव में
बालक था—अपने घर आँगन में मिट्टी से खेल रहा था—[1]

(२) मुट्ठी-भर धूल उठा कर
शिशु स्मितमुख, उदार
देता है।[2]

(३) धरती के भावी राजपुरुष के हाथों से मिट्टी लेकर
चौदह भुवनों के राजेश्वर
फिर धरती को ही दे देते हैं—[3]

उपर्युक्त तीनों उद्धरणों में नाटकीय व्यापारों की ऐसी बिम्बात्मक योजना नहीं है, जो काव्यात्मक संवेदना से संयुक्त हो। सीधा-सपाट गद्य तथ्य-निरूपण के स्तर तक सीमित है। यहाँ कवि की संवेदना उस स्तर तक नहीं उठ सकी है, जिसकी अभिव्यक्ति में भाषा और भाव के सभी अन्तर्वर्ती तत्त्व घनीभूत होकर एक प्रवाह और कसाव में बँधकर भाषा के गठन को गद्य से भिन्न एक नया और अन्तर्गुम्फित गठन प्रदान करते हैं। प्रारम्भ के लगभग चौदह-पन्द्रह पृष्ठों तक चलने वाले संवादकों के संवादों का उद्देश्य स्वयं संवादकों के चरित्र पर प्रकाश डालना न होकर प्रियदर्शी और भगवान् बुद्ध के चरित्र को प्रकाशित करना है। इसीलिए प्रारम्भ के पृष्ठों में न नाटकीय क्रिया-व्यापार ही अच्छी तरह जम सका है और न चरित्र-चित्रण ही। न ही इनमें कवित्व का सन्निवेश हो सका है। इसी प्रकार प्रस्तुत नाट्य-काव्य के अन्त के संवाद भी नीरस और उपदेशात्मक होने के कारण नाटकीय गति और काव्यात्मक संवेदना से शून्य हैं।[4] कहीं-कहीं संवादों की सहज विलम्बित गति गद्य और कविता के मध्य प्रवाहित होती हुई नाट्य-काव्य की मूल कारुण्य-धारा के अनुरूप सिद्ध हुई है। अनेक स्थानों पर कवि ने पूरे-पूरे संवादों या उनकी कुछ पंक्तियों की आवृत्ति द्वारा नाटकीय व्यापार को स्वाभाविक रूप देने के साथ ही उसके प्रभाव को भी सघन बनाने का

---

१. वही, पृ० १६
२. वही, पृ० २१
३. वही, पृ० २२
४. वही, पृ० ६५-६७

सफल प्रयत्न किया है।[1] 'स्मरण करो' तथा 'नमो बुद्धाय' पंक्तियों की आवृत्ति से तो सारे नाट्य-काव्य की पृष्ठभूमि में एक विशेष वातावरण का अनुरणन सुनायी पड़ता है। कुछ संवादों को प्रश्नात्मक कथनों की योजना से अधिकाधिक भाव-गर्भित और जीवन-सापेक्ष बनाया गया है।[2] संवाद संक्षिप्त हैं। प्रियदर्शी और घोर के कथनों का किंचित् लम्बा होना परिस्थिति की भावात्मकता के अनुरूप ही है। वस्तुतः इन्हीं किंचित् लम्बे कथनों में नाटकीयता और कवित्व के उन गुणों का सहज समावेश हुआ है, जिन पर यथास्थान आगे विचार किया जायेगा।

(४) **अभिव्यंजना**—कुछ स्थानों पर संवादों की भाषा बोलचाल की भाषा से जीवनी-शक्ति ग्रहण करती प्रतीत होती है,[3] तो कुछ स्थानों पर वह सामान्यीकरण की ओर बढ़कर सैद्धान्तिक शुष्कता और सन्दर्भहीनता में लय होती प्रतीत होती है।[4] "उनका सुख-दुःख यन्त्र-यातना-परितोषण-उत्पीड़न"[5] जैसी समास-बहुल बोझिल पंक्तियाँ भी कहीं-कहीं दिखलायी पड़ती हैं। 'उल्लम्बबाहु', 'निर्मर्याद प्लवन', 'मणि-माणिक्य-खनी', 'आक्षितिज', 'रक्ताग्नि-स्नात', 'प्रतिद्वन्द्वी', 'अशरीरी', 'अनुल्लंघ्य', 'आत्यन्तिक', 'नियति-नियन्ता', 'धारयित्री', 'तारयित्री', 'महार्हं', 'अतिनैर्विघ्न्य', 'प्रतिश्रुति', 'कमलासनस्थ', 'आप्लवित ज्योति' जैसे पचासों भारी-भरकम, कर्ण-कटु काव्य-विरोधी शब्दों की बहुलता जहाँ एक ओर संवादों को जीवन-रस से दूर ले जाती है, वहाँ पाठकों तथा अभिनेताओं के लिए उच्चारण की और श्रोताओं के लिए सुनने तथा समझने की समस्या भी उपस्थित करती है। 'आत्यन्तिक', 'अनुल्लंघ्य', 'आसमुद्र'

---

१. **वही**, पृ० ३६-३७, ६४-६६

२. **वही**, पृ० ५३, ५४-५५, ५९-६०, ६६

३. (१) "मेरे कोल्हू
उन्हें पेर लें
लाल कड़ाहों में मेरे, उनके अवयव
चटपटा उठें खा-खा मरोड़।" **वही**, पृ० ४७

(२) "इन्हें यन्त्रणा दूँगा मैं, जो प्रेत-शत्रु ये मेरे तन में
एक फुरहरी जगा रहे हैं
अपने शोणित की अशरीर छुअन से।" **वही**, पृ० ४१

४. (१) "कालचक्र घूमता रहे, युग बदलें, बीतें,
संसारों के बने-मिटें आवर्त्त असंख्य,
सृष्टि-लय, स्फार-संकुचन हों इतने—
होना भी अनहोने की एक क्रिया बन जाये।" **वही**, पृ० २४

(२) "और तथागत की लीला ?
चुक जाय सभी कुछ जहाँ
वहाँ, बस, वही शेष है।" **वही**, पृ० २३

५. **वही**, पृ० ४२

आदि अनेक शब्दों का तो एक नहीं, अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है। "यों रत्न-प्रसू हो रसा, पुण्य-प्रभवा हों"[1] में 'रसा' और 'पुण्य-प्रभवा' संस्कृत शब्द-रूपों का प्रयोग किया गया है।[2] 'स्वयमेश्वर' तो किसी प्रकार बनता ही नहीं है। 'स्वयम्' और 'ईश्वर' की सन्धि होने पर 'स्वयमीश्वर' रूप बनता है। "मेरे गण उनके उत्तप्त अथः शूलों में बेंध·····"[3] में प्रयुक्त 'अथःशूलों' शब्द शब्दकोश में कहीं नहीं है। 'आशीर्वत्',[4] 'एकमेव',[5] 'तारयित्री',[6] 'धारयित्री',[7] जैसे संस्कृत रूपों का प्रयोग भाषा की स्वाभाविकता तथा एक-रूपता को खण्डित करता है। 'पताका' के स्थान पर 'पताक'[8] शब्द का प्रयोग सर्वथा अनुचित है। शब्द-कोश में इस प्रकार का कोई शब्द नहीं है।[9] 'मिश्रित रंग' के अर्थ में 'मिश्रवर्णी रंग'[10] का प्रयोग उपयुक्त नहीं है क्योंकि वर्ण और रंग में कोई अन्तर नहीं है। "काल झंझा हो मृदुल बन गया चन्दनगन्ध समीकरण"[11] में 'समीरण' के स्थान पर सम्भवतः मुद्रण की भूल से 'समीकरण' छप गया है। "जिसके अवलोकित-भर से कट जाते हैं माया के पाश"[12] में 'अवलोकित' शब्द संस्कृत में विशेषण (देखा हुआ) के रूप में प्रयुक्त होने के अतिरिक्त 'चितवन' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।[13] यहाँ इसका प्रयोग 'चितवन' के अर्थ में ही हुआ है, किन्तु हिन्दी में इस प्रकार का प्रयोग अजीब-सा ही लगता है। "पर सन्ध्या की धीरे-धीरे गहराती अरुणाली"[14] में 'गहरा' विशेषण से गहरा करने और गहरा होने के अर्थ में 'गहराना' क्रिया बना कर 'गहराती' तो बनाया जा सकता है, किन्तु 'अरुणाई' और 'अरुणिमा' संज्ञाओं के पहले से ही मौजूद होने पर 'अरुणाली' बनाने की क्या आवश्यकता पड़ी? फिर तो 'तरुण' से 'तरुणाली' बनाना पड़ेगा। "मेरी ज्वाला की लपलप जीभें"[15] में 'लपलपाती' या 'लपलप करती' के स्थान पर

---

१. **वही**, पृ० २३
२. **वही**, पृ० २१
३. **वही**, पृ० ४७
४. **वही**, पृ० २२
५. **वही**, पृ० २६
६. **वही**, पृ० ५०
७. **वही**, पृ० ५०
८. **वही**, पृ० ३४
९. रामचन्द्र वर्म्मा, **मानक हिन्दी कोश** (तीसरा खण्ड), पृ० ३७६
१०. अज्ञेय, **उत्तरप्रियदर्शी**, पृ० ५०
११. **वही**, पृ० ५५
१२. **वही**, पृ० १८
१३. दे० चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा तथा पण्डित तारिणीश झा, **संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ**, पृ० १४६
१४. अज्ञेय, **उत्तरप्रियदर्शी**, पृ० ३१
१५. **वही**, पृ० ४६

केवल 'लपलप' से काम चलाने की चेष्टा की गयी है। यह ऐसे ही है जैसे कोई वेदना से छटपटाते हुए व्यक्ति को 'छटपट व्यक्ति' और टिमटिमाते हुए दीपक को 'टिमटिम दीपक' कहे। "नये साँकल के तालों पर संगीत कराहों का गुंजायमान"[1] में 'नये' यदि तालों का विशेषण है, तो 'साँकल के नये तालों' होना चाहिए और यदि 'साँकल' का विशेषण है, तो उसके स्थान पर 'नयी' होना चाहिए, क्योंकि 'साँकल' शब्द पुल्लिग न होकर स्त्रीलिग है। भाषा की व्याकरणगत कतिपय भूलों की ओर ध्यान आकृष्ट करने के उपरान्त, यहाँ काव्य-शास्त्रीय आधार पर उत्तरप्रियदर्शी का अभिव्यंजना-शैली के तत्त्वों की दृष्टि से पर्यालोचन उपयोगी होगा।

(क) **बिम्बविधान**—नाटकीय गति और काव्यात्मक संवेदना का सीधा सम्बन्ध बिम्वविधान से है। दृश्यों, घटनाओं, क्रिया-व्यापारों की मानसिक प्रतिक्रिया की—जिनमें उनकी कल्पना-शोधित प्रतिच्छाया के साथ उनके प्रति उद्बुद्ध संवेदना भी समाविष्ट रहती है—शाब्दिक अथवा कलात्मक अभिव्यक्ति बिम्ब-विधान है। इस प्रकार बिम्ब-विधान अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति का मूल आधार है। किसी कृति की कथावस्तु और उस कथावस्तु से लिपटी संवेदना ही उस कृति के बिम्ब-विधान की सजीवता को निर्धारित करती है। यदि इतिहासकार की तटस्थता से बौद्धिक या तथ्य-निरूपक आधार पर किसी कथानक का केवल बोध मात्र कराया जाय, तो बिम्बविधान यान्त्रिक या प्रतिलिपि-मूलक होगा। जब तक किसी कथानक को रागात्मक रूप में नहीं प्रस्तुत किया जायेगा, तब तक उस कथानक की सजीव बिम्बावली उपस्थित नहीं हो सकती। उत्तरप्रियदर्शी के प्रारम्भिक भाग में बिम्ब-विधान कथावस्तु की स्थूल रूपरेखा तक सीमित रहा है। "वृष-कन्धर, उल्लम्बबाहु उन्नत-ललाट, भ्रू कसे"[2] में 'हुलियानवीसी' मात्र है अर्थात् बिम्ब फोटोग्राफिक चित्रण से ऊपर नहीं उठ सका है।

कल्पना लौकिक अनुभूतियों के आधारों—रूप, रंग, गन्ध, स्पर्श, रस—के विविध सामंजस्यों के द्वारा नवीन बिम्बों की सृष्टि करती है। जब कवि अलौकिक सन्दर्भों या पात्रों की सृष्टि में प्रवृत्त होता है, तभी कल्पना अनुभूतियों के लौकिक आधारों—रूप, रंग आदि—से कटकर अरूप होने लगती है और तभी कवि झूठी या काल्पनिक अनुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करता है और पाठक का विश्वास खो बैठता है। निम्नलिखित अवतरण में करुणा के जिस रहस्यमय रूप का वर्णन किया गया है, वह किसी लोक-सन्दर्भ पर आधारित न होने के कारण अनुभूति-शून्य प्रतीत होता है :—

"पर एक करुणा की पहुँच है जो
गगन से खींच लाती है किरण वह
धाम जिसका
सब प्रतिज्ञाएँ गला दे। तोड़ दे भव-बन्ध।"

---

१. वही, पृ० ४८
२. वही, पृ० २७

नहला दे प्रभा में
मुक्त कर कूटस्थ उस आनन्द को जो
मुक्ति का ही स्वयम्भू पर्याय है।"[1]

बाद की दो पंक्तियों में मुक्ति के स्वयम्भू पर्याय, कूटस्थ आनन्द के मुक्त करने की जो बात कही गयी है, वह कल्पित आध्यात्मिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कौन-सी करुणा, कौन से गगन से, कौन-सी ऐसी किरण खींच कर लाती है, जिसका धाम कूटस्थ आनन्द को मुक्त करके प्रभा में नहला देता है? उपर्युक्त अवतरण में कोमल कान्त पदावली और सुन्दर प्रवाह के होते हुए भी करुणा की अनुभूति सन्दर्भ से कटे हुए शब्दों में उलझ कर अपनी ऊष्मा खो बैठी है।

भिक्षु के अलौकिक प्रभाव से नरक का प्रभाव निष्क्रिय हो जाता है। कवि ने नरक के प्रभाव की निष्क्रियता का बिम्ब लौकिक सन्दर्भों के द्योतक शब्द-प्रतीकों के माध्यम से उभारा है :—

"खौलते कड़ाहों पर से घटा घुमड़ते काल-धुएँ की छितरा गयी,..."[2]

कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने प्रतीकों के माध्यम से उत्कृष्ट भाव-बिम्बों को उभारा है यथा :—

"नरक-ज्वालाएँ
शमित हुई
उत्तप्त कड़ाहों में खिल उठे
कोकनद कमल?"[3]

'उत्तप्त कड़ाह' नारकीय यन्त्रणा का प्रतीक है और 'कोकनदकमल' उस हृदय का जिसमें पारमिता करुणा विराजमान रहती है।[4] किन्तु कठिनाई तब उपस्थित होती है, जब अलौकिक अर्थ इतना हावी हो जाता है कि सारा वर्णन प्रतीकात्मक न होकर अभिधात्मक ही मालूम पड़ने लगता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण में 'लाल कड़ाहों' का अर्थ 'लाल कड़ाह' ही है :—

"लाल कड़ाहों में मेरे, उनके अवयव
चटपटा उठें खा-खा मरोड़?
मेरे गण उनको उत्तप्त अयःशूलों से बेंध
उछालें, पटकें, रौंदें,
मानों झड़ते पत्ते नुच कर टूट टूट

---

१. वही, पृ० ५१
२. वही, पृ० ५३
३. वही, पृ० ५५
४. "अपने भीतर का पद्मकोश
सिंहासन पारमिता करुणा का। वही, पृ० ६३

अन्धड़ के आगे नाचें, निस्सहाय, निःसत्त्व
पिसें, हो मिट्टी, अर्थहीन !"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में नरक के लाल कड़ाहों में चटक कर टेढ़े पड़ जाने वाले अवयवों का बिम्ब बहुत ही वास्तविक प्रतीत होता है। इसमें रूप, रंग, ध्वनि और क्रिया का संश्लिष्ट बिम्ब उपस्थित किया गया है। ऐसी स्थिति में उत्तप्त कड़ाहों में कमल खिलने का उल्लेख प्रतीकात्मक न होकर अभिधात्मक मालूम पड़ता है और उस स्थिति में वह अविश्वसनीय ही ठहरता है। वस्तुतः लौकिकता और अलौकिकता के मध्य संचरण करने वाले कथानकों में अन्तर्विरोध की ऐसी स्थितियाँ आ ही जाती हैं। जायसी के पद्मावत में भी यह अन्तर्विरोध मिलता है, जिसमें पद्मावती कहीं परमात्मा प्रतीत होती है, तो कहीं लौकिक नायिका मात्र और कहीं पद्मावती-रत्नसेन का प्रेम दिव्य मालूम पड़ता है तो कही नितान्त मांसल।

अज्ञेय का ऐन्द्रिय बोध पर्याप्त सम्पन्न है। रूप, रस, गन्ध, ध्वनि, स्पर्श और क्रिया के पृथक्-पृथक् और संश्लिष्ट बिम्बों की योजना में उनको सफलता मिली है। "उमड़ा आता है चीत्कार असंख्य स्वरों का"[2] में ध्वनि को उमड़ने की क्रिया के सन्दर्भ से संयुक्त करके मूर्त रूप दिया गया है। 'उमड़ने' की क्रिया का सम्बन्ध समुद्र से है। जैसे समुद्र ज्वार के समय उमड़ता है, उसी प्रकार असंख्य स्वरों का चीत्कार उमड़ा आता है। इस प्रकार स्वरों के चीत्कार की गति को आकार भी मिल गया है। "ओ सौध-शिखर के स्वर्ण-कलश, रक्ताग्नि स्नात"[3] में रूप को रंगीन रूप में प्रस्तुत किया गया है। यों तो सभी अवान्तर बिम्ब रूप-बिम्ब के ही आश्रित रहते हैं, फिर भी अज्ञेय की रुचि रंग-बिम्बों की योजना में अधिक रमी है। कहीं-कहीं एक से अधिक रंगों के मेल से नये रंग तैयार किये गये हैं :—

"है यह चीवरों का रंग—
मैली धारयित्री धूल, उजली तारयित्री धूप का
यह मिश्रवर्णी रंग।"[4]

निम्नलिखित पंक्तियों में गन्ध, स्पर्श और क्रिया का गत्यात्मक बिम्ब अंकित किया गया है :—

—क्यों एक सुगन्धित शीतल
दुलराती-सी साँस
तुम्हारे चारों ओर बह रही है
जीवन्त कवच-सी"[5]

---

१. वही, पृ० ४७
२. वही, पृ० ३४
३. वही, पृ० ३६
४. वही, पृ० ५०
५. वही, पृ० ६०

उपर्युक्त बिम्ब में कोमल और कठोर तत्त्वों का सामंजस्य है। भिक्षु के चारों ओर बहती हुई सुगन्धित, शीतल, दुलराती-सी साँस कोमल होते हुए भी अपने प्रयोजन में जीवन्त कवच के समान कठोर है। 'साँस' की कोमलता को कवच के साथ उपमा से कठोरता में परिणत किया गया है। कहीं-कहीं कवि ने रूप-बिम्बों को कल्पना के संयोग से अद्‌भुत विवृति और प्रभविष्णुता प्रदान की है। "कालजिह्व ज्वालाओं"[1] में 'ज्वालाओं' के सामान्य बिम्ब के साथ "काल की जिह्वा वाली" विशेषण जोड़कर बिम्ब को विस्तार और भीषणता से युक्त कर दिया गया है। 'काल' अरूप है, किन्तु उसका भीषण प्रभाव सभी के अनुभव का विषय है। ऐसे सर्वभक्षी काल की लपलपाती जिह्वाओं की कल्पना ज्वालाओं के साथ संयुक्त होकर ज्वालाओं के बिम्ब को अत्यन्त प्रभावशाली बना देती है। फिर काल की लपलपाती जिह्वाएँ ही ज्वालाओं की लप-लपाती लपटें हैं। दोनों सन्दर्भ 'कालजिह्व, ज्वालाओं में एकान्वित होकर प्रभाव को गहनता और विस्तार देने में समर्थ हैं।

जिस प्रकार ज्ञात के सहारे अज्ञात का अनुमान लगाया जाता है, उसी प्रकार गोचर और रूपवान् के द्वारा अगोचर और अरूप को निरूपित किया जाता है। घोर के नरक में दम तोड़ती हुई कल्पना का बिम्ब इस दृष्टि से दर्शनीय है—

"सत्ता की मुट्ठी में जकड़ी
यहाँ
कल्पना
तोड़ रही है साँस।"[2]

रूपों की विधायिका होने पर भी कल्पना स्वयं में अरूप और अगोचर है। कवि ने उसी को लोक-सन्दर्भ से जोड़कर मूर्त रूप दिया है। कविता का क्षेत्र मूलतः मानव है और इससे भी आगे मानव का रागात्मक क्षेत्र है, जिसमें विविध सम्बन्धों और सन्दर्भों का समावेश रहता है। कवि अरूप और अगोचर वस्तुओं को भी सन्दर्भों और सम्बन्धों के इसी रागात्मक क्षेत्र में रखकर देखता और दिखलाता है। बिम्ब-विधान की भावोत्तेजकता का यही रहस्य है। यहाँ कवि ने 'कल्पना' को सत्ता की मुट्ठी में जकड़े दम तोड़ते मानव के सन्दर्भ में रखकर दिखलाया है। मानवेतर वस्तुओं, व्यापारों और विचारों को भी जब राग-संवलित मानवीय सन्दर्भों में रखा जाता है, तभी उस प्रवृत्ति का उदय होता है, जिसे मानवीकरण कहते हैं।

(ख) **प्रतीक योजना**—जैसा कि कहा जा चुका है, अज्ञेय ने उत्तरप्रियदर्शी को "भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में आधुनिक युग-बोध की अत्यन्त सशक्त प्रतीक कथा" बतलाया है। इसके पात्र भी प्रतीकात्मक हैं। पात्रों की प्रतीकात्मकता के विषय में कथानक तथा 'पात्र और चरित्र-चित्रण' के अन्तर्गत संक्षेप में विचार किया जा चुका है।[3]

---

१. वही, पृ० ५३
२. वही, पृ० ४८
३. दे० प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, पृ० ३२४—३२७

उत्तरप्रियदर्शी में गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति के लिए कहीं-कहीं प्रतीकों का भी प्रयोग किया गया है। अज्ञेय ने प्रभामयी करुणा और उससे उत्पन्न विवेकबुद्धि के अर्थों में 'ज्योति' का प्रतीक-रूप में प्रयोग किया है।[1] आलोक भी विवेक-बुद्धि और करुणा का प्रतीक है।[2] 'नरक' मनुष्य की दर्पस्फीत अहंता की विकृतियों का प्रतीक है, 'साम्राज्य' अहन्ता की भोगवादी और विस्तारवादी प्रवृत्ति का प्रतीक होता है, 'कमल-कोश' करुणा के स्रोत-रूप अन्तःकरण का प्रतीक है।[3]

(ग) **अलंकार-विधान**—उत्तरप्रियदर्शी में जहाँ कवि ने गूढ़ भावों को मूर्तरूप में अंकित करने की चेष्टा की है, वहाँ अर्थालंकारों का समावेश मिलता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग तो प्रस्तुत कृति में पर्याप्त मिलता है। निम्नलिखित पंक्तियों में उपमा के साथ ही अनुप्रास और मानवीकरण का भी समावेश हुआ है—

> मुग्ध नील नलिनी से अपने
> नयनों से
> ओ रात !
> नखत-नीहार-धुला उजला दुलार
> कब दोगी ? कब ?[4]

यहाँ रात के नयनों की उपमा 'मुग्ध नील नलिनी' से दी गई है। वस्तुतः अलंकार-विधान का उद्देश्य मूल भाव या वस्तु (उपमेय) के बिम्ब को निश्चित और स्पष्ट रूप देकर उभारना होता है, जिससे कि वह सहृदय-संवेद्य बन सके। यहाँ प्रश्न यह है कि रात के कौन से नेत्र हैं, जो 'मुग्ध नील नलिनी' जैसे हैं। यदि अँधेरे की आँखों के रूप में रात के नयनों की कल्पना की गई है, तो वह अत्यन्त दूरारूढ़ है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ कवि ने जिस उपमेय को बिम्बित करने की चेष्टा की है, उसका स्वरूप वस्तु-जगत् में तो है ही नहीं, कवि की कल्पना में भी स्पष्ट नहीं है। भिक्षु के चारों ओर बहती हुई जिस "एक सुगन्धित शीतल दुलराती-सी साँस" को 'जीवन्त कवच-सी"

---

१. "क्यों न इनको भी छुए वह ज्योति।" **वही**, पृ० ५०

२. "उतरो ज्योति !" उतरो ! मुझे भी आलोक दो।" **वही**, पृ० ५०

३. **"एक अहंता जगी-भव-पाश बिछे, साम्राज्य बने—**
प्राचीर नरक के वहीं खिंच गये;
जागी करुणा—मिटा नरक,
साम्राज्य ढहे, कट गये बन्ध,
आप्लवित ज्योति के कमल-कोश में
मानव मुक्त हुआ।" वही, पृ० ६२

४. **वही**, पृ० ३२

बतलाया गया है,[1] उसकी परिकल्पना भी लोक-बाह्य-सी प्रतीत होती है। यद्यपि, जैसा कि पहले कहा जा चुका है,[2] यहाँ प्रयोजन का सादृश्य है और रूप, गन्ध, स्पर्श और क्रिया की ऐन्द्रिय अनुभूतियों के संयोजन से बिम्ब स्पष्ट रूप में उभर सका है, तथापि यहाँ मूल बोध या संवेदना कवि-कल्पित और अविश्वसनीय ही है। जिस प्रकार रात के 'नील नलिनी से' नीले या काले (अँधियारे) नयनों की मूल कल्पना ही विचित्र है, उसी प्रकार भिक्षु के चारों ओर प्रवाहित सुगन्धित शीतल वायु की लौकिक अनुभूति होने के कारण इस प्रकार की साँस की धारणा हमारे मन में जागती तो है, किन्तु जब उसके मूल में अवस्थित इस अलौकिकता का बोध जागता है कि वह भिक्षु के रहस्यमय व्यक्तित्व का जादू है, तो मन एक चकपकाहट-सी अनुभव करके रह जाता है।

उत्तरप्रियदर्शी में रूपक अलंकार का प्रयोग भी कई स्थानों पर हुआ है। "कोड़े को ही करुणा का कीड़ा लग गया कहीं तो"[3] में अनुप्रास के साथ ही रूपक की भी योजना मिलती है। मन में करुणा का उद्रेक होते ही दुःख और अहंता का तिरोभाव हो जाता है। इस मानसिक स्थिति को कवि ने रूपक द्वारा इस प्रकार बिम्बित किया है—

अपने भीतर का पद्मकोश
सिंहासन पारमिता करुणा का
दुःख, अहंता का सागर
जिसके चरणों में खा पछाड़
हट-हट जाता है पीछे।"[4]

कविता वस्तु-स्थिति को कुछ कल्पना-रंजित रूप में बिम्बित करती है, किन्तु अति-कल्पित या अकल्पनीय रूप में नहीं। उपर्युक्त पंक्तियों में पारमिता करुणा के सिंहासन-रूपी पद्मकोश के चरणों में दुःखरूपी अहन्ता के सागर को पछाड़ खाकर पीछे हटता हुआ अंकित किया गया है। प्रश्न यह है कि क्या सागर में कमल होता भी है? यदि नहीं, तो सारी कल्पना का आधार ही ढह जाता है। यहाँ हमें उस युग की बात भुला देनी चाहिए जब क्षीर सागर में शेषशायी विष्णु की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ था, जिससे ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई थी।[5] किन्तु कवि ने कमलासनस्थ ब्रह्माजी से सम्बन्धित उसी पौराणिक कल्पना को आज के बुद्धिवादी युग में भी अपनी कल्पना का आधार बनाया है—

"आप्लवित ज्योति के सागर में
कमलासनस्थ

---

१. वही, पृ० ६०
२. दे० प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ० ३३३
३. वही, पृ० ५३
४. वही, पृ० ६३
५. दे०, सम्पा०, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी कथा-कोष, पृ० ११८

उस पारमिता करुणा को
स्मरण करो।"[१]

पौराणिक प्रसंगों और पात्रों का प्रतीकात्मक रूप में ही प्रयोग अधिक व्यंजक होता है और उसमें सृजनात्मक सम्भावनाएँ भी अधिक सुरक्षित रहती हैं, किन्तु पौराणिक कल्पनाओं का अनुकरण या अनुसरण कवि की निजी सृजन-क्षमता को कुण्ठित कर देता है।

"उमड़-उमड़ आते हैं, अविश्रान्त, ये अशमित प्रेत, तोड़कर मानों द्वार नरक कारा के ?"[२] में उमड़ने की क्रिया में नरक-कारा के द्वार तोड़ने की क्रिया की उत्प्रेक्षा द्वारा मूल क्रिया के वेग को तीव्रता प्रदान की गई है। उत्प्रेक्षा का इसी प्रकार का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है, जहाँ कवि ने घोर (यम) के गणों द्वारा शूलों से बेंधकर उछाले, पटके, रौंदे गये लोगों की उत्प्रेक्षा "नुच कर टूट-टूट अन्धड़ के आगे" निस्सहाय निःसत्व नाचते और पिसते-झड़ते पत्तों से की है।[३]

किसी भाव को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए हम प्रायः शब्दों को दोहरा दिया करते हैं। शब्दों को दोहराकर प्रभाव को घनीभूत कर देने की इस प्रवृत्ति को 'वीप्सा' कहते हैं। यह प्रवृत्ति आदर, घबराहट, आश्चर्य, घृणा, रोचकता आदि भावों की अभिव्यक्ति में प्रचुरता से पायी जाती है।[४] उत्तरप्रियदर्शी में वीप्सा अलंकार का प्रयोग अनेक स्थानों पर मिलता है।[५] वीप्सा अलंकार के प्रयोग से नाटकीय प्रभाव में अवश्य ही अभिवृद्धि हुई है। "स्मरण करो' की गूंज तो सारे नाट्य-काव्य की पृष्ठभूमि को एक विशिष्ट गहनता प्रदान करती है। ज्ञातृ-भेद से या विषय-भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन 'उल्लेख' अलंकारहै।"[६]

---

१. अज्ञेय, **उत्तरप्रियदर्शी**, पृ० ६३

२. **वही**, पृ० ३५

३. **वही**, पृ० ४७

४. देवेन्द्रनाथ शर्मा, **अलंकार मुक्तावली**, पृ० १७

५. (क) "एक अकेला, अद्वितीय
हाँ अद्वितीय
निर्द्वन्द्व ! अकेला ! एक।" अज्ञेय, **उत्तरप्रियदर्शी**, पृ० ३०
(ख) "पर सन्ध्या की धीरे-धीरे गहराती अरुणाली।" **वही**, पृ० ३१
(ग) "गूंजे ! गूंजे ! गूंजे !
बढ़ो गणों ! नाचो ज्वालाओ !
ऐंठन, टूटन ! तड़पन !
गूंजे ! नाचो !
नाचो ! नाचो ! नाचो ! **वही**, पृ० ४६

६. देवेन्द्रनाथ शर्मा, **अलंकार मुक्तावली**, पृ० ५१

उत्तरप्रियदर्शी में कई स्थलों पर 'उल्लेख' का भी प्रयोग मिलता है।[1] कुछ स्थलों पर साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग द्वारा अर्थ को गम्भीरता प्रदान की गई है। ऐसे स्थलों पर 'परिकर' अलंकार है।[2] "किंकर्त्तव्य, परास्त हुआ मेरा अमोघ प्रतिभू"[3] में 'अमोघ' प्रतिभू का परास्त होना विशेष अर्थ रखता है। यहाँ 'अमोघ' विशेषण साभिप्राय है। इसी प्रकार "परमेश्वर प्रियदर्शी का शासन व्यर्थ हुआ"[4] में 'परमेश्वर' का प्रयोग साभिप्राय है। "मुझ समदर्शी यम का कोड़ा सबको निर्मम"[5] में 'समदर्शी' विशेषण साभिप्राय प्रयुक्त है। समदर्शी होकर व्यक्ति प्रायः ममता का व्यवहार करता है, किन्तु इसके विपरीत, यम समदर्शी होकर सबके प्रति निर्ममता का व्यवहार करता है। जैसे कोई सबके प्रति ममता का व्यवहार करके समदर्शी हो सकता है, उसी प्रकार यम सबके प्रति निर्ममता का व्यवहार करके भी समदर्शी है। जहाँ दो बेमेल पदार्थों का सम्बन्ध बताया जाय या कार्य और कारण के गुण अथवा क्रियाएँ परस्पर विरुद्ध हों, वहाँ 'विषम' अलंकार होता है।[6] उत्तरप्रियदर्शी में विषम अलंकार का भी प्रयोग मिलता है।[7] "अतिनैर्विघ्न्य शत्रु बन जाता है साम्राज्यों की सत्ता का"[8] में विरोधाभास है। यदि किसी साम्राज्य में बहुत दिनों तक कोई विघ्न-बाधा उपस्थित न हो तो उस साम्राज्य के सत्ताधारी लोगों में प्रमाद आ जाता है जो उन्हें निकम्मा और निश्चेष्ट बना देता है। परिणाम यह होता है कि ऐसा साम्राज्य कुछ ही दिनों में प्रभावी शक्तियों द्वारा पराजित होकर छिन्न-भिन्न हो जाता है। इस प्रकार अति-नैर्विघ्न्य को साम्राज्यों की सत्ता का शत्रु कहना प्रथम दृष्टि में तो विरोधमूलक लगता है, किन्तु यहाँ वास्तविक विरोध न होकर विरोध का आभासमात्र

---

१. (क) "एक अहंता जहाँ जगी-भव-पाश बिछे, साम्राज्य बने
प्राचीर नरक के वहीं खिंच गये। अज्ञेय, **उत्तरप्रियदर्शी**, पृ० ६२
(ख) "युद्धान्त यहाँ यात्रान्त हुआ !
खुल गया बन्ध। करुणा फूटी !
आलोक झरा ! यह किंकर
मुक्त हुआ ! गत-शोक !" **वही**, पृ० ६४-६५

२. **वही**, पृ० १८, ४६, ५५
३. **वही**, पृ० ५५
४. **वही**, पृ० ५५
५. **वही**, पृ० ४६
६. देवेन्द्रनाथ शर्मा, **अलंकार मुक्तावली**, पृ० १२२

बाधा उपस्थित न हो तो उस साम्राज्य के सत्ताधारी लोगों में प्रमाद आ जाता है जो

है। कारण के रहते हुए भी कार्य का न होना विशेषोक्ति अलंकार है।[1] क्यों ज्वालाएँ नहीं छू रहीं तुमको ? नहीं सालते कशाघात यम के ?"[2] में कारण के होते हुए भी कार्य का न होना पाया जाता है। अतः यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है।

उत्तरप्रियदर्शी की प्रत्येक पंक्ति का विश्लेषण करके उसमें किसी-न-किसी अलंकार को खोज निकालना यहाँ अभिप्रेत नहीं है, किन्तु उपर्युक्त विवेचन से इतना तो अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि कवि को भावाभिव्यक्ति के अनेकानेक तरीकों की जानकारी है, जो भाव के अनुकूल यथास्थान प्रयुक्त हो गये हैं। उपमानों और उपमेयों के स्वरूप में कहीं-कहीं अस्पष्टता का कारण कथानक का पौराणिक स्वरूप है। यदि कवि कथानक के ऐतिहासिक और पौराणिक स्वरूप को आधुनिक जीवन-सन्दर्भ से जोड़ पाता, तो उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति के उपकरणों का स्वरूप भी लोक-सापेक्ष और सहज-संवेद्य हो जाता और उस समय पौराणिकता अपनी सीमाओं से निकलकर अधिक अर्थवती और अनुभूति-प्राण हो जाती।

(ग) **लय और तुक**—संवाद और अभिव्यंजना के अन्तर्गत लय के स्वरूप पर भी किंचित् विचार किया जा चुका है। वहाँ जिन गद्यात्मक उद्धरणों पर विचार किया गया है, उनमें कथानक तथ्य-निरूपण के स्तर से ऊपर नहीं उठ सका है। लय का सम्बन्ध अनुभूति या रागात्मक स्पन्दन से है, चिन्तन, विश्लेषण या तथ्य-निरूपण से नहीं। मुक्त छन्द में भी पंक्तियों को अव्यवस्थित होने की सुविधा नहीं दी जाती, वरन् अनुभूति के छोटे-बड़े स्पन्दन के साथ वे उसी अनुपात में व्यवस्थित ढंग से घट-बढ़ जाती हैं। पंक्तियाँ केवल शब्दों का ढेर मात्र नहीं होती और न ही शब्द पंक्तियों और उनमें निबद्ध अनुभूति से अलग-थलग अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में विशेषणों की भरमार होने पर भी प्रियदर्शी का न तो कोई स्पष्ट बिम्ब उभर पाता है और न कोई अनुभूति ही उभर पाती है। ऐसी स्थिति में इन पंक्तियों में लय खोजना निष्फल है—

"राजा आता है
जयी, अप्रतिम,
सर्वदम, देवानां प्रिय
प्रियदर्शी निःशत्रु
एकमेव राजेश्वर।"[3]

निम्नलिखित पंक्तियों में कवि कोमल कान्त पदावली की आलंकारिक योजना के फेर में पड़कर अनुभूति और उसके लयात्मक प्रवाह को नहीं साध सका है। इसीलिए पंक्तियाँ पढ़ने में कठिनाई उत्पन्न करती हैं—

---

१. देवेन्द्रनाथ शर्मा, **अलंकार-मुक्तावली**, पृ० ११७-११८
२. अज्ञेय, **उत्तरप्रियदर्शी**, पृ० ६०
३. अज्ञेय, **उत्तरप्रियदर्शी**, पृ० २९

"राजा प्रियदर्शी, जयी, वशी
वरमाल गले डाले कलिंग-लक्ष्मी की सद्यः कलित
कुसुम-कलियों की।"[1]

ऐसा नहीं है कि कवि लय के प्रति सजग नहीं है। दूसरी पंक्ति में वरमाल गले डाले ..." में गले के बाद 'में' का लोप लय बनाये रखने के लिए ही किया गया है, किन्तु पंक्ति के अन्त में 'सद्यःकलित' पर्वत के समान स्थित होकर सारे प्रवाह को अवरुद्ध किये हुए है। इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में से प्रथम पंक्ति का स्वरूप अनुभूति और लय की अन्विति से गठित न होकर शाब्दिक जोड़-तोड़ पर ही आश्रित है—

"हः ! उन्हें लौटना होगा। यह प्रमाद
यह प्रेत उपद्रव
शासित होगा।"[2]

इसी प्रकार निम्नलिखित चारों पंक्तियों को पृथक्-पृथक् ढंग से पढ़ना पड़ता है—

"उन्हे नरक !
मेरा शासन है अनुल्लंघ्य !
यन्त्रणा !
नरक चाहिए मुझको !"[3]

गद्यात्मकता और लयहीनता के और भी कतिपय स्थल उद्धृत किए जा सकते हैं, किन्तु सन्तोष यही है कि सर्वत्र ऐसी स्थिति नहीं है। यहाँ निर्बाध और सहज लय के कतिपय उद्धरणों पर विचार करना न्यायसंगत होगा। निम्नलिखित पंक्तियों में भावना के अनुरूप लय में उत्तरोत्तर आरोह है। पंक्तियों की लम्बाई भी क्रमशः बढ़ती गयी है। अन्तिम पंक्ति में तो ध्वनियों के मिश्रण से जैसे चीत्कार स्वतः साकार हो उठा है—

"स्निग्ध शान्ति को चीर
भंग कर मंगल गायन का सम्मेलन
उमड़ा आता है चीत्कार असंख्य स्वरों का ?"[4]

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में प्रियदर्शी की दर्पस्फीत अहंता का आक्रोश उत्तरोत्तर वेगमयी लयात्मक अभिव्यक्ति ग्रहण करता हुआ अन्तिम पंक्ति में एक झटके के साथ पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त होता है—

ओ लाल साँझ !
ओ नील निशा !

---

१. वही, पृ० २९-३०
२. वही, पृ० ३६
३. वही, पृ० ४१
४. वही, पृ० ३४

ओ जन-जन के घर-घर के शिखा-धूम !
ओ सौध-शिखर के स्वर्ण-कलश रक्ताग्नि-स्नात !
प्रियदर्शी नहीं सहेगा !"[1]

घोर के अधिकतर कथनों में भी लय का अक्षुण्ण प्रवाह प्राप्त होता है।[2] इसका कारण यह प्रतीत होता है कि घोर का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रखर है और कवि ने घोर की अनुभूति को लौकिक सन्दर्भों और बोल-चाल के संवेदना-स्नात शब्दों में सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है।[3]

अज्ञेय ने प्रस्तुत नाट्य-काव्य में मुक्त छन्द का प्रयोग किया है, किन्तु अनेक स्थलों पर तुकान्त पंक्तियाँ भी सुलभ हैं—

(१) "स्मरण करो-ओ स्मरण करो
उस दया-द्रवित को स्मरण करो···।"[4]

(२) "उस दया-द्रवित का वरण करो।
उस सतत करुण को शरण करो।"[5]

(३) पारमिता करुणा को नमन करो।
उस परम बुद्ध को शरण करो।"[6]

वस्तुतः एक ही मूल भाव को गहराने के लिए उपर्युक्त तुकान्त पंक्तियों का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं लम्बे कथनों के मध्य भी तुकान्त पंक्तियाँ मिलती हैं। यथा—

"मुझ समदर्शी यम का कोड़ा सबको निर्मम
यहाँ हाँक लाता है—जहाँ अशम।"[7]

---

१. वही, पृ० ३६
२. वही, पृ० ४७, ४८, ४९, ५३
३. (क) "मेरे पत्थर
उनको तोड़-तोड़कर पीसें,
मेरे कोल्हू
उन्हें पेर लें :
लाल कड़ाहों में मेरे, उनके अवयव
चटपटा उठें खा-खा मरोड़। वही, पृ ४७
(ख) "सत्ता की मुट्ठी में जकड़ी
यहाँ
कल्पना
तोड़ रही है साँस।" वही, पृ० ४८
४. वही, पृ० ५२
५. वही, पृ० ५४
६. वही, पृ० ६४
७. वही, पृ० ४६

कहीं-कहीं तुक दो-तीन या इनसे भी अधिक पंक्तियों के बाद जाकर मिलती है। उदाहरणार्थ संवादक १ के कथन के अन्तिम "माँगते भिक्षा" की तुक पाँच पंक्तियों के उपरान्त संवादक २ के कथन की अन्तिम पंक्ति के "कौतुक-भिक्षा" से मिलती है।[१] इसी प्रकार संवादक ३-४ के कथन की दूसरी पंक्ति के "अशेष हैं" की तुक चौथी पंक्ति के 'शेष हैं' से मिलती है।[२] कहीं-कहीं एक पंक्ति के अन्तिम शब्द की तुक दूसरी पंक्ति के प्रथम या मध्यवर्ती शब्द से जाकर मिलती है। इस प्रकार की तुकें भाव को सशक्त रूप में व्यक्त करने में सहायक सिद्ध हुई हैं।[३] ऐसे भी उदाहरण प्रस्तुत नाट्य-काव्य में मिलते हैं, जहाँ एक पंक्ति के प्रथम या मध्यवर्ती शब्द की तुक तीसरी, चौथी या पाँचवीं पंक्ति के अन्तिम शब्द से जाकर मिलती है।[४] कहीं-कहीं एक पंक्ति के प्रारम्भिक या मध्यवर्ती शब्द की तुक दूसरी पंक्ति के प्रारम्भिक या मध्यवर्ती शब्द से मिलती है।[५] कुछ पंक्तियों में तो समान तुक वाले शब्दों की योजना मिलती है।[६] एक स्थान पर तुक मिलती-जुलती ध्वनि वाले शब्दों में नियोजित की गयी है।[७] कहीं-कहीं

---

१. वही, पृ० २०

२. वही, पृ० २३

३. "कब घर-घर की धूम-शिखाओं का सोंधापन
ये आँखें आँजेगा ?
कब माँजेगा मेरे मन का कल्मष
मेरे जन-जन का वात्सल्य।" वही, पृ० ३२

४. (क) "उनको तोड़-तोड़कर पीसें
मेरे कोल्हू
चटपटा उठें खा-खा मरोड़।" वही, पृ० ४७

(ख) "कैसे तुम यहाँ ?
तुम्हारे चारों ओर
शान्ति यह कैसे ?" वही, पृ० ५६

(ग) "यह क्या सुनता हूँ ? विफल हुई यम-कशा ?
... ...
उत्तप्त कड़ाहों में खिल उठे
कोकनद कमल ?" वही, पृ० ५४

५. "सब प्रतिज्ञाएँ गला दे ! तोड़ दे भव-बन्ध
नहला दे प्रभा में।" वही, पृ० ५१

६. (क) युद्धान्त यहाँ यात्रान्त हुआ।" वही, पृ० ६४
(ख) मैली धारयित्री धूल, उजली तारयित्री धूप का।" वही, पृ० ५०
(ग) "नखत-नीहार धुला उजला दुलार।" वही, पृ० ३२

७. "कट जाते हैं
माया के पाश
जिसके चिर-अक्षोभ्य हृदय में अनुपल
लय पाते रहते हैं भव के अविरल ऊर्मि-विलास, वही, पृ० १८

भिन्न व्यंजनों में संयुक्त समान स्वरों के आधार पर ही तुकें मिलाई गयी हैं।[1] उपर्युक्त प्रकार की अन्त्यानुप्रास-हीन तुकों से निश्चय ही अनुभूति के प्रकाशन में सहायता मिली है। वे सभी प्रकार की तुकें नाट्य-काव्य के मध्य भाग में प्रायः प्रियदर्शी और घोर के कथनों में ही अधिक पायी जाती हैं। इसके आधार पर एक निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि जहाँ उक्त तुकों का समावेश हो गया है, वहाँ लय भी अजस्र और अनुभूतिपूर्ण है।

(५) **अभिनेयता**—उत्तरप्रियदर्शी एक रंगमंचीय नाट्य-काव्य है, इसका "पहला आरंगण नयी दिल्ली में त्रिवेदी कला-संगम के खुले रंगमंच पर ६ मई, १९६७ को निष्पन्न हुआ।"[2] नाटककार-कवि ने प्रस्तुत नाट्य-काव्य के प्रारम्भ में ही मंच-सज्जा के विषय में निर्देश दिया है, और साथ ही रंगमंच का विशद रेखाचित्र भी दिया है। कवि ने आहार्य अभिनय को दृष्टि में रखकर वेश-भूषा-सम्बन्धी निर्देश भी दिये हैं। घोर (यम) मुखौटा पहन कर प्रवेश करेगा, तथा अन्य सब पात्र साधारण मानव रूप में आयेंगे। प्रियदर्शी राज-वेश में, मंत्री पदानुकूल भूषा में और भिक्षु तथा संवादक-वृन्द सब भिक्षु-वेशी होंगे।[3]

यों तो उत्तरप्रियदर्शी में क्रिया-व्यापार का अभाव नहीं है, परन्तु प्रारम्भिक क्रिया-व्यापार मंचीय न होकर केवल 'सूच्य' मात्र है और वह जब मंचीय होकर उत्कर्ष पर पहुँचता है तो अन्त में अलौकिकता में पर्यवसित होता है। घोर और प्रियदर्शी के क्रिया-कलाप में द्वन्द्व और संघर्ष की नाटकीय स्थितियाँ विद्यमान तो हैं, किन्तु उन्हें और भी घनीभूत बनाया जा सकता था। कतिपय संवादों की भाषा भी कृत्रिम और बोझिल है। नरक-संगीत और नरक-ध्वनियों को उभारने के लिए ध्वनि-प्रभाव का प्रश्रय लिया जा सकता है। जैसा कि कहा जा चुका है, आधुनिक वैज्ञानिक युग में इस नाट्य-काव्य की प्रेषणीयता बहुत-कुछ सीमित और संदिग्ध ही है। इसकी पौराणिकता ही इस नाट्य-काव्य की दुर्बलता है, किन्तु आज के बौद्धिक युग में वह विषय-वस्तु की दृष्टि से एक नवीनता के रूप में प्रस्तुत होकर दर्शक में किंचित् कौतुक अवश्य उत्पन्न कर सकती है। हाँ, उसे रमाने और बौद्धिक दृष्टि से तृप्ति प्रदान करने की क्षमता उसमें नहीं है।

(६) **उद्देश्य**—उत्तरप्रियदर्शी में अज्ञेय ने उस मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध-सूत्र को खोजने का प्रयास किया है, जो अशोक के नरक-निर्माण, कलिंग-विजय, दर्पस्फीत

---

१. (क) संगीत कराहों का गुंजायमान
अविराम यहाँ अविराऽऽम। **वही**, पृ० ४८

(ख) शत्रु तुम्हारे-हार चुके जो
समर भूमि में गिरे
तुम्हारे पार्थिव शासन से तो
मुक्त हो गये।" **वही**, पृ० ४२

२. **वही**, पृ० ९

३. **वही**, पृ० १०

अहंता और उसके मोह-भंग के बीच रहा होगा और जिसके विषय में इतिहास मौन है, क्योंकि तथ्य-निरूपण से परे तथ्यों की पृष्ठभूमि में अवस्थित पात्रों के अन्तर्मन्थन का मनोवैज्ञानिक अंकन इतिहासकार के कार्य-क्षेत्र से बाहर की बात है। परिस्थितियों और उनके मूल में स्थित मनःस्थितियों के पर्यालोचन से प्राप्त निष्कर्षों के विषय में कवि का प्रश्न है कि "विजय-लाभ पर पहले अहंकार—फिर अहंकार के ध्वस्त होने पर नये मूल्य का बोध, नयी दृष्टि का उन्मेष-क्या यही सही, तर्क-संगत और सहज मनोवैज्ञानिक क्रम नहीं है ?"[1] वस्तुतः इस प्रश्न में कवि का उत्तर निहित है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी परिस्थिति से गुजर कर ही व्यक्ति उससे ऊँचा उठ सकता है। दर्प-स्फीत अहंकार-ग्रस्त मन नारकीय विकृतियों का कारण बनता है। किन्तु जब उसे स्वयं ही अपने द्वारा निर्मित नरक की ज्वाला में जलना पड़ता है, तो उसका विकार भस्म हो जाता है और वह निर्मल और निष्कलुष हो जाता है। किन्तु जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, अशोक पारमिता करुणा की मनःस्थिति तक स्वयं अपने मनस्ताप में तप कर नहीं पहुँच पाता है, वरन् उसकी अहंता परास्त होकर बाह्य आदर्श (भिक्षु) के सामने घुटने टेक देती है। मानसिक उदात्तीकरण की यह प्रक्रिया बहुत स्वाभाविक नहीं कही जा सकती। इसमें आदर्श मानसिक वृत्तियों के भीतर से ही विकसित नहीं होता, वरन् बाहर से आरोपित किया जाता है।

अपेक्षित उदात्तीकरण के अभाव में मनुष्य स्वयं ही अहंजन्य विकृतियों के नरक में झटपटाता रहता है। इस विकृतिजन्य छटपटाहट से आज का युग भी मुक्त नहीं है। अज्ञेय ने आज के नये सन्दर्भ में भी इस निर्मर्याद अहंता की विकृतियों से उत्पन्न दुष्परिणामों और दुर्गतियों के दर्शन किये हैं। इस दृष्टि से प्राचीन और अर्वाचीन में उभयनिष्ठता पायी जाती है, दोनों इस बिन्दु पर एक हैं। इसलिए कवि अतीत और वर्तमान में एक साथ स्थित होकर कहता है—

"क्यों यहाँ इतनी व्यथा है ? क्यों
मनुज यों जलें, टूटें, जिन्हें
जीना ही जलन था, साँस लेना छटपटाना-टूटना ?
क्यों न इनको भी छुए वह ज्योति"[2]

किन्तु बाहर से किसी ज्योति का छूना एक बात है और भीतर से किसी ज्योति का उगना दूसरी बात है। ज्योति की अभ्यर्चना करना[3] अलग बात है और उसे अपने ही अन्दर अधिगत करना उससे भिन्न है। कवि ने यह स्वीकार करते हुए भी कि "नरक की पहचान के बिना नरक-मुक्ति का कोई अर्थ नहीं,"[4] महात्मा बुद्ध और उनके

१. वही (प्रेरणा), पृ० ८
२. वही, पृ० ५०
३. "उतरो, ज्योति उतरो। मुझे भी आलोक दो।" वही, पृ० ५०
४. (क) पारमिता करुणा को नमन करो
उस परम बुद्ध को शरण करो।" वही, पृ० ६४
(ख) "ओ-मुक्त स्रोत को वरण करो।" वही, पृ० ६६

प्रतिनिधि भिक्षु को मुक्ति का वितरण करने वाली संस्था बना दिया है। कवि बौद्ध धर्म के करुणा-सन्देश का प्रचार करता-सा प्रतीत होता है। उपदेशों और आरोपित मूल्यों के प्रति विद्रोह करने वाले इस यन्त्र-युग में इस प्रकार के प्रचार की सार्थकता सन्दिग्ध है। इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि आज के विघटनशील विकृति-ग्रस्त जीवन में करुणा, प्रेम आदि शाश्वत मानव-मूल्यों की कोई महत्ता या आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता मूल्यों की खोज की इतनी नहीं है, जितनी उन्हें आज के जीवन के जटिल सन्दर्भों से नये रूप में इस प्रकार सम्पृक्त करने की है कि वे उन सन्दर्भों से ही विकसित होकर आएँ। स्पष्ट है कि मूल्यों को नये सन्दर्भों से संयुक्त करने का वह नया रूप प्राचीन युग के समान इतना सपाट और सरल नही होगा।

वस्तुतः इस नाट्य-काव्य में भिक्षु जैसे सन्दर्भहीन पात्र को लाने की आवश्यकता ही नहीं थी। प्रियदर्शी नरक की ज्वाला में जलते हुए स्वयं ही नरक-मुक्ति की उस वरणीय स्थिति को अर्जित कर सकता था, जो उसे भिक्षु द्वारा प्रदान की जाती है। ऐसा करने से प्रियदर्शी और घोर के अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष में जो बाधा भिक्षु के प्रवेश से पहुँची है, वह न पहुँच पाती और प्रस्तुत कृति कलात्मक दृष्टि से भी अधिक गठित होती। भिक्षु का व्यक्तित्व कथानक और कथ्य दोनों में ही दरार पैदा करता है। उत्तरप्रियदर्शी का सन्देश सही है, किन्तु उसे जिस ढंग से दिया गया है, वह बहुत कलात्मक, विश्वसनीय और प्रभावी नहीं हैं।

उत्तरप्रियदर्शी के रूपगत और अभिव्यंजनागत उपर्युक्त सभी तत्त्वों पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह एक द्वितीय श्रेणी का नाट्य-काव्य है। इसकी रचना नाट्य-धर्मी है और काव्यात्मक भी, किन्तु कथानक चरित्र-चित्रण, संवाद और अभिव्यंजना, अभिनेयता और सन्देश का ऐसा उत्कृष्ट अन्तर्गुम्फन इसमें नही है, जो किसी कृति को एक साथ ही नाटकीय और काव्यात्मक गुणों से सम्पन्न कर देता है। नाट्य-काव्य के मध्य भाग में प्रियदर्शी और घोर के संघर्ष में नाटकीय क्रिया-व्यापार गति पकड़ता है और तभी उससे सम्बद्ध काव्यात्मक संवेदना उभार लेती दिखलायी पड़ती है। तत्त्वतः वहाँ नाटकीय और काव्यात्मक उत्कर्ष एकान्वित होकर प्रकट हुआ है। इस कृति का प्रारम्भ सूचनापरक होने के कारण दुर्बल है तो अन्त अति-आदर्शात्मक होने के कारण अविश्वसनीय है।

अध्याय १०

अग्निलीक : रूप तथा अभिव्यंजना

(क) **सामान्य विवेचन**—भारतभूषण अग्रवाल द्वारा रचित प्रस्तुत नाट्य-काव्य का प्रकाशन जून, १९७६ में उनके दिवंगत होने के उपरान्त हुआ। भारतभूषण अग्रवाल में कवि के साथ ही नाटककार की प्रतिभा का भी सामंजस्य था, जिसकी पुष्टि उनके साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक युग में लिखित एकांकी 'युग युग या पांच मिनट' तथा गौतम बुद्ध के जीवन पर आधृत लघु नाटक पलायन' से होती है। राम और कृष्ण के पौराणिक-ऐतिहासिक चरित्रों के मानवीय रूपों के अन्वेषण के लिए नाटक लिखने की योजना पिछले तीन दशकों से लगातार उनके मन में थी।[1]

'अग्निलीक' कवि की पूर्ण कृति नहीं है। "उनके इस आलेख में कई दृश्य हैं जो क्रमबद्ध नहीं हैं—प्रारम्भ, अन्त और बीच के कुछ प्रसंग लिख लिए गये हैं, बाकी को अलग ढंग से पूरा करने का उनका विचार था।"[2] भारतभूषण स्वयं इस आलेख से सन्तुष्ट नहीं थे, उन्हें लगता था कि यह नाटक से अधिक खण्ड-काव्य हो गया है। वे इसे एक समर्थ काव्य-नाटक बनाने के लिए उत्सुक थे।[3] अग्निलीक के मुख-पृष्ठ पर इसे 'एक दृश्य-काव्य' नाम दिया गया है। यह नाम 'नाट्य-काव्य' का ही पर्याय प्रतीत होता है। नेमिचन्द्र जैन ने इसकी नाटकीय तथा काव्यात्मक सम्भावनाओं के संयुक्त स्वरूप को रेखांकित किया है।[4]

(ख) **रूप तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से अध्ययन**—

(१) **कथानक**—अग्निलीक की कथावस्तु राम-कथा के सीता-निर्वासन प्रसंग पर आधारित है। निर्वासन का प्रसंग प्रचलित वाल्मीकीय रामायण के उत्तर काण्ड में मिलता है। अधिकतर विशेषज्ञों की सम्मति के अनुसार रामायण का उत्तर काण्ड प्रक्षिप्त है। अतः मूल आदि-रामायण में यह प्रसंग नहीं था। इस निर्णय की पुष्टि महाभारत में उपलब्ध रामोपाख्यान से भी होती है, जिसमें सीता-त्याग का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। प्राचीन पुराणों—हरिवंश पुराण, वायु पुराण, विष्णु पुराण, तथा नृसिंह पुराण में भी सीता-निर्वासन का प्रसंग नहीं है। प्रचलित वाल्मीकीय

---

१. 'अग्निलीक' (नेमिचन्द्र जैन द्वारा लिखित भूमिका) पृ० ९
२. वही, पृ० ९-१०
३. वही, पृ० १०
४. वही, पृ० १०

रामायण में सीता के निर्वासन का कारण लोकापवाद बतलाया गया है। राम का मित्र भद्र सीता के कारण हो रही लोकनिन्दा की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए राम को जनता की प्रतिक्रिया से अवगत कराता हुआ कहता है, "लोग कहते हैं कि हमको भी अपनी स्त्रियों के विषय में यह (लोकापवाद) सहना होगा, क्योंकि जैसा राजा करता है प्रजा उसी का अनुसरण करती है।"[1] यह सुनकर राम लक्ष्मण को सीता को गंगा के दूसरी ओर छोड़ आने का आदेश देते हैं। लक्ष्मण सीता को रथ में बैठाकर तपोवन दिखाने के बहाने वन में ले जाते हैं और उन्हें वन में छोड़ आते हैं। यह कथा रघुवंश के चौदहवें सर्ग में भी मिलती है। वहाँ भद्र को राम का मित्र न बतलाकर गुप्तचर बताया गया है।[2] भवभूति के उत्तररामचरित में सीता-वनवास की कथा विस्तार से वर्णित है। वहाँ गुप्तचर का नाम 'दुर्मुख' लिखा गया है। कथासरित्सागर, भागवत पुराण, पद्मपुराण आदि ग्रन्थों में धोबी के प्रसंग को सीता-वनवास का कारण बतलाया गया है। आनन्द रामायण तथा हेमचन्द्र-कृत जैन रामायण में सीता-निर्वासन का कारण सीता द्वारा अंकित रावण का चित्र बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त तारा, भृगु और शुक्र के शापों को भी सीता-निर्वासन का कारण बताया गया है।[3]

अग्निलीक में गुप्तचर का नाम 'दुर्मुख' मिलता है जो निश्चय ही उत्तर-रामचरित से प्रेरित है। अग्निलीक के कथा-स्रोतों में उत्तररामचरित और प्रचलित वाल्मीकीय रामायण ही प्रमुख हैं, साथ ही कवि की विचारधारा पर आधुनिक जन-तान्त्रिक जीवन-दृष्टि और साम्यवाद का प्रचुर प्रभाव है। कवि ने पूरे प्रसंग को नवीन वैचारिक सन्दर्भ में रखकर नयी भास्वरता और अर्थवत्ता प्रदान की है।

अग्निलीक की कथा तीन दृश्यों में विभक्त है। पहले दृश्य में वाल्मीकि ऋषि के आश्रम के निकट एक रथ दिखलायी पड़ता है। रथवान अपने साथी राजपुरुष से वार्त्तालाप में संलग्न है। कदाचित् वे दोनों राम के आदेश से बनवासिनी सीता को लौटाने के लिए वाल्मीकि के आश्रम की ओर गये हैं, जिससे सीता राम द्वारा आयोजित अश्वमेध यज्ञ में उपस्थित सभी सभासदों के सामने अपनी सफाई देकर स्वयं को निष्कलंक सिद्ध कर सके। रथवान् को उस वनस्थली के दर्शन से सोलह वर्ष पुराना वह दृश्य स्मरण हो आता है जब वह लक्ष्मण के साथ निर्दोष सीता को आश्रम में छोड़कर गया था। सीता के बनवास के प्रसंग को लेकर रथवान और राजपुरुष में गम्भीर बहस छिड जाती है। भोला-भाला अनपढ़ रथवान् एक पागल गुप्तचर दुर्मुख के कहने पर निरपराध सीता को निर्ममतापूर्वक बनवास देने वाले, चक्रवर्ती बनने के साम्राज्यवादी हथकण्डों में संलग्न, प्रजा-पीड़क राम की नीतियों की कटु

---

१. **अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति।**
यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते॥ रामायण (७, ४३, १६)

२. **रघुवंश** (१४, ३१)

३. **विस्तार के लिए दे०, फादर कामिल बुल्के, रामकथा,** पृ० ६८६ से ७०३ तक

आलोचना करता है। राजपुरुष सरकारी नीति के अनुरूप राम के पक्ष का समर्थन करता है और उसे आश्वस्त करते हुए कहता है कि राम द्वारा आयोजित अश्वमेध यज्ञ के सम्पन्न होने पर सीता जी पुनः वापस आ जायेंगी, राम को सन्तान की प्राप्ति होगी तथा प्रजा के दुःख दूर हो जायेंगे।

दूसरे दृश्य में वाल्मीकि आश्रम में अपनी सखी कौशिकी के साथ देवी (सीता) रुग्णावस्था में दिखलायी पड़ती है। वह प्रलाप करते हुए 'अयोध्या' और 'प्रतिमा' शब्दों को बार-बार दोहराती है। अयोध्या में किये जा रहे उस यज्ञ की स्मृति उसे बार-बार व्याकुल कर देती है, जिसमें उसके स्थान पर एक स्वर्ण प्रतिमा रखकर अनुष्ठान को सम्पन्न करने की व्यवस्था की गयी है। देवी (सीता) को कौशिकी के माध्यम से ज्ञात होता है कि राजकुमार चन्द्रकेतु के नायकत्व में दिग्विजय-यात्रा पर निकली हुई राम की सेना आश्रम के पश्चिम में पड़ाव डाले हुए है। देवी के मन में सेना के दर्शन की लालसा क्षणिक उभार लेती है जिसे वे बलपूर्वक दबा देती हैं। राम की दिग्विजय-यात्रा उन्हें एक आडम्बरपूर्ण बल-प्रदर्शन प्रतीत होती है। इसी समय क्षुब्ध और संत्रस्त आदिवासी वीर चरण प्रवेश करता है। उसकी विसंगत मुद्राओं, कथनों और व्यवहार से प्रतीत होता है कि वह राम की दिग्विजय-यात्रा के घातक परिणामों की दुश्चिन्ता से त्रस्त और क्षुब्ध है। वह राम के अभियान पर कठोर व्यंग्य-जैसा प्रतीत होता है। शिष्टाचार की शिक्षा देने वाली देवी के प्रति उसके मन में गहरी सम्मान-भावना है।

तीसरे दृश्य में वाल्मीकि ऋषि रात के आखिरी प्रहर में चिन्तित मुद्रा में दृष्टिगत होते हैं। नेपथ्य से अस्त-व्यस्त वेश में प्रवेश करती हुई सीता के वचनों से ज्ञात होता है कि वह सोलह वर्ष का बनवास भोगने के बाद अब अश्वमेध के अवसर पर अपनी निष्कलंकता की सफाई देने के लिए अयोध्या जाने के पक्ष में नहीं है। सीता के उद्गारों में नारी जाति की मर्मान्तिक पीड़ा का करुण चीत्कार सुनाई पड़ता है। सीता अपने उद्गारों में राम की निर्ममता, महत्त्वाकांक्षी प्रवृत्ति, प्रजा-पराङ्मुखता, आडम्बरपूर्ण समारोह-संलग्नता, साम्राज्यवादी विजय-लिप्सा आदि दूषित प्रवृत्तियों के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त करती हैं, साथ ही रघुवंश में पनपती हुई भ्रष्ट मनोवृत्तियों और दूषित परम्पराओं की भी भर्त्सना करती हैं। अन्त में वे स्वयं को स्वतन्त्र घोषित करती हैं। इसी बीच लव-कुश और राम मंच पर आ जाते हैं। वाल्मीकि, लव और कुश के रोकने पर भी सीता वेग से एक खड्ड में कूदकर अपना प्राणान्त कर लेती है। दृश्य के अन्त में राम एक लम्बे सम्भाषण में अपनी भूलों पर प्रायश्चित्त करते हैं। सीता-निर्वासन, शम्बूक-वध, प्रजा-पराङ्मुखता, पत्नी, पुत्र और प्रजा की उपेक्षा आदि सभी कृत्यों के मूल में निहित जीवन-दर्शन-सम्बन्धी भूल अब उन्हें गहराई से मानस-मंथन और आत्मावलोकन करने को विवश करती है। पीड़ा और प्रायश्चित्त के फलस्वरूप राम के मन में नये बोध की अग्नि का उदय होता है और वे प्रतिज्ञा करते हैं कि वे नये बोध की नींव पर सच्चे राम-राज्य की स्थापना करके उसे सीता-देवी के गौरव का स्मारक बनायेंगे।

उपर्युक्त कथानक पर विचार करने से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :—

(१) यद्यपि प्रस्तुत नाट्य-काव्य कवि के जीवन-काल में सम्पूर्ण नहीं हो सका था, तथापि अपने वर्तमान रूप में भी इसमें आद्योपान्त अन्तःसंगति के दर्शन होते हैं।

(२) कथानक स्थूल की अपेक्षा वैचारिक अधिक है। इसलिए इसकी वस्तु की बुनावट कथा-प्रसंगों की अपेक्षा पात्रों की परिस्थिति और मनःस्थिति के द्योतक संवादों पर अधिक आश्रित है। अनेक प्रसंगों की सूचना संवादों के माध्यम से ही दी गयी है।

(३) पूरे नाट्य-काव्य में नाटकीय क्रिया-व्यापार की कमी है। पहले दृश्य में रथ का प्रसंग, दूसरे में विजय-यात्रा का कोलाहल तथा चरण का दीवार कूद कर देवी के पास आना और तीसरे में सीता का खड्ड में कूद कर आत्महत्या करना — बस ये इने-गिने प्रसंग ही नाटकीय क्रिया-व्यापार के नाम पर गिनाये जा सकते हैं।

(४) दृश्य-विधान में आकारिक तारतम्य अवश्य है। सबसे पहले छोटा दृश्य है, बीच में उससे बड़ा और अन्त में सबसे बड़ा। दृश्य क्रमशः अधिकाधिक भावपूर्ण, विचारोत्तेजक और मार्मिक होते गये हैं।

(५) दूसरे दृश्य में चरण का प्रसंग ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। नेमिचन्द्र जैन के अनुसार "विशेषकर राजनेता के रूप में वह (भारतभूषण अग्रवाल) राम को आदिवासी जातियों के विरुद्ध आर्यों के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित करना चाहते थे। इस नाटक में देवी स्वयं सीता है और चरण आदिवासी समुदाय के मोहभंग और आक्रोश को सूचित करता है।"[1] डॉ० कामिल बुल्के के अनुसार "राम कथा में वानर, ऋक्ष और राक्षस विन्ध्य प्रदेश तथा मध्य भारत की आदिवासी अनार्य जातियाँ थीं। इसके विषय में प्रायः मतभेद नहीं है।"[2] जटायु नामक गृद्ध आदिवासी ही था। मध्य भारत में अब भी गिद्ध या गिधि नामक गोत्र प्रचलित हैं।[3] यह प्रख्यात तथ्य है कि गृद्धों, वानरों और ऋक्षों ने राम की सहायता की थी। राम का समूचा आन्दोलन दक्षिण की जन-जातियों द्वारा समर्थित था। राम की शत्रुता केवल राक्षसों से थी, जिनका राजा रावण साम्राज्यवादी नीति में विश्वास करने के कारण दक्षिण भारत की निरीह जनता पर अत्याचार कर रहा था। इसीलिए दक्षिण की जन-जातियाँ संगठित होकर राम के नेतृत्व में उसके विरुद्ध युद्ध में संलग्न हुई। कुछ विद्वान् राम के बाली से कहे गये कथन के आधार पर राम की युद्ध-यात्रा में आर्यों के दक्षिण में प्रसार की योजना का अनुमान करते हैं। राम ने बाली से उसकी मृत्यु के समय कहा था, "उस (भरत) के धर्म के लिए किये गये आदेश से युक्त हम तथा अन्य धर्म-प्रसार की कामना वाले नृपति सम्पूर्ण पृथ्वी पर

---

१. **अग्निलीक**, (भूमिका), पृ० १०

२. **रामकथा**, पृ० ११७

३. **वही**, पृ० ११८-११९

विचरण करते हैं।"[1] किन्तु उक्त कथन से राम का आदिवासी जातियों से विरोध सिद्ध नहीं होता।

(६) सीता की आत्महत्या के समय राम का सहसा वाल्मीकि के आश्रम में उपस्थित होना भी अटपटा और अप्रासंगिक लगता है। जिस समय "लव-कुश दोनों करुण-भाव से सीता के वचन सुनते हैं और बीच-बीच में 'माँ' 'माँ' पुकारते रहते हैं"[2] उस समय "राम एक दम पत्थर की तरह निश्चल खड़े रहते है।"[3] जब सीता लव-कुश के रोकने के बावजूद खड्ड में कूदकर आत्महत्या कर लेती है, "राम एक टेक के सहारे खड़े आँखें बन्द किये चिन्ता में मग्न हैं"।[4] पहले तो सीता की आत्म-हत्या के समय राम की उपस्थिति ही असंगत लगती है, फिर लव-कुश द्वारा किये जा रहे सीता को बचाने के प्रयत्नों के दौरान राम का निश्चल खड़े रहना इससे भी अधिक विचित्र और बेतुका लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने सीता की मृत्यु पर करुण विलाप करने के लिए राम को पहले ही आश्रम में तैनात कर दिया है, इसलिए राम अपनी कर्त्तव्य-पूर्ति के अवसर की ताक में निश्चल खड़े पहले सीता के मरने की प्रतीक्षा करते हैं, जिससे बाद में विलाप का कार्यक्रम विधिवत् प्रारम्भ कर सकें।

(२) **चरित्र-चित्रण**—अग्निलीक में केन्द्रीय चरित्र सीता का है। पहले अंक में सीता मंच पर प्रवेश नहीं करती। वहाँ रथवान के माध्यम से सीता के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। वह उन्हें 'देश की लक्ष्मी' कहता है। राम द्वारा किए गये तिरस्कार और अपमान से आहत होकर उनका स्वाभिमान जाग उठता है और वे अश्वमेघ के अवसर पर अयोध्या जाना निर्वासन से भी बड़ा अपमान समझती हैं। यह जानकर उन्हें मर्मान्तिक पीड़ा होती है कि यज्ञ में उनके स्थान पर उनकी प्रतिमा से ही काम चला लिया गया। राम के दुर्व्यवहार से पीड़ित और क्षुब्ध होते हुए भी उनके मन में राम के प्रति आसक्ति की एक अन्तर्धारा प्रवाहित रहती है। वे राम की दिग्विजय-यात्रा को रक्तपात समझती हैं और पुरोहितों, ज्योतिषियों द्वारा समर्थित उनकी प्रजा-पीड़क दुर्नीतियों की कठोर भर्त्सना करती हैं। अग्निलीक की सीता पारम्परिक सीता से अधिक प्रखर और मुखर है। अपने तीखे तर्कों से वे वाल्मीकि को मुँह तक नहीं खोलने देतीं और उन्हें 'रामराज्य का चारण' कहकर फटकारती हैं। जब वे राजतन्त्री व्यवस्था के विविध पक्षों की गिन-गिनकर धज्जियाँ उड़ाती हैं तो लगता है कि उन्होंने कहीं से 'कम्युनिस्ट मैनिफैस्टो' पढ़ लिया है। उनकी तीव्र तार्किकता,

---

१. तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसन्तानमिच्छवः॥ **श्रीमद्वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड, १८, ६**

२. **अग्निलीक, पृ० ५७**

३. **वही, पृ० ५७**

४. **वही, पृ० ५८**

प्रगल्भता और प्रचण्डता उनके मूल आचरण-पक्ष को तिरोहित करती प्रतीत होती है। उनके तर्कों की बौछार में आत्म-प्रचार का अनुपात बढ़ गया है। लगता है कवि ने सीता की स्थिति का स्वमत-स्थापन के लिए शोषण किया है। दूसरे दृश्य में जो सीता अपनी सखी के समक्ष मौन रहती है और अपनी मनोव्यथा को चुपचाप पिये रहती है, वही तीसरे दृश्य में वाल्मीकि के समक्ष आत्म व्यथा के कथन में उग्र रूप धारण करती है। वह दूसरे दृश्य में देवी और तीसरे में सीता है। वस्तुतः सीता के पक्ष में रथवान द्वारा रखे गये तर्क बहुत ही समीचीन जँचते हैं, किन्तु जब उन्हीं तर्कों को पुनः सीता के मुख में रखा गया है तो लगता है कवि की आसक्ति तर्कों के प्रति अधिक है पात्रों के प्रति कम। इस तर्कप्रियता का प्रमाण यह भी है कि राम भी प्रकारान्तर से उन्हीं तर्कों को दुहराते और उनकी पुष्टि करते हैं। यदि कवि सीता को इतना उग्र और मुखर न बनाकर उनके अधिकतर तर्कों को अन्य पात्रों के ही माध्यम से रखता तो उनका बलिदान और भी अधिक मार्मिक और महिमा-मण्डित प्रतीत होता। पीड़ा का निजी व्याख्यान पीड़ा की मार्मिकता को कम कर देता है।

सीता की तुलना में **राम** का चरित्र अनायास ही अधिक भास्वरता अर्जित कर गया है। राम अपने सब दुष्कर्मों पर रोते और पछताते हैं। आत्मावलोकन से उनको अपने सारे पाप साफ-साफ नज़र आते हैं। अनेक पाप-परम्पराओं और प्रमाद-पद्धतियों से गुज़रने के बाद वे सही दृष्टि अर्जित करते हैं और सीता के बलिदान से अधिगत अग्नि से दीप्त होकर सीता के पुनीत स्मारक के रूप में नये सिरे से गौरवमय 'रामराज्य' की स्थापना करते हैं। वे आत्महत्या को पलायन मानते हैं। राम के व्यवहार में यह त्रुटि अवश्य प्रतीत होती है कि वे सीता की आत्महत्या के समय पाषाणवत् निष्क्रिय खड़े रहते हैं, किन्तु इसमें राम की अपेक्षा कवि का दोष अधिक है जिसने राम को ग़लत अवसर पर आश्रम में पहुँचा दिया।

रथवान को सहज संवेदनशील, न्यायप्रिय, स्पष्टवादी व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह राम की प्रजा होते हुए भी राम की कटु आलोचना करता है और राम के हाथों सतायी गयी सीता के पक्ष का समर्थन करता है। **राजपुरुष** सरकारी नीतियों का समर्थक है। वाल्मीकि के व्यक्तित्व को इस कृति में जान-बूझकर दबोचा गया है। **कौशिकी** एक सहानुभूतिमयी सखी के रूप में अंकित है और **चरण** राम की दिग्विजय-यात्रा के भय से विक्षिप्त आदिवासी वीर है। देवी (सीता) के प्रति उसकी प्रगाढ़ आस्था और श्रद्धा है।

(३) **संवाद**—अग्निलीक की रचना करते समय कवि का सबसे अधिक ध्यान संवाद-योजना पर ही रहा है। क्रिया-व्यापार की कमी की पूर्ति भी प्रसंग-गर्भित अथवा मनोद्वन्द्व-व्यंजक संवादों के द्वारा ही की गयी है। कवि ने इस कृति में संवाद-योजना की दृष्टि से अनेक प्रयोग करके देखे हैं और अधिकतर स्थलों पर उसे सफलता भी मिली है, किन्तु संवादों की प्रभाववत्ता के प्रति अतिरिक्त आसक्ति ने नाटकीय व्यापार के चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर कथावस्तु में गम्भीर स्खलन पैदा करके कृति के समग्र प्रभाव को क्षति पहुँचायी है।

कुल मिलाकर समूची कृति में पाँच संवादों की योजना मिलती है—(१) पहले दृश्य में राजपुरुष और रथवान का संवाद, (२) दूसरे दृश्य के पूर्वार्द्ध में देवी (सीता) और कौशिकी का संवाद, (३) दूसरे दृश्य के उत्तरार्द्ध में देवी और चरण का संवाद, (४) तीसरे दृश्य के पूर्वार्द्ध में सीता और वाल्मीकि का संवाद तथा तीसरे दृश्य के उत्तरार्द्ध में राम और वाल्मीकि का संवाद। राजपुरुष और रथवान के मध्य के संवाद नाटकीय सम्भावनाओं की दृष्टि से सशक्त हैं। भोले और अनपढ़ रथवान के तर्कों में बौद्धिकता की अपेक्षा अनुभूति और विश्वास का बल अधिक है। वह अपनी अनपढ़ता का लाभ लेते हुए दूसरे के तर्क की शक्ति को अपनी अज्ञता के अस्त्र से काट देता है। जब उसके राम-विरोधी बयान को राजपुरुष 'राजद्रोह' ठहराता है तो वह भोलेपन के साथ कहता है, "मैं क्या जानूँ, राजद्रोह किसे कहते हैं ?"[1] संवादों की गति अत्यन्त स्वाभाविक है, एक के कथन में से दूसरे का कथन अनायास उपजता चलता है। जब राजपुरुष कहता है, "महाराज ने एक छोटी-सी भूल का बड़ा भारी मोल दिया है" तो रथवान उत्तर देता है, "भूल ? नहीं, वह भूल नहीं थी, सब कुछ उजागर था।"[2] रथवान और राजपुरुष के संवादों की भाषा मुहावरेदार और सजीव है। "यह तो उम्र-भर का रोना है, "कलेजे पर पत्थर रखकर मैं तो इसे भूल ही चुका था", "जब मुझे अपने घर में ही ठौर न मिल सका", "वे दिन लद गये जब प्रजा की हरेक बात राजा के कानों में पहुँचती थी", "उधर वे घुलते हैं इधर हम तड़पते हैं" आदि मुहावरेदार प्रयोग भाषा को बिम्बधर्मी बनाते हैं।[3] प्रश्नात्मक संवादों के माध्यम से बहस को धारदार बनाने की चेष्टा की गयी है। कहीं-कहीं सूक्त्यात्मक कथनों के द्वारा अनुभूतियों को विचार की चाशनी में पकाया गया है। प्रश्नात्मक पद्धति और सूक्त्यात्मक कथन का सामंजस्य निम्नलिखित उदाहरण में देखा जा सकता है—

"क्योंकि जो बीत चुका है
वह अनबीता कैसे हो सकता है ?"[4]

रथवान के सारे कथनों में बोलचाल की सजीवता और मार्मिकता सर्वत्र सुरक्षित है। बोलचाल के प्रयोग विशेष मार्मिक बन पड़े हैं जिनसे कथनों की प्रभाववत्ता में वृद्धि हुई है। "बीस कोस से ताबड़तोड़ चले आ रहे हैं", "तो इस ताल के किनारे कुछ बिलम लें", "तो मेरे मन से यह बोझ उतर जाय जो मुझे कलपाता है", आदि बोली के अत्यन्त प्राणवान् प्रयोग हैं।[5] 'बनवास' के स्थान पर 'बनोवास'[6], और 'शाप' के स्थान

---

१. **अग्निलीक**, पृ० १९
२. **वही**, पृ० १८
३. **वही**, पृ० १३, १५, १६, १९, २१
४. **वही**, पृ० १३
५. **वही**, पृ० ११, २२,
६. **वही**, पृ० १६, २१

पर 'सराप'[1], कहने से भाषा की भाव-सम्प्रेषणीयता में वृद्धि हुई है। रथवान का ग्रामीण लहजा भी संवादों में साकार हो गया है। जब वह 'दुर्मुख' के स्थान पर 'दुर्मुखा' कहता है तो उसकी 'दुर्मुख' के प्रति संचित समूची घृणा घनीभूत रूप में अनायास व्यक्त हो गयी है।[2] रथवान की बात-बात में दूसरों को 'दयानिधान' कहकर सम्बोधित करने की आदत से उसके वार्त्तालापों में निजता का भाव झलकता है।

दूसरे दृश्य में देवी और कौशिकी के संवादों में संक्षिप्तता, गहन आत्मीयता, सूक्त्यात्मकता, प्रश्नात्मकता, बिम्बमूलकता के साथ ही नाटकीय विडम्बना (ड्रेमेटिक आयरनी) का भी समावेश हुआ है। यहाँ संवादों के माध्यम से दोनों पात्रों की मनःस्थितियों का मार्मिक चित्रण हुआ है। तिरस्कृता सीता अपनी समग्र परिस्थिति और मनःस्थिति की विवशता को कौशिकी को बतलाकर अपने को और भी दयनीय नहीं बनाना चाहती, उधर कौशिकी आत्मीयता-वश सीता की मनोव्यथा के मूल स्रोतों और कारणों को समझने के लिए व्यग्र है। सीता अचेतावस्था में प्रलाप करते हुए अपने अवचेतन में निगूढ़ वेदना और उसके स्रोतों के सम्बन्ध में कुछ अटपटी-सी बातें बोलती है, कौशिकी संकेतों को समझ पाने में फिर भी असफल रहती है और विवशता का तीखा अहसास करती हुई देवी से प्रलाप का आशय पूछती है, देवी बात टाल जाती है।[3] उधर परिस्थिति से अवगत श्रोता दोनों के मनोव्यापार की विवश गतिविधियों का अवलोकन करते हुए मर्माहत हो उठता है। कवि ने कौशिकी के कथनों के माध्यम से नेपथ्य की सैन्य गतिविधियों का अनूठा चित्रण किया है।[4] कौशिकी के चले जाने पर सीता के स्वगत-कथन में उनके मनोभावों के सूक्ष्म अन्तर्मंथन का बहुत ही मार्मिक और सशक्त चित्रण हुआ है।[5]

दूसरे दृश्य के उत्तरार्द्ध में युद्ध की विभीषिका के तीक्ष्ण बोध से विक्षिप्त आदिवासी वीर चरण और देवी के संवाद हैं। देवी के कथनों में विस्मय, सम्भ्रम, प्रश्नाकुलता, हड़बड़ाहट और आत्मीयता है, तो चरण के कथनों में उसके दग्ध हृदय का

---

१. वही, पृ० २१

२. वही पृ० १८

३. देवी : मैं प्रलाप करती थी ?
क्या कहती थी ?
कौशिकी : बस, एक ही रट लगा रक्खी थी—
अयोध्या, प्रतिमा,
क्यों बहन, क्या अयोध्या में कोई प्रतिमा छोड़ आई हो ?
देवी : (सहमकर) नहीं तो,
तुम तो प्रलाप में भी अर्थ खोजने लगीं !
अग्निलीक, पृ० २४

४. वही, पृ० २६-२९

५. वही, पृ० ३०-३३

हाहाकार वाग्वैदग्ध्य के रूप में प्रकट हुआ है। उसकी पीड़ा इतनी अन्तर्मुखी है कि वह सन्दर्भ से बिल्कुल कटी हुई प्रतीत होती है, किन्तु सच्चाई यह है कि सन्दर्भ उसकी संवेदना में इतनी गहराई से गुथा हुआ है कि कहीं दिखलाई ही नहीं पड़ता। इसीलिए वह नितान्त अन्तर्मुखी, सन्दर्भ-विच्छिन्न, असन्तुलित, विसंगत, विद्रूप और पागल प्रतीत होता है और उसकी बातें असम्बद्ध प्रलाप प्रतीत होती हैं। अभिधा से उसकी मानसिकता का सूत्र कट गया है, इसलिए वह करारा व्यंग्य बोलता चलता है। उसकी वाणी के पोर-पोर में अर्थों की गूढ़ ग्रन्थियाँ हैं जो पाठक या श्रोता की बुद्धि के नुकीले नाखूनों से ही खोली जा सकती हैं। उसकी उक्तियों में विरोधाभासी, वक्रतामूलक, प्रतीकात्मक आदि अनेक अभिव्यक्ति-पद्धतियों का प्रयोग किया गया है।

तीसरे अंक में कवि ने सीता-वाल्मीकि-संवाद तथा राम-वाल्मीकि संवाद के रूप में दो संवादों की योजना की है, किन्तु इन्हें संवाद की अपेक्षा दो लम्बे-लम्बे एकालाप कहना ही अधिक युक्तियुक्त है, क्योंकि कवि ने दोनों ही जगह महर्षि के गले को कसकर दबोचे रखा है और उन्हें दो-चार बार बीच-बीच में सिर्फ 'हूँ-हाँ' ही करने की अनुमति दी है। कवि का यह विश्वास रहा है कि सीता और राम के एकालाप एक-दूसरे के निकट पूरक बनकर घनीभूत प्रभाव की सृष्टि करेंगे। कृति की रचना के दौरान कवि के मन में यह विकल्प था कि "पूरा नाटक सात प्रमुख पात्रों के अलग-अलग सात एकालापों के रूप में हो।"[1]

यह ग़नीमत ही हुई कि कवि ने सारी कृति को एकालापों के रूप में नहीं लिखा। वस्तुतः एकालाप का माध्यम वक्ता के मानसिक मन्थन के अंकन की दृष्टि से तो उपयुक्त है, किन्तु वह पात्रों के पारस्परिक टकराव और उसमें से विकसित हुई कथावस्तु की समूची सम्भावनाओं को निरस्त कर देता है, क्योंकि एकालापी पात्रों की दुनिया अलग-अलग होती है, उनके पारस्परिक घात-प्रतिघात के अभाव के कारण कथावस्तु का सब पात्रों के बीच में से सहज विकास नहीं हो पाता। पात्र बारी-बारी से कथा-सूत्र को थामते चलते हैं, वे आपसी साम्य-वैषम्य के मध्य से साझेदारी के रूप में कथा-वस्तु को विकसित नहीं कर पाते। यहाँ दो प्रमुख पात्रों के एकालापों को सटाकर विरल प्रभाव की सिद्धि के मोह से ग्रस्त कवि को अप्रासंगिक रूप में ही राम को वाल्मीकि के आश्रम में सीता की आत्महत्या के नाजुक अवसर पर खींच लाना पड़ा है, जिससे राम का समूचा व्यवहार असम्बद्ध और विसंगत हो गया है। वे सीता को अपने सामने ही आत्महत्या के लिए लपकते देखते हैं और निष्क्रिय खड़े रहते हैं। बाद में सिर्फ इतना कहते हैं "एक बार फिर स्वर्ग मेरे हाथ में आकर निकल गया, जैसे एक करका कहीं लपकी और मुझे पत्थर बना गयी। क्या मैं रो रहा हूँ।"[2] यानी जैसे वे स्वर्ग हाथ से निकल जाने देने और पत्थर बनने के लिए तैयार खड़े थे। फिर उन्हें अपने रोने का भी पता नहीं लगता है, इसलिए आँखों पर हाथ फेरकर

---

१. **अग्निलीक** (भूमिका), पृ० १०

२. **अग्निलीक**, पृ० ६०

देखते हैं तो ज्ञात होता है "नही, मैं रो नहीं रहा हूँ, भीतर-ही-भीतर टूट रहा हूँ।"[1] राम के एकालाप के बिल्कुल प्रारम्भ में दिया हुआ यह कथन राम के एकालाप को पूर्ववर्ती एकालाप से जोड़ने के उद्देश्य से दिया गया है, किन्तु जोड़ कितना कच्चा और हास्यास्पद है, यह स्पष्ट है।

यद्यपि यह सत्य है कि उक्त दोनों ही एकालापों में क्रमशः सीता का क्षोभ और राम का अन्तर्द्वन्द्व और पश्चात्ताप सशक्त रूप में अंकित हुआ है तथा अनुभूतियों और तर्कों के तीखेपन ने सूक्ष्म नाटकीय गत्वरता की सृष्टि की है, तथापि दो लम्बे एकालापों की एकत्र योजना से श्रोता या पाठकों के धैर्य का टूट जाना स्वाभाविक ही है।

(४) **अभिव्यंजना**—अग्निलीक की भाषा की सबसे बड़ी शक्ति यही है कि इसमें कवि बोलचाल की भाषा और परिनिष्ठित भाषा के मध्य सामंजस्य साध सका है। दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि भाषा आद्योपान्त व्याकरण सम्मत और शुद्ध है। केवल एक स्थान पर 'लक्ष्य' के स्थान पर 'लक्ष' का प्रयोग हुआ है जो मुद्रण की भूल से भी सम्भव है।[2] भाषा की स्वच्छता और शुद्धता अधिकतर नये कवियों के लिए दुष्प्राप्य आदर्श है। इस दृष्टि से भारत भूषण अग्रवाल को विशेष सफलता मिली है। एक ओर कवि ने प्राचीन वातावरण के अनुरूप संस्कृत शब्दावली-राजपुरुष, दया-निधान, अवतार, अर्घ्य, शिरोधार्य, अन्यथा, वंशधर, पटह, मुरज, तूर्य, अग्निशाला, तुमुल विजय-निनाद, दयापात्री आदि—का प्रयोग किया है, दूसरी ओर बोलचाल के ताबड़तोड़, बनोवास, सराप, बैरागी, पखवारे, घमघमाहट, कलेश, ऊबड़खाबड़, आनन-फानन, खड्ड, हक्के-बक्के आदि—शब्दों का भी यथास्थान प्रयोग किया है। मुहावरेदार भाषा लिखने में भारत भूषण अग्रवाल को विशेष सफलता मिली है। मुँह मोड़ना, पल्ला पकड़ना, त्राहि-त्राहि मचना, साँसें गिनना, तिनका भी न मानना, आपे में न होना, कान भरना, हाथ पसारना, मारी-मारी फिरना, चंगुल में पड़ना, खलबली मचाना, कलेजे पर पत्थर रखना, आदि अनेक मुहावरों का समुचित प्रयोग किया गया है। भाषा के प्रसन्न प्रवाह में कहीं-कहीं उर्दू के शब्द भी फबते हैं, यथा 'जिन्हें आदमी सिर्फ भोगता है', 'यह तो उम्र-भर का रोना है', 'कोई बीती बात याद आ गयी', 'शायद कभी राह मिल जाये', मैं पूरे होश में हूँ', 'आज मुझसे ज्यादा निरुपाय कोई नहीं', आदि।

(क) **बिम्ब-विधान**—कवि की भाषा बिम्बधर्मी है। बिम्बधर्मिता के प्रायः सभी उपादानों का प्रयोग किया गया है। मुहावरे गूढ़ अभिप्रायों को मूर्त रूप में व्यक्त करने वाले बिम्ब ही होते हैं। 'चंगुल में फँसना' कहते ही किसी के क्रूर बन्धन में जकड़े हुए विवश व्यक्ति का बिम्ब उभर आता है। इसी प्रकार 'कलेजे पर पत्थर रखना' कहते ही किसी ऐसे व्यक्ति का बिम्ब मनश्चक्षुओं के सामने अंकित हो जाता है जो अपने

---

१. वही, पृ० ६०

२. अग्निलीक, पृ० ५३

मन की सभी आकुलताओं-आकांक्षाओं को साग्रह दबाने की प्रक्रिया में अपने पर कठोर निग्रह का पहरा बैठा देता है। अग्निलीक में संज्ञाओं, क्रियाओं, विशेषणों, क्रियाविशेषणों आदि के बिम्ब-विधायक प्रयोग सर्वत्र सुलभ हैं। उदाहरणार्थ, कुछ क्रियाओं के प्रयोग द्रष्टव्य हैं। "और मन से तुम्हारा कोई रूप नहीं टकरायेगा"[1] में 'टकराना' क्रिया मन और रूप के सम्पर्क को गोचर रूप में ग्राह्य बनाती है। यहाँ सीता यह कहना चाहती हैं कि अब मन में तुम्हारी स्मृति तक नहीं आने दूँगी। इसी अर्थ को विशिष्ट व्यापार-सूचक क्रिया के माध्यम से मूर्तरूप प्रदान किया गया है। "तभी से उनके तुमुल नाद से दिशाएँ थर्रा रही है"[2] में 'थर्राना' क्रिया किसी सजीव प्राणी के काँपने की द्योतक है, किन्तु यहाँ तुमुल नाद से दिशाओं के थर्राने का उल्लेख करके कवि ने दिशाओं को भी मूर्त एवं सजीव रूप प्रदान किया है। इसमें 'तुमुल नाद' की भीषणता दिशाओं के कंपन का आलम्बन है। इस प्रकार अदृश्य 'तुमुल नाद' दृश्य और सजीव रूप अर्जित करके बिम्ब में परिणत हो गया है। 'अन्ध नियति' और 'थोथी कल्पना' में विशेषणों की रूप-विधायकता दर्शनीय है।[3] "अर्राते निर्झर और उफनती नदियाँ, दुर्गम पहाड़ और ऊबड़-खाबड़ घाटियाँ मैंने हँस-हँसकर पार कीं"[4] में विशेषणों और क्रिया-विशेषण की बिम्ब-विधायकता द्रष्टव्य है।

अनेक स्थलों पर कवि ने सूक्ष्म भावों के बिम्ब उकेरने में भाषागत उपकरणों का सफल प्रयोग किया है। मन के परकोटे मे बन्दी भावों की कसमसाहट का बिम्ब देखिये :—

"तुम्हारे मन के भाव
बाहर कोई पथ न पाकर
तुम्हारी चेतना में खलबली मचाते हैं।"[5]

'खलबली मचाना' क्रिया ने उभरते हुए बिम्ब को क्रियाशीलता के उत्कर्ष पर पहुँचा दिया है। भय के भाव से उत्पन्न मानसिक उद्विग्नता का एक बिम्ब प्रस्तुत है :—

"बस, यह एक अबूझ, अनजाना भय
मेरे प्राणों में आँधी की तरह घुमड़ता रहता है।"[6]

'अबूझ' और 'अनजाना' विशेषणों से स्पष्ट है कि भय के कारण का ज्ञान नहीं है। वह अज्ञात भय प्राणों में इसी प्रकार उमड़ता-घुमड़ता है जैसे आकाश में आँधी अपनी

---

१. **अग्निलीक**, पृ० ३१
२. **वही**, पृ० २७
३. **वही**, पृ० ३३, ५१
४. **वही**, पृ० ४६
५. **वही**, पृ० २५
६. **वही**, पृ० २६

घुमड़न से धुन्ध और विक्षोभकारी हलचल भर देती है। यहाँ उपमा द्वारा आँधी की घुमड़न को भय की घुमड़न से जोड़ते हुए आँधी की विशेषताओं को भय में संक्रमित करके उसे आँधी के समान गोचर बनाया गया है। नीचे दो ध्वनि-बिम्बों की एकत्र सिलाई करके एक सुन्दर गत्यात्मक संश्लिष्ट बिम्ब की सृष्टि का नमूना द्रष्टव्य है—

"इस तुमुल विजय-निनाद के नीचे कराहता
अपनी प्रजा का हाहाकार सुनायी नहीं देता।"[1]

इस बिम्ब के विधायक घटकों को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है। (१) प्रजा का 'हाहाकार' है, (२) 'हाहाकार' (दुःखी मानव की भाँति पीड़ा से) कराह रहा है (मानवीकरण), (३) यह कराहता हाहाकार (राम की सेना के) तुमुल विजय-निनाद के नीचे दबा है, (४) दबा होने के कारण सुनाई नहीं देता। बिम्बित अर्थ यह है कि राम की सेना का जयनाद चारों ओर व्याप्त होने के कारण राम को प्रजा का क्षीण आर्त्त-नाद नहीं सुनाई पड़ता। उनका ध्यान जयनाद पर है, प्रजा की पुकार पर नहीं।

जैसे-जैसे अनुभूति में बौद्धिकता के मिश्रण का अनुपात बढ़ता जाता है, बिम्बों की संरचनात्मक जटिलता बढ़ती जाती है। यह जटिलता यदि सच्ची अनुभूति और बोधगम्य बौद्धिकता के संयोजन से उभरी है तो बिम्ब को उत्कर्ष प्रदान करती है अन्यथा बिम्ब उलझ कर अपनी सम्प्रेषणीयता खो बैठता है। निम्नलिखित पंक्तियों में एक जटिल बिम्ब का उदाहरण प्रस्तुत है :—

"वे ही मेरे कृत्यों के दायी हैं!
जिन्होंने मेरी दृष्टि को यज्ञ-धूम के क्षितिज में जड़ा है
और मेरे श्रवणों को श्लोकों से रूँधा है।

प्रस्तुत बिम्ब में प्रथम पंक्ति केवल अर्थ-संयोजक है, उसमें अर्थ-बोध मात्र है; कवि की रचनात्मकता बाद की दो पंक्तियों में उत्कर्ष पर पहुँची है। यदि इस बिम्ब का विश्लेषण करें तो निम्नलिखित घटक प्राप्त होते हैं :—

(१) कुछ लोग (पुरोहित आदि) मेरे (राम के) कृत्यों के दायी हैं, (२) उन लोगों ने राम की दृष्टि को क्षितिज में जड़ दिया है, (३) क्षितिज यज्ञ-धूम का है और (४) उन लोगों ने राम के श्रवणों को श्लोकों से रूँधा है। इन घटकों की अन्तः संरचना को समझना भी जरूरी है। दूसरे और तीसरे घटक की संरचनाओं पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि राम की दृष्टि को (पुरोहित आदि लोगों ने) क्षितिज में जड़ा है जो यज्ञ-धूम का है। क्षितिज में जड़े हुए तारे तो दिखलाई पड़ते हैं किन्तु यज्ञ के धुँए के क्षितिज में जड़े हुए नेत्र धुएँ में ही आच्छादित हो जाएँगे अर्थात् नेत्र देखना बन्द कर देंगे, उन्हें सत्य का साक्षात्कार न हो सकेगा। चौथे घटक में संघनित अर्थ को खोलने से ज्ञात होगा कि राम के श्रवणों को पुरोहित आदि ने श्लोकों (मन्त्रोच्चारणों) से रूँध दिया या अवरुद्ध कर दिया है, इसलिए वे प्रजा की गुहार नहीं सुन पाते हैं।

---

१. अग्निलीक, पृ० ३३

राम उन पुरोहितों को ही अपने कृत्यों के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं जिन्होंने उनकी आँखें सत्य की ओर से मूंद दी हैं और कान प्रजा की पुकार सुनने से वंचित कर दिये हैं।

अग्निलीक मे स्थूल ब्यौरों से संयुक्त बिम्ब अपेक्षाकृत कम हैं, कवि की प्रतिभा सूक्ष्म भावों के बिम्बन मे सर्वाधिक संलग्न रही है।

(ख) **प्रतीक योजना**—अग्निलीक में प्रतीकों के अधिक उदाहरण उपलब्ध नही हैं। फिर भी कतिपय सशक्त प्रयोग मिलते हैं। चरण का समूचा प्रसंग ही व्यंग्य-गर्भित और प्रतीकात्मक है। राम की दिग्विजय-यात्रा और उसके द्वारा की जा रही लूटमार के प्रसंग पर व्यंग्य करते हुए चरण प्रतीकात्मक शैली मे कहता है :—

"और तीनों लोको की सम्पत्ति लूटकर
अपने खेत में बो दूंगा।
और उस पर एक झण्डा गाड दूंगा।
उस झण्डे पर,
जानती हो देवी, क्या बना होगा ?
—सूरज नही, तारे नहीं, हाथी नहीं, सिंह नहीं,
मछली नही, चमगादड़ नहीं
चाँद !!
टूटा चाँद !!!
और जब कोई पूछेगा !
हे वीर, तुम्हारे चाँद का मुंह टेढा क्यों है ?
तो मैं कह दूंगा—
मैं क्या कहूँगा—
नही मैं कुछ नहीं कहूँगा
बस रो पड़ूंगा।"[1]

प्रस्तुत प्रसंग में झण्डा साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की विजय का प्रतीक है, टूटा और टेढ़े मुंह वाला चाँद साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के प्रसार से उत्पन्न मूल्यात्मक विघटन और विनाश का प्रतीक है, जिस पर विजेता को भी रोने के सिवा कुछ नही सूझता है। इसी प्रकार वाल्मीकि के श्लोक से सम्बद्ध प्रसंग को भी प्रतीकात्मक रूप दिया गया है।[2]

शब्द-प्रतीकों के उदाहरण के रूप में "पर अब तो चारों ओर अंधेरा है"[3] एक बार फिर स्वर्ग मेरे हाथ में आकर निकल गया"[4] "अपनी एक नन्हीं किरण छोड़ दो"[5]

---

१. **अग्निलीक**, पृ० ३५-३६
२. **वही**, पृ० ३७-३८
३. **वही**, पृ० ४५
४. **वही**, पृ० ६०
५. **वही**, पृ० ६२

"जब मुझे तुम्हारी अग्नि मिल गई"[1] आदि में क्रमशः अँधेरा, निराशा का 'स्वर्ग' सीता का, 'किरण' आशा का तथा 'अग्नि' तीव्र और सच्ची अनुभूति का प्रतीक है।

(ग) **अलंकार-योजना**—अग्निलीक के कवि की अभिव्यक्ति का नैसर्गिक साँचा रूपक है। कहीं-कहीं तो कवि ने रूपकों के प्रयोग में अच्छे कौशल का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ—

"और मैं सबके संकेतों पर चलती रही—
अपनी निष्ठा की चादर ओढ़े,
अपने प्यार का दीप जलाये !
अब मैंने वह चादर उतार फेंकी है
और वह दीपक फूंक मार कर बुझा दिया है।"[2]

उपर्युक्त उद्धरण में, पहली दो पंक्तियों में जिन रूपकात्मक तत्त्वों का प्रयोग करके निष्ठा और प्यार के सकारात्मक बिम्ब की सृष्टि की गयी है, बाद की दो पंक्तियों में उन्हीं रूपकात्मक तत्त्वों के माध्यम से नकारात्मक बिम्ब की सृष्टि करके वैषम्य को उभारा गया है। आस्था के प्रति अनास्था और प्रेम के प्रति अस्वीकृति का यह विद्रोह रूपकों के सकारात्मक और नकारात्मक प्रयोगों को परस्पर सटाकर रखने से पूरे तीखेपन के साथ बिम्बित हो सका है। कहीं-कहीं तो एक-एक पंक्ति में ही रूपकों के माध्यम से सशक्त बिम्बों की सृष्टि की गयी है। "मैंने तो पत्थर प्राण पाये हैं", "जो रोकेगा वही काल का ग्रास बन जायेगा", "मेरा भाग्य तो गुरुदेव, पत्थर की लकीर है", "तो मेरा जीवन ही खड्ड बन जायेगा" में रूपकों के अच्छे उदाहरण हैं।[3] राम के विराट् और प्रभावी व्यक्तित्व का रूपकाश्रित बिम्ब निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

"तुम्हारी जय-जयकार आकाश है
और दिशाएँ तुम्हारी भुजाएँ
जिनसे तुम मुझे अनायास घेर लेते हो।"[4]

उपमाओं के उदाहरण भी अग्निलीक में प्रचुर हैं। "मूरत की तरह निश्चल होकर", "शौर्य उनके ललाटों पर तिलक की तरह जगमगाता है", "जिसने चौदह वर्ष छाया की भाँति इनके साथ बिताये हों" में उपमाएँ हैं,[5] किन्तु उनमें कोई नवीनता नहीं है। उत्प्रेक्षा के भी इने-गिने उदाहरण मिलते हैं यथा "बाहर की हवा का हल्का-सा झोंका जिसे ऐसे काँपा जाता है मानो भूकम्प आया हो", "जब वे चलते हैं तो लगता है उत्साह का समुद्र उमड़ा आ रहा है।"[6] दूसरे उद्धरण में उत्प्रेक्षा के साथ रूपक का भी

---

१. **अग्निलीक**, पृ० ६७
२. **वही**, पृ० ५५
३. **वही**, पृ० २४, २६, ४१, ६०
४. **वही**, पृ० ३१
५. **वही**, पृ० १६, २८, ५१
६. **वही**, पृ० ३२, २६

मंजुल मिश्रण हो गया है। "यह श्लोक नहीं पहेली है" तथा "ये आँसू नहीं हैं गुरुदेव, ये अंगारे है" में अपह्नुति अलंकार द्रष्टव्य है।[1]

(घ) **लय और तुक**—अग्निलीक में गद्य और कविता के मध्य की लय का प्रयोग किया गया है जो छन्दात्मक पंक्तियों पर निर्भर न होकर पढ़ने वाले या संवाद बोलने वाले अभिनेता के लहजे पर आश्रित है। इस नाट्य-काव्य में छन्द, लय और तुक की दृष्टि से तो सिर्फ दो पंक्तियाँ ही उल्लेख्य हैं,[2] बाकी सब जगह लयात्मक पंक्तियों का प्रायः अभाव है। जहाँ कहीं लय किंचित् उभरी भी हैं तो वह दो-तीन पंक्तियों से अधिक आगे नहीं बढ़ पायी है। ऐसे स्थलों पर यान्त्रिक ढंग की तुकें भी मिलती हैं यथा :—

प्रजा की व्यवस्था तो इन्होंने
व्योम-**लीन** ऋषियों **पर**
योग-**लीन** साधुओं **पर**
ग्रन्थ-**लीन** पण्डितों **पर**
और भोग-मुग्ध वानरों पर छोड़ रक्खी है।[3]

कहीं-कहीं दो पंक्तियों को एक ही लयात्मक प्रवाह में पढा जा सकता है :—

इस अन्धे युग की अकेली अग्नि-लीक है—
प्यार, सत्य, मुक्ति उसी लीक पर मिलते हैं।[4]

यहाँ दोनों ही पंक्तियों में २३-२३ मात्राएँ हैं। किन्तु इस प्रकार की सम-मात्रिक पंक्तियाँ समूचे नाट्य-काव्य में विरल हैं।

कवि ने संवादों की भाषा में तुकें नहीं आने दी हैं। जहाँ कहीं तुकें मिलती नजर आती हैं, वहाँ भी वे लय का अन्तर्वर्ती तत्त्व बनकर प्रयुक्त नही हुई हैं। उदाहरणार्थ "अपने खेत में बो दूंगा। और उस पर एक झण्डा गाड़ दूंगा" को तुक का सही उदाहरण नहीं माना जा सकता। कहीं-कहीं तो पंक्तियाँ सपाट गद्य के स्तर पर उतर आई है। कवि के संवादों की शक्ति बोलचाल के लहजे और भाषा की बिम्ब-मूलकता में निहित है।

(५) **अभिनेयता**—'अग्निलीक' की 'कथावस्तु' अभिनेयता की दृष्टि से पर्याप्त मार्मिक है। पहले दृश्य में रथवान और राजपुरुष के माध्यम से सोलह वर्ष पहले तक की घटनाओं को पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रथवान के कथनों में सीता के पक्ष का प्रस्तुतीकरण और समर्थन सशक्त रूप में हुआ है। राजपुरुष राम की परिस्थिति और मनःस्थिति का निरूपण करते हुए उनके पक्ष में दलीलें देता है। इस

---

१. **वही**, पृ० ३७, ४४
२. भारत की एक सन्नारी की हम कथा सुनाते हैं
मिथिला की राजदुलारी की हम व्यथा सुनाते हैं। **वही**, पृ० ३७
३. **वही**, पृ० ५४
४. **वही**, पृ० ६६

प्रकार केन्द्रीय पात्रों को प्रथम दृश्य में मंच पर आने की आवश्यकता नहीं पड़ी है और उनके पक्षों का प्रस्तुतीकरण भी मार्मिक और भावाभिव्यंजक रूप में हो गया है। प्रथम अंक में संवाद भी सप्राण और मर्मस्पर्शी हैं। रथ का प्रसंग सम्बद्धता (एसोसियेशन) के आधार पर पुरानी घटनाओं के सशक्त स्मारक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यों तो रथ और घोड़ों के दृश्य को पर्दे पर अंकित दिखलाकर अपेक्षित प्रभाव पैदा किया जा सकता था, किन्तु कवि ने सबसे प्रारम्भिक रंग-निर्देश देते हुए कहा है, "परदा खुलने पर एक रथ धीरे-धीरे रुकता दिखाई देता है।"[1] इसी प्रकार दूसरा रंग-निर्देश है, "रथवान घोड़े खोलकर रथ को उँचा देता है और घोड़ों को मैदान में ढील देता है।"[2] दृश्य के अन्त में रंग-निर्देश देते हुए कहा गया है, "रथवान रथ में घोड़े जोतता है। राजपुरुष के बैठते ही रथ का प्रस्थान।"[3] इन सब रंग-निर्देशों से प्रस्तुत नाट्य-काव्य के मंचन में व्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न होती है। वैसे रथ के प्रसंग को तूल देकर इतना स्थूल बनाने की आवश्यकता नहीं थी, केवल पर्दे पर अंकित रथ और घोड़ों के चित्र से अपेक्षित प्रभाव की सृष्टि की जा सकती थी।

दूसरे दृश्य में कथावस्तु और भी मार्मिक मोड़ लेती है और देवी (सीता) की रुग्णावस्था के प्रलाप और फिर एकालाप से गुज़रती हुई राम की दिग्विजय-यात्रा के अभियान से संत्रस्त और युद्ध-बोध से असन्तुलित तथा विक्षिप्त आदिवासी वीर चरण के प्रलाप से जुड़ गयी है। कवि ने समूचे दृश्य में दो प्रलापों की योजना की है और उनके बीच देवी के एकालाप का सन्निवेश किया है। पूरे अंक में दो पीड़ित, कुण्ठित और विवश पात्रों के मानसिक मन्थन और गहन अन्तर्द्वन्द्व को इस कौशल के साथ उभारा गया है कि उनसे लिपटी परिस्थितियाँ स्वतः व्यंजित हो गयी हैं। देवी के प्रलाप में दमित भावनाओं को सांकेतिक माध्यम से अधिक चुभीला और नोकदार बनाया गया है और चरण के प्रलाप में बुद्धि को झंझोड़कर भावना के मूल स्रोतों—युद्ध, विनाश, विवशता—तक पहुँचाने की मनोवैज्ञानिक पद्धति का सफल प्रयोग किया गया है। मध्यवर्ती एकालाप में सीता के विक्षोभ के भीतर राम के प्रति आसक्ति, अनुराग की सूक्ष्म अन्तर्धारा बहती दिखायी गई है, जिससे समूचा दृश्य और भी करुणा से भीग उठा है। आसक्ति को उसके विगत स्रोतों से काटने के लिए जिस मानसिक दृढ़ता की आवश्यकता होती है, और उसको जुटाने में जो आघात सहना पड़ता है, उसका मनोवैज्ञानिक चित्रण बहुत ही सधे हुए ढंग से किया गया है। इस समूचे दृश्य में मानसिक गतिविधियों के चित्रण की प्रधानता है। अतः सात्त्विक अभिनय के लिए पर्याप्त अवकाश है। इस मनोमन्थन की पृष्ठभूमि में नेपथ्य में दिग्विजय-यात्रा का दृश्य ध्वनि-प्रभाव के माध्यम से सफलतापूर्वक दर्शाया जा सकता है। पृष्ठभूमि में प्रस्तुत दिग्विजय-अभियान का दृश्य रंगमंच पर उपस्थित पात्रों के मानसिक वातावरण

---

१. **अग्निलीक**, पृ० ११
२. **वही**, पृ० १२
३. **वही**, पृ० २२

से टकराकर उसे और भी उत्तेजना प्रदान करता है। इस प्रकार नेपथ्य का दृश्य पात्रों की मनःस्थिति के लिए उद्दीपन का भी काम करता है और वैषम्य (Contrast) का भी। कवि ने सात्विक अभिनय के अनुरूप रंग-निर्देशों में प्रकाश-व्यवस्था और ध्वनि-व्यवस्था का उल्लेख किया है।[1]

यद्यपि तीसरे दृश्य को रंगमंचीय दृष्टि से प्रभावशाली बनाने के लिए कवि ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है, तथापि जिस कलात्मक संयम के मध्य से प्रभाव की सृष्टि पहले दो दृश्यों में की गयी है, उसका यहाँ नितान्त अभाव है। जैसा कि 'कथानक' के अन्तर्गत उल्लेख किया जा चुका है, तीसरे दृश्य में सीता की आत्महत्या के अतिरिक्त और कोई क्रिया-व्यापार नहीं है। कवि ने सीता और राम के लम्बे-लम्बे भाषणों की योजना द्वारा दोनों की मानसिक हलचल को बिम्बधर्मी भाषा में निरूपित किया है। भाषा को बिम्बमूलक बनाने के लिए अनेक भाषिक पद्धतियों का प्रयोग किया गया है, तथापि अपेक्षित क्रिया-व्यापार की कमी के कारण भाषण उबाने वाले हो गये हैं। कुल मिलाकर, तीसरे दृश्य में कवित्व इतना हावी हो गया है कि उसने नाटकीयता को धकेल कर मंच से बाहर कर दिया है।

(६) **उद्देश्य**—'अग्निलीक' में शोषण पर आधारित राजतन्त्रीय व्यवस्था के विरुद्ध जनवादी स्वर को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। प्राचीन राजतन्त्रीय व्यवस्था में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के आधार पर राजा को दिव्य शक्तियों से सम्पन्न माना जाता था। मनुस्मृति में राजा की दैवी उत्पत्ति के साथ ही साथ राज्य के सावयव स्वरूप का भी सिद्धान्त प्राप्त होता है। मनु राजा को सर्वप्रथम देवताओं के अंश से समुद्भूत मानते हैं और फिर उससे अपेक्षा करते हैं कि वह तेजस्वी राजा इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथ्वी के समान कार्य करे।[2] राजा को ईश्वरीय अथवा दिव्य शक्तियों से सम्पन्न करने का माध्यम था यज्ञ-विधान, जिसकी समूची व्यवस्था भूस्थानीय देवताओं अर्थात् भूसुरों के हाथ में थी। भूसुर यज्ञ में डाली गयी मन्त्राभिषिक्त आहुतियों के माध्यम से अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं से सम्बन्ध स्थापित करके शाप, वरदान आदि की अलौकिक शक्तियाँ अर्जित करते थे और बदले में भारी दक्षिणा प्राप्त करते थे।[3] महाभारत में ब्राह्मण-मन्त्री का पुरोहित के रूप में विशद्

---

१. **अग्निलीक**, पृ० २६, ३०, ३१, ३३

२. इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत्॥ **मनुस्मृति**, ६, ३०४

३. "भारतवर्ष में बहुत ही प्रारम्भिक काल से प्रत्येक राजा अपने दैनिक धार्मिक कर्मों का सम्पादन करने के लिए एक पुरोहित रखा करता था···यह जाति (ब्राह्मण जाति) ऐन्द्रजालिक मन्त्रों का निर्वचन·· बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं की महत्त्वाकांक्षाओं के हित की पूर्ति के हेतु करती थी।···(अथर्ववेद के) इन सूक्तों में हम देखते हैं कि ब्राह्मणों की अवध्यता का और उनके अधिकारों का पुनः-पुनः कठोर दृढ़ता के साथ अभिकथन किया गया है। उन व्यक्तियों के प्रति भयंकर

वर्णन मिलता है।[1] यदि राजा अपनी उन्नति चाहता है तो जो भी भूमि वह विजय में प्राप्त करे उसे निःस्वार्थी और विद्वान् ब्राह्मण को सौंप दे।[2] मनुस्मृति में कहा गया है कि ब्राह्मण मन्त्री पर ही राजा सभी कार्यों को छोड़ दे तथा उसी की सलाह से सभी कार्यों को प्रारम्भ करे।"[3] दरबारों में रहने वाले कवि, ज्योतिषी, सूत, मागध, वन्दीजन राजा के ईश्वरीय स्वरूप की स्तुति में संलग्न रहते थे। राजाओं और पुरोहित-मन्त्रियों के अधिकारों की कोई सीमा नहीं थी। राजा प्रजा का स्वामी, एक या अनेक नारियों का पति तथा सामान्यतः सैकड़ों पुत्रों का पिता होता था। इसी प्रकार पुरोहित तथा आचार्य भी राजाओं के समान अनेक पत्नियों, पुत्रों और शिष्यों पर शासन करते थे। यही कारण है कि प्राचीन राजतन्त्री व्यवस्था में स्त्रियों, पुत्रों, शिष्यों और प्रजाजन के कर्त्तव्यों पर विशेष बल है जबकि राजाओं और पुरोहितों के अधिकारों पर।

अग्निलीक में राजतन्त्री व्यवस्था के यन्त्रों—पुरोहितों, ऋषियों, चारणों, ज्योतिषियों आदि से घिरे तथा इनके द्वारा आरोपित ईश्वरत्व के व्यामोह में भ्रान्त, कल्पित मर्यादा, विकसित यश-लिप्सा और निर्मर्याद महत्त्वाकांक्षा के कृत्रिम संसार में भटके हुए राम की शोषक और साम्राज्यवादी प्रवृत्ति पर प्रहार किया गया है। उत्पीड़ित, अपमानित और तिरस्कृत सीता की आत्महत्या के बाद प्रायश्चित्त की ज्वाला में तपने पर नये बोध के रूप में राम के हृदय पर अग्निलीक अंकित होती है जिसके आलोक में वे अनुभव करते हैं कि उन्होंने यथार्थ-निरपेक्ष जीवन-पद्धति का प्रश्रय लेने के कारण पत्नी, प्रजा और पुत्रों की उपेक्षा की।[4] उन्हें गहन आघात सहकर यह तीखा बोध होता है कि आरोपित ईश्वरत्व और उसके आविष्कर्त्ता ऋषि, मुनि, शास्त्र, पुराण सब मायावी और मिथ्या हैं। धर्म, रीति, कुल, परम्परा, मर्यादा, यज्ञ, श्लोक आदि सब जीवन को यथार्थ से काटकर कल्पित लोक में भटकाने वाले शब्द हैं। सत्य का साक्षात्कार होने पर राम को अहसास होता है—

> "मैंने एक गुप्तचर का संवाद सुना और पत्नी को त्याग दिया
> यह नहीं जाना कि क्या प्रजा यही चाहती थी
> मैंने पण्डितों से मन्त्रणा की और शम्बूक को मार डाला।
> यह नहीं सोचा अकाल और तपस्या का क्या सम्बन्ध हो सकता है![5]

अभिशापों का निर्वचन मिलता है जो ब्राह्मणों के धनधान्य, सम्पत्ति, ऐश्वर्य और जीवन को नष्ट करने की इच्छा भी करते हैं। साथ-साथ हमें दक्षिणा का अत्यन्त अत्युक्तिपूर्ण प्रयोजन प्राप्त होता है।" प्रो० सत्यनारायण पाण्डेय तथा डॉ० रसिक बिहारी जोशी, **वैदिक साहित्य की रूपरेखा**, पृ० १४१-१४३

१. दे० **महाभारत**, शान्ति पर्व, अ० ७२, १-१६
२. **वही**, शान्तिपर्व, अ० ७४
३. **मनुस्मृति**, ७, ५८-५९
४. **अग्निलीक**, पृ० ६६
५. **वही**, पृ० ६४

राम को बोध होता है कि वे अतीत के मिथ्या स्तूपों की पूजा में संलग्न रहकर जिन्दगी की वास्तविकता से विच्छिन्न रहे और अपने हृदय की धड़कन को बलपूर्वक दबाये हुए प्रजा, पत्नी तथा सन्तान के सच्चे प्रेम से वंचित रहे।[1] वे मिथ्या शब्दों को प्रमाण मानकर ऋषियों, पण्डितों और ज्योतिषियों को ही प्रजा का प्रतिनिधि समझते रहे और उनके स्वार्थ को प्रजा का सुख।[2] सत्य का बोध होने पर राम अनुभव करते हैं कि वे ईश्वर नहीं हैं, जनता के सेवक-मात्र हैं और जनता के तथा उनके बीच में जो भी आता है, चाहे वह शास्त्र हो, परम्परा हो, यज्ञ हो, ऋषि हो, अधिकारी हो, मार्ग का बाधक तत्त्व है।[3]

कवि ने राम के ऊपर पुते हुए ईश्वरत्व को उतारकर उन्हें मानवीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। राम सोचते हैं कि जीवन-मार्ग अपनी गति का नियन्ता स्वयं है, हम उसका निर्धारण नहीं केवल अन्वेषण करते हैं—यही सच्चा ज्ञान है।[4] इसी अस्तित्ववादी बोध के स्तर पर सीता का निर्वासन अब उन्हें कायरतापूर्ण कृत्य प्रतीत होता है।[5] शम्बूक-वध तब उन्हें अनिवार्य प्रतीत होता था, अब उन्हें लगता है कि वे निपट हत्यारे हैं और उनके हाथ निरपराधों के रक्त से रंजित हैं।[6] सीता के बलिदान से राम आत्म-प्रदर्शन और कल्पना के स्वनिर्मित लोक से निकलकर यथार्थ जीवन की सच्ची थरथराहट का अहसास करते हुए कहते हैं "आचार्य! कहीं गहरे, बहुत गहरे मेरे जीने में कोई बड़ी भूल थी कि मेरे सारे मन्तव्य उलट गये!"[7] आत्म-ग्लानि से ग्रस्त राम सीता के धरती से जुड़े, निर्विशेष बनकर जिए गये यथार्थ जीवन को वरणीय समझते हैं। वे सीता की उदग्र आत्मचर्या और जीवन की सच्ची अनुभूति को ही अपने अन्धेयुग की अकेली अग्निलीक मानते हैं, जिस पर प्रेम, सत्य और मुक्ति के रूप में उदात्त जीवन-मूल्यों की उपलब्धि होती है।[8] वे आत्महत्या को पलायन मानकर

---

१. **अग्निलीक**, पृ० ६३

२. **वही**, पृ० ६३

३. **वही**, पृ० ६४-६५

४. **वही**, पृ० ६५

५. **वही**, पृ० ६१

६. **वही**, पृ० ६१

७. **वही**, पृ० ६०

८. मैंने सिद्ध कर दिया कि ग्रन्थों की नींव पर
अन्धकार के ही परकोटे खड़े होते हैं
और तुमने अपनी उदग्र आत्मचर्या से
प्रमाणित कर दिया कि जीवन की सच्ची अनुभूति ही
इस अन्धेयुग की अकेली अग्निलीक है—
प्यार, सत्य, मुक्ति उसी लीक पर मिलते हैं। **वही**, पृ० ६६

अपने पापों के सच्चे प्रायश्चित्त के रूप में रामराज्य को नयी अनुभूति से उगे उदात्त मूल्यों पर आधारित करके, उसे देवी के गौरव का सच्चा स्मारक बनाने की प्रतिज्ञा करते हैं।

वस्तुतः जो जीवन-दृष्टि राम द्वारा प्रायश्चित्त-स्वरूप प्रस्तुत की गई है, वही प्रकारान्तर से सीता के विवश विद्रोह और रथवान के आक्रोश में व्यक्त हुई है। रथवान पीड़ित प्रजा के पक्ष को ही प्रस्तुत नहीं करता वरन् सीता के पक्ष को भी सतर्क और प्रामाणिक रूप में उपस्थित करता है। सीता और रथवान दोनों ही राम की साम्राज्यवादी नीति, राज्य-चर्चा-निषेध, विजय-लिप्सा, महत्वाकांक्षा, प्रजा-पीड़न, यज्ञ-विधान, समारोह-संलग्नता, प्रदर्शन-प्रियता, पराश्रयता और औचित्य-हीनता की कटु आलोचना करते हैं। सीता राम की पत्नी भी हैं और प्रजा भी। वे पत्नी के रूप में भी प्रवंचित और शोषित हैं और प्रजारूप में भी उत्पीड़ित। सीता के रूप में नारी की पीड़ा शारीरिक और मानसिक—दोनों स्तरों पर अंकित हुई है। नारी का शोषण दुहरा है—मानसिक और उससे भी बढ़कर शारीरिक। कवि का उद्देश्य नारी के इसी दुहरे शोषण को वाणी देना रहा है। रथवान भी इस तथ्य से मर्माहत है कि निर्दोष सीता को उस समय निर्वासित किया गया, "जब उन्हें पूरे दिन चढ़े थे और पैर ऐसे भारी थे कि चल भी नहीं पाती थीं।"[1] इसी शारीरिकता के कारण नारी भोग्या भी है और पति के लिए सन्देहास्पद भी, साथ ही सन्तानोत्पत्ति के बोझिल दायित्व की निर्वाहिका भी। विवाह के रूप में नारी का स्थानान्तरण भी उसकी पोच सामाजिक स्थिति का कारण है। नारी का समर्पण पुरुष का अधिकार है और नारी का धर्म। इसी एकपक्षीय सामाजिकता के कारण नारी पुरुष की जीवन-संगिनी और अर्धांगिनी बनकर पुरुष के कष्टों में साथ देती है, जबकि नारी को अपना कष्ट आप ही झेलना पड़ता है। यह बात राजा की पत्नी पर और भी अधिक लागू होती है, क्योंकि यों तो सभी पुरुष विशिष्ट अधिकारों से लैस हैं, किन्तु राजा तो सर्वाधिकार-सम्पन्न है। जब राम वन गये थे तो सीता ने अपना धर्म समझकर उनका साथ दिया, किन्तु राम पति-धर्म की उपेक्षा करके राज-धर्म के पालन में दत्तचित्त रहे।[2]

नारी की सामाजिक स्थिति के सन्दर्भ में बहु-विवाह-प्रथा भी उल्लेखनीय है। लेखक ने सीता द्वारा दशरथ के बहु-पत्नीत्व की आलोचना करायी है।[3]

कैकेयी के प्रति अतिरिक्त आसक्ति से प्रेरित दशरथ की वह अमर्यादित व्यक्तिनिष्ठता भी निन्दय ठहरायी गयी है, जिसके कारण वे कैकेयी की अनुचित माँग को स्वीकार करते हुए उत्तराधिकार के नियम को तोड़कर सारी प्रजा को दुःखी करते

---

१. **अग्निलीक**, पृ० १७

२. **वही**, पृ० ४८ तथा ५२

३. **वही**, पृ० ४९

हैं।[1] व्यक्तिनिष्ठता से उपजे सभी मिथ्या आदर्शों—वैराग्य, त्याग, निर्विकारता, थोथी मर्यादा, आदि पर कठोर प्रहार किया गया है।

(यों तो कवि का अधिकांश चिन्तन साम्यवादी दर्शन से अनुप्राणित है, तथापि वह पात्रों की भोगी हुई अनुभूतियों के ज्वार में से ऐसे ढंग से उभरा है कि उसमें वाद-ग्रस्तता की गन्ध नहीं आती। कहीं-कहीं अस्तित्ववादी चिन्तन का सहज समावेश हुआ है। यज्ञ के अवसर पर राम द्वारा सीता के स्थान पर उनकी स्वर्ण-प्रतिमा स्थापित किये जाने पर सीता अपने जीवन को सारहीन अथवा निष्प्रयोजन समझने लगती हैं[2], जबकि विवाह के समय उनके मन में साथ रहकर जीने के और जीवन की सार्थकता पाने के अनेक रंगीन सपने थे।[3] जीवन की निरर्थकता के तीव्र बोध से नियति, अकेलापन, मृत्यु-कामना आदि के जो बोध जुड़े हैं, उनकी भी स्थान-स्थान पर अभिव्यक्ति हुई है। अकेलेपन के तीव्र बोध को व्यक्त करती हुई सीता कहती हैं "आप क्या जानें, इस संसार में नारी कितनी अकेली है।"[4] उन्हें मरण ही मुक्ति का एकमात्र उपाय प्रतीत होता है।[5] कवि ने नियति की परिभाषा भी नये ढंग से की है। कुछ दुःख ऐसे भी होते हैं जिन्हें आदमी सिर्फ भोगता है, वह उन्हें रचता नहीं, चाहता भी नहीं और उन्हें मिटाना भी उसके बस में नहीं होता। रथवान को जो "राक्षसी काम" करना पड़ा वह उसका भाग्य ही था।[6] सीता को लगता है कि किसी 'अन्ध नियति' से परिचालित होने के कारण ही राम कभी सही समय पर सही काम नहीं कर सकते।[7] आधुनिक युग-बोध से अनुप्राणित सीता आत्म-स्वातन्त्र्य की घोषणा करती हुई कहती है "अब मैं स्वतन्त्र हूँ, मुक्त हूँ, अपने आप में पूर्ण हूँ, आप अपनी निर्देशिका, आप अपनी कर्त्री और आप अपनी भोक्ता हूँ।"[8] स्पष्ट है कि इतना प्रखर स्वातन्त्र्य-बोध अस्तित्ववादी दर्शन में दीक्षित आधुनिक सीता में ही सम्भव है।

कवि ने नारी के सन्दर्भ में प्रेम और विवाह की समस्या को भी लिया है। सीता ने राम को स्वयंवर में वरण किया था, वह उनकी प्रेमिका थी, शास्त्र-सम्मत

---

१. **अग्निलीक**, पृ० ४७

२. "अब मुझे अपने अस्तित्व का एक-एक पल नरक-भोग लगता है। **वही**, पृ० ५६

३. "मेरे मन में कैसे-कैसे सपने थे
साथ-साथ जीने के
साथ-साथ जीवन की सार्थकता पाने के। वही, पृ० ४७

४. **वही**, ४४

५. इतने बड़े रामराज्य में
आज मुझसे ज्यादा निरुपाय कोई नहीं।
अब मैं जीकर क्या करूँगी,
अब तो मरण ही मेरी मुक्ति है। **वही**, पृ० ४५

६. **वही**, पृ० १७

७. **वही**, पृ० ३३

८. **वही**, पृ० ५५

वैवाहिक बन्धनों में बँधी परिणीता नहीं थी। प्रेमिका के रूप में राम के ऊपर उनका वैसा ही अधिकार था जैसा उनके ऊपर राम का, किन्तु राम सोते-जागते हर पल राजा ही बने रहे, कभी प्रेमी नहीं बन पाये।[1]

अग्निलीक में राम की दिग्विजय-यात्रा और चक्रवर्ती बनने की विस्तारवादी मनोवृत्ति तथा उससे जुड़े रक्त-पात की भी भर्त्सना की गयी है। आदिवासी वीर चरण की विसंगति और मानसिक विकृति युद्ध-बोध की ही परिणति है। सीता उसे संस्कृति के रूप में प्रणम्य प्रतीत होती हैं और राम की विजय-यात्रा विकृति के रूप में विगर्हणीय।

कुल मिलाकर अग्निलीक में शोषण और उत्पीड़न की नींव पर खड़ी राजतन्त्री व्यवस्था के विरुद्ध आवाज़ उठायी गयी है। मानव के मुक्त विकास में गत्यवरोध पैदा करने वाले तत्त्वों पर जमकर प्रहार किया गया है। इसमें परतन्त्रता और परपीड़न के विरुद्ध मानव-मुक्ति का सशक्त उद्घोष है। कवि ने विकृति के प्रति विद्रोह की अलख जगाकर सांस्कृतिक आशयों की सिद्धि की दिशा उन्मुक्त की है। कवि का मूल लक्ष्य यही रहा है कि जीवन के ऊपर लिपटे हुए धर्म, यज्ञ, ज्योतिष, शास्त्र, पुराण आदि के अबौद्धिक तथा पोंगापन्थी मकड़जालों को उतार कर अलग फेंका जाए और बोधगम्य तथा अनुभूति-ग्राह्य स्वस्थ और सन्तुलित जीवन की नैसर्गिक गति और शक्ति का मार्ग मुक्त हो। कवि ने राम की पाप-पीड़ा को आत्मघाती पलायन से मोड़कर उदात्त मूल्यों की प्रतिष्ठा द्वारा रामराज्य के जीर्णोद्धार से जोड़कर विघटन और विकृति पर संस्कृति की विजय दर्शायी है।

---

१. वही, पृ० ४६

उपसंहार

छायावादी युग तक सांस्कृतिक चेतना का प्रवाह विविध युगों की परिवर्तित परिस्थितियों के सन्दर्भ में विभिन्न रूपों में प्रकट होते हुए भी प्रायः अक्षुण्ण ही रहा। किन्तु प्रगतिवादी युग के आरम्भ में चिन्तन-केन्द्र सुदीर्घ सांस्कृतिक परम्परा से विच्छिन्न होकर फ्रायड, डार्विन, मार्क्स, और लेनिन आदि विदेशी दार्शनिकों के चिन्तन में स्थापित हो गया। इस प्रकार प्रगतिवादी युग-बोध सांस्कृतिक सातत्य और नवीन परिस्थितियों के मध्य घटित नये समायोग का स्वाभाविक परिणाम न था। यहीं से परम्परा के जीवन्त तत्वों को नये जीवन-सन्दर्भों के अनुरूप नयी व्यवस्था देने के स्थान पर उनके प्रति अनास्था प्रकट करने में गौरव अनुभव करने का युग प्रारम्भ हुआ। विदेशी संस्कारों और विचारों के प्रति अतिरिक्त आकर्षण की जिस प्रवृत्ति का उदय प्रगतिवादी युग में हुआ था, वह प्रयोगवाद और नयी कविता के युगों में और भी बढ़ती गयी। नयी कविता की संवेदना के मूल में स्थित जिस आधुनिकता और आधुनिक युग-बोध का उल्लेख किया जाता रहा है, उसकी प्रेरणा मार्क्सवाद, फ्रायड-वाद, विकासवाद, अस्तित्ववाद, सापेक्षवाद आदि विदेशी दर्शनों तथा विज्ञान-जनित औद्योगीकरण से उत्पन्न भौतिकवादी जीवन-दृष्टि की जटिल परिणतियों और समस्याओं से आकीर्ण भारतीय परिवेश से मिली है। वस्तुतः अपने सहज रूप में प्रत्येक युग की आधुनिकता अतीत की जीवन्त परम्पराओं से अनुप्रेरित, वर्तमान से प्रतिबद्ध और भविष्य के प्रति सजग जीवन-दृष्टि का परिणाम होती है। वह संस्कृति की गत्यात्मकता की परिचायक सतत विकासमान जीवन-दृष्टि है, जो युग-जीवन की समूची व्यवस्था को प्रभावित करती है। किन्तु नयी कविता के प्रसंग में जिस आधु-निकता का उल्लेख किया जा रहा है वह आधुनिकता के स्वस्थ स्वरूप से भिन्न वस्तून्मुखी वैज्ञानिक और भौतिकवादी दृष्टि का परिणाम है। अपने नवीन अर्थों में आधुनिकता परिवर्तित युग-बोध का परिचायक वह प्रत्यय है, जिसका प्रादुर्भाव वैज्ञानिक सभ्यता और औद्योगीकरण के विकास-क्रम के परिणामस्वरूप हुआ है वैज्ञानिक विश्लेषणपरक दृष्टि को जीवन, साहित्य और कला के क्षेत्र पर लागू करने से जीवन की समग्रता से विच्छिन्न क्षण का, अंश का, छोटी-छोटी घटनाओं का महत्त्व बढ़ गया है। सांस्कृतिक सातत्य खण्डित हो गया है। पदार्थेतर सभी मूल्य—सांस्कृतिक, धार्मिक, नैतिक और साहित्यिक आदि—खण्डित हो रहे हैं। पदार्थ को अथवा भौतिक अर्जन को सर्वोपरि महत्त्व देने वाली भौतिकतावादी सभ्यता में पदार्थ से पृथक् किसी सत्ता को स्वीकृति नहीं मिल रही है। इसी-लिए धार्मिक और ईश्वर-केन्द्रित मूल्यों के साथ मानवीय मूल्यों का भी विघटन

अवश्यम्भावी है। अहं-केन्द्रित व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति के प्राबल्य के कारण अर्थ और काम पर केन्द्रित असंयत भोगवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है। अ-सांस्कृतिक तथा अनास्थावादी भौतिक दृष्टि को साहित्य और कला के क्षेत्र में लागू करने से पारम्परिक प्रतिमानों के साथ ही प्रतिभा, साधना और संयम की शर्तें टूट रही हैं। साहित्यिक और कलागत मूल्यों के विघटन में पाश्चात्य साहित्यिक और कलागत आन्दोलनों—बिम्बवाद, प्रतीकवाद, दादावाद, घनवाद, अतियथार्थवाद आदि का भारी योग रहा है।

अज्ञेय के सम्पादकत्व में सन् १९४३ में 'तारसप्तक' का प्रकाशन हिन्दी कविता के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक घटना थी। यद्यपि प्रयोगवादी धारा के कवियों ने छायावादी अतिकाल्पनिकता और प्रगतिवादी वस्तुगत स्थूलता के प्रति आक्रोश व्यक्त किया, तथापि इनमें से कुछ कवियों में छायावादी, कुछ में प्रगतिवादी तथा कुछ में दोनों की प्रवृत्तियाँ किसी-न-किसी रूप में वर्तमान थीं। नयी मनःस्थिति की अभिव्यक्ति के अनुरूप नयी भाषा की प्रकृत माँग को सम्पादक द्वारा जाने-अनजाने 'प्रयोग' की जो पारिभाषिक संज्ञा दी गयी, उसने न केवल कवियों की दृष्टि को सीमित किया, वरन् कविता के मूल्यांकन के प्रतिमानों की स्थिति को भी धूमिल और दिग्भ्रान्त कर दिया। सायास उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना, जिन्हें अभी नहीं छुआ गया है या अभेद्य मान लिया गया है और शब्दों में साग्रह 'साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ' भरने की चेष्टा कविता के सहज स्वरूप को विकृत करने की चेष्टा से भिन्न नहीं है। राजनीति के क्षेत्र में जिस प्रकार नेहरू ने धर्मनिरपेक्षता, तटस्थता, पंचशील, हिन्दुस्तानी भाषा, समाजवादी व्यवस्था, जैसी उलझी हुई शब्दावली को प्रचारित करके भारतीय जनता को दीर्घकाल तक अपने व्यक्तित्व के सम्मोहन में बाँधे रखा, उसी प्रकार अज्ञेय ने कविता के क्षेत्र में नयी किन्तु उलझी हुई पारिभाषिक शब्दावली गढ़कर अपने नेतृत्व को स्थापित किया। 'तारसप्तक' के उपरान्त सप्तकों की जो परम्परा चली, उसके भी घातक परिणाम निकले। कवियों तथा विशेषतः सम्पादक के सैद्धान्तिकतापूर्ण वक्तव्यों ने घोषणापत्रों का रूप ग्रहण कर लिया, जिनसे कवियों, कविता तथा आलोचना के मानदण्डों के विषय में भ्रान्तियाँ फैलीं और संवेदना तथा अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में एक प्रकार की भ्रष्टता और संकीर्णता का प्रारम्भ हुआ।

प्रयोग की जिस प्रवृत्ति का विकास 'तार सप्तक' से प्रारम्भ हुआ था, वह आगे चलकर दो रूपों में प्रकट हुई। प्रयोग को साधन मान कर चलने वाली प्रवृत्ति को 'प्रयोगशीलता' और प्रयोग को साध्य मान कर चलने वाली अतिवादी काव्य-प्रवृत्ति को 'प्रपद्यवाद' या 'नकेनवाद' नाम से अभिहित किया गया। उक्त प्रगतिशीलता की प्रवृत्ति से ही आगे चलकर 'नयी कविता' का विकास हुआ। नयी कविता के विकास में 'प्रतीक', 'नये पत्ते', 'नयी कविता', 'निकष', 'युग-चेतना', 'कल्पना', 'ज्ञानोदय' आदि पत्रिकाओं का विशेष योग रहा है। सन् १९५१ में प्रकाशित 'दूसरा सप्तक' वस्तुतः एक ऐसा साहित्यिक प्रयत्न था, जिसमें प्रयोगशीलता ने 'नयी कविता' के रूप में नया संस्कार ग्रहण कर लिया था। 'नयी कविता' के विकास का अग्रिम सोपान

'तीसरा सप्तक' है जिसका प्रकाशन सन् १९५९ में हुआ। यद्यपि अज्ञेय ने 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में स्वयं को 'नयी कविता' के प्रवाह से सम्बद्ध करने के उद्देश्य से कहा कि जिसे अब 'नयी कविता' की संज्ञा दी जाती है, वह भाषा-सम्बन्धी प्रयोगशीलता को वाद की सीमा तक नहीं ले गयी है—बल्कि ऐसा करने को अनुचित भी मानती रही है, तथापि उन्होंने अपने वक्तव्य में कवियों को ऐसे सुझाव भी दिये हैं, जिनमें साहित्यिक दलबन्दी और आत्म-विज्ञापन की गन्ध आती है।

इस साहित्यिक संरक्षण और सहयोगी विज्ञापन की प्रेरणा ने कविता के क्षेत्र में उस हीन मनोवृत्ति को जन्म दिया, जिससे कवियों ने साधना, प्रतिभा और काव्यगत अनुशासन की शर्तों की उपेक्षा करके अपनी निम्नकोटि की रचनाओं को ही सैद्धान्तिक पोषण और दलगत समर्थन प्रदान करना प्रारम्भ किया। 'शिल्प', 'रचना-प्रक्रिया', 'नयी संवेदना', 'आधुनिकता' आधुनिक युग-बोध, सह-अनुभूति, अर्थ की लय, नयी कविता के प्रतिमान, और कविता के नये प्रतिमान, जैसी शब्दावली को उछालकर इतना सैद्धान्तिक उलझाव पैदा किया गया कि सच्ची अनुभूति और अभिव्यक्ति का स्वरूप ही विवादास्पद और संदिग्ध हो गया। कविता व्यवसाय बन गयी और कवियों ने अपने व्यावसायिक हितों की रक्षा के लिए मनगढन्त सिद्धान्तों को प्रचारित किया। जिस प्रकार अज्ञेय ने नयी कविता के विकास के प्रारम्भिक युग में साहित्यिक नेतृत्व अपने हाथ में लेकर जाने-अनजाने हिन्दी कविता के स्वाभाविक विकास-क्रम में गत्यवरोध पैदा किया, ठीक उसी प्रकार अज्ञेय को अपदस्थ करके अपना नेतृत्व स्थापित करने के मोह में, आगे चलकर डॉ० जगदीश गुप्त और उनके मण्डल के कवियों ने कविता की गति को सैद्धान्तिक व्यामोह में फँसाये रखने की चेष्टा की। सन् १९६० के उपरान्त तो कविता अनेक नामों और रूपों में स्थायी मानव-मूल्यों और काव्यगत अनुशासनों की अवहेलना करके व्यावसायिक मूल्यवत्ता अर्जित करने के उद्देश्य से उपस्थित हुई।

उपर्युक्त विवेचन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि आधुनिक जीवन की गम्भीर समस्याओं और उनसे सम्बद्ध संवेदनाओं को उनके व्यापक सन्दर्भों से संयुक्त करके व्यक्त करने की दिशा पूर्णतः अवरुद्ध हो गयी थी। सन् १९५४ में प्रकाशित धर्मवीर भारती कृत 'अन्धायुग' ने वर्तमान जीवन की विषमता को महाभारत के कथानक से सम्पृक्त करके मोहान्धता, अर्द्धसत्य, विघटन, मूल्यहीनता, संत्रास, घृणा आदि गति-विरोधी तत्त्वों पर मर्यादा, आस्था, सत्य और मानव-प्रेम आदि स्थायी मानव-मूल्यों की पुनर्स्थापना की। यह ही नहीं उन्होंने रस, छन्द, अलंकार और सम्प्रेषणीयता आदि काव्यगत स्थायी मूल्यों को भी नये सिरे से मान्यता प्रदान करके अपनी विरल सूझ-बूझ और विलक्षण काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया। अन्धायुग की कविता कृत्रिम व्यावसायिक, दिशाहीन, मूल्यहीन तथाकथित कविता के ऊपर सच्ची कविता की विजय थी। इसके उपरान्त गिरिजाकुमार माथुर कृत पृथ्वीकल्प, डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल-कृत 'सूखा सरोवर', नरेश मेहता-कृत 'एक कण्ठ विषपायी' और अज्ञेय-कृत 'उत्तरप्रियदर्शी' नामक नाट्य-काव्यों की रचना हुई, जिनमें युद्ध, घृणा, द्वेष आदि विघटनकारी प्रवृत्तियों

के चित्रण में से ही मर्यादा, प्रेम, सत्य आदि महान् मानवीय मूल्यों को उद्‌भासित किया गया है।

उपर्युक्त नाट्य-काव्यों के रूप और अभिव्यंजना-कौशल का पर्यालोचन करने से पूर्व यहाँ रूप और अभिव्यंजना के विषय में विचार करना उपयोगी होगा। वस्तुतः रूप को निर्धारित करने वाला तत्त्व अर्थ है। अर्थ दो प्रकार के होते हैं—(१) बौद्धिक और (२) भावात्मक अथवा काव्यात्मक। बौद्धिक अर्थों में तर्क-पद्धति का प्रश्रय लिया जाता है। जब तर्क वस्तु के विश्लेषण में अग्रसर होता है तो वैज्ञानिक अर्थों की उत्पत्ति होती है और जब वह विचारों (कन्सैप्ट्स) के विश्लेषण में अग्रसर होता है, तो दार्शनिक अर्थों का उदय होता है। इस प्रकार बौद्धिक अर्थ दो प्रकार के होते हैं वैज्ञानिक और दार्शनिक। ये अर्थ बौद्धिक, पारिभाषिक कोशगत या अभिधात्मक और गद्यात्मक होते हैं, अतः इनका 'रूप' से कोई सम्बन्ध नहीं है। यही कारण है कि वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रन्थों के संक्षिप्त संस्करण भी मूल के स्थानापन्न हो सकते हैं, क्योंकि उनमें रूप और अर्थ का अविभाज्य सम्बन्ध नहीं होता या यों कहना उपयुक्त होगा कि उनमें रूप होता ही नहीं। ये अर्थ सूक्ष्म, सामान्य, अरूप होते हैं। यद्यपि वैज्ञानिक अर्थों में ऐन्द्रिय बोध का आश्रय लिया जाता है तथापि बोध या ज्ञान के स्तर पर ही। वैज्ञानिक किसी वस्तु का निरीक्षण इसलिए नहीं करता कि ऐसा करने में उसे ऐन्द्रिय सुख या रस मिलता है। बौद्धिक अर्थों को एक भाषा से दूसरी भाषा में सफलतापूर्वक अनूदित किया जा सकता है। इसके विपरीत भावात्मक अर्थ सन्दर्भ-मूलक, विशेष-व्यापार-सूचक, सादृश्य-मूलक (आलंकारिक या बिम्बात्मक या प्रतीकात्मक) और ऐन्द्रिय होते हैं। जहाँ बौद्धिक अर्थों की अभिव्यक्ति में भाषा केवल साधन मात्र होती है वहाँ भावात्मक अर्थों की अभिव्यक्ति में भाषा अर्थ से पूर्णतः सम्पृक्त होने के कारण वह साधन मात्र न होकर अर्थ की ही भाँति साध्य होती है। यही कारण है कि अलंकार, छन्द, बिम्ब, प्रतीक, तुक, लय आदि अभिव्यंजना के तत्त्व न केवल भावगत होते हैं और न केवल भाषागत, वरन् वाक् और अर्थ की सम्पृक्ति से निष्पन्न होते हैं। उपर्युक्त सभी तत्त्व संयुक्त रूप में काव्यार्थ को वहन करते हैं और काव्य-रूप की रचना करते हैं। वस्तु (आलम्बन) और उसके प्रति व्यक्ति की रागात्मक प्रतिक्रिया से ही काव्यगत रूपों का उदय होता है। वस्तुगत यथार्थ और व्यक्तिगत अनुभूति के विभिन्न संघातों से ही विभिन्न काव्य-रूप जन्म लेते हैं। इसके विपरीत वैज्ञानिक और दार्शनिक अर्थ क्रमशः वस्तु और विचार तक ही सीमित रहते हैं, उनमें व्यक्ति के राग-तत्त्व का सामंजस्य नहीं रहता। रूप केवल अभिव्यक्ति की पद्धति मात्र नहीं है, वह भाव या अर्थ का कलात्मक मूर्तन या प्रस्तुतीकरण है। अनुभव करने के ढंग से अनुभूति के रूप-विधान में चारुत्व आता है। रचना-प्रक्रिया के क्षणों में अनुभूति अभिव्यक्ति के तत्त्वों से तदाकार होकर ही उभरती है। इस प्रकार प्रस्तुतीकरण के ढंग का, जिसे 'शैली' कहा जाता है, रूप-विधान में महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु रूप स्वयं में प्रस्तुतीकरण का

ढंग न होकर प्रस्तुतीकरण ही है। रूप के गठन में 'शैली' या 'विधि' का महत्त्व होने के कारण ही विधा शब्द का प्रयोग भी अनेक बार रूप के अर्थ में होता है।

प्रश्न उठता है कि विभिन्न काव्य-रूपों की भिन्नता का आधार क्या है? व्यक्ति की वस्तु के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया के स्वरूप की भिन्नता से विभिन्न काव्य-रूपों का उदय होता है। यद्यपि बहिर्जगत् के प्रति अन्तर्जगत् की प्रतिक्रियाओं की कोई सीमा नहीं है तथापि मोटे तौर पर उन प्रतिक्रियाओं के आधार पर संवेदनशील व्यक्तियों (कवियों) के मनों को निम्नलिखित तीन वर्गों में रखा जा सकता है—(१) बहिर्मुखी, (२) अन्तर्मुखी और (३) बहिर्मुखी-अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी कवि वस्तु-प्रधान काव्यों की रचना करता है तथा अभिधात्मक भाषा का प्रयोग करता है। अन्तर्मुखी कवि भाव-प्रधान गीतों की रचना करता है और लाक्षणिक तथा प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग करता है। बहिर्मुखी-अन्तर्मुखी कवि गीत भी लिख सकता है और प्रबन्ध काव्य भी और नाटक तथा नाट्य-काव्य भी। जिस कवि में अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता का जितना उदात्त एवं जटिल सामंजस्य होता है, वह उतना ही श्रेष्ठ कवि हो सकता है। कवि-मनों की भाँति ही बहिर्जगत् की परिस्थितियों को भी दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) तीव्र प्रभाव उत्पन्न करने वाली अचिरस्थायी परिस्थितियाँ तथा (२) व्यापक प्रभाव उत्पन्न करने वाली सुदीर्घ परिस्थिति-शृंखला। उपर्युक्त तीनों प्रकार के कवि-मानसों का जब उक्त दोनों प्रकार की परिस्थितियों से सम्पर्क होता है तो विभिन्न काव्य-रूपों अथवा साहित्य-रूपों का जन्म होता है। कवि द्वारा अर्जित भाषा भी उसके द्वारा गृहीत काव्य-रूप को प्रभावित करती है। पाठक भी अप्रत्यक्ष रूप से काव्य-रूप के स्तर को प्रभावित करता है।

भारतीय आचार्यों ने छन्द के अभाव और सद्भाव की दृष्टि से काव्य के तीन भेद—गद्य, पद्य और चम्पू-माने हैं। उन्होंने विषय की दृष्टि से काव्यों के चार भेद किये हैं (१) ख्यातवृत्त, (२) कल्पित (उत्पाद्य), (३) कलाश्रित और (४) शास्त्राश्रित। भाषा की दृष्टि से उन्होंने काव्य के संस्कृत काव्य, प्राकृत काव्य, अपभ्रंश काव्य और मिश्र काव्य नामक भेद स्वीकार किये हैं। श्राहिका इन्द्रिय के आधार पर संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के दो भेद—श्रव्य तथा दृश्य माने गये हैं। प्रबन्धात्मकता अथवा काव्यबन्ध के आधार पर संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के पाँच भेद (१) सर्ग-बन्ध, (२) अभिनेयार्थ, (३) आख्यायिका, (४) कथा और (५) अनिबद्ध (मुक्तक) माने हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र में गुणवत्ता अथवा अर्थोत्कर्ष की दृष्टि से भी काव्य के भेद किये गये हैं। ध्वनि की प्रधानता, गौणता और अभाव के आधार पर काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम भेद माने गये हैं।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में काव्य-रूपों के वर्गीकरण की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया, जितना भारतीय काव्य-शास्त्र में दिया गया है। अरस्तू ने अपने पोयटिक्स में त्रासदी, कॉमदी, एपिक, डिथिरेम्ब (स्तोत्र या महगान) का विवेचन किया है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में आत्मनिष्ठ (सब्जैक्टिव) और वस्तुनिष्ठ (आब्जैक्टिव) नाम से काव्य के दो भेद माने गये हैं। 'लिरिक', 'ओड', 'एलेजी' और 'सोनेट' आत्मनिष्ठ

कविता के रूप हैं और बैलैड, एपिक, मेटरिकल रोमांस, ड्रेमेटिकपोयट्री, पोयटिक ड्रामा, लिरिकल ड्रामा, ड्रेमेटिक मोनोलाग आदि वस्तुनिष्ठ कविता के रूप हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जिन कृतियों में नाटकीय तथा काव्यात्मक तत्त्वों का सामंजस्य घटित हुआ है, उन्हें नाट्य-काव्य कहें या काव्य-नाट्य ? टी० एस० इलियट के अनुसार नाट्य-काव्य या काव्य-नाट्य गद्य-लेखकों के द्वारा नहीं लिखे जा सकते, वे केवल कवियों द्वारा ही लिखे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें नाट्य-काव्य कहना ही अधिक समीचीन है। जब नाटकीय परिस्थिति भावात्मक तीव्रता के ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाय कि उसकी अभिव्यक्ति के लिए कविता अनिवार्य हो उठे, तब कविता की अनिवार्यता को ध्यान में रखकर उसे 'नाट्य-काव्य' नाम से अभिहित करना ही समुचित है। कविता में लिखी गयी कोई भी कथा (प्रबन्ध) चाहे वह औपन्यासिक तत्त्वों से युक्त हो या नाटकीय तत्त्वों से—काव्य ही कहलायेगी नाटक या उपन्यास नहीं। अतः नाटकीय तत्त्वों से युक्त काव्य को 'नाट्य-काव्य' कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। इसलिए प्रचलित पद्य-नाटक गीति-नाट्य, काव्य-रूपक नाम भी युक्ति-संगत नहीं है। नाट्य-काव्य के छह तत्त्व हैं—(१) कथानक, (२) पात्र और चरित्र-चित्रण, (३) संवाद, (४) अभिव्यंजना, (५) अभिनेयता और (६) उद्देश्य। अन्य विधाओं से नाट्य-काव्य का विधागत वैशिष्ट्य यही है कि इनमें नाटकीय तथा काव्यात्मक, वस्तुपरक तथा व्यक्तिपरक, पाठ्य तथा रंगमंचीय तत्त्वों का जटिल संघात घटित होता है। कवि-मानस की सभी क्षमताओं—कल्पना, भावना और बुद्धि का जैसा उत्कृष्ट संयोजन नाट्य-काव्य में सम्भव है, वैसा अन्य विधाओं में नहीं। जिन कवियों में बहिर्मुखता तथा अन्तर्मुखता का विरल सामंजस्य रहता है, वे ही उत्कृष्ट नाट्य-काव्यों की रचना कर सकते हैं।

रूप और अभिव्यंजना परस्पर अविच्छिन्न होते हैं। अभिव्यंजना का स्वरूप अर्थों के स्वरूप पर निर्भर होता है। काव्यात्मक अर्थ बौद्धिक अर्थों—वैज्ञानिक और दार्शनिक—से भिन्न होते हैं। इसीलिए कविता की भाषा विज्ञान और दर्शन की भाषा से भिन्न होती है। विज्ञान और दर्शन की भाषा पारिभाषिक, अभिधात्मक, गद्यात्मक और बिम्बहीन होती है, जबकि कविता की भाषा सादृश्यमूलक या उपमानात्मक, आलंकारिक, प्रतीकात्मक, बिम्बात्मक और मानव-मूल्यों से युक्त होती है। काव्य-भाषा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(क) कविता की भाषा पारिभाषिक न होकर विशेष-व्यापार-सूचक होती है।
(ख) कविता की भाषा सृजनात्मक होती है।
(ग) कविता की भाषा का अनुवाद नहीं हो सकता।
(घ) कविता की भाषा सादृश्यमूलक या उपमानात्मक होती है।
(ङ) कविता की भाषा लयात्मक होती है।
(च) कविता की भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न होते हुए भी जीवन-रस उसी से लेती है।
(छ) कविता की भाषा सांस्कृतिक मूल्यों की भाषा होती है।

अभिव्यंजना के तत्त्व निम्नलिखित हैं—(१) बिम्ब-विधान, (२) प्रतीकयोजना, (३) अलंकार-योजना और (४) लय तथा तुक।

यों तो नाटकीय कविता उतनी ही पुरानी है जितने पुराने स्वयं नाटक और काव्य। नाटकीय और काव्यात्मक तत्त्वों के सामंजस्य के उदाहरण परम प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। हिन्दी में आधुनिक ढंग के नाट्य-काव्यों की परम्परा का प्रारम्भ जयशंकर प्रसाद के 'करुणालय' से हुआ। मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'अनघ' और 'पृथिवीपुत्र' जिसमें 'दिवोदास', 'जयिनी' और 'पृथिवीपुत्र' नामक नाट्य-काव्य संगृहीत हैं, हिन्दी नाट्य-काव्यों की परम्परा की कड़ियाँ हैं। सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त' नाट्य-काव्य की अपेक्षा 'काव्य' ही अधिक है। भगवतीचरण वर्मा का 'तारा' एक उत्कृष्ट कोटि का नाट्य-काव्य है, जिनमें मनोद्वन्द्वों की तीव्रता के कारण नाटकीयता और कवित्व का मधुर सामंजस्य घटित हुआ है। नाट्य-काव्यों की परम्परा में उदयशंकर भट्ट का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। "विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य" "अशोक-वन वन्दिनी और तीन गीति-नाटक" और 'कालिदास' इनके नाट्य-काव्यों", के संग्रह हैं। इनके अतिरिक्त भट्ट जी ने 'एकला चलो रे' तथा 'नहुष निपात' नामक नाट्य-काव्यों की रचना की है। सुमित्रानन्दन पन्त के नाट्य-काव्यों के तीन संग्रह 'शिल्पी', 'रजत-शिखर' और 'सौवर्ण' प्रकाशित हो चुके हैं। पन्त जी के नाट्य-काव्यों में न तो नाटकीयता का ही सम्यक् समावेश है और न कवित्व का ही। कथानक, पात्र और भाषा कृत्रिम और यान्त्रिक हैं। रामधारीसिंह दिनकर द्वारा विरचित 'उर्वशी' एक वृहत् नाट्य-काव्य है, जिसमें नाटकीयता की अपेक्षा कवित्व की प्रधानता है। भावों के मंथन और भाषा के अनुभूति-प्रेरित प्रवाह की दृष्टि से यह नाट्य-काव्य विशेष उल्लेखनीय है। सिद्धनाथ कुमार द्वारा प्रणीत 'सृष्टि की साँझ' और अन्य काव्य नाटक में पाँच नाट्य-काव्य संगृहीत हैं।

नयी कविता के युग में लिखे गये नाट्य-काव्यों में धर्मवीर भारती कृत—'अन्धायुग', एक अत्यन्त सशक्त एवं प्रौढ़ रचना है। सन् १९५४ में उसके प्रकाशन के उपरान्त तो नये ढंग के नाट्य-काव्यों की एक परम्परा ही प्रारम्भ हो गयी। रूप और अभिव्यंजना की दृष्टि से पर्यालोचन करने पर भारती का अन्धायुग एक सशक्त एवं प्रौढ़ नाट्य काव्य ठहरता है। अन्धायुग का कथानक महाभारत के उत्तरार्द्ध के शल्यपर्व, सौप्तिक पर्व, स्त्री पर्व, शान्ति पर्व, आश्रमवासिक पर्व, मौसल पर्व, महाप्रस्थानिक पर्व के चुने हुए मार्मिक प्रसंगों की संयोजना द्वारा निर्मित है। कवि ने प्रसंगों के चयन और संयोजन में अद्भुत कलात्मक संयम और विलक्षण समाहार-शक्ति का परिचय दिया है। कवि ने प्रख्यात कथावस्तु में कुछ अर्द्ध-उत्पाद्य और उत्पाद्य प्रसंगों का समावेश करके उसे अपने कथ्य की सम्प्रेषणीयता के उपयुक्त, सशक्त माध्यम के रूप में परिणत किया है। भारती ने कथानक को अन्वित और व्यवस्थित करने में प्रभावात्मक संघनन की पद्धति अपनायी है। प्रसंगों को प्रतीकात्मक रूप देकर, सम और विषम प्रभाव वाले प्रसंगों को परस्पर सटाकर, प्रभावोत्पादक सहकारी प्रसंगों की उद्भावना करके, कथागायनों के माध्यम से भूत, वर्तमान और भविष्य की

घटनाओं को परस्पर सुगुम्फित रूप में प्रस्तुत करके तथा संजय की दिव्य दृष्टि द्वारा अप्रस्तुत और अदृश्य प्रसंगों को भी दृश्य बनाकर कवि ने अपनी प्रभावात्मक संघनन की पद्धति को सफल बनाया है। कथानक के दिव्य तथा अलौकिक प्रतीत होने वाले प्रसंग भी मानवीय सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में सार्थक, प्रभावोत्पादक और सोद्देश्य हैं। कवि ने प्रख्यात और उत्पाद्य कथावस्तु के समान ही प्रख्यात और स्व-कल्पित पात्रों की योजना की है। कृष्ण, अश्वत्थामा, धृतराष्ट्र, गांधारी, युयुत्सु, संजय, दुर्योधन, विदुर, कृपाचार्य, कृतवर्मा आदि प्रख्यात पात्र हैं। कवि-कल्पित पात्र मूल पात्रों की विसंगतियों को उभारने के समर्थ वाहन सिद्ध हुए हैं और अपनी प्रभावोत्पादकता में वे पूर्णतः यथार्थ प्रतीत होते हैं। धृतराष्ट्र, गान्धारी, युयुत्सु, संजय और अश्वत्थामा आदि पात्र मूलतः मोह, ममता, कुण्ठा, आत्मग्लानि, प्रतिहिंसा आदि मनोभावों के व्यंजक होने के कारण अपनी क्रिया-प्रतिक्रियाओं और उक्तियों द्वारा कृति के प्रभाव में वृद्धि करते हैं। भारती ने मानवीय और दिव्य पात्रों के अतिरिक्त वृद्ध याचक और युयुत्सु की प्रेतात्माओं को भी पात्र रूप में उपस्थित किया है। अन्धायुग के प्रायः सभी पात्र चिन्तनशील और भावुक हैं। भारती ने उन्हें तीखी परिस्थितियों के मध्य रखकर उनकी तीव्र भावात्मक और व्यावहारिक प्रतिक्रियाओं को उभारा है तथा इस प्रकार उनके चरित्र और अन्तर्मन की असंगतियों का सफलतापूर्वक उद्घाटन किया है।

भारती ने चरित्र-चित्रण की निम्नलिखित चार पद्धतियों का प्रश्रय लिया है—(१) विशेष पात्र की उक्तियों द्वारा उसके चरित्र की व्यंजना, (२) विशेष पात्र की क्रियाओं द्वारा उसके चरित्र की व्यंजना, (३) अन्य पात्रों की उक्तियों द्वारा उसके चरित्र की व्यंजना (भारती ने प्रहरियों के रूप में समीक्षक पात्रों की अवतारणा की है) (४) कथागायनों के माध्यम से स्वयं कवि द्वारा उसके चरित्र की व्यंजना। कृष्ण जैसे दिव्य पात्र को भी कवि ने यथार्थ के सहज मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। कृष्ण अपने भावात्मक रूप में आस्था मर्यादा सृजन-प्रेरणा और रस के प्रतीक है। भारती के प्रायः सभी पात्र जीवन की कटुताओं और विसंगतियों को भोगते हुए अन्त में कृष्णोन्मुख होकर उन्हें अतिक्रान्त करते हैं। आस्था, मर्यादा और सृजन-प्रेरणा के सम्पर्क से सबका उद्धार होता है। पात्रों के संवादों की भाषा बिम्बात्मक, तीखी, ऐन्द्रिय संवेदनाओं से युक्त, गति-व्यापार-सूचक, स्वर (टोन) के आरोह-अवरोह से युक्त, मार्मिक और व्यंजक है। भाषा बोलचाल की भाषा के निकट होने के कारण लोक-जीवन के सन्दर्भों और भय, घृणा, हिंसा, प्रतिहिंसा, क्रोध, ममता आदि अनुभूतियों को उभारने में सक्षम है। संवाद कहीं प्रश्नोत्तर के रूप में हैं, कहीं पूरक कथन के रूप में। भावपूर्ण तीव्र मनःस्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए स्वगत कथन का आश्रय लिया गया है। संक्षेप में, संवाद भावपूर्ण, बिम्बात्मक, संक्षिप्त, मार्मिक और गत्वर हैं।

भारती की भाषा की सबसे बड़ी शक्ति उसकी बिम्बमूलकता है। उन्होंने साहित्यिक शब्दावली के अतिरिक्त उर्दू बोलचाल के शब्दों और मुहावरों का भी प्रयोग किया है। भारती के बिम्ब तीखे और तराशे हुए हैं और वे तीखी ऐन्द्रिय

संवेदनाओं और तीव्र लोकानुभूतियों से जीवनी शक्ति ग्रहण करते हैं। भारती ने प्रतीकात्मक बिम्बों की भी सफल सृष्टि की है। भारती ने बिम्बों की सृष्टि में भाषा के सभी अवयवों—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया-विशेषण, क्रिया आदि—की रूप-विधायिका क्षमता का पूर्ण उपयोग किया है। अन्धायुग में प्रतीक-योजना तीन रूपों में मिलती है—(१) प्रतीकात्मक प्रसंगों के रूप में, (२) प्रतीकात्मक पात्रों के रूप में, (३) शब्द-प्रतीकों के रूप में। यों तो अन्धायुग में स्थान-स्थान पर अनेक अलंकारों का प्रयोग हुआ है, किन्तु कवि की अनुभूति के प्रकृत माध्यम उपमा और रूपक अलंकार हैं। भारती ने जीवन और जगत् के विविध क्षेत्रों से अछूते किन्तु उपमेयों के साथ सादृश्य और साधर्म्य की गम्भीर सम्भावनाओं से युक्त उपमानों की योजना करके सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति और विलक्षण काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। लय और तुक की दृष्टि से अन्धायुग को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) कथागायनों में लय और तुक, (२) संवादों में लय और तुक। कथागायनों में मन्थर गति वाली विलम्बित लयों और लघु आकार वाली क्षिप्र लयों का समावेश हुआ है। इन दोनों प्रकार की लयों में नियमित और अनियमित रूप से प्रयुक्त तुकों का भारी योग रहा है। संवादों की लय के भी दो रूप उपलब्ध हैं—(१) मुक्त छन्द की लय और तुक तथा (२) वृत्तगन्धी गद्य की लय और तुक। संवादों में तुकों का बहुत कम प्रयोग मिलता है। सुगठित संघर्षपूर्ण कथानक, मार्मिक गत्वर संवाद और बिम्बात्मक भाषा के कारण अन्धायुग एक अभिनेय कृति है। अभिनय की दृष्टि से कथा गायनों का विशेष महत्त्व है। दृश्य-परिवर्तन या अंक परिवर्तन के समय कथा-गायन की योजना है। कथानक की जो घटनाएँ मंच पर नहीं दर्शायी जा सकतीं, उनकी सूचना देने, संवादों के साथ गेय काव्यांशों को पूरक रूप में नियोजित करने तथा पात्रों और परिस्थितियों की भावपूर्ण व्यंजना की दृष्टि से कथागायन की पद्धति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। रेडियो रूपक की दृष्टि से भी अन्धायुग की अभिनेयता असन्दिग्ध है।

भारती ने पौराणिक-ऐतिहासिक सन्दर्भ में यह सत्य अधिगत किया है कि युद्ध मानव नियति का सबसे बड़ा अभिशाप है। अन्धी ममता और मर्यादाहीन आचरण से युद्ध का उदय होता है। युद्ध में पराजित और विजयी दोनों पक्षों को ही भारी क्षति सहनी पड़ती है। अन्धायुग के प्रायः सभी पात्र ह्रासोन्मुखी विघटनग्रस्त युद्ध-संस्कृति के दंशों से पीड़ित होने के कारण असन्तुलित और प्रतिहिंसा-प्रेरित हैं और इसीलिए किसी न किसी अनुपात में मर्यादाहीन और अनैतिक भी हैं। प्रतिहिंसा मनुष्य को अश्वत्थामा के समान बर्बर पशु बना देती है। युद्ध की विघटनकारी परिणतियों का दंश सभी को सहना पड़ता है, फिर चाहे वे तटस्थ द्रष्टा संजय हों, या सत्य के पक्षधर युयुत्सु या स्वयं भगवान् कृष्ण। कवि ने युद्ध के कारण की खोज मर्यादाहीनता और मोहान्धता में की है और उसके निवारण की खोज मर्यादा, अनासक्त कर्म, आस्था और सृजन आदि मानवीय मूल्यों में की है, जिनके प्रतीक कृष्ण हैं। कवि ने उत्तरदायित्वपूर्ण मर्यादित आचरण और अनासक्त कर्मयोग की

स्थापना में गीता के साथ ही अस्तित्ववादी दर्शन से भी प्रेरणा ली है। संक्षेप में, अन्धायुग एक सफल और सशक्त नाट्य-काव्य है।

नयी कविता के युग का दूसरा नाट्य-काव्य पृथ्वीकल्प है। गिरिजाकुमार माथुर ने नाटकीयता तथा कवित्व के गुणों से युक्त रचना को 'नाट्य-काव्य' संज्ञा से अभिहित करके गहरी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। पृथ्वीकल्प का कथानक पूर्णतः उत्पाद्य है। कथानक जीवन-सन्दर्भों की सुगठित शृंखला के रूप में न होकर कवि के वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक और ऐतिहासिक चिन्तन के असम्बद्ध संग्रह के रूप में है। कथानक प्रारम्भ में अति-काल्पनिक और उत्तरार्द्ध में अति वैचारिक है। कवि ने पृथ्वीकल्प के चारों छायांकों में आवश्यकता के अनुसार नये पात्रों का आविष्कार किया है। कोई भी पात्र समूचे नाट्य-काव्य में आद्योपान्त विद्यमान नहीं है। यहाँ पात्रों से कथानक और कथानक से पात्र विकसित होते नहीं दिखलाई पड़ते। पात्र समग्र कथानक और कथ्य से कटे हुए हैं। न तो उनका निजी जीवन है न जीवन-संघर्ष। वे कवि के विचारों के वाहक यन्त्र मात्र हैं। पृथ्वीकल्प में संवादों के स्थान पर एकालापों का प्रयोग हुआ है। एकालापों के माध्यम में किसी कृति के कथानक, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य आदि तत्त्वों को आन्तरिक रूप में अन्वित करने की क्षमता नहीं होती। इसीलिए एकालापों के प्रयोग से रचना के मूल ढाँचे में ही बिखराव आ जाता है। गिरिजाकुमार माथुर ने प्रस्तुत नाट्य-काव्य को 'विज्ञान-काव्य' कहा है और मूल नाट्य-काव्य से पूर्व भूमिका के रूप में वैज्ञानिक भाषा के कविता में प्रयोग के पक्ष में परस्पर विरोधी तर्क प्रस्तुत किये हैं। नई भाषा के आविष्कार की इसी प्रवृत्ति के कारण पृथ्वीकल्प में दुरूह वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली का बाहुल्य है, जिससे कविता का रूप ही हास्यास्पद हो गया है। कवि ने अनेक स्थानों पर शब्दों और वाक्यों के प्रयोग में व्याकरण का ध्यान नहीं रखा है। इसीलिए भाषागत स्खलन पर्याप्त हैं। फिर भी जहाँ कवि अपने आग्रहों से मुक्त हो सका है, वहाँ कविता में बिम्ब, प्रतीक, अलंकार, लय तथा तुक से युक्त भावपूर्ण स्थल स्वतः समाविष्ट हो गये हैं। पृथ्वीकल्प के उत्तरार्द्ध में कई अंश बिम्ब, प्रतीक, लय की दृष्टि से किसी भी उत्तम से उत्तम रचना से टक्कर ले सकते हैं, किन्तु खेद यही है कि ऐसे स्थल सारी रचना के अनुपात में बहुत कम हैं। व्यवस्थित कथानक, व्यक्तित्व-प्रधान-पात्र-योजना, कथोपकथन, पात्रों के पारस्परिक जीवन-संघर्ष के अभाव में पृथ्वीकल्प की अभिनेयता नितान्त सन्दिग्ध है। पूर्वार्द्ध में कुछ ऐसे अति-प्राकृतिक दृश्यों की भी योजना है, जिन्हें मंच पर किसी प्रकार प्रस्तुत किया ही नहीं जा सकता। वैज्ञानिक युग में मानव-मूल्यों के व्यापक विघटन का चित्र उपस्थित करना ही 'पृथ्वीकल्प' का उद्देश्य रहा है, किन्तु यह उद्देश्य पात्रों और परिस्थितियों से समन्वित होकर ध्वनित नहीं हो सका है, कुछ पात्रों के मुख से कहलाया गया है। संक्षेप में, रूप और अभिव्यंजना की दृष्टि से पृथ्वीकल्प को सफल नहीं कहा जा सकता। फिर भी इतना तो अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि कवि में उत्तम रचना की क्षमताएँ निहित हैं, जिनका आभास बीच-बीच में आई हुई सशक्त एवं प्रभावपूर्ण पंक्तियों से मिलता है।

'पृथ्वी और कविता का कल्प करने के आग्रह ने कवि को अपने सहज पथ से विचलित किया है।

तीसरा नाट्य-काव्य डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल-कृत 'सूखा सरोवर' है। इसका कथानक एक लोक-गाथा पर आश्रित है। इसीलिए लेखक ने इसे 'लोकधर्मी' गाथा नाट्य कहा है। कवि ने 'लोक-गाथा' से 'सूखा सरोवर' के प्रतीक को ग्रहण करके उसे चरितार्थ करने के लिए ही उसके इर्द-गिर्द कथानक और पात्रों की सृष्टि की है। इसलिए कथानक प्रायः उत्पाद्य ही है। पूरे कथानक में कोई क्रमिक विकास नहीं है। घटनाक्रम की दृष्टि से बाद में घटित घटनाओं को पहले अंक में रखा गया है, जिससे कथानक, पात्र-योजना और अभिनय-सम्बन्धी प्रभाव में व्यक्तिक्रम होना स्वाभाविक ही है। कवि का ध्यान 'सूखा सरोवर' के प्रतीकार्थ पर अधिक केन्द्रित है। अतः उसने परिस्थितियों और पात्रों को उस प्रतीकार्थ की सिद्धि के उद्देश्य से मनमाने ढंग से नियोजित किया है। इसीलिए कथानक में झूठे संघर्ष और अविश्वसनीय पात्रों और प्रसंगों का समावेश हुआ है। कथानक में यथार्थ जीवन-सन्दर्भों की अपेक्षा कल्पित पात्रों और परिस्थितियों तथा स्वाभाविकता के स्थान पर आकस्मिकताओं का आधिक्य रहा है। भारती के 'अन्धायुग' से प्रेरित होकर कवि ने कथानक में युद्ध, प्रतिहिंसा, आत्महत्या, मर्यादाहीनता, विघटन आदि समस्याओं और उनसे सम्बद्ध पात्रों और प्रसंगों के समावेश की साग्रह चेष्टा की है। इसीलिए सभी तत्त्वों में अन्विति नहीं आ सकी है। कवि ने अपने पात्रों को प्रतीकात्मक रूप देने की चेष्टा की है। इसलिए किसी भी पात्र के नाम का उल्लेख न करके राजकुमारी, राजमाता, छोटा राजा, बड़ा राजा, वृद्ध पुरुष, पुरोहित आदि जातिवाचक संज्ञाओं से काम चलाया गया है। राजकुमारी, पुरुष और सरोवर देवता के चरित्र अति-मानवीय और अति-प्राकृतिक हैं। सूखा सरोवर के पात्र और प्रसंग जीवन-सन्दर्भों से नहीं उगे हैं, वे कल्पना-रंजित और आरोपित हैं। कुछ संवाद, संक्षिप्त और मार्मिक हैं, किन्तु अधिकतर संवादों में गद्यात्मक रूखापन है। कथानक के कल्पना-रंजित और रहस्यावेष्टित होने के कारण सूखा सरोवर के अधिकतर बिम्ब और प्रतीक धूमिल है। सूखा सरोवर में अलंकारों का प्रयोग बहुत कम संख्या में हुआ है। जो आलंकारिक प्रयोग मिलते भी हैं उनमें से अधिकतर में सादृश्य-विधान स्वाभाविक न होकर कवि-कल्पित या आरोपित है, जिसमें कल्पित अनुभूतियों का उदय हुआ है। फिर भी बिम्ब, प्रतीक, अलंकार, लय तथा तुक के कुछ प्रयोग सफल बन पड़े हैं। कथानक के क्रम-विपर्यय और रहस्यात्मक स्वरूप, संवादों की गद्यात्मकता, नीर देवता तथा आत्मा जैसे रहस्यात्मक पात्रों की योजना, कथ्य और कथानक में पारस्परिक संगति न होने के कारण सूखा सरोवर की अभिनेयता सन्दिग्ध है। 'सूखा सरोवर' का उद्देश्य यह है कि जब राजा या तो निष्क्रिय आदर्शों की झोंक में पलायनवादी बन जाता है या सत्ता-लोलुप और निरंकुश होकर अमर्यादित आचरण करने लगता है तो उसके राज्य में आत्महत्या, वध, कुण्ठा, प्रतिहिंसा, मूल्यगत विघटन की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों के प्रसार से जीवन का सरोवर सूख जाता है। जीवन-मूल्यों की पुनर्स्थापना द्वारा ही

जीवन-सरोवर पुनः जीवन-रस से आपूरित हो जाता है। नाट्य-काव्य के सभी तत्त्वों की दृष्टि से सूखा सरोवर को एक सफल कृति नहीं माना जा सकता। कवि ने मूल्यों के विघटन की जिस समस्या को अपना कथ्य चुना है, वह उसके अनुरूप कथानक, पात्रों और संवादों की सृष्टि नहीं कर सका है। छोटे राजा और बड़े राजा से सम्बन्धित प्रसंग स्वयं में विघटित हैं, फिर राजकुमारी और उसके प्रेमी पुरुष से सम्बन्धित कथानक से उनकी कोई गम्भीर अन्विति नहीं है। अलौकिक और रूमानी वातावरण के मध्य सामाजिक विघटन की स्थिति से सम्बन्धित यथार्थ बोध धूमिल और आरोपित होकर रह गया है।

चौथा नाट्य-काव्य नरेश मेहता का 'संशय की एक रात है' 'संशय की एक रात' का कथानक राम-कथा के उस अंश से सम्बन्धित है, जिसमें राम लंका-युद्ध की तैयारी में सेतु-बन्ध बनवा चुके हैं। राम के मन में युद्ध करने या न करने के विषय में अनेक प्रश्न उठते हैं। राम के मन की शंकाकुल स्थिति को पहले तीन सर्गों में अंकित किया गया है। चौथे सर्ग में राम का संशय संकल्प में परिणत हो जाता है और वे युद्ध के लिए तत्पर हो जाते हैं। प्रस्तुत नाट्य-काव्य का कथानक घटनात्मक की अपेक्षा वैचारिक अधिक है, किन्तु युद्ध की समस्या के सम्बन्ध में पात्रों के तर्कों की योजना ऐसे ढंग से की गई है कि उन्होंने नाटकीय क्रिया-व्यापार का रूप ग्रहण कर लिया है। सारे कथानक में दशरथ की छायात्मा को प्रस्तुत करने का ढंग ही कुछ असंगत-सा प्रतीत होता है। कथानक में एक तारतम्य है। राम इस कृति के केन्द्रीय पात्र हैं। लक्ष्मण, विभीषण, हनुमान आदि की सार्थकता राम के ही सन्दर्भ में है। उक्त सभी पात्रों के चरित्र-चित्रण में कवि को सफलता मिली है, किन्तु दशरथ और जटायु की छायात्माओं के चरित्र-चित्रण में वैचित्र्य की सृष्टि ही अधिक हुई है। उक्त दोनों आत्माओं के संवाद भी जटिल, दार्शनिक और बिम्बहीन हैं। वे नाटकीय क्रिया-व्यापार को अवरुद्ध करते हैं। 'संशय की एक रात' में भाषागत त्रुटियों का बाहुल्य है, जिससे संस्कारी पाठक के मन को भारी आघात पहुँचता है। बिम्ब-सृष्टि में कवि को अनेक स्थानों पर सफलता मिली है, किन्तु द्वितीय सर्ग में नील और जामवन्त का प्रकरण नितान्त गद्यात्मक है। दशरथ और जटायु की प्रेतात्माओं के दार्शनिक भाषण नीरस, दुरूह और बिम्बहीन हैं। संशय की एक रात में प्रतीकों की योजना में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। लय की दृष्टि से प्रस्तुत नाट्य-काव्य में दो प्रकार के स्थल मिलते हैं—(१) लयहीन स्थल और (२) लयात्मक स्थल। लयहीन स्थल भी दो प्रकार के हैं—(क) गद्यात्मक स्थल, (ख) गद्य-भ्रष्ट स्थल (जिनमें गद्य भी विकृत हो गया है)। इसी प्रकार लयात्मक स्थल भी दो प्रकार के हैं—(क) गद्य और कविता की मध्यवर्ती लय वाले स्थल, (ख) पूर्ण लयात्मक स्थल। संशय की एक रात में यद्यपि मुक्त छन्द का प्रयोग किया गया है, तथापि कवि का तुकों के प्रति भी आग्रह रहा है। संवादों में अपेक्षित काट-छाँट के उपरान्त संशय की एक रात को अभिनय के सर्वथा अनुरूप बनाया जा सकता है। क्रिया-व्यापार का अभाव होते हुए भी इसमें अन्तर्द्वन्द्व का अभाव नहीं है। पात्रों का वैविध्य और पात्रों

की मानसिक उथल-पुथल इसकी अभिनेयता के साधक तत्त्व हैं। संशय की एक रात का उद्देश्य भी उदात्त है। राम का संशय आज के एक प्रबुद्ध उत्तरदायी जनतान्त्रिक शासक का संशय है, जो अपने से अधिक प्रजाजन के हितों की चिन्ता करता है। जब राम व्यष्टि रूप में युद्ध के प्रश्न पर विचार करते हैं तो उन्हें संशय घेर लेता है, किन्तु जैसे ही जनता के हितों के प्रतिनिधियों के तर्कों से उन्हें ज्ञात होता है कि सीता केवल किसी की पत्नी या पुत्री ही नहीं, वे जन-स्वातन्त्र्य की पुनीत प्रतीक है तो राम का विकल्प संकल्प में परिणत हो जाता है और वे राष्ट्रीय गौरव को ध्यान में रखकर जन-स्वतन्त्रता के अपहर्त्ता रावण के विरुद्ध युद्ध करने का पुनीत संकल्प करते हैं। कुल मिलाकर संशय की एक रात एक पर्याप्त सफल नाट्य-काव्य है। यदि कवि भाषागत प्रयोगों के प्रति सजग रहता और संवादों में कुछ और कलात्मक संयम से काम लेता तो प्रस्तुत नाट्य-काव्य एक उत्कृष्ट कृति के रूप में सहज स्वीकार्य होता।

नयी कविता के युग का पाँचवा नाट्य-काव्य दुष्यन्तकुमार-कृत "एक कंठ विषपायी" है। "एक कंठ विषपायी" की कथावस्तु का आधार पौराणिक है। यह नाट्य-काव्य विविध पुराणों में उपलब्ध दक्ष-यज्ञ-विध्वंस के प्रसंग पर आधारित है। सारी कथावस्तु चार दृश्यों में विभक्त है। कथानक के विश्लेषण से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते है—(१) 'एक कंठ विषपायी' की कथा मुख्यतः भागवत पुराण और देवी भागवत पुराण से ली गयी है, साथ ही अन्य पौराणिक ग्रन्थों का भी किंचित् आश्रय लिया गया है (२) इस प्रख्यात कथा में कुछ नवीन या उत्पाद्य प्रसंगों का भी समावेश किया गया है। (३) कवि ने पौराणिक प्रसंग में आवश्यकता के अनुरूप कुछ परिवर्तन भी कर लिया है। (४) कवि ने कथानक को इस रूप में ढालने का प्रयत्न किया है कि उसमें अन्धायुग से मिलते-जुलते प्रसंग समाविष्ट हो जाएँ। (५) दक्षलोक और देवलोक दोनों में कथानक की व्याप्ति होने के कारण कथानक में दरार आ गयी है। 'एक कंठ विषपायी' में दिव्य और अदिव्य दोनों प्रकार के पात्रों की सृष्टि हुई है। शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि दिव्य पात्र हैं और दक्ष, वीरिणी, सुलभ तथा सर्वहत अदिव्य या मानवीय पात्र हैं। वस्तुतः दिव्य पात्रों में भी मानवीय पक्ष ही अधिक सशक्त रूप में उभरा है। इस नाट्य-काव्य का पहला दृश्य दक्षलोक से सम्बन्धित है। बाद के तीन दृश्यों में देवलोक को घटनास्थल बनाया गया है। पहले दृश्य के पात्र भी आगे के दृश्यों में नहीं दिखलायी पड़ते हैं, केवल दक्ष का भृत्य सर्वहत आगे के दृश्यों में भी समाविष्ट किया गया है। जिस प्रकार कथावस्तु दो लोकों में विभक्त होने के कारण खण्डित है, उसी प्रकार पात्र भी दो लोकों में वर्गीकृत हैं—दक्ष, वीरिणी, सुलभ और सर्वहत दक्ष लोक के पात्र है और शंकर, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि देवलोक के पात्र है। दक्ष-लोक के पात्रों का आगे विकास नहीं हुआ है और दिव्य तथा लौकिक परिस्थितियों के अन्तर्विरोध के कारण देवलोक के पात्रों में भी अन्तर्विरोध आ गया है। इसीलिए ब्रह्मा का व्यक्तित्व हास्यास्पद हो गया है। इस कृति में शंकर का चरित्र सबसे अधिक सशक्त बन पड़ा है। एक कंठ विषपायी के संवादों में अन्धायुग के संवादो की लगभग सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं, किन्तु उनमें

अन्धायुग के संवादों जैसा कसाव और तीखापन नहीं है। कवित्व और लय का सन्निवेश एक 'कंठ विषपायी' के संवादों में अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। नयी कविता के अन्य नाट्य-काव्यों की भाँति प्रस्तुत नाट्य-काव्य में भी भाषागत त्रुटियाँ मिलती हैं। 'एक कंठ विषपायी' में ऐन्द्रिय संवेदना से अनुप्राणित स्थलों की प्रचुरता होने के कारण रूप, गंध, स्पर्श, ध्वनि, रस के बिम्बों की भी प्रचुरता है। कहीं-कहीं पायी जाने वाली अर्थ-बोध की प्रधानता, वस्तु-परिगणन शैली और कलाहीन बिम्ब-सृष्टि के लिए वस्तुतः कथावस्तु की शिथिलता उत्तरदायी है। सर्वहत की असंयत भावुकता के परिचायक अनर्गल प्रलाप में फूहड़ बिम्बों का समावेश हो गया है। फिर भी कुल मिलाकर कवि को बिम्ब-सृष्टि में पर्याप्त सफलता मिली है। एक कंठ विषपायी में कुछ प्रतीकात्मक प्रसंगों और शब्द-प्रतीकों का भी समावेश हुआ है। इसमें यमक, श्लेष आदि चमत्कारमूलक अलंकारों का कहीं प्रयोग नहीं मिलता है। वस्तुतः कवि का ध्यान चमत्कार-सृष्टि और शब्दाडम्बर से पराङ्मुख रहकर अर्थ की अभिव्यक्ति पर केन्द्रित रहा है। 'एक कंठ विषपायी' में लय और तुकों का सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। वस्तुतः मुक्त छन्द के मुक्त प्रवाह में तुकों का ऐसा निर्वाह अन्यत्र विरल है। तीसरे दृश्य के प्रारम्भ में छन्दोबद्ध तुकान्त कविता के अंश मिलते हैं। मुक्त छन्द के प्रवाह में अनेक स्थानों पर एक ही छन्द की पंक्तियाँ भाव की गति के क्रम से छोटी बड़ी पंक्तियों में विभक्त हुई मिलती हैं और कहीं-कहीं बीच-बीच में सम-मात्रिक पंक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। एक कंठ विषपायी की कविता के आधार पर यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि मुक्त छन्द मे रचना करने वाले कवि के भावावेग और साँस की समन्वित गति भी विशष्ट लय या लयों का अनुसरण करती है।

यद्यपि कथानक में संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के स्थलों का अभाव नहीं है तथा शंकर और विष्णु के अतिरिक्त दक्ष और वीरिणी भी पर्याप्त प्रभावशाली पात्र हैं, तथापि कथा-वस्तु के गठन के अभाव ने अभिनयात्मक प्रभाव को भी सन्दिग्ध बना दिया है। यदि कवि कथा-गायनों की पद्धति को ग्रहण करके पहले दृश्य की कथा को संक्षेप में व्यंजित कर देता तो वस्तु, पात्र और प्रभाव से सम्बन्धित सभी अन्तर्विरोधों का परिहार हो जाता तथा कृति अपेक्षाकृत अधिक अभिनेय बन जाती। स्थान और क्रिया-व्यापार की अन्विति के अभाव के कारण रंग-सज्जा में जो कठिनाई उपस्थित होती है, उसका रेडियो के माध्यम से परिहार हो जाता है। इस दृष्टि से एक कण्ठ विषपायी रेडियो के माध्यम के लिए अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल है। एक कण्ठ विषपायी के सन्देश को संक्षेप में निम्नलिखित रूप में उपस्थित किया जा सकता है। (क) प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावना शंकर जैसे मनस्वियों को भी असन्तुलित और आक्रामक बना देती है। प्रतिक्रिया दुराग्रह, एकांगिता, विध्वंस और मोहान्धता को जन्म देती है। (ख) जो नेता शान्ति, सत्य, अहिंसा आदि निष्क्रिय आदर्शों को अपने नेतृत्व का आधार बनाकर राष्ट्र की वास्तविक समस्याओं की उपेक्षा करने के अभ्यस्त हो जाते हैं, उन्हें युद्ध की चुनौती को स्वीकार करने के पक्ष में निर्णय लेना दुष्कर होता है। एक कण्ठ विषपायी का ब्रह्मा कल्पित, वायव्य आदर्शों की दुहाई

देने वाले राष्ट्र-नायक का प्रतीक है। (ग) यदि युद्ध चिन्तन-प्रसूत कर्त्तव्य के रूप में ग्रहण किया जाय अर्थात् उसका उद्देश्य व्यापक राष्ट्रीय सुरक्षा और कल्याण हो, तो युद्ध भी उन विशिष्ट परिस्थितियों में वरणीय सत्य का रूप ग्रहण करता है। यहाँ विष्णु को एक सशक्त विवेकी नेता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। विष्णु का वाण शिव के चरणों में प्रणाम और चुनौती का वैकल्पिक अर्थ कहता है। शिव विष्णु की शक्ति से प्रभावित होकर उनका प्रणाम अंगीकार कर लेते हैं। अभिप्राय यह है कि प्रणाम और श्रद्धा भी तभी सार्थक हैं जब व्यक्ति में चुनौती देने की पूर्ण सामर्थ्य हो। (घ) असन्तुलित मन श्रद्धा-भाव से पुनः स्वस्थ एवं सन्तुलित होकर रचनात्मक दिशा ग्रहण करता है।

संवादों की सुन्दर योजना, भाषा की बिम्बात्मकता और व्यजकता, लय और तुकों के सम्यक् निर्वाह की दृष्टि से दुष्यन्तकुमार को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। यदि कवि कथानक और कथ्य में गहन आन्तरिक संगति स्थापित कर पाता तो प्रस्तुत कृति के कृतित्व का स्तर और भी उदात्त हो पाता। अपनी कुछ दुर्बलताओं के होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह अन्धायुग के बाद हिन्दी की नई कविता की सशक्त नाटकीय काव्य-कृति है।

छठा नाट्य-काव्य अज्ञेय-कृत उत्तरप्रियदर्शी है। इसका कथानक ऐतिहासिक-पौराणिक है। इसका नायक सम्राट् अशोक एक ऐतिहासिक व्यक्ति है, किन्तु इसमें घटना-क्रम पौराणिक पद्धति पर संजोया गया है। कथानक संक्षिप्त, सीधा और सपाट है। कथानक में संघर्ष वास्तविक रूप में न उभर कर कृत्रिम हो गया है। कथानक का रहस्यावेष्टित, अति-आदर्शवादी अन्त दुर्बल और अविश्वसनीय है। अधिकांश कथानक को पात्रों के माध्यम से विकसित न करके संवादकों के द्वारा कहलवाया गया है, जिससे उसमें न नाटकीयता का समावेश हो सका है न कवित्व का ही।

प्रस्तुत नाट्य-काव्य में तीन प्रमुख पात्र हैं—प्रियदर्शी (अशोक), घोर (यम) और भिक्षु। इनके अतिरिक्त एक मन्त्री तथा चार-पाँच भिक्षु-वेशी संवादक हैं। प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त शेष सभी पात्र कथानक की कड़ियों को जोड़ने वाले यन्त्र मात्र हैं। प्रमुख पात्रों को प्रतीकात्मक रूप देने के फेर में पड़ने के कारण कवि उनके जीवन-संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व को यथार्थ रूप में नहीं उभार सका है। वास्तव में जब कोई कवि योजना-बद्ध रूप में अपने पात्रों को सत् और असत् के दो वर्गों में वर्गीकृत कर लेता है और चामत्कारिक घटनाओं की योजना द्वारा असत् पात्रों पर सत् पात्रों की विजय दिखलाता है, तो उसके पात्र अति सरलीकृत और अविश्वसनीय हो जाते हैं। फिर भी, उत्तरप्रियदर्शी में घोर का चरित्र पर्याप्त सशक्त बन पड़ा है। प्रस्तुत नाट्य-काव्य के प्रारम्भ के संवाद सूचनापरक होने के कारण और अन्त के संवाद उपदेशपरक होने के कारण गद्यात्मक और नीरस हैं। मध्यभाग में प्रियदर्शी और घोर के संवाद पर्याप्त सफल बन पड़े हैं। यही बात बिम्बों और लय के विषय में कही जा सकती है। नाट्य-काव्य के मध्य भाग में, जहाँ घोर और प्रियदर्शी का संघर्ष अंकित हुआ है, वहाँ सफल बिम्बों की सृष्टि के साथ लय का भी सम्यक्

निर्वाह मिलता है। उत्तरप्रियदर्शी में प्रतीकात्मक पात्रों के अतिरिक्त कतिपय शब्द-प्रतीकों का भी प्रयोग मिलता है। यद्यपि प्रस्तुत नाट्य-काव्य में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा मानवीकरण आदि अनेक अलंकारों का समावेश हुआ है, तथापि कथानक के पौराणिक स्वरूप ने उपमान और उपमेयों के स्वरूप में धूमिलता ला दी है। उत्तरप्रियदर्शी का पौराणिक स्वरूप ही उसके रंगमंचीय प्रभाव में बाधक है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में इस नाट्य-काव्य की सम्प्रेषणीयता सीमित ही है। उत्तरप्रियदर्शी का उद्देश्य यह है करुणा की ज्योति विकीर्ण करने वाले दिव्य-शक्ति-सम्पन्न महापुरुषों के समक्ष अहंता-ग्रस्त असत् शक्तियाँ स्वयं ही घुटने टेक देती हैं। प्रस्तुत नाट्य-काव्य में भिक्षु के प्रभाव के समक्ष घोर की बर्बरता और अशोक की अहंता विगलित हो जाती है और वे निष्कलुष और निर्विकार होकर भिक्षु के अनुयायी हो जाते हैं। नाट्य-काव्य के इस प्रकार के अति-आदर्शवादी अन्त की दुर्बलता यही है कि इसमें अशोक और घोर के हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया आरोपित है। कुल मिलाकर उत्तरप्रियदर्शी एक द्वितीय श्रेणी का नाट्य-काव्य है।

श्री भारत भूषण अग्रवाल-कृत अग्निलीक की कथावस्तु रामायण के सीता-निर्वासन के प्रसंग पर आधृत है। इसमें केन्द्रीय पात्र सीता और राम हैं, शेष पात्रों में अधिकतर कवि-कल्पित हैं। कथानक संक्षिप्त और मार्मिक है। तीसरे दृश्य में कथा-संयोजन में किंचित् असंगति अवश्य दिखलायी पड़ती है। नाटकीय क्रिया-व्यापार की कमी की पूर्ति वैचारिक मन्थन और अन्तर्द्वन्द्व के प्रसंगों के द्वारा की गई है। सीता का पारम्परिक व्यक्तित्व आधुनिक चिन्तन से सन्निविष्ट होकर नये रूप में उभरा है। सीता के मूक समर्पण भाव में आधुनिक नारी की प्रखर और मुखर स्वातन्त्र्य चेतना का पुट दिया गया है। राम प्रायश्चित्त की आग में तपकर, मानव-मूल्यों की नींव पर, सीता के गौरवमय स्मारक के रूप में, नये रामराज्य की स्थापना का संकल्प लेते हैं और इस प्रकार अपनी पीड़ा को रचनात्मक दिशा प्रदान करते हैं। पहले और दूसरे दृश्यों के संवाद नाट्यधर्मी और स्वाभाविक हैं, किन्तु तीसरे दृश्य में नाटकीयता पर कवित्व हावी हो गया है। अग्निलीक की भाषा स्वच्छ, मुहावरेदार और बिम्बधर्मी है। भाषा स्वभावतः नाटकीय है और अनुभूति तथा चिन्तन की समर्थ संवाहिका है, किन्तु वह कहीं भी कविता की लयात्मकता के स्तर तक नहीं उठ सकी है। राजतन्त्रीय शोषण-केन्द्रित व्यवस्था और उसके उपादानों पर कसकर प्रहार करना ही अग्निलीक का मूल उद्देश्य है। कुल मिलाकर यह नाट्य-काव्य मार्मिक और सशक्त बन पड़ा है।

यहाँ नई कविता के नाट्य-काव्यों के रूप तथा अभिव्यंजना के सम्बन्ध में कुछ सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत करना भी वांछनीय होगा :—

(१) उक्त सभी नाट्य-काव्यों के कथानकों में किसी न किसी अनुपात में पौराणिकता का सन्निवेश है। पौराणिकता के सन्निवेश द्वारा ही प्रसंगों और पात्रों को उनके सीमित स्वरूप से ऊपर उठाकर प्रतीकात्मक रूप दिया गया है।

(२) यथार्थ बोध और पौराणिकता के सामंजस्य के स्वरूप पर ही उक्त नाट्य-काव्यों की प्रभावोत्पादकता निर्भर है। अन्धायुग में पौराणिक कथानक यथार्थ

बोध को उभारने में पूर्णतः सफल रहा है। एक कण्ठ विषपायी और संशय की एक रात में भी पौराणिकता का पर्याप्त सफल प्रयोग हुआ है। यद्यपि उत्तरप्रियदर्शी का केन्द्रीय पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति है, किन्तु पौराणिक कल्पना की अतिशयता ने यथार्थ-बोध को धूमिल बना दिया है। सूखा सरोवर में तो कथानक पूर्णतः कल्पित है और कल्पना का स्वरूप भाव-संवलित न होकर अधिकांशतः पौराणिक है। इसीलिए इस नाट्य-काव्य का कथानक और कथ्य वायव्य और अविश्वसनीय है। पृथ्वीकल्प में पौराणिक कल्पना का विज्ञान की यान्त्रिक उपलब्धियों के साथ सम्पर्क स्थापित किया गया है। इस प्रकार का सम्पर्क स्वयं में अन्तर्विरोधी और अस्वाभाविक है। इसने सारे नाट्य-काव्य के कथानक, पात्र, कथ्य और भाषा को कृत्रिम बना दिया है।

(३) सभी नाट्य-काव्यों में उद्देश्य का अद्‌भुत साम्य है। सभी में किसी-न-किसी रूप में प्रतिहिंसा-जनित युद्ध और उसकी विनाशकारी तथा विघटनकारी प्रवृत्तियों के तीखे बोध को उभार कर अन्त में मर्यादा, शक्ति, स्वतन्त्रता, सत्य, आस्था करुणा आदि शाश्वत मानव-मूल्यों की पुनर्स्थापना की गई है। मानव-मूल्यों की यह पुनर्स्थापना की प्रवृत्ति ही उक्त नाट्य-काव्यों को मूल्य-विहीन, निरुद्देश्य और दिग्भ्रान्त नई कविता के अधिकांश भाग से पृथक् विशिष्ट गौरव प्रदान करती है। इस दृष्टि से उक्त रचनाओं के सभी रचयिता पूर्ण ईमानदार और आस्थावादी हैं—भले ही अपनी मूल्यगत निष्ठा को कलात्मक रूप में व्यक्त करने में सभी को समान सफलता न मिली हो। उनकी यही विशेषता उन्हें द्रष्टा के साथ स्रष्टा का भी गौरव प्रदान करती है।

(४) सामयिक युग-बोध के साथ सनातन मानव-मूल्यों की प्रस्थापना की उक्त प्रवृत्ति ने नाट्य-कवियों को तथाकथित आधुनिक बोध की संकीर्णता से निकालकर सामयिकता के साथ सार्वकालिकता के भी उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। उक्त सभी कवियों ने राष्ट्र की वर्तमान विघटन-ग्रस्त स्थिति और तत्सम्बन्धी समस्याओं तथा उनके समाधान के प्रति गहरी रुचि प्रकट करके अपनी व्यापक सांस्कृतिक चेतना का परिचय दिया है। भावगत और भाषागत विघटन और दिशा-शून्यता से ग्रस्त नई कविता इन नाट्य-काव्यों के रूप में सच्ची मानवीय और सांस्कृतिक दृष्टि अर्जित करती प्रतीत होती है।

(५) भाषागत अराजकता के युग में रहने के कारण नाट्य-कवि भी भाषागत त्रुटियों और मनमाने प्रयोगों से मुक्त नहीं हो सके हैं। जिन कवियों की कृतियों में संस्कार-हीन भाषा अपेक्षित साधना या जानकारी के अभाव में प्रयुक्त हो गई है, उनका दोष तो परिमार्जनीय है, किन्तु जिन्होंने भाषागत साधना और जानकारी होते हुए भी काव्य-भाषा को आग्रहपूर्वक विकृत किया है उनके विषय में क्या कहा जाए? पृथ्वीकल्प के कवि ने अपने आग्रहों को अपनी भाषागत साधना और संस्कारों पर हावी होने के लिए मुक्त अवसर ही नहीं दिया, वरन् उसके समर्थन के लिए एक अवांछनीय सैद्धान्तिक आधार भी आविष्कृत करने की चेष्टा की है। 'संशय की एक रात' के कवि ने भी कुछ प्रयोग जान-बूझकर मनमाने ढंग से किये हैं। इसके विपरीत

अन्धायुग के कवि ने शाश्वत मानवीय मूल्यों की स्थापना के साथ कविता और काव्य-भाषा के सम्बन्ध में रस, अलंकार, छन्द, लय आदि स्थायी प्रतिमानों की पुनर्स्थापना करके तथाकथित नये कवियों के सामने आदर्श उपस्थित किया है।

(६) रूप और अभिव्यंजना की दृष्टि से मूल्यांकन के आधार पर नई कविता के नाट्य-काव्यों को निम्नलिखित क्रम में रखा जा सकता है। अन्धायुग निर्विवाद रूप से प्रथम श्रेणी की कलाकृति है। दुष्यन्तकुमार का 'एक कण्ठ विषपायी' द्वितीय स्थान का अधिकारी है। यदि इसके कथानक में अपेक्षित कसाव होता तो यह भी अन्धायुग की कोटि की रचना होती। इस क्रम में तीसरा स्थान नरेश मेहता-कृत संशय की एक रात का है। अग्निलीक चतुर्थ स्थान का अधिकारी है। उक्त चारों नाट्य-काव्य अपनी सीमाओं के अन्दर पर्याप्त सफल बन पड़े हैं। 'सूखा सरोवर' और अज्ञेय का 'उत्तर-प्रियदर्शी' कृत्रिम वातावरण और कल्पित अनुभूतियों से युक्त रचनाएँ हैं। सूखा सरोवर में कथानक का बँधान जटिल होते हुए भी अति-काल्पनिक और विघटित है। इन दोनों रचनाओं में 'उत्तरप्रियदर्शी' ही अपेक्षाकृत अधिक सफल है, उसमें कथानक का कसाव भी है और अनुभूतिपूर्ण कवित्व भी अपेक्षाकृत अधिक है। पृथ्वीकल्प कवि के आग्रहों का दुष्परिणाम है, फिर भी जहाँ कवि अपने सहज भावावेग में आग्रहों से मुक्त हो सका है, वहाँ उत्कृष्ट कोटि की कविता के विरल अंशों की सृष्टि अनायास हो गई है। सुसम्बद्ध कथानक, विकसनशील पात्र-योजना, संवादों तथा संस्कारी काव्य-भाषा के अभाव में पृथ्वीकल्प में न नाटकीयता का ही आद्योपान्त निर्वाह है न कवित्व का ही।

(७) नाट्य-काव्यों के रूप में नई कविता दो-तीन दशकों की संक्रान्तिकालीन भटकन के उपरान्त आधुनिक परिवेश की गम्भीर समस्याओं और संवेदनाओं को ऐतिहासिक और पौराणिक कथानकों के व्यापक सन्दर्भों में व्यक्त करने की दिशा में प्रवृत्त हुई है। वास्तव में, यह कृत्रिम, व्यावसायिक और दिशाहीन तथाकथित कविता पर सच्ची कविता की विजय है। नाट्य-काव्यों में व्यापक सांस्कृतिक बोध के साथ कविता के बिम्ब, प्रतीक, लय, तुक, अलंकार आदि तत्त्वों का भी प्रचुर समावेश इस तथ्य का समर्थन करता है कि कविता का नैसर्गिक प्रवाह हृदय के राग (अनुभूति तथा संगीत) से विच्छिन्न नहीं हो सकता है। यही कारण है कि अन्धायुग (कथागायनों में), एक कण्ठ विषपायी, पृथ्वीकल्प आदि नाट्य-काव्यों में छन्दोबद्ध कविता के अंश भी प्रचुर हैं, जो नई पुरानी कविता के कृत्रिम वर्गीकरण की निस्सारता सिद्ध करते हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची

(क) हिन्दी के समीक्षा-ग्रंथ

अज्ञेय,	**आत्मनेपद,** (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी) प्र० सं०, १९६०
अमृतराय	**सहचिन्तन,** (सर्जना प्रकाशन, इलाहाबाद) १९६७ प्र० सं०
(डॉ०) उषा गुप्ता	**हिंदी के कृष्ण-भक्ति-कालीन साहित्य में संगीत** (लखनऊ विश्वविद्यालय) सं० २०१६, प्र० सं०
(डॉ०) कामिल बुल्के	**रामकथा,** (हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग विश्व-विद्यालय) १९७१, तृ० सं०
(डॉ०) कृष्णनन्दन 'पीयूष'	**चिन्तन अनुचिन्तन,** (विश्वभारती प्रकाशन) १९६७ प्र० सं०
(सम्पा० डॉ०) कृष्णबल	**भारतीय काव्य-शास्त्र** (राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली) १९६९, प्र० सं०
कृष्ण सिंहल	**हिन्दी-गीति नाट्य** (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन) १९६४ प्र० सं०
गजानन माधव 'मुक्तिबोध'	**नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध,** (विश्वभारती प्रकाशन धनवट चेम्बर्स, नागपुर) १९६४ प्र० सं०
(डॉ०) गणपतिचन्द्र गुप्त	**हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास** (भारतेन्दु भवन चण्डीगढ़-४) १९६५, प्र० सं
,,	**साहित्य-विज्ञान** (भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़-२) जन० १९६४, प्र० सं०
गिरिजाकुमार 'माथुर'	**आधुनिकता-नयी कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ,** (अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दरियागंज, दिल्ली)
(डॉ०) देवराज	**प्रतिक्रियाएँ,** (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६) १९६६ प्र० सं०
(डॉ०) नगेन्द्र	**आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ,** (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-७) १९६६, तृ० सं०
,,	**काव्य-बिम्ब,** (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-७) १९६७, प्र० सं०
,,	**रस-सिद्धान्त,** (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-७) १९६४, प्र० सं०

प्र० सम्पा० (डॉ०) नगेन्द्र राजकुमार कोहली,	**पाश्चात्य काव्य-शास्त्र—सिद्धान्त और वाद** (हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) (सन् नहीं दिया) प्र० सं०
(प्र० सम्पा०, डॉ०) नगेन्द्र, सम्पा० डा० सावित्री सिन्हा,	**पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा** (हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) सन् नहीं दिया, प्र० सं०
(डॉ०) नामवर सिंह,	**कविता के नये प्रतिमान** (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६) १९६८, प्र० सं०
नेमिचन्द्र जैन,	**बदलते परिप्रेक्ष्य,** (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६) १९६८, प्र० सं०
(डॉ०) परमानन्द श्रीवास्तव,	**नयी कविता का परिप्रेक्ष्य,** (नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद-१) प्र० सं०
(प्रो०) बलदेव उपाध्याय,	**संस्कृत साहित्य का इतिहास** (शारदा मन्दिर, वाराणसी) १९६५, सप्तम सं०
,,	**संस्कृत आलोचना** (प्रकाशन ब्यूरो, सू० वि० उत्तर प्रदेश) १९५७
महादेवी वर्मा,	**साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध,** (लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद-१) १९६२
सम्पा० (डॉ०) यश गुलाटी	**हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्यांकन,** (सूर्य प्रकाशन नई सड़क, दिल्ली-६) १९६९, प्र० सं०
(डॉ०) रामदरश मिश्र,	**हिन्दी कविता : तीन दशक** (ज्ञान भारती प्रकाशन सी०-८, मॉडल टाउन, दिल्ली-९) १९६९, प्र० सं०
रामधारीसिंह 'दिनकर'	**शुद्ध कविता की खोज,** (उदयाचल, राजेन्द्रनगर, पटना-४) १९६६, प्र० सं०
रामस्वरूप चतुर्वेदी,	**हिन्दी नव लेखन** (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी) १९६० प्र० सं०
लक्ष्मीकान्त वर्मा,	**नयी कविता के प्रतिमान,** (भारती प्रेस प्रकाशन इलाहाबाद-२) सं० २०१४, प्र० सं०
(डॉ०) लक्ष्मीदत्त ठाकुर	**प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन,** (हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ० प्र०, लखनऊ) १९६५, प्र० सं०
(डॉ०) लालचन्द गुप्त 'मंगल',	**अस्तित्ववाद और नयी कविता** (शोध-प्रबन्ध, प्रकाशन, दिल्ली-७) सन् १९७५
(डॉ०) विनयमोहन शर्मा,	**साहित्यान्वेषण,** (साहित्य सदन, देहरादून) १९६९, प्र० सं०
(डॉ०) शम्भूनाथसिंह,	**प्रयोगवाद और नयी कविता,** (समकालीन प्रकाशन कार्यालय, सी० १४, १६० सत्याग्रह-मार्ग, वाराणसी-२) १९६६, प्र० सं०

(डॉ०) श्याम परमार, **अकविता और कला-सन्दर्भ** (कृष्ण ब्रदर्स, अजमेर) १९६८, प्र० सं०

सच्चिदानन्द वात्स्यायन, **हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य** (राधाकृष्ण प्रकाशन, रूपनगर, दिल्ली-७) १९६७, प्र० सं०

श्यामनन्दन शास्त्री, **काव्य-शास्त्र की रूपरेखा,** (भारती भवन, पटना-४) १९६४, प्र० सं०

(डॉ०) हजारीप्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य,** (अत्तरचन्द कपूर एण्ड सन्ज, देहली) १९५४

,, **हिन्दी साहित्य की भूमिका** (हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई), १९४४, द्वि० सं०

(डॉ०) हरिश्चन्द्र वर्मा, **अन्धायुग : एक विवेचन,** (नव भारती सहकार प्रकाशन प्रतिष्ठान, ए-८/४२, राणा प्रताप बाग, दिल्ली-७) १९७२

सम्पा० (डॉ०) हरिवंश राय 'बच्चन' आदि **सम-सामयिक हिन्दी साहित्य,** (साहित्य अकादेमी नई दिल्ली) १९६७, प्र० सं०

(ख) अंग्रेज़ी के समीक्षा-ग्रन्थ

A. S. Diamond, *The History And Origin of Language* (Methuen and Co. Ltd., 36 Essex Street London W. C2.) 1960

Aldous Huxley, *Literature And Science* (Harpar & Row Publishers, New York) 1963, 1st Edn.

C. Day Lewis, *The Poetic Image* (Janathan Cape Thirty Bedford Square, London) 1961, 10th Edn.

Christopher Caudwell, *Illusion And Reality* (People's Publishing House Ltd., Delhi) 1956

David Daiches, *Critical Approaches To Literature* (Orient Longmans, Calcutta) 1967

(Ed.)Don Cameron Allen, *Four Poets On Poetry* (The Johns Hopkins Press, Baltimore) 1959

E.M.W. Tillard, *Some Mythical Elements in English Literature* (Chatto and Windus, London) 1961

Edwin Muir, *The Structure of The Novel,* (The Hogarth Press, London) 1960, 8th Edn.

E.M. Foster, *Aspects of the Novel* (Penguin Books Ltd., England) 1968

Glenn Hughes,	*Imagism And The Imagists* (The Humanities Press, New York) 1960, 2nd. Edn.
H. Coombes,	*Literature And Criticism* (Chatto And Windus, London) 1960, 4th Edn.
Hans Reichen'bach,	*Elements of Symbolic Logic* (The Free Press, New York; Collier-Macmillan Ltd., London) 1966
Herbert Read,	*The Forms of Things Unknown* (Faber And Faber Ltd., London) 1960, 1st. Edn.
—do—	*English Prose Style* (Lyall Book Depot., Ludhiana) 1968
—do—	*Phases of English Poetry*, (Faber And Faber Ltd. London) 1948
I. A. Rechards,	*Practical Criticism* (London, Routledge and Kegan paul Ltd.) 1960, 11th Edn.
—do—	*Principles of Literary Criticism* (London Routledge and Kegan Paul Ltd.) 1950
James Reaves,	*Understanding Poetry* (Heinemann Educational Books Ltd., London) 1967
Jean Paul Sartre	*What is Literature* (Methuen & Co, Ltd., 11 New Fetter Lane, Ec4.) 1967
Maud Bodken	*Archetypal Patterns in Poetry* (London Oxford University Press) 1963
Ray Faulkner, Edwin Ziegfeld, Gerald Hill,	*Art Today* (Holt Rnehart and Winston, New York.) 1956
Ronald Peacock	*The Art of Drama* (Routledge & Kegan Paul, London) 1960, 2nd Edn.
Rene Wellek and Austin Warren,	*Theory of Literature* (Penguin Books Ltd. Australia) 1963
S.M. Schreiber,	*An Introduction To Literary Criticism* (Pergamon Press Ltd., Oxford) 1965
Susanne K. Langer,	*Feeling And Form* (Routledge & Kegan Paul Ltd. London) 1959
Stephen Spender,	*The Struggle of Modern* (Hamish Hamilton, London) 1963
T. S. Eliot,	*On Poetry And Poets* (Faber and Faber Ltd., London) 1956
—do—	*The Sacred Wood* (Methuen And Co. Ltd., London) 1960

—do— *Selected Essays* (London, Faber And Faber Ltd.) 1951

V.K. Gokak, *The Poetic Approach To Language* (Oxford University press) 1952, Ist Edn.

William Van O' Connor *Sense and Sensibility in Modern Poetry* (The University of Chicago) 1956, 2nd Edn.

William K. Wimsatt, Jr. and Cleanth Brooks *Literary Criticism* (Oxford and I B H publishing Co., Calcutta) 1964

W. M. Urban, *Language And Reality* (Yale University New Haven U. S. A.) 1951, 2nd Edn.

W.H. Hudson, *An Introduction To The Study of Literature* (Lyall Book Depot Ludhiana) 1968

Winifred Nowottny, *The Language Poets Use* (University of London) 1962

(ग) समीक्षित नाट्य-काव्य

अज्ञेय, **उत्तरप्रियदर्शी**, (अक्षर प्रकाशन, प्रा० लि०, दरियागंज, दिल्ली-६) १९६७, प्र० सं०

गिरिजाकुमार माथुर, **पृथ्वीकल्प** (कल्पना कार्यालय ४-५-४६, सुलतान बाजार, हैदराबाद) १९६०

भारतभूषण अग्रवाल **अग्नि-लीक**, (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली) १९७६, प्र० सं०

दुष्यन्त कुमार, **एक कंठ विषपायी** (लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-१) १९६३

धर्मवीर भारती **अंधायुग** (किताब महल, इलाहाबाद) १९६८, नृ० सं०

नरेश मेहता, **संशय की एक रात**, (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, प्रा० लि० बम्बई-४) १९६२

लक्ष्मीनारायण लाल **सूखा सरोवर** (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी) १९६०

(घ) अन्य नाट्य-काव्य तथा काव्य

(सम्पा०) अज्ञेय, **तार सप्तक** (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता-२७) १९६६, द्वि० सं०

" **दूसरा सप्तक** (प्रगति प्रकाशन, १४ डी० फीरोजशाह रोड, नयी दिल्ली) १९५१

" **तीसरा सप्तक**, (भारतीय ज्ञान पीठ, काशी) १९६१

उदयशंकर भट्ट,	**विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य,** (आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६) १९६०
,,	**कालिदास** (आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६) १९६१ द्वि० सं०
,,	**एकला चलो रे** (आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६) १९६०
,,	**नहुष-निपात,** (आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६) १९६१
,,	**अशोक-वन-वन्दिनी** (भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली) १९५९
गिरजाकुमार माथुर	**शिला पंख चमकीले** (साहित्य भवन, प्रा० लिमिटेड, इलाहाबाद) १९६१, प्र० सं०
जयशंकर प्रसाद	**करुणालय**
,,	**कामायनी** (भारती भण्डार लीडर प्रैस, इलाहावाद) सं० २००९
धर्मवीर भारती	**कनुप्रिया,** (भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी-५) १९६६ तृ० सं०
सम्पा० (डॉ०) नगेन्द्र	**आज के लोकप्रिय कवि गिरिजाकुमार माथुर** (राजपाल एण्ड संस, दिल्ली-६) १९६१, प्र० सं०
मैथिलीशरण गुप्त	**पृथिवीपुत्र,** (साहित्य-सदन चिरगाँव, झाँसी) सं० २०१३, द्वि० सं०
रामदरश मिश्र	**बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ,** (आस्था प्रकाशन, अहमदाबाद-७) १९६२, प्र० सं०
रामधारीसिंह 'दिनकर'	**उर्वशी,** (उदयाचल, राजेन्द्रनगर पटना-१६) १९६९ तृ० सं०
(सम्पा०) विद्यानिवास मिश्र,	**आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'** (राजपाल एण्ड संस, दिल्ली) १९६७, तृ० सं०
सियारामशरण गुप्त,	**उन्मुक्त,** (साहित्य-सदन, चिरगाँव झाँसी) सं २००६ द्वि० सं०
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	**परिमल,** (गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ) १९६३ नवमावृत्ति
सुमित्रानन्दन पन्त	**स्वर्ण किरण,** (भारती भण्डार, प्रयाग) सं० २०१३ द्वि० सं०
,,	**रजत शिखर**
,,	**शिल्पी**
,,	**सौवर्ण** (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी) १९५७, प्र० सं०

(ङ) संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

आनन्दवर्धन (सम्पा० डॉ० नगेन्द्र) **ध्वन्यालोक** (वाराणसी ज्ञानमण्डल लिमिटेड) १९६२

दण्डी (व्याख्या० नृसिंहदेव) **काव्यादर्श** (मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, लाहौर) सं० १९९०, द्वि० सं०

धनंजय (व्याख्या० डॉ० भोलाशंकर व्यास), **दशरूपक** (चौखम्बा विद्या भवन, बनारस-१) सं० २०११

भर्तृहरि (व्याख्या० श्री रघुनाथ शर्मा) **वाक्यपदीयम्** (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयः वाराणसी) १८८५ तमे शकाब्दे

भामह (भाष्य० प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा) **काव्यालंकार** (बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना) १९६२

मम्मट, टीका० हरिशंकर शर्मा), **काव्यप्रकाश,** (चौखम्बा-संस्कृत-पुस्तकालय, बनारस-१) १९५१

राजशेखर, (अनु० पं० केदारनाथ शर्मा), **काव्य-मीमांसा** (बिहार राष्ट्र-भाषा-परिषद्, पटना) १९५४

रुद्रट (व्या० डॉ० सत्यदेव चौधरी) **काव्यालकार** (वासुदेव प्रकाशन, मॉडल टाउन दिल्ली-९। १९६५

वामन (व्या० श्री गोपेन्द्र) **काव्यालंकार सूत्रवृत्ति** (कालिकातामहानगर्य्याम वाचस्पत्ययन्त्रे मुद्रिता) १९२२, तृ० सं०

विश्वनाथ (व्या० कृष्ण मोहन शास्त्री) **साहित्य-दर्पण** (चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस बनारस-१) १९५५, द्वि० सं०

(च) संस्कृत ग्रन्थ

अग्नि पुराण (सम्पा० प० श्रीराम शर्मा) संस्कृति-संस्थान (वेद नगर) बरेली १९६८ प्र० सं०

ईशादि नौ उपनिषद्, (व्या० हरिकृष्ण गोयन्दका) गीता प्रेस, गोरखपुर सं० २०१०

एतरेय ब्राह्मण, (सम्पा० अनन्तकृष्ण शास्त्री) यूनिवर्सिटी आफ त्रावनकोर) १९४२

ऋग्वेद-संहिता, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सं० १९९८

देवी भागवत पुराण, (अनु० प० रामतेज पाण्डेय) पण्डित पुस्तकालय, काशी सं० २०१९

निरुक्त, (सम्पा० वी० के० राजवेद) भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना)

भागवत पुराण (अनु० पं० रामतेज पाण्डेय) पण्डित-पुस्तकालय, काशी, १९५२

महाभारत, गीताप्रेस गोरखपुर, प्र० सं०

मत्स्यपुराण, (अनु० रामप्रताप त्रिपाठी) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००३

मेघदूत, (सम्पा० सुधीर कुमार गुप्त) भारती मन्दिर, खुरजा, १९५६

रघुवंश, (अनु० पं० रामतेज शास्त्री) पण्डित पुस्तकालय, काशी-१, १९६१

रामायण, (अनु० पं० रामतेज शास्त्री) पण्डित पुस्तकालय, काशी, १९५१
वायुपुराण, (अनु० रामप्रताप त्रिपाठी) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००८
विष्णुपुराण, (अनु० मुनिलाल गुप्त) गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१८, पंचम सं०
शिवपुराण, (वायवी संहिता), पण्डित पुस्तकालय, काशी, सं० २०२०
हरिवंश पुराण, (टीका० पं० रामनारायण दत्त) गीता प्रेस, गोरखपुर, प्र० सं०

(छ) शब्द-कोश तथा आकर-ग्रन्थ

(हिन्दी-संस्कृत)

सम्पा० चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, **संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ**
(रामनारायण लाल, इलाहाबाद) १९५७, द्वि० सं०
प्र० सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी साहित्य कोश**
(बनारस ज्ञान मण्डल लि०) सं० २०१५
सम्पा० धीरेन्द्र वर्मा, भगवतशरण उपाध्याय, गोरखप्रसाद, **हिन्दी विश्वकोश,**
खण्ड-१ (नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी) १९६०, प्र० सं०
रामचन्द्र वर्मा, **मानक हिन्दी-कोश, (तीसरा खण्ड)**
सम्पा० धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी कथाकोश** (हिन्दुस्तानी एकेडेमी उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद) १९५४
सम्पा० म० म० द्वेश्वर सिशास्त्री चित्राव, **प्राचीन चरित्र कोश,**
(भारतीय चरित्र-कोश मण्डल, पूना-४) १९६४

अंग्रेजी

Ed. Dagobert D. Runes, *Treasury Of Philosophy* (Philosophical Library, New York) 1955
—do— *Dictionary Of Philosophy* (Jaico Publishing House, Bombay) 1956
J.O. Urmson *The Concise Encyclopaedia of Western Philosophy and Philosophers.*
Ed. Sir Paul Harvey *The Oxford Companion To English Literature* (Oxford, At The Clarendon press) 1958
V. S. Apte *The Student's English-Sanskrit Dictionary* (Moti Lal Banarsidass, Delhi) 1963
—do— *The Student's Sanskrit-English Dictionary* (Moti Lal Banarsidass, Delhi) 1959
Encyclopaedia Britannica Vol. 12; Vol. 21 (Encyclopaedia Britannica Ltd.)
The New Standard Dictionary (The Literary Press Glassgo) 1964

(ज) विविध

जगदीशचन्द्र माथुर,	**पहला राजा,** (राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-६) १९६९
जयशंकर प्रसाद,	**चन्द्रगुप्त,** (भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद) सं० २०१९, तेरहवाँ सं०
देवेन्द्रनाथ शर्मा,	**अलंकार-मुक्तावली,** (भारती भवन, पटना-१) सं० २०२१
आ० रामचन्द्र शुक्ल,	**चिन्तामणि,** (पहला भाग) (इण्डियन प्रेस पब्लि० प्रा० लि०, प्रयाग) १९६७
Ed. A.H. Smith,	*Aspects of Translation* (Martin Secker and Warburg, Ltd. London) 1958
Hector Hawton,	*Philosophy For Pleasure* (Fawcett Publications, Inc, Greenwich, Conn.) 1961
Jean Paul Sartre,	*Existentialism And Humanism* (Methuen Co. Ltd., London) 1960
Michael H. Briggs,	*Handbook of Philosophy* (Peter Owen Ltd., London) Ist Edn.
Theodore Savory	*The Art of Translation* (Jonathan Cape Thirty Bedford Square, London) 1959, 2nd Edn.

(झ) पत्र-पत्रिकाएँ

सम्पा०, डा० जगदीश गुप्त तथा श्री विजयदेव नारायण साही, **नयी कविता** (किताब महल इलाहाबाद) १९६०-६१, संयुक्तांक ५-६

सम्पा०, डा० जगदीश गुप्त तथा विजयदेव नारायण साही, **नयी कविता** (लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद) १९६६-६७, अंक-८

सम्पा०, डा० धर्मवीर भारती, **धर्मयुग** (टाइम्स आफ इण्डिया प्रेस बम्बई-१) २ जून, १९६८

सम्पा०, नन्ददुलारे वाजपेयी, **आलोचना** (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६) अप्रैल, १९५९ तथा जुलाई, १९५६

सम्पा०, शिवदानसिंह चौहान, **आलोचना,** १ जून' १९६५

सम्पा०, बालकृष्ण राव, **माध्यम** (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) फरवरी, १९६५

सम्पा०, विपिनकुमार अग्रवाल, लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि, **क ख ग** (१६७ ए, एलनगंज, इलाहाबाद) अक्तूबर, १९६३

३९४ :: सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची

सम्पा०, महीपसिंह, नरेन्द्रमोहन, **संचेतना, विचार-कविता अंक** एच-१०८, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-२६

Ed., Dr. Vinay Mohan Sharma, Kurukshetra University Research Journal Vol. III pt I, April, 1969

हमारे द्वारा प्रकाशित शोध-प्रबन्ध

हिन्दी-काव्य-शास्त्र में कविता का स्वरूप विकास

डॉ० पुष्पा बंसल

४५.००

अस्तित्ववाद और नयी कहानी

डॉ० लालचन्द गुप्त 'मंगल'

३५.००

हिन्दी तथा पंजाबी उपन्यास का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० योगेन्द्र बख्शी

७५.००

प्रेमचन्द परवर्ती उपन्यास-साहित्य में पारिवारिक जीवन

डॉ० आशा बागड़ी

५०.००

कविवर नज़ीर अकबराबादी के हिन्दी-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन

डॉ० दामोदर वासिष्ठ

४५.००

रसाभास

डॉ० प्रशान्तकुमार

३५.००

सन्त कवि दादू और उनका पंथ

डॉ० वासुदेव शर्मा

३०.००

हिन्दी काव्य-शास्त्र में शृंगार रस-विवेचन

डॉ० रामलाल वर्मा

२०.००

नन्ददास : जीवन और काव्य

डॉ० सावित्री अवस्थी

३५.००

सन्त पलटूदास और पलटू पंथ

डॉ० राधाकृष्ण सिंह

२५.००

नागरीलिपि का उद्भव और विकास

डॉ० ओम् प्रकाश भाटिया 'अराज'

५०.००

प्रकाशित शोध-निबन्ध

१. हरिकृष्ण 'प्रेमी' के नाटकों में राष्ट्रीय भावना — १५.००
जीवनलता कालड़ा

२. हिन्दी का संस्मरण-साहित्य — १५.००
राजरानी शर्मा

३. हिन्दी के प्रतिनिधि आलोचकों की गद्य-शैलियाँ — १५.००
डॉ० कमलेश्वर भट्ट

४. महादेवी का संस्मरणात्मक गद्य — १५.००
चरणसखी शर्मा

हमारा निबन्ध-साहित्य

बृहत्साहित्यिक निबन्ध — **डॉ० यश गुलाटी** — **४०.००**

द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

एम० ए० के परीक्षार्थियों के लिए विभिन्न प्राध्यापकों द्वारा लिखित साहित्यिक निबन्धों का संग्रह ।

साहित्यिक निबन्ध — **तनसुखराम गुप्त** — **२०.००**

बी० ए० (ग्रॉनर्स) तथा प्रभाकर परीक्षाओं के लिए विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखित साहित्यिक निबन्धों का संग्रह ।

निबन्ध प्रभाकर — **तनसुखराम गुप्त** — **१५.००**

नवम् संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

बी० ए० तथा प्रभाकर के लिए विभिन्न विद्वानों द्वारा साहित्यिक, राजनैतिक तथा सामाजिक निबन्धों का संग्रह ।

भाषाविज्ञान की पुस्तकें

(१) **भाषाविज्ञान और मानक हिन्दी** २०.००
डॉ० रत्नचन्द्र शर्मा

(२) **लिपि-विज्ञान और नागरी लिपि** १२.००
डॉ० ओम्प्रकाश भाटिया 'अराज'

(३) **भारतीय भाषाओं की समान लिपि 'अरा'** १०.००
डॉ० ओम्प्रकाश भाटिया 'अराज'

(४) **नागरी लिपि का उद्भव और विकास** ५०.००
डॉ० ओम्प्रकाश भाटिया 'अराज'

●

रस पर पुस्तकें

(१) **रसाभास** डॉ० प्रशान्त कुमार ३५.००

(२) **रसराज शृंगार** डॉ० रामलाल वर्मा ३०.००

(३) **उदात्त रस सिद्धान्त और नयी कविता**
डॉ० कृष्णदेव झारी २०.००

(४) **शान्त रस का काव्यशास्त्रीय विवेचन**
डॉ० रामचन्द्र वर्मा १२.५०

एक पठनीय पुस्तक

हिन्दी साहित्य

का

समीक्षात्मक इतिहास

डॉ० रवेलचन्द आनन्द

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

मूल्य १५.००

आलोचना साहित्य

हिन्दी उपन्यास-कोश	सूर्यकांत गुप्त	२०.००
हिन्दी उपन्यास वार्षिकी (१९७५)	,, ,,	५०.००
विश्वकवि होमर और उनका काव्य	डॉ० रामप्रसाद मिश्र	३०.००
विश्वकवि तुलसी और उनके काव्य	,, ,,	३०.००
मोहन राकेश का नाट्य-साहित्य	डॉ० पुष्पा बंसल	१५.००
आलम और उनका काव्य	डॉ० भारतभूषण चौधरी	१२.५०
[illegible]धि कवि	डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त	१५.००
प्राचीन प्रतिनिधि-कवि	डॉ० आर० सी० आनन्द, सुषमा गुप्ता	२०.००
बारह हिन्दी काव्य	डॉ० यश गुलाटी	३५.००
हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्यांकन	,, ,,	७५.००
रसखान : भक्त तथा कवि	डॉ० लीलाधर वियोगी	५.००
काव्य-कोकिला : मीराबाई	,, ,,	७.००
महादेवी : व्यक्तित्व और कृतित्व	गोपीनाथ 'व्यथित'	४.००
हिन्दी के प्रतिनिधि कवि	गणेश शर्मा शास्त्री	६.००
हिन्दी का मध्ययुगीन कृष्ण-काव्य	डॉ० रामचन्द्र वर्मा	१५.००
पंजाब के निर्गुण काव्य का दार्शनिक अध्ययन	डॉ० मनमोहन सहगल	३०.००
अमिता : कृति और कृतिकार	,, ,,	९.००
हिन्दी उपन्यास के पद-चिह्न	,, ,,	३५.००
तुलसीदास और उनका सुन्दरकाण्ड	डॉ० श्रीनिवास शर्मा	७.५०
अलंकार, छन्द विवेचन	गणेश शर्मा शास्त्री	७.५०
पाँच आधुनिक काव्य	डॉ० रवेलचन्द आनन्द	१५.००
आधुनिक काव्य और विश्लेषण	जनक आनन्द	७.००
जयद्रथ-वध : समीक्षा	प्रभारानी शर्मा	५.००
हिन्दी गद्य-साहित्य : समीक्षा	ओमप्रकाश 'तरुण'	४.००
काव्यशास्त्र की रूपरेखा	डॉ० रामदत्त भारद्वाज	१५.००
पाश्चात्य काव्य-शास्त्र	डॉ० रामरजपाल द्विवेदी	५.००
छन्दोऽलंकार प्रदीप	डॉ० संसारचन्द्र	७.५०